आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास

बच्चन सिंह

आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास

आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास

डा० बच्चन सिंह
अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, हिमाचल प्रदेश विश्वविद्यालय

लोकभारती प्रकाशन
१५-ए, महात्मा गांधी मार्ग, इलाहाबाद-१

लोकभारती प्रकाशन
१५-ए, महात्मा गांधी मार्ग,
इलाहाबाद-१ द्वारा प्रकाशित

•

मूल्य : ३०-००

प्रथम संस्करण १९७८

•

मुद्रक :
अशोक मुद्रण गृह
४२, ताशकंद मार्ग
इलाहाबाद

निवेदन

इतिहास अतीतोन्मुख नहीं भविष्योन्मुख होता है, वह जड़ नहीं गत्यात्मक होता है। अतीतोम्मुखी इतिहासकार अथवा साहित्यकार पुनरुत्थानवादी होकर जड़ हो जाता है। अतीतोन्मुखता हमें कहीं ले नहीं जाती बल्कि एक तरह की भावनामयता में बाँध कर सही कर्त्तव्य से विमुख बना देती है। अतीतो-न्मुखता हमें पुनरुत्थानवादी बनाती है तो भविष्योन्मुखता सर्जनात्मक। इस अर्थ में इतिहास लिखने का मतलब होता है भविष्योन्मुखी होना। यह होकर ही वह रचनात्मक हो सकता है।

इतिहास का विकास-क्रम प्रकृति की तरह कार्य-कारण की श्रृंखला से बँधा नहीं रहता। इतिहास मनुष्य का ही होता है। वस्तुतः वह एक मानवीय तत्त्व है। ऐतिहासिक घटनाएँ परिवेश के अलावा मनुष्य की आकांक्षाओं, निर्णय, क्रिया-कलाप आदि पर भी बहुत कुछ निर्भर करती हैं। दूसरे शब्दों में इतिहास मात्र भौतिकता से निर्मित नहीं होता बल्कि उसमें मानवीय स्वतंत्रता और निर्णय का योग भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। राष्ट्र और जाति को अनेक ऐसी घटनाओं का सामना करना पड़ता है जो मनुष्य के नियंत्रण में नहीं होतीं। इन घटनाओं से भी देश और जाति का नक्शा बदल जाता है। यह मान कर चलना होगा कि इतिहास का कोई दर्शन इतना मुकम्मल नहीं जिसके आधार पर इतिहास को उसकी पूरी समग्रता में समेटा जा सके।

जितना यह इतिहास के साथ सच है उतना ही साहित्य के साथ भी। पर इतिहास के लेखक की तरह साहित्य के इतिहास का लेखक तथ्यों के अर्था-पन में उतना स्वतंत्र नहीं है। इतिहास लेखक की तरह उसके पास तरह-तरह के आँकड़े नहीं होते--आधे-अधूरे, सही और गलत आँकड़े। उसके सामने ग्रंथ होते हैं। प्राचीन काल के ग्रंथों के संबंध में तो प्रामाणिक और अप्रामाणिक कहा जा सकता है। पर आधुनिक काल के ग्रंथों के संबंध में तो यह भी नहीं कहा जा सकता। अतः साहित्य के इतिहासकार को दुहरे दौर से गुजरना पड़ता है अर्थात् उसे ऐसा इतिहास लिखना पड़ता है जो साहित्यिक भी हो और ऐतिहासिक-सामाजिक भी।

इतिहास के चौखटे में साहित्य को फिट कर देना साहित्य का इतिहास नहीं है। इतिहास के पुष्ट्यर्थ इतिहासकार साहित्य को इतिहास के चौखटे

में फिट करने लगे हैं। बहुत से वादग्रस्त साहित्येतिहास लेखक साहित्य को एक खास तरह के ऐतिहासिक सूत्रों में संग्रथित कर देते हैं। पर वह साहित्य का इतिहास न होकर समाजशास्त्रीय इतिहास हो जाता है। इस तरह साहित्य के अपने व्यक्तित्व का पक्ष--जो व्यक्तित्व बनकर समाज के निर्माण में योग देता है--उपेक्षित रह जाता है।

साहित्य के ग्रंथ वे ही रहते हैं पर काल बदलता जाता है। जिसमें काल के बदलाव में भी कुछ शेष बचा रहता है या हर काल के नए अर्थापन के लिए कुछ छूटा रहता है वह साहित्य श्रोण होता है। केवल अखबारी साहित्य पर साहित्य का इतिहास निर्मित नहीं होता। वह इतिहास-लेखन का उपकरण बन सकता है पर साहित्य का इतिहास लेखक उस पर केवल चलता ध्यान देगा। वह तो उन ग्रंथों को (आँकड़ों) को देखता है जो इतिहास को गति देने में, मोड़ने में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं।

आधुनिक युग इतनी तेजी से बदलता रहा है और बदल रहा है कि साहित्य के बदलाव से भी उसे समझा जा सकता है। इस बदलाव को--क्षिप्रतर बदलाव को--साहित्य और इतिहास दोनों के संदर्भों में एक साथ पकड़ना ही इतिहास है। यह पकड़ तब तक विश्वसनीय नहीं हो सकती जब तक समसामयिक अखबारी साहित्य को श्रेष्ठ भविष्योन्मुखी साहित्य से अलगाया न जाय। प्रत्येक युग का आधुनिक काल ऐसे साहित्य से भरा रहता है जो साहित्येतिहास के दायरे में नहीं आता। किन्तु यह जरूरी नहीं है कि हम अपने इतिहास के लिए ग्रंथों का जो अनुक्रम प्रस्तुत करेंगे वह कल भी ठीक होगा, अपरिवर्तनीय होगा।

इतिहास लिखने का क्रम तब तक जारी रहेगा जब तक मानवीय सृष्टि रहेगी। आरंभ में श्री कृष्णशंकर शुक्ल ने 'आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास' लिखा था जो अब बहुत पुराना पड़ गया है। यह इतिहास मूलतः साहित्यिक कृतियों पर आधारित है पर उनका अपेक्षित पर्यावरण सर्वत्र दृष्टि में रखा गया है। शुरू से ही भविष्योन्मुखता को लक्ष्य में रखने के कारण श्रेष्ठ साहित्यकार अपने आप रेखांकित हो उठे हैं। अनुक्रमणिका तैयार करने का काम मेरे मित्र सुन्दर लोहिया और मेरी शिष्या भवन्त लोहिया ने किया है। दोनों ही मेरे स्नेह के पात्र हैं।

१२, जतोग व्यू
समर हिल, शिमला–५

--बच्चन सिंह

अनुक्रम

अध्याय एक

नामकरण, उपविभाग और परिवर्तन की भूमिका

साहित्य के इतिहास में काल का सीमांकन सबसे अधिक जटिल समस्या है। किसी काल खंड की शुरुआत किस समय से होती है इसे वैज्ञानिक सत्य के रूप में नहीं बताया जा सकता। एक काल खंड दूसरे काल खंड से अपने बदलाव के कारण अलग होता है। बदलाव की प्रक्रिया तो अरसे से चलती रहती है पर नए काल खंड का निर्धारण तब होता है जब बदलाव के चिह्न हमारी आर्थिक-सांस्कृतिक स्थितियों और कलारूपों तथा भाषा में स्पष्टतः दिखाई देने लगते हैं इसलिए साहित्येतिहास के लेखन में जो काल निर्धारण किया जायगा वह लचीला होगा।

इस बदलाव को जब डा० रामकुमार वर्मा रोमैंटिक लहजे और ग्रियर्सनी शैली में अप्रत्याशित और कुतूहलपूर्ण कहते हैं (हिंदी साहित्य, तृतीय खंड, भारतीय हिन्दी परिषद्, प्रयाग) तो विकसित इतिहास-दृष्टि के पाठकों का मनोरंजन होता है। वस्तुतः हिन्दी-साहित्य के इतिहास में जिसे हम आधुनिक काल कहते हैं उसके विकास का क्रम एक शताब्दी पहले से ही प्रारंभ हो जाता है। बदलाव के स्पष्ट चिह्न उन्नीसवीं शती के उत्तरार्ध में दिखाई पड़ने लगते हैं।

संयोग है कि हिन्दी-साहित्य में आधुनिक जीवन-बोध के प्रवर्तक भारतेंदु हरिश्चन्द्र का जन्म सन् १८५०—ठीक उन्नीसवीं शती के मध्य—में होता है। अतः इतिहास लेखकों ने इस वर्ष को ही आधुनिक हिन्दी साहित्य की शुरुआत का वर्ष मान लिया। किंतु यह वर्ष स्वयं इतिहास की गतिमानता या बदलाव में किसी तरह की भूमिका नहीं अदा करता। इतिहास के काल-विभाजन की रेखा कम से कम दो विभिन्न प्रवृत्तियों को स्पष्टतः अलगाने वाली तथा इस अलगाव के लिए खुद भी बहुत कुछ उत्तरदायी होनी चाहिए। यदि सन् १८५७ को आधुनिक काल का प्रारंभिक विन्दु मान लिया जाय तो उपर्युक्त दोनों शर्तें पूरी हो जाती हैं।

डा० नगेंद्र १८५७ ई० को आधुनिक युग की पहली सीमारेखा मानते हैं। उनका कहना है, 'आधुनिक भारत के इतिहास की प्रथम महत्त्वपूर्ण घटना है सन् १८५७ का स्वतंत्रता-संघर्ष जो इस युग की पहली सीमारेखा है। राष्ट्रीय चेतना और राजनीतिक जागरण का यह आन्दोलन वास्तव में मध्ययुग की समाप्ति और आधुनिक युग के आरंभ का पहला उद्घोष था—' किंतु डा० नगेंद्र

के मत को ज्यों का त्यों मान लेना संभव नहीं है क्योंकि उन्होंने उस आन्दोलन में उन बातों का भी समावेश कर लिया है जो उसमें नहीं हैं। यह स्वतंत्रता का संघर्ष तो था पर इसके मूल में न तो राष्ट्रीय चेतना थी और न राजनीतिक जागरण। सन् १८५७ अपने अन्तर्विरोधी स्वरूप के कारण आधुनिक युग का प्रारंभिक विन्दु माना जायगा। सन् सत्तावन दो विरोधी ताकतों की टकराहट थी—सामंतवादी और पूँजीवादी। सामंतवादी शक्तियाँ अपनी सारी ताकत लगा कर सदा के लिए समाप्त हो गईं। सामंतवाद की संपूर्ण संभावनाएँ खत्म होने के बाद देश के प्रबुद्ध वर्ग ने नए सिरे से सोचना शुरू किया और अंग्रेज शासकों ने भी इस देश की परंपरा को समझ कर आधुनिकीकरण की प्रक्रिया का नवीनीकरण किया।

नामकरण

आधुनिक शब्द दो अर्थों की सूचना देता है—मध्यकाल से भिन्नता की और नवीन इहलौकिक दृष्टिकोण की। मध्यकाल अपने अवरोध, जड़ता और रूढ़िवादिता के कारण स्थिर और एकरस हो चुका था। एक विशिष्ट ऐतिहासिक प्रक्रिया ने उसे तोड़कर गत्यात्मक बनाया। मध्यकालीन जड़ता और आधुनिक गत्यात्मकता को साहित्य और कला के माध्यम से समझा जा सकता है। रीतिकाल की कला और साहित्य अपने-अपने कथ्य, अलंकृति और शैली में एक रूप हो गये थे। वे घोर श्रृंगारिकता के बँधे घाटों से बह रहे थे। इन छंदों में न वैविध्य था और न विन्यास (डिक्शन) में। एक ही प्रकार के छंद एक ही प्रकार के ढंग। आधुनिक काल में बँधे हुए घाट टूट गए और जीवन की धारा विविध स्रोतों में फूट निकली। साहित्य मनुष्य के बृहत्तर सुख-दुःख के साथ पहली बार जुड़ा।

आधुनिक शब्द से जो दूसरा अर्थ ध्वनित होता है वह है इहलौकिक दृष्टिकोण। धर्म, दर्शन, साहित्य, चित्र आदि सभी के प्रति नए दृष्टिकोण का आविर्भाव हुआ। मध्यकाल में पारलौकिक दृष्टि से मनुष्य इतना अधिक आच्छन्न था कि उसे अपने परिवेश की सुध ही नहीं थी। पर आधुनिक युग में मनुष्य अपने पर्यावरण के प्रति अधिक सतर्क हो गया। आधुनिक युग की पीठिका के रूप में इस देश में जिन दार्शनिक चिंतकों और धार्मिक व्याख्याताओं का आविर्भाव हुआ उनकी मूल चिंता धारा इहलौकिक ही है। सुधार-परिष्कार, अतीत का पुनराख्यान नवीन दृष्टिकोण का फल है। आधुनिक युग की ऐतिहासिक प्रक्रिया का परिणाम है कि साहित्य की भाषा ही बदल गई—ब्रजभाषा की जगह खड़ी बोली ने ले ली।

उपविभाग

रामचन्द्र शुक्ल ने आधुनिक काल का जो उप-विभाजन किया है वह एकसूत्रता के अभाव में विसंगतिपूर्ण हो गया है। उन्होंने आधुनिक काल को दो

खंडों में बाँटा है—गद्य खंड और काव्य खंड। ये दोनों खंड एक दूसरे से इतने पृथक् हैं कि उनमें एकतानता नहीं आ पाती। दोनों खंडों को दो-दो प्रकरणों में बाँटा गया है। गद्य के पहले प्रकरण में ब्रजभाषा गद्य और खड़ी बोली गद्य का विकास विवेचित है। दूसरे प्रकरण में गद्य साहित्य का आविर्भाव विश्लेषित है। इसे फिर तीन उत्थानों में विभाजित किया गया है—प्रथम, द्वितीय और तृतीय। काव्य खंड में भी दो प्रकरण हैं—पुरानी काव्य धारा और नई धारा। नई धारा के भी तीन उत्थान हैं—प्रथम, द्वितीय और तृतीय। शुक्ल जी के गद्य खंड और काव्य खंड एक दूसरे से सर्वथा अलग हैं, एक ही प्रवृत्ति का दूसरे की प्रवृत्ति से कोई तालमेल नहीं है। ऐसा लगता है मानो गद्य खंड में एक प्रवृत्ति क्रियाशील है तो काव्य खंड में दूसरी प्रवृत्ति। उदाहरणार्थ काव्य खंड दूसरे प्रकरण के तृतीय उत्थान (काव्य में जो छायावाद के नाम से अभिहित किया जाता है) तथा गद्य खंड के द्वितीय प्रकरण के तृतीय उत्थान में कोई एकरूपता नहीं निरूपित की जा सकी है। इस खंड दृष्टि के कारण इतिहास का नैरन्तर्य ओझल हो गया है।

परवर्ती इतिहासकारों ने प्रायः शुक्लजी का अनुगमन किया। आधुनिक काल के इतिहास लेखन में सामान्य रूप से उनकी उत्थानवादी शैली ही स्वीकृत कर ली गई। कुछ लोगों ने आधुनिक काल के विकास के प्रथम दो चरणों को भारतेंदु युग और द्विवेदी युग कहना अधिक संगत समझा। किंतु इन नामों की ग्राह्यता को सन्देह की दृष्टि से देखा जाता है। भारतेंदु युग और द्विवेदी युग की परिकल्पना कर लेने पर युगों की बाढ़ आ गई। भारतीय हिन्दी परिषद् प्रयाग से प्रकाशित हिन्दी साहित्य (तृतीय खंड) में उपन्यासों के संदर्भ में प्रेमचन्द युग और नाटकों के संदर्भ में प्रसाद युग की कल्पना की गई। पता नहीं, समीक्षा के संदर्भ में शुक्ल युग क्यों नहीं लिखा गया ? जितने युग उतने संदर्भ !

एक इतिहास और। डा० नगेन्द्र के संपादन में 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' प्रकाशित हुआ है। अनेक लेखकों द्वारा लिखे जाने के कारण इसमें परस्पर विरोधी दृष्टिकोण मिलेंगे। पूर्वपीठिकाओं की स्थापनाओं के साथ विधाओं की संगति नहीं बैठ पाती। उदाहरणार्थ भारतेंदु युग को लिया जा सकता है। इसका दूसरा नाम है पुनर्जागरण। पर भारतेंदु के नाटकों की पारंपरिक खतौनी से पुनर्जागरण का दूर का भी रिश्ता नहीं है।

छायावाद-युग सामान्यतः सर्वमान्य है। इसे विभाजक रेखा मानकर कालों का नामकरण अधिक सुविधाजनक, तर्कसंगत और औचित्यपूर्ण होगा। यों 'छायावाद' शब्द अपने अर्थ-संकोच और एकांगिकता के कारण ग्राह्य नहीं है। इसका सीधा संबंध पुनर्जागरण काल से है। पर यह शब्द व्यापक

परिप्रेक्ष्य में मौजूँ नहीं है। 'रोमैंटिक' शब्द का समानार्थी शब्द ही इस युग को समग्रता में उजागर कर सकता है। हिन्दी में 'स्वच्छन्दतावाद' शब्द का प्रयोग 'रोमैंटिसिज़्म' के अर्थ में किया जाने लगा है। अतः जिसे छायावाद युग कहा जाता है उसे स्वच्छन्दतावाद युग के नाम से अभिहित किया जाना चाहिए। यह शब्द अपनी अर्थवत्ता में गांधी-नेहरू युग के आदर्शों अन्तर्विरोधों की समानान्तरता पा लेता है। रोमैंटिक या स्वच्छन्दतावादी आन्दोलन में जिस वैयक्तिकता को अत्यधिक महत्त्व दिया जाता है वह गांधीवादी आन्दोलन में आद्यन्त मौजूद है। 'अन्तरात्मा की आवाज' इस युग के संपूर्ण साहित्य में विद्यमान है। स्वच्छन्दतावादी साहित्य मुक्ति का साहित्य है, ठीक उसी तरह जैसे गांधी-नेहरू का आन्दोलन समग्र अर्थ में मुक्ति का आन्दोलन था। 'स्वच्छन्दतावाद युग' नाम स्वीकार कर लेने पर न तो इसे ईसाइयत के फैंटसमाटा से जोड़ने की जरूरत पड़ेगी और न स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह कह कर सरलीकरण की आवश्यकता।

'छायावाद' को लेकर जितनी परिभाषाएँ दी गई हैं उनकी दृष्टि में केवल काव्य रहा है। प्रसाद, जैनेन्द्र और इलाचन्द्र जोशी आदि के उपन्यासों को, जो उसी काल में लिखे गए, क्या छायावादी कहा जायगा? इस काल के काव्य, उपन्यास, कहानी, निबंध, आलोचना आदि को स्वच्छन्दतावादी तो कहा जा सकता है, छायावादी नहीं।

स्वच्छन्दतावाद युग के ठीक पहले का काल पूर्व-स्वच्छन्दतावाद युग के नाम से अभिहित किया जाना चाहिए। द्विवेदी युग व्यक्ति-वाचक नाम होने से यों ही अग्राह्य है, दूसरे इससे किसी तरह की प्रवृत्ति का बोध नहीं होता। तीसरे इस नाम के कारण ऐतिहासिक प्रवाह खंडित हो जाता है। इस युग में निबंध और कविताएँ अधिक लिखी गईं। निबंध लेखकों में मुख्यतः महावीर प्रसाद द्विवेदी, माधव प्रसाद मिश्र, गोविन्द नारायण मिश्र, बालमुकुन्द गुप्त, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, पूर्णसिंह की गणना की जाती है। श्रीधर पाठक, रामचरित उपाध्याय, सनेही, मैथिलीशरण गुप्त, रामनरेश त्रिपाठी, रूपनारायण पांडेय, मुकुटधर पांडेय आदि इस युग के प्रमुख कवि हैं। निबंध-लेखकों में पहले तीन द्विवेदी-कलम के लेखक हैं। शेष तीन पूर्व-स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति के निबंधकार हैं क्योंकि उनमें स्वच्छन्दता की प्रवृत्ति पाई जाती है। निबंध-लेखकों के रूप में इन्हीं तीनों का महत्त्व है। द्विवेदी-कलम के कवियों में केवल मैथिलीशरण गुप्त को ही ऐतिहासिक महत्त्व प्राप्त है, वह भी 'साकेत' के कारण। 'साकेत' पर स्वच्छन्दतावाद का कम प्रभाव नहीं है। श्रीधर पाठक, रामनरेश त्रिपाठी, मुकुटधर पांडेय को शुक्लजी ने स्वयं प्रकृत स्वच्छन्दतावादी कहा है। वस्तुतः अगले संदर्भ

में इन्हीं कवियों का विकास प्रसाद, निराला, पंत में हुआ। अतः इस युग को पूर्व-स्वच्छन्दता युग का नाम देना अधिक संगत है। भारतेंदु युग को पुनर्जागरण युग कहने में कोई आपत्ति नहीं उठाई जानी चाहिए।

स्वच्छन्दता युग के बाद के काल को उत्तर-स्वच्छन्दतावाद युग कहा जा सकता है। इसे पुनः तीन दशकों में बाँटना अधिक संगत प्रतीत होता है। संक्षेप में इस काल के उप-विभाजन का प्रारूप निम्नलिखित ढंग से प्रस्तुत किया जा सकता है—

१—पुनर्जागरण काल—१८५७–१९०० ई०

२—पूर्व-स्वच्छन्दतावाद काल—१९००–१९२० ई०

३—स्वच्छन्दतावाद काल—१९२०–१९४० ई०

४—उत्तर-स्वच्छन्दतावाद काल—१९४० ई०

(क) पहला दशक (प्रगति और स्वतंत्रता का द्वंद्व)

(ख) दूसरा दशक (संतुलन की खोज और आधुनिकता)

(ग) तीसरा दशक (आधुनिकता बोध की रचनाएँ)

पुनर्जागरण काल (१८५७--१९०० ई०)

अध्याय दो

बदलाव की स्थितियाँ

कोई भी बदलाव यों ही नहीं आता, बल्कि उसके कुछ कारण होते हैं। दो संस्कृतियों का अन्तरावलंबन परिवर्तन के लिए उतना कारगर नहीं होता जितना समाज के बुनियादी ढाँचे को बदलनेवाले आर्थिक कारण। मुख्य कारण आर्थिक ही होता है; सांस्कृतिक गौण। पर इन दोनों को ले आने का दायित्व जाने-अनजाने अंग्रेजों को ही है। अतः आधुनिक काल की परिवर्तमान प्रक्रिया को समझने के लिए उन समस्त कारणों का विवेचन आवश्यक है जो अंग्रेजी साम्राज्यवाद के फलस्वरूप प्रादुर्भूत हुए।

राजनीतिक स्थिति

सन् १८५७ से हिन्दी साहित्य का आधुनिक काल शुरू हो जाता है पर भारतवर्ष के आधुनिक बनने की प्रक्रिया की शुरुआत एक शताब्दी पूर्व उसी समय से (सन् १७५७ ई०) हो जाती है जब ईस्ट इंडिया कंपनी ने नवाब सिराजुद्दौला को प्लासी की लड़ाई में हराया था। सिराजुद्दौला की हार के बाद संपूर्ण बंगाल पर अंग्रेजों का अधिकार हो गया। १७६४ में बक्सर की लड़ाई में मुगल सम्राट् शाह आलम भी पराजित हुआ, सन् १७६५ में कड़ा के युद्ध में उसकी रही सही शक्ति भी समाप्त हो गई। सम्राट् ने अब बंगाल, बिहार और उड़ीसा की दीवानी अंग्रेजों को बख्श दी।

संपूर्ण देश पर अपना आधिपत्य जमाने के लिए अंग्रेजों को दो और शक्तियों को पराजित करना शेष था—वे शक्तियाँ थीं मराठे और सिक्ख। सिक्ख तो पंजाब की सीमा में थे। परंतु मराठों का प्रभाव बहुत व्यापक था। पारस्परिक फूट और संघर्ष के कारण असी (१८०३) और लासवारी (१८०३) के युद्ध में मराठे विजित हो गए और उनकी संघशक्ति समाप्त हो गई। १८४९ में सिक्खों को पराजित करने के बाद संपूर्ण देश अंग्रेजों के अधीन हो गया। १८५६ में अवध भी अंग्रेजी राज्य में सम्मिलित कर लिया गया।

अपनी इस विजय के कारण अंग्रेजों का मदोन्मत्त हो जाना स्वाभाविक था। उनकी नीतियों से असंतुष्ट देशी राजाओं ने एक जुट होकर १८५७ ई० में व्यापक स्तर पर विद्रोह किया।

सन् १८५७ का संघर्ष, जैसा पहले कहा जा चुका है, सामंतीय शक्तियों

और पूँजीवादी शक्तियों की टकराहट थी। स्वाभाविक था कि सामंतीय शक्तियाँ पराजित होतीं। इस संघर्ष के फलस्वरूप ईस्ट इंडिया कंपनी समाप्त कर दी गई और भारतवर्ष ब्रिटिश साम्राज्य का उपनिवेश बन गया। अंग्रेजों ने अपनी आर्थिक, शैक्षणिक, तथा प्रशासनिक नीतियों में परिवर्तन किया। इस देश के लोग भी नए संदर्भ में कुछ नया सोचने और करने के लिए बाध्य हुए।

साहित्य मनुष्य के बृहत्तर सुख-दुःख के साथ पहली बार जुड़ा। यह भारतेंदु के समय में हुआ—वह भी गद्य के माध्यम से। आधुनिक जीवन-चेतना की चिनगारियाँ गद्य में दिखाई पड़ीं, पद्य में नहीं। नया युग अपनी अभिव्यक्ति के लिए नई भाषा की खोज कर रहा था। ब्रजभाषा इसके लिए उपयुक्त नहीं थी। इसलिए आधुनिक काल में ब्रजभाषा काव्य के माध्यम से पुरानी संवेदनाएँ ही अभिव्यक्ति पाती रहीं। वह अपने संस्कारों में जड़ हो चुकी थी। उसके लिए पुरातनता का केंचुल छोड़ पाना संभव नहीं था। खड़ी बोली का गद्य आधुनिक चेतना के फलस्वरूप ही अभिव्यक्ति का नया माध्यम बना।

नया आर्थिक ढाँचा : नए संबंध

साहित्य का इतिहास बदलती हुई अभिरुचियों और संवेदनाओं का इतिहास है। अभिरुचियों और संवेदनाओं के बदलाव का सीधा संबंध आर्थिक और चिन्तनात्मक परिवर्तन से है। कुछ लोगों की दृष्टि में आर्थिक परिवर्तनों के साथ साहित्यिक परिवर्तनों का तालमेल बैठा देना ही साहित्य का इतिहास होता है। कुछ लोग संस्कृति के धरातल पर ही अभिरुचियों का विकास-क्रम निर्धारित करते हैं। वस्तुतः आर्थिक और सांस्कृतिक परिवर्तनों में पेचीदा संबंध है। स्थूल रूप से दोनों में कारण-कार्य का संबंध स्थापित करके सरलीकरण नहीं किया जा सकता। अतः साहित्येतिहास के संदर्भ में दोनों के संबंधों और देन का विवेचन अतिरिक्त अवधानता की अपेक्षा रखता है।

आधुनिक काल के पूर्व भारतीय गाँवों का आर्थिक ढाँचा प्रायः अपरिवर्तनशील और स्थिर रहा है। गाँव अपने आप में स्वतःपूर्ण आर्थिक इकाई थे। इनकी अपरिवर्तनशीलता को लक्ष्य करते हुए सर चार्ल्स मेटकाफ ने लिखा है—"गाँव छोटे-छोटे गणतंत्र थे। उनकी अपनी आवश्यकताएँ गाँव में ही पूरी हो जाती थीं। बाहरी दुनिया से उनका कोई संबंध नहीं था। एक के बाद दूसरा राजवंश आया, एक के बाद दूसरा उलटफेर हुआ; हिन्दू, पठान, मुगल, सिक्ख, मराठों के राज्य बने और बिगड़े पर गाँव वैसे के वैसे ही बने रहे।"

गाँव की जमीन पर सबका समान अधिकार था। किसान खेती करता था। लुहार, बढ़ई, कुम्हार, नाई, धोबी, गौंड, तेली आदि गाँव की अन्य आवश्यकताएँ पूरी करते थे। पेशा जाति के अनुसार निश्चित होता था। एक जाति का व्यक्ति

दूसरी जाति का पेशा नहीं करता था क्योंकि इसके लिए वह स्वतंत्र नहीं था।

नगर और गाँव अपनी-अपनी इकाइयों में पूर्ण और एक दूसरे से असंबद्ध थे। नगर तीन तरह के थे, राजनीतिक महत्त्व के नगर, धार्मिक नगर और व्यापारिक नगर। नगरों में मूल्यवान वस्तुओं का निर्माण होता था। रत्नजटित आभूषणों, बारीक सूती-रेशमी वस्त्रों, हाथदाँत की मीनाकारी, वस्त्रों की रँगाई आदि के लिए इस देश की अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति थी। पर इन वस्तुओं की खपत धनी वर्ग में होती थी, विशेष रूप से राजाओं-महाराजाओं, सामंतों, श्रेष्ठियों आदि में। नगरों का उद्योग सामान्य वस्तुओं का निर्माण नहीं करता था। गाँव का घरेलू उद्योग अलग था और नगरों का अलग। दोनों की अलग-अलग इकाइयाँ थीं। अंग्रेज व्यापारियों ने इस देश को अपना बाजार बनाने के लिए यहाँ के बारीक धंधों को बहुत कुछ नष्ट कर दिया। जो कुछ बाकी बचे थे वे नई सामाजिक व्यवस्था के कारण नष्ट हो गए।

अंग्रेजी राज्य की स्थापना के साथ-साथ इस देश की सामाजिक संघटना में विघटन और परिवर्तन आरंभ हो जाता है। यों अंग्रेजों की विजय की जिम्मेदारी यहाँ की स्थिर आर्थिक व्यवस्था पर नहीं है। अनेक जातियों-उपजातियों में विभक्त देश में पारस्परिक एकता का सर्वदा अभाव रहा है। विदेशी मुसलमानों की विजय का कारण भी यही था और अंग्रेजों की विजय का भी। आज भी जब एक सीमा तक देश का आधुनिकीकरण हो गया है जाति के आधार पर चुनाव जीते जाते हैं, नियुक्तियाँ होती हैं। पुरातन आर्थिक व्यवस्था के छिन्न-भिन्न होने पर भी जाति प्रथा शिथिल तो हुई पर मिट नहीं सकी। आधुनिक साहित्य में भी इस प्रथा पर करारी चोट की गई पर वह किताबी बन कर रह गई।

जो आर्थिक परिवर्तन अंग्रेजों द्वारा ले आया गया वह मुसलमान आक्रमणकारियों द्वारा संभव नहीं था। इनके आगमन से सामाजिक रीति-नीतियों में कहीं संकोच और कहीं विस्तार दिखाई पड़ा। मुसलमान यायावर थे और सामाजिक विकास की दृष्टि से वे पिछड़े हुए थे। उनकी स्थिति पूर्व-सामंतीय थी। इसलिए वे विजयी होकर भी यहाँ की उच्चतर सभ्यता से विजित हो गए। वे समाज के ढाँचे में कोई बुनियादी फर्क नहीं ले आ सके। आर्थिक इकाइयों में यथास्थिति बनी रही। अंग्रेज सामंतीय व्यवस्था से आगे बढ़कर पूँजीवादी व्यवस्था अपना चुके थे। सामाजिक विकास की दृष्टि से वे यहाँ के लोगों से एक मंजिल आगे थे। इसलिए आर्थिक व्यवस्था को तोड़ने और परिवर्तित करने में उन्हें सफलता प्राप्त हुई।

अंग्रेजों ने गाँव की आर्थिक व्यवस्था में जो रद्दोबदल किया उसे उनकी कृपा नहीं कहा जा सकता। इसमें उनका अपना स्वार्थ निहित था। गाँव की जमीन का

बन्दोवस्त करने के कारण उन्हें थोड़े लोगों से ही मालगुजारी मिल जाती थी। जमींदारों और बड़े-बड़े जोतदारों का एक ऐसा तबका खड़ा हुआ जो अंग्रेजों की आखिरी विदाई के समय तक उनकी सहायता करता रहा। अंग्रेजों ने इस देश को लूटा, इसका व्यापार नष्ट किया। भारतेंदु ने कवि-वचन-सुधा (मार्च १८७४) में लिखा है—"सरकारी पक्ष का कहना है कि हिन्दुस्तान में पहले सब लोग लड़ते-भिड़ते थे और आपस में गमनागमन न हो सकता था, यह सब सरकार की कृपा से हुआ। हिन्दुस्तानियों का कहना है कि उद्योग और व्यापार बाकी न रहा। रेल आदि से भी द्रव्य के बढ़ने की आशा नहीं है। रेलवे कंपनीवालों ने जो द्रव्य व्यय किया है उसका ब्याज सरकार को देना पड़ता है और लेनेवाले बहुधा विलायत के लोग हैं। कुल मिलाकर २६ करोड़ रुपया बाहर जाता है।"

लार्ड कार्नवालिस ने सन् १७९३ में बंगाल, बिहार और उड़ीसा में जमींदारी प्रथा लागू की। बाद में बंबई, उत्तर प्रदेश और मध्य प्रदेश के कुछ इलाकों में भी यही व्यवस्था जारी की गई। सन् १८२० में सर टामस मुनरो ने इस्तमरारी बन्दोबस्त लागू करके जमीन को व्यक्तिगत संपत्ति के रूप में बदल दिया। जमींदार और जोतदार दोनों ही जमीन का क्रय-विक्रय कर सकते थे। इसके पहले जमीन को न खरीदा जा सकता था और न बेचा जा सकता था क्योंकि उस पर व्यक्ति का स्वामित्व नहीं था।

खेत के व्यक्तिगत संपत्ति हो जाने पर खेती का व्यावसायिक हो जाना स्वाभाविक था। पहले कृषि का उत्पादन गाँव में ही रह जाता था किंतु अब बाजारों में जाने लगा। यातायात की सुविधा बढ़ने पर उत्पादन की किस्म पर भी प्रभाव पड़ा। खेतों में उन वस्तुओं का उत्पादन अधिक किया जाने लगा जो व्यवसाय की दृष्टि से अधिक लाभप्रद थीं। रुपए के चलन से भी व्यावसायिकता में अभिवृद्धि हुई पर किसानों की स्थिति अच्छी नहीं हो सकी। उन्हें एक ओर सरकारी मालगुजारी अदा करने की परेशानी रहती थी दूसरी ओर महाजन की ऋण-अदायगी की। वह बेचारा इन दो पाटों के बीच पिस रहा था। समय-समय पर अंग्रेज मालगुजारी की दर बढ़ा दिया करते थे। फलस्वरूप किसान महाजनों के चंगुल में बुरी तरह फँस जाता था। महाजनी सभ्यता का जाल फैलाने का श्रेय अंग्रेजों को ही है। आए दिन अकाल भी पड़ते रहते थे। अकाल-पीड़ितों की रक्षा करने में अंग्रेज अधिकारी असमर्थ थे। अकाल की ज्वाला में हजारों लोग भस्मीभूत हो जाया करते थे। कर के भारी बोझ और अकाल-महामारी आदि की भयंकरता का प्रचुर उल्लेख भारतेंदु तथा उनके मंडल द्वारा लिखे गए साहित्य में मिलेगा।

जब भूमि व्यक्तिगत संपत्ति हो गई और उत्पादन के वितरण का ढंग बदल

गया तो पुराने सामाजिक संबंधों के स्थान पर नए सामाजिक संबंध बनने लगे। सामूहिक खेती के नष्ट होने के कारण संबंधों की रागात्मकता टूटने लगी। व्यक्ति के अपने-अपने स्वार्थ हो गए। इसलिए अर्थ पर टिका हुआ स्वार्थ आत्मपरक हो गया। पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में घटिया स्वार्थ का जन्म होता है और यांत्रिकता के कारण, जो पूँजीवाद का अगला चरण है, अकेलेपन या एलियनेशन का।

पहले सरल ग्राम-व्यवस्था में पारस्परिक झगड़ों का निपटारा पंचायतों में हो जाता था। किंतु नई अर्थ-व्यवस्था के कारण पारस्परिक संबंध जटिल हो गए। अब पंचायतों द्वारा उनका फैसला नहीं हो सकता था। ऐसी स्थिति में नई संस्थाओं का जन्म हुआ और पंचायतों के स्थान पर कचहरियाँ स्थापित की गईं।

पुरानी व्यवस्था में भी अलगाव था किंतु वह अलगाव एक प्रकार का था और नई व्यवस्था में जो अलगाव आया वह दूसरे प्रकार का था। पहले एक गाँव दूसरे गाँव से और गाँव शहर से अलग थे। साहित्य-संस्कृति पर नागरिक संस्कृति की गहरी छाप थी। सबको एकसूत्रता प्रदान करनेवाला तत्त्व धर्म था। यही कारण था कि भक्तिकालीन काव्य नगर और गाँव को समान रूप से प्रभावित कर सका। रीतिकालीन काव्य में गाँव को नफरत की निगाह से देखा गया है। इसे प्रमाणित करने के लिए बिहारी के दोहे उद्धृत किए जा सकते हैं। आधुनिक काल में गाँव की ओर साहित्यकारों की दृष्टि अवश्य गई पर तब तक किन्हीं अंशों में गाँव बदल चुके थे।

अंग्रेजों की नई व्यवस्था से जनता को घोर संकट का सामना करना पड़ा। खेत अनेकानेक टुकड़ों में बँट गए। किसान और सरकार के बीच बहुत से मध्यस्थ हो गए। पैदावार घटती गई। ग्रामीण उद्योग-धंधों के नष्ट होने पर अधिक से अधिक लोग खेती पर आश्रित हो गए। शहरी उद्योग भी अंग्रेजों की कृपा से काल-कवलित हो गए।

पुरानी अर्थ-व्यवस्था के स्थान पर जिस नई अर्थ-व्यवस्था को लागू किया गया उससे अनजाने ही, ऐतिहासिक विकास की अनिवार्य प्रक्रिया के फलस्वरूप भारतीय समाज विकास की ओर अग्रसर हुआ। गाँवों की जड़ता टूटी, गाँव और शहर एक दूसरे से संपर्क में आने के लिए बाध्य हुए। एक घेरे में बँधी हुई अर्थ-व्यवस्था राष्ट्रोन्मुख हो चली। जो देश केवल धार्मिक एकता में बँधा हुआ था वह राष्ट्रीय एकता के प्रति भी जागरूक होने लगा।

जाति प्रथा को भी एक धक्का लगा। जाति आर्थिक वर्गों में बदलने लगी। किंतु जाति प्रथा की जड़ता को तोड़ा नहीं जा सका। आर्थिक वर्गों का उदय तो हुआ पर जातीय उच्चता की भावना विलीन नहीं हो सकी। अंग्रेजों ने

जाने-अनजाने जो सुविधाएँ दीं उनका उपयोग उच्च जाति के लोगों ने ही किया। अंग्रेजों के जमाने में शासन में उन्हीं का प्राधान्य था। राष्ट्रीय आन्दोलन भी उन्हीं के हाथ में था। आज के राजनीतिक दलों के सूत्रधार भी वे ही हैं। साहित्य और कला पर भी इन्हीं का आधिपत्य बना रहा। इसलिए आज एक होकर भी हम अनेक हैं। अंग्रेजों ने इस भेदभाव का लाभ उठाया। पर सारा दोष अंग्रेजों के कंधों पर लाद कर हम अपने को निर्दोष नहीं कह सकते। तथापि जाति प्रथा शिथिल जरूर हुई इसमें कोई संदेह नहीं है।

नए-नए आर्थिक वर्गों का जन्म हुआ। उच्चवर्ग और श्रमिक के अतिरिक्त एक नए मध्य वर्ग का उदय हुआ। इस देश में उस वर्ग की भूमिका ही सबसे अधिक क्रांतिकारी कही जायगी। इस वर्ग के उदय का एक कारण और था नई शिक्षा।

शिक्षा का पश्चिमीकरण

अंग्रेजी राज्य की स्थापना और आर्थिक परिवर्तनों के संदर्भ में जीवन की नई समस्याएँ पैदा हुईं। इन समस्याओं से जूझने के लिए नए दृष्टिकोण की आवश्यकता पड़ी। कहना न होगा कि नई शिक्षा प्रणाली द्वारा जो ज्ञान-विज्ञान उपलब्ध हुआ उससे बहुत सहायता मिली।

१८वीं शताब्दी के अन्त में इस देश को जिस पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान के संपर्क में आना पड़ा वह भारत के ज्ञान-विज्ञान से प्रकृति में ही भिन्न था। भारतीय ज्ञान गतानुगतिक और परंपरामुक्त हो चला था। पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान नए जीवन संदर्भों की ताजगी लिये हुए था। भारतीय ज्ञान-विज्ञान का लक्ष्य आध्यात्मिक और पारलौकिक था तो पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान का लक्ष्य भौतिक और इहलौकिक। इस देश की विद्या वर्ग या जाति विशेष तक सीमित थी पर पाश्चात्य विद्या सर्वसुलभ थी।

फिर भी ज्ञान-विज्ञान के अनेक क्षेत्रों में इस देश ने अभूतपूर्व प्रगति की थी। दर्शन, ज्योतिष, गणित, औषधि, विज्ञान, धर्मशास्त्र, काव्यशास्त्र, व्याकरण आदि में इसकी जोड़ का कोई अन्य देश नहीं था। पर अब उन्हीं को दुहराया जा रहा था, नई उद्भावनाओं का मार्ग अवरुद्ध हो चला था। वेदादि की आप्तता, वर्णाश्रम धर्म की श्रेष्ठता, इहलौकिकता के प्रति अनासक्ति भाव यथास्थिति बनाये रखने के पक्षधर थे। नई परिस्थितियों में उनकी उपयोगिता के आगे प्रश्न चिह्न लग गया था। मुसलमानों में भी उसी प्रकार की गतानुगतिकता घर कर गई थी।

मैकाले ने दोनों की शिक्षा-पद्धतियों पर टिप्पणी करते हुए लिखा है—"हिन्दुओं

और मुसलमानों की शिक्षा-पद्धतियों में बहुत कुछ समानता थी। वे उस भाषा में शिक्षा देते थे जो जनता की भाषा नहीं थी। उनकी शिक्षा का मूलस्रोत धर्म था और और उसकी आप्तता अपरिवर्तनीय थी। वे नए अभिनिवेश और परिवर्तन के विरुद्ध थे––" इस प्रकार की शिक्षा-पद्धति अपने धर्म के प्रति कट्टरता की भावना ही पैदा कर सकती थी। इनके द्वारा स्वतंत्र व्यक्तित्व और विवेक सम्मत (रेशनल) दृष्टिकोण का निर्माण संभव नहीं था।

आधुनिक शिक्षा-पद्धति का समारंभ एक महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक घटना है। आधुनिक होने की दिशा में यह एक गत्यात्मक प्रयत्न माना जायगा।

आधुनिक शिक्षा प्रणाली के प्रसार में मुख्यतः तीन शक्तियों का योगदान है––१. ईसाई मिशन, २. अंग्रेज-सरकार और ३. व्यक्तिगत प्रयास।

ब्रिटिश राज्य की स्थापना के पूर्व ईसाई मिशन, दक्षिण भारत में, धर्म-प्रचार के कार्य में लगे हुए थे। नई शिक्षा से उनका कोई संबंध नहीं था। प्लासी युद्ध के बाद सन् १७५८ में डेनिश मिशन कलकत्ता आया। परंतु इसका क्रिया-कलाप भी सीमित रहा। १८९३ में मिशनरियों का दूसरा महत्त्वपूर्ण दल कलकत्ते पहुँचा। केरे और उनके दो सहयोगियों ने, जो उस मिशन से संबद्ध थे, नए बंगाल के निर्माण में महत्त्व की भूमिका निभाई। बँगला गद्य की नींव डालनेवाले लोगों में कैरे भी है। सन् १८१३ में कंपनी ने एक नया चार्टर स्वीकृत किया। इसके अनुसार शिक्षा आदि उपयोगी काम के लिए अनुदान देने की व्यवस्था की गई। इस चार्टर के बाद आनेवाले मिशनरियों में अलेक्जेंडर डफ का कार्य सर्वाधिक उल्लेखनीय है। कंपनी के अधिकारियों पर डफ का विशेष प्रभाव था। डफ धर्म-प्रचार का कार्य अंग्रेजी शिक्षा के प्रचार द्वारा करना चाहता था। डफ को धर्म-प्रचार के कार्य में तो सफलता प्रायः नहीं ही मिली पर इसी बहाने अंग्रेजी शिक्षा देने वाले बहुत से स्कूल-कालेज खुल गए।

ईसाई मिशनरियों ने जो कुछ कार्य किया उसके पीछे न तो कोई आध्यात्मिक प्रेरणा थी न अनुग्रह की भावना। वे ईसाई धर्म-प्रचार में लगे हुए थे। अपने धर्म के प्रचारार्थ उन्होंने हिन्दुओं और मुसलमानों के धर्मों पर निस्संकोच आक्रमण किया, उनकी निन्दा की। प्रत्येक मिशन स्कूल में ईसाई धर्म की शिक्षा अनिवार्य थी। उनका विश्वास था कि प्रत्येक अध्यापक विज्ञान और गणित पढ़ाते हुए प्रकारान्तर से भारतीय धर्मों को तोड़ने में मदद करता है। पर आँकड़ों से जाहिर है कि बहुत कम लोग ईसाई धर्म की श्रेष्ठता से प्रभावित होकर उसमें दीक्षित हुए। जिन लोगों ने उस धर्म को स्वीकार किया उन लोगों को प्रेरणा देनेवाली वस्तु धर्म की श्रेष्ठता नहीं, अर्थ की श्रेष्ठता थी।

फिर भी मिशनरियों के अपने काम ने भी भारतीय भाषाओं को गद्यशैली

दी। भारतीय भाषाओं (हिन्दी, बँगला, मराठी, गुजराती आदि) की गद्यशैली अत्यंत आरंभिक स्थिति में थी। जनता में धर्म के प्रचारार्थ मिशनरियों को उसकी जरूरत महसूस हुई। कैरे, ब्राउन, नेवलिन, स्किनर, बैले आदि ने भारतीय भाषाओं में बाइबिल का अनुवाद किया। स्कूलों में पढ़ाने के लिए उन्हें पाठ्य पुस्तकें भी लिखनी पड़ीं। भारतीय धर्म, पुराण आदि को भी उन्होंने विवरणात्मक गद्य में प्रस्तुत किया। स्त्री-शिक्षा के प्रसार में भी उनका महत्त्वपूर्ण योग है।

सरकारी प्रयास

अपनी विकृतियों के बावजूद मिशनरियों ने लोगों को अंग्रेजी शिक्षा की ओर आकृष्ट किया। कई दृष्टियों से इसकी उपयोगिता सिद्ध हो रही थी। इस भाषा के माध्यम से अंग्रेज व्यापारियों से विचार-विनिमय में सुविधा होती थी। अंग्रेजी जाननेवाले लोगों को विदेशी फर्मों और कंपनी के प्रशासन में नौकरी पाना सरल था।

१७६५ से १८१३ ई० तक ईस्ट इंडिया कंपनी ने शिक्षा के क्षेत्र में कुछ भी नहीं किया। किंतु वारेन हेस्टिंग्ज को मुसलमानों के तुष्टीकरण के लिए कलकत्ता मदरसा (१७८०) खोलना पड़ा। इसी प्रकार बनारस के रेजीडेंट ने सन् १७९१ में बनारस संस्कृत कालेज की नींव डाली। कलकत्ते का फोर्ट विलियम कालेज (१८०१) मुख्यत: कंपनी के सिविल सर्वेंट्स को अंग्रेजी शिक्षा देने के लिए खोला गया। किंतु यहाँ के अध्यापकों से देशी भाषा में पाठ्य पुस्तकें, कोश और व्याकरण तैयार करने का काम भी लिया गया। इस कालेज की मुख्य देन यह है कि इसके द्वारा भारतीय भाषाओं में गद्य-लेखन को प्रोत्साहन मिला। कलकत्ता मदरसा और बनारस संस्कृत कालेज की स्थापना से अंग्रेज विद्वान प्राच्य भाषा में अभिरुचि लेने लगे। विलियम जोन्स ने संस्कृत के लिए बहुत कुछ किया।

पर संस्कृत और अरबी-फारसी की शिक्षा का रोजी-रोटी से कोई संबंध नहीं रह गया था। इसलिए प्रगतिशील विचारक इसके पक्ष में नहीं थे। किंतु युद्धों में उलझे रहने के कारण १८२३ तक कंपनी इस दिशा में कुछ नहीं कर सकी। सन् १८२३ में कंपनी ने कलकत्ते में एक लोक शिक्षा समिति संघटित की। लोक शिक्षा के संबंध में इस समिति को सुझाव देना था।

इस समिति में दो विचारधाराओं के लोग थे। एच० एच० विलसन और एच० टी० प्रिन्सप प्राच्य भाषाओं के समर्थक थे। इन्होंने कलकत्ता के मदरसे और बनारस के संस्कृत कालेज का पुनर्गठन किया। १८२४ में कलकत्ता एजू-

केशन प्रेस की स्थापना हुई। इस प्रेस से संस्कृत और अरबी की पुस्तकें छपने लगीं। पर बेंथम के शिष्य जेम्स मिल के निर्देशन में काम करनेवाले डाइरेक्टर कोर्ट के लोग और ईसाई मिशनरियों में बिशप हरबर और अलेक्जेंडर डफ जैसे व्यक्ति थे।

राजा राममोहन राय ने लार्ड एम्हर्स्ट को पत्र लिखते हुए कलकत्ता संस्कृत कालेज की स्थापना का विरोध किया। उन्होंने लिखा कि व्याकरण की बारीकियों और वेदान्त, मीमांसा, न्याय को कंठस्थ करने में नवयुवकों के एक दर्जन वर्ष नष्ट करना अच्छा नहीं है। इससे वे समाज के अच्छे सदस्य नहीं बन सकते। इन विषयों के स्थान पर उन्हें प्राकृतिक विज्ञान, रसायनशास्त्र, गणित आदि की उपयोगी शिक्षा देनी चाहिए। सन् १८३४ में जब मैकाले भारत पहुँचा तो प्राच्य शिक्षा विरोधियों को काफी बल मिला।

मैकाले संस्कृत कालेज और अरबी-फारसी मदरसों के विरुद्ध था। उसका सुझाव था कि इनको बन्द कर दिया जाय। अंग्रेजी भाषा की प्रशंसा में उसने लिखा है—"हमारी भाषा पश्चिमी भाषाओं में सर्वोत्तम है। जिसे इस भाषा का ज्ञान प्राप्त है उसे संसार के अपार ज्ञान भंडार की उपलब्धि हो सकती है। बहुत कुछ संभावना है कि यह पूर्व के समुद्रों की वाणिज्य भाषा बन जाय।" लार्ड बेंटिक ने मैकाले का प्रतिवेदन स्वीकार कर लिया। संस्कृत और अरबी-फारसी को दिए जाने वाले अनुदान तो बन्द नहीं किए गए। पर प्राच्य विद्या के विद्यार्थियों को जो छात्रवृत्ति मिलती थी वह समाप्त कर दी गई और संस्कृत-अरबी-फारसी की पुस्तकों का छपना रोक दिया गया।

आकलैंड को यह स्थिति स्वीकार नहीं थी। उसने संस्कृत-अरबी-फारसी पुस्तकों का छपना जारी कर दिया। पर बेंटिक की पाश्चात्य शिक्षा की संस्तुति उसे ज्यों की त्यों मान्य थी। इस समय दो प्रश्न प्रमुख रूप से सामने आए—शिक्षा का माध्यम और जनता में शिक्षा का प्रचार-प्रसार। ये दोनों प्रश्न देश की संस्कृति, राजनीति और समाज के साथ व्यापक रूप से जुड़े हुए थे। शिक्षा के माध्यम के संबंध में तीन विकल्प थे—पहला यह कि माध्यमिक और विश्वविद्यालय की शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी हो, दूसरा यह कि संस्कृत, अरबी-फारसी हो और तीसरा यह कि बोलचाल की भाषा बँगला, हिंदी, मराठी, गुजराती, उर्दू आदि हो। चार्ल्स ग्रांट पहले मत के समर्थक थे। मैकाले ने बोलचाल की भाषा को माध्यम के रूप में असमर्थ घोषित किया। संस्कृत-अरबी के विषय में उसने जो कुछ कहा उससे उसका अज्ञान प्रकट होता है। जो भी हो अंग्रेजी भाषा माध्यम के रूप में स्वीकार कर ली गई।

बोलचाल की भाषा को शिक्षा का माध्यम न स्वीकार करने का निर्णय

अत्यंत दुर्भाग्यपूर्ण कहा जायगा। अंग्रेजों में भी विलसन और शेक्सपियर जैसे व्यक्तियों ने देशी भाषाओं की उपयोगिता का समर्थन किया। शिक्षा समिति के एक भारतीय सदस्य जगन्नाथ सेठ ने १८४७ में अपने विचार प्रकट करते हुए जो कुछ लिखा है वह अनेक दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है––"यदि हमारा उद्देश्य भारतीय जनता का ज्ञानवर्धन और उनके मस्तिष्क का परिष्कार करना है तो हमें उनकी अपनी भाषा में शिक्षा देनी चाहिए। स्त्री-शिक्षा के लिए और दूसरा कौन उपाय हो सकता है? मैं अंग्रेजी के अध्ययन को हतोत्साहित नहीं करना चाहता। किंतु मेरा दृढ़ विश्वास है कि यह शिक्षा भारतीय जनता के अभिगम के बाहर है।"[1] पर अंग्रेज अधिकारियों पर इसका कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा और अंग्रेजी भाषा उच्च शिक्षा का माध्यम स्वीकार कर ली गई।

प्रायः दलील दी जाती है कि अंग्रेजी शिक्षा के फलस्वरूप देश में एकता की भावना पैदा हुई, जीवन की समस्याओं के संबंध में लोगों ने एक ढंग से सोचना आरंभ किया। राष्ट्रीय आकांक्षाओं को जागरित करने में इसे बहुत श्रेय दिया जाता है। प्रश्न यह है कि देशी भाषाओं के माध्यम से शिक्षा देने से क्या इन उद्देश्यों की पूर्ति न होती? वस्तुतः यदि अंग्रेज अधिकारियों ने देशीभाषा का माध्यम अपनाया होता तो राष्ट्रीयता की भावना और भी जल्दी उत्पन्न होती। शिक्षा के इतना अधिक फैल जाने पर भी इस देश का आधुनिकीकरण नहीं हो पाया। अधिकांश लोग निरक्षर और जाहिल हैं। आज भी जनता की जहालत का फायदा उठाकर कभी धर्म के नाम पर कभी जाति के नाम पर पढ़े-लिखे लोग अपना उल्लू सीधा कर रहे हैं। पर उस समय इस शिक्षा के माध्यम से जिस बौद्धिक मध्य वर्ग का उदय हुआ उसके आदर्श ऊँचे थे। आगे चलकर उन्होंने इसका उपयोग राष्ट्रीय सांस्कृतिक विचारों के प्रसार में किया।

सन् १८५३ में कंपनी के आज्ञापत्र का नवीनीकरण होनेवाला था। ब्रिटिश संसद् ने भारत में स्थायी शिक्षा-नीति निर्धारित करने के सिलसिले में एक संसदीय समिति बना दी। इसके फलस्वरूप सन् १८५४ में वुड घोषणा-पत्र प्रकाशित हुआ। कुछ लोगों का कहना है कि इस घोषणा पत्र को जॉन स्टुअर्ट मिल ने तैयार किया था। इसके अनुसार जन-समूह को शिक्षित करने का प्रयत्न प्रारंभ हुआ, विश्वविद्यालयों की स्थापना हुई और प्राथमिक तथा माध्यमिक शिक्षा को भी प्रोत्साहन मिला। प्रत्येक प्रांत में शिक्षा-विभाग स्थापित

---

1. Richey, J. A.: Selections from Educational Records, Pt. II—1840-1859 (Calcutta, 1922), p. 17.

किए गए जिससे शिक्षा को एक सामान्य स्तर पर प्रतिष्ठित करने में सुविधा हुई ।

उत्तर भारत में शिक्षा

बंगाल की तरह उत्तर भारत में लोग अंग्रेजी शिक्षा की ओर उन्मुख नहीं हुए । पश्चिमोत्तर प्रदेश और अवध (आज का उत्तर प्रदेश) बहुत बाद में अंग्रेजी राज्य में मिलाया गया । कलकत्ता विदेशी व्यापारियों का केन्द्र था । व्यावसायिक फर्मों और प्रशासकीय दफ्तरों में नौकरी पाने की वहाँ सुविधा थी । बंगाल के बाहर ये सुविधाएँ उपलब्ध नहीं थीं ।

ईसाई मिशनरियों के साथ संबंध होने के कारण लोग अंग्रेजी शिक्षा को शंका की दृष्टि से देखते थे । विहार में इसके प्रति कोई उत्साह नहीं दिखाई पड़ा । बंगाल के लेफ्टिनेंट गवर्नर की एक विज्ञप्ति (१८५८) से पता चलता है कि पटना के स्कूलों के इंस्पेक्टर जनरल के कार्यालय को वहाँ के लोग शैतान का दफ्तर खाना कहते थे । उत्तर प्रदेश में अनेक अंग्रेजी स्कूल-कालेजों के खोले जाने के बावजूद कोई खास प्रगति नहीं हुई । शिक्षा में पिछड़े रहने के कारण उत्तर भारत के सांस्कृतिक विकास में भी गत्यवरोध आया, जिसे दूर करने में समय लगा ।

नवीन शिक्षा-पद्धति का लेखा-जोखा लगाने पर इसमें कई अन्तर्विरोध दिखाई पड़ते हैं । सच तो यह है कि अंग्रेजों को अपने दफ्तरों के लिए देशी बाबुओं की आवश्यकता थी जिससे उनका व्यवसाय और प्रशासन निर्बाध चल सके । ईसाई मिशनरी शिक्षा के माध्यम से लोगों को ईसाई बनाकर पुण्य लूटने के चक्कर में थे । इस देश के उत्साही व्यक्तियों की दृष्टि में भी सामान्यतः रोजी रोटी का सवाल ही प्रमुख था । साम्राज्यवादियों से यह आशा नहीं की जानी चाहिए कि वे उपनिवेशों की कल्याण-कामना से कोई काम करेंगे ।

यह कहना कि इस शिक्षा-पद्धति के कारण ही राष्ट्रीय भावना का उदय हुआ कम भ्रांतिपूर्ण नहीं है । इस शिक्षा-पद्धति के अभाव में भी राष्ट्रीय भावना का उदय होता ही । भारतेंदु हरिश्चन्द्र ने कौन सी पाश्चात्य शिक्षा प्राप्त की थी ? कांग्रेस की स्थापना के पूर्व उनकी रचनाओं में देश-काल की अनेक समस्याएँ मुखरित हुई हैं । इस शिक्षा प्रणाली के कारण छोटा सा बुद्धिजीवी मध्य वर्ग जरूर पैदा हुआ पर अधिकांश लोग निरक्षर रह गए ।

फिर भी इससे एक तरह का धर्मनिरपेक्ष दृष्टिकोण बना जो मध्यकालीन धार्मिक रूढ़ियों से मुक्त होने के कारण तर्क-सम्मत और इहलौकिक हो सका । वैयक्तिक स्वतंत्रता इसकी दूसरी उल्लेखनीय देन है । आश्रमधर्मी घेरेबन्दी से बाहर निकल कर व्यक्ति के अपने निर्णय को अहमियत मिली । मध्यकालीन

धार्मिक कथाओं को विश्वसनीय बनाने और आधुनिक युग की समस्याओं से जोड़ने के मूल में यही प्रवृत्ति क्रियाशील थी।

यातायात के साधन

१९वीं शताब्दी ईस्वी में दुनिया भर में यातायात के साधनों में परिवर्तन हुआ। इस देश में भी रेल, बस, स्टीमशिप आदि ने लोगों में राष्ट्रीयता और वैचारिक एकता की भावना भरने में सहायता पहुँचाई। किसी भी राष्ट्र के आर्थिक विकास पर ही यातायात का विकास निर्भर करता है। ब्रिटिश काल के पूर्व भारत का आर्थिक ढाँचा स्थिर और अविकसनशील था इसलिए हम बैलगाड़ी के आगे नहीं जा सके। जितना आर्थिक विनिमय हो सकता था उसके लिए बैलगाड़ी से अधिक की आवश्यकता भी नहीं थी।

इंग्लैंड की औद्योगिक क्रांति के कारण वहाँ के उद्योगपतियों के सामने यह समस्या हो गई कि वे अपने उत्पादन की खपत कहाँ करें और कारखानों के लिए कच्चा माल कहाँ से ले आवें? भला उन्हें भारतवर्ष से अच्छा बाजार और कहाँ मिल सकता था!

उन लोगों ने ईस्ट इंडिया कंपनी की सरकार से भारत में रेलवे की स्थापना और सड़क-निर्माण के लिए अनुरोध किया। लार्ड डलहौजी जो रेल-निर्माण-योजना का अगुआ था, इसके मूल में निहित आर्थिक आवश्यकताओं का उल्लेख स्वयं करता है।

आर्थिक लाभ के अतिरिक्त अंग्रेजों को बाहरी आक्रमणकारियों और आंतरिक विद्रोहों से अपनी रक्षा करने के लिए भी गमनागमन की ओर ध्यान देना पड़ा। रेलवे और अच्छी सड़कों की सहायता से फौजों का एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुँचना सुगम हो गया। जाहिर है कि इस देश के सांस्कृतिक, आर्थिक और राजनीतिक विकास के लिए इसका आयोजन नहीं हुआ बल्कि अंग्रेजों के अपने स्वार्थों को सिद्ध करने के लिए ही रेलवे का जाल बिछाया गया और अच्छी सड़कें निर्मित हुईं।

रेलों और सड़कों ने कृषि को व्यावसायिक बनाने में मदद पहुँचाई, दूरियाँ सिमट कर कम हो गई और विभिन्न क्षेत्रों के लोगों को एक दूसरे से अल्प समय में सुविधानुसार मिलने का अवसर मिला। छुआछूत, भेद-भाव आदि में कमी आई। अकाल के समय एक स्थान से दूसरे स्थान पर अन्न-वस्त्र आदि भेजने की सुविधा प्राप्त हुई। किताबों, पत्र-पत्रिकाओं आदि को दूर-दूर तक सरलता पूर्वक पहुँचाया जाने लगा। इससे पुराने संकीर्ण विचारों को तोड़ने में सहायता मिली।

प्रेस और जनमत

नई अर्थ-व्यवस्था और शिक्षा के कारण भारतीय जनता में एक ऐसी चेतना उत्पन्न हुई जिसके आधार पर वे अपनी कठिनाइयों को समझने और उनको दूर करने की कोशिश करने लगे। इसके लिए प्रेस से बेहतर और कोई साधन नहीं हो सकता था। इसके अग्रदूत भी राजा राममोहन राय थे।

भारतवर्ष में मुद्रण यंत्र स्थापित करने का श्रेय पुर्तगालियों को है। सन् १५५० में उन्होंने दो मुद्रण यंत्र मँगवाये और उनमें धार्मिक पुस्तकें छापी जाने लगीं। १६७४ में ईस्ट इंडिया कंपनी द्वारा बंबई में मुद्रणालय खोला गया। १८वीं शताब्दी में ही मद्रास, कलकत्ता, हुगली, बंबई आदि स्थानों में छापेखाने स्थापित हुए। कुछ अंग्रेजों और मिशनरियों ने समाचार पत्र निकाले किन्तु अपने देश के संदर्भ में पत्र निकालने की पहल राममोहन राय ने ही की।

सन् १८२१ में संवाद-कौमुदी का प्रकाशन आरंभ हुआ। ताराचन्द दत्त इसके संचालक और भवानीचरण वंद्योपाध्याय संपादक थे। यह एक साप्ताहिक बँगला पत्र था। इसे राजा राममोहन राय का सहयोग प्राप्त था। वे इसमें सामाजिक समस्याओं के संबंध में लेख लिखा करते थे। राममोहन राय ने सती प्रथा के विरुद्ध लगातार लिखना आरंभ किया। इससे परंपरावादी हिन्दू समाज उनके विरुद्ध हो गया और इस पत्र को भी क्षति पहुँची। इसके पहले ही श्रीरामपुर मिशन के तत्त्वावधान में दो पत्र प्रकाशित हो रहे थे—समाचार दर्पण और दिग्दर्शन। इन पत्रों का जवाब देने के लिए उन्होंने ब्रह्मैनिकल मैगजीन का प्रकाशन किया। फारसी भाषा में भी दो पत्र निकले 'जाम-ए-जहाँ-नुमा' और 'मीरत-उल-अखबार'। इनके पुरस्कर्ता भी वे ही थे।

फरदून जी मुर्जबान ने बंबई में गुजराती प्रेस खोला और १८२२ में बांबे समाचार निकालना प्रारंभ किया। दैनिक पत्र के रूप में यह अब भी निकल रहा है। द्वारिकानाथ टैगोर, प्रसन्नकुमार टैगोर, राजा राममोहन राय जैसे प्रगतिशील व्यक्तियों ने बंगदूत पत्र (१८३०) की नींव डाली। १८३० के अंत तक कलकत्ता में तीन बँगला दैनिक, एक त्रिसाप्ताहिक, दो अर्ध साप्ताहिक, सात साप्ताहिक और एक मासिक पत्र प्रकाशित हो रहे थे।

१८२६ में हिन्दी का पहला पत्र 'उदंड मार्तंड' प्रकाशित हुआ। १८३४ में कलकत्ते से ही 'प्रजामित्र' का प्रकाशन होने लगा। हिन्दी का दैनिक पत्र सुधावर्षण १८५४ में श्यामसुन्दर सेन के संपादकत्व में कलकत्ते से ही निकला। १९वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में देश में पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन और भी अधिक संख्या में होने लगा। इससे नए विचारों के आदान-प्रदान में सुविधा हुई। सड़ी हुई सामाजिक नैतिक रूढ़ियों के विरोध में पत्रों का अच्छा उपयोग किया गया।

इनके माध्यम से अंग्रेजी हुकूमत की उन कार्यवाहियों का विरोध भी शुरू हुआ जो देशहित के विरुद्ध पड़ती थीं। इसके फलस्वरूप वैज्ञानिक दृष्टिकोण और राष्ट्रीयता के प्रचार-प्रसार में काफी मदद मिली।

प्रेस की स्वतंत्रता को लेकर प्रारंभ से ही अंग्रेजों और भारतवासियों में टकराहट शुरू हुई। इस संघर्ष में भी राजा राममोहन राय ने पहल की। एडम के समय में प्रेस की स्वतंत्रता पर जो आक्रमण हुआ उसके विरोध में उन्होंने अपने अन्य राष्ट्रवादी मित्रों के साथ कलकत्ता उच्च न्यायालय में आवेदन किया। उन्होंने सरकार की इस कार्यवाही को अप्रजातांत्रिक, अव्यावहारिक तथा प्रतिक्रियावादी बताया। रमेशचन्द्र दत्त के मतानुसार संवैधानिक ढंग से राजनीतिक अधिकार प्राप्त करने के संघर्ष की यह शुरुआत थी। १७९९ में वेलेज़ली ने प्रेस की स्वतंत्रता समाप्त कर दी थी। पर १८१८ में हेस्टिंग्ज ने प्रेस संबंधी प्रतिबंधों को हटा दिया। १८२३ में जब एडम स्थानापन्न गवर्नर जेनरल था, प्रेस संबंधी अधिकार पत्र लेने का अधिनियम बना। सन् १८३५ मेटकाफ ने इस प्रथा को समाप्त कर दिया। सन् १८५७ तक यही स्थिति बनी रही।

मुद्रणालयों की स्थापना के कारण विचारों—सांस्कृतिक, सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक आदि—के प्रचार-प्रसार की सुविधा ही नहीं मिली बल्कि समाचार पत्रों के माध्यम से विचारों का विनिमय भी होने लगा। भारतीय पुनर्जागरण के लिए प्रेस का वरदान अत्यधिक मूल्यवान सिद्ध हुआ। पुनर्जागरण के नेताओं ने इस माध्यम का पूरा-पूरा उपयोग किया।

छापेखाने का प्रभाव साहित्य के लिए भी अत्यंत हितकर सिद्ध हुआ। भारतेंदु के समय में शायद ही कोई ऐसा साहित्यकार रहा हो जो किसी न किसी पत्र-पत्रिका से संबद्ध न दिखाई पड़ता हो। इन पत्र-पत्रिकाओं में शुद्ध साहित्य ही नहीं छपता था बल्कि समसामयिक समस्याओं पर भी प्रकाश डाला जाता था। पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशन का अर्थ था कि दूसरों की समस्याओं में साझेदारी करना और उनको लेकर नई-नई वैचारिक भूमियों को तैयार करना। इस प्रकार ये पत्र-पत्रिकाएँ एक ओर जहाँ जनतांत्रिक भावनाओं का पोषण कर रही थीं वहीं दूसरी ओर समाज की रूढ़ियों पर प्रहार करती हुई राष्ट्रीय चेतना के निर्माण में भी महत्त्वपूर्ण योग दे रही थीं।

मुद्रण यंत्र के कारण साहित्य में वैयक्तिकता की भावना को बल मिला। इसके पूर्व साहित्य सामान्यतः श्रुत हुआ करता था। उसके प्रशंसकों की सीमित जमात होती थी। इसलिए साहित्यकारों के लिए जरूरी था कि अपने श्रोताओं की रुचि का ध्यान रखते। काव्य का एक साथ श्रवण सामूहिकता के परिवेश में ही संभव था। पर छापेखाने ने सारी स्थिति ही उलट दी।

मुद्रण के कारण साहित्यकार और सामाजिक का सीधा संबंध नहीं रह गया। अब मुद्रण के माध्यम से ही वे एक दूसरे से संबद्ध हो पाते थे। इस माध्यम ने साहित्यकार को अवसर दिया कि वह बहुत कुछ व्यक्तिगत भी अभिव्यक्त कर सकता था। पाठकों की स्थिति भी बदली। वह मुद्रित साहित्य को एक सीमा तक वैयक्तिक स्तर पर ग्रहण करने के लिए स्वतंत्र था।

मुद्रणालय के आविष्कार के पूर्व साहित्य में वैयक्तिकता का समावेश अत्यल्प था, पर भारतेंदु तथा उनके सहयोगियों के वैयक्तिक निबंधों में उसका सन्निवेश प्रचुर मात्रा में देखा जा सकता है।

आधुनिक युग का साहित्य मुद्रण-कला के कारण अपने रूप-रंग, अभिव्यंजना, प्रभावान्विति आदि में मध्यकालीन साहित्य से पृथक् और स्वतंत्र रूप से अस्तित्व-वान हो गया है। आधुनिक काल के साहित्य में जो वैविध्य, वैयक्तिक कल्पना-छवियाँ, बौद्धिकता, प्रयोगात्मकता आई है उसका आंशिक दायित्व छापेखाने पर भी है। छापेखाने के अभाव में परिवर्तमान अभिरुचियों और संवेदनाओं का आकलन संभव नहीं था। साहित्य और कला संबंधी वादों, आन्दोलनों आदि को रूपायित करने में इसका महत्त्वपूर्ण योग है।

भारतीय जागरण (रेनेसाँ) : पश्चिम की चुनौती

अंग्रेजी राज्य की स्थापना के कारण यहाँ की अर्थनीति में बुनियादी परि-वर्तन आया। इसके फलस्वरूप धर्म, समाज, आचार-विचार की जड़ता को एक धक्का लगा। ईसाई मजहब की प्रगति के कारण हिन्दुओं, मुसलमानों की धर्म-संस्कृति की सुरक्षा का प्रश्न भी उठ खड़ा हुआ। ऐसी स्थिति में धार्मिक-सामाजिक परिष्कार की ओर लोगों का उन्मुख होना स्वाभाविक हो गया।

आर्थिक परिवर्तन, नई शिक्षा, यातायात के नए साधनों के फलस्वरूप समाज का जो आधुनिकीकरण आरंभ हुआ था वह पुराने धार्मिक संस्कारों, रीति-नीतियों, संघटनों के मेल में नहीं था। नए यथार्थ और पुराने संस्कारों के बीच नए सामंजस्य की आवश्यकता महसूस की जाने लगी। इस सामंजस्य के साथ ही नए भारतीय समाज के निर्माण की प्रक्रिया आरंभ होती है।

पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था वैयक्तिक स्वतंत्रता पर आधारित होती है। पूर्व-पूँजीवादी समाज में व्यक्ति-स्वातंत्र्य के लिए कोई स्थान नहीं होता। व्यक्ति जन्म और लिंग के आधार पर एक विशेष सामाजिक व्यवस्था का अंग हो जाता है। पर नया पूँजीवादी समाज इन बंधनों से मुक्त होकर ही विकसित हो सकता है। भारतीय पुनर्जागरण के मूल में व्यक्ति-स्वातंत्र्य का विशेष महत्त्व है।

ब्रह्मसमाज, प्रार्थना समाज, आर्यसमाज ने पुराने धर्म को नए समाज के अनुरूप ढालने का प्रयास किया। ब्रह्मसमाज और प्रार्थना समाज ने तो स्पष्ट

रूप से नए परिवर्तनों को अंगीकार कर लिया था। पर आर्यसमाज वैदिक धर्म के मूल स्वरूप को बनाए रखना चाहता था। किंतु इसका मतलब नहीं है कि वह वैदिक युग की रीति-नीतियों में लौट जाना चाहता था। उस समय की राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक विचारधारा पर आर्यसमाज का विशेष प्रभाव पड़ा।

मध्यकाल में नए परिवेश के फलस्वरूप जाति प्रथा, छुआछूत, बाह्याडंबर आदि के विरोध में भक्ति आन्दोलन उठ खड़ा हुआ था। मुसलमानों के प्रतिष्ठित हो जाने पर इस आन्दोलन के माध्यम से सामंजस्य का प्रयास दिखाई पड़ा। किंतु नए युग में नए प्रकार के सामंजस्य की जरूरत पड़ी। मध्यकाल का सामंजस्य भावनामूलक था। उस काल के बहुत से भक्त-संत अन्तर्विरोधों के भी शिकार थे। अब भावना से काम नहीं चल सकता था। भावना के स्थान पर तर्क, विवेक और बुद्धि से काम लेना अनिवार्य हो गया था। कहना न होगा कि ब्रह्मसमाज, प्रार्थना समाज और आर्यसमाज की मान्यताएँ बहुत कुछ बुद्धि-विवेक और तर्क पर ही आधारित हैं।

ब्रह्मसमाज

आधुनिक भारत की नींव का पहला पत्थर राजा राममोहन राय ने रखा। आधुनिकीकरण के सिलसिले में ही उन्होंने (१७७२-१८३३) सन् १८२८ में ब्रह्मसमाज की स्थापना की। अरबी और फारसी का उन्हें बहुत गहरा ज्ञान था। अरबी अनुवाद के माध्यम से ही वे अफलातून, अरस्तू, प्लाटीनस आदि प्राचीन यूनानी विचारकों से परिचित हुए। बनारस जाकर कुछ वर्षों तक गीता, उपनिषद् आदि का भी गहन अध्ययन उन्होंने किया। उनकी विचारधारा पर इस्लामी एकेश्वरवाद का भी स्पष्ट प्रभाव देखा जा सकता है। ईसाई मजहब से भी वे कम प्रभावित नहीं थे। ये समस्त विचारधाराएँ उन्हें पुराने औपनिषदिक दर्शन में मिल गईं—विशेष रूप से तैत्तिरीय और कौषीतकी में। कर्मकांड और अंधविश्वास का विरोध करने के लिए उन्होंने उपनिषदों का उपयोग किया।

मूर्तिपूजा को उन्होंने धर्म का बाह्याडंबर माना और इसके समर्थन में जितने तर्क दिए जाते थे उनका खंडन उपनिषदों के आधार पर किया। अंधश्रद्धा और परंपरावादिता को उन्होंने खतरनाक बताया। परंपरा में ऐसी बहुत सी चीजें जोड़ दी जाती हैं जो अविवेकपूर्ण हैं। उनके मतानुसार परंपरा का प्राचीनतम रूप शुद्ध ब्रह्म की उपासना है न कि मूर्ति-पूजा।

आज से डेढ़ सौ वर्ष पहले वे अकेले व्यक्ति थे जो अंधविश्वासों और रूढ़ियों के विरुद्ध लड़ रहे थे। उनकी विचारधारा में तर्क की प्रधानता थी जो लाक, ह्यूम और रूसो के मेल में थी। उनका मत था कि व्यक्ति को स्वयं दार्श-

निक ग्रंथों का अध्ययन करना चाहिए और उनके सिद्धांतों को अपने तर्क की कसौटी पर कस कर खरा उतरना चाहिए। जो अंश तर्कानुमोदित न हों उन्हें अस्वीकार करना आवश्यक है।

धर्म हिन्दूसमाज की रीढ़ है। हिन्दूसमाज की रचना धर्म के आधार पर ही की गई है। इसलिए धार्मिक सुधार सामाजिक सुधार से अनिवार्यत: संबद्ध हो जाता है। राजा राममोहन राय तथा अन्य धर्म सुधारकों ने इसे अच्छी तरह पहचान लिया था। अत: राजा राममोहन राय के नेतृत्व में ब्रह्मसमाज ने कई प्रकार की सामाजिक कुरीतियों पर प्रहार किया। जाति प्रथा को उन्होंने अमानवीय और राष्ट्रीयता विरोधी कहा। सती प्रथा के विरोध में उनका प्रयास सर्वदा स्मरणीय रहेगा। उन्होंने विधवा-विवाह तथा स्त्री-पुरुष के समानाधिकार का भी समर्थन किया।

राजा ने पाश्चात्य संस्कृति को भी मूल्यवान समझा। इसीलिए अंग्रेजी शिक्षा-प्रणाली के प्रसार में उचित योग भी दिया। उस समय के ब्रिटिश राज्य की अच्छाइयों की उन्होंने प्रशंसा की। वस्तुत: १९वीं शती के पूर्वार्द्ध तक अंग्रेजों ने जो कुछ किया वह ऐतिहासिक दृष्टि से प्रगतिशील ही कहा जायगा।

ब्रह्मसमाज को देवेन्द्रनाथ टैगोर (१८१७-१९०५) और केशवचन्द्र सेन (१८३८-८४) ने आगे बढ़ाया। देवेन्द्रनाथ वेदों की अपौरुषेयता पर विश्वास नहीं करते थे, उनकी आस्था अन्त:प्रज्ञा पर अधिक थी। केशवचंद्र सेन बहुत कुछ प्रयोगवादी थे। उन्होंने ब्रह्मधर्म के प्रसार के लिए दूर-दूर तक यात्राएँ कीं। उनकी प्रेरणा के फलस्वरूप मद्रास में वेद समाज और बंबई में प्रार्थना समाज की स्थापना हुई। वे राजा राममोहन राय की तार्किकता और बौद्धिकता तक ही अपने को सीमित न रख करके वैष्णवों के भजन-कीर्तन की ओर आकृष्ट हुए। ईसाई धर्म की ओर भी वे अधिकाधिक झुकते गए। केशव के कारण समाज में दो बार फूट पड़ी और दोनों बार उन्होंने अलग संस्थाएँ स्थापित कीं—साधारण ब्रह्मसमाज और नव वेदान्त। केशव के बाद ब्रह्मसमाज में कोई ऐसा व्यक्ति नहीं हुआ जो शिक्षित समाज को प्रभावित करता।

प्रार्थना समाज

सन् १८६४ में बंबई और पूना में केशवचन्द्र सेन का आगमन हुआ। उनके प्रभाव से १८६७ में प्रार्थना समाज की स्थापना हुई। इसके प्रमुख उन्नायक महादेव गोविन्द रानाडे थे। वे उन्नीसवीं शताब्दी के चोटी के बुद्धिजीवी, विधिवेत्ता और मेधावी व्यक्ति थे। देश और समाज का कोई ऐसा पक्ष नहीं था जिसकी ओर उनकी दृष्टि न गई हो। वे चालीस वर्षों तक सामाजिक रूढ़ियों और अंधविश्वासों के विरुद्ध संघर्ष करते रहे।

उन्होंने धार्मिक और सामाजिक समस्याओं पर तर्कपूर्ण ढंग से विचार किया। उन्हें हिन्दू होने का गर्व था और वे भागवत धर्म के अनुयायी थे। वे संकीर्ण विचारधारा को कभी भी प्रश्रय नहीं देते थे। वे प्रगति, विकास के विश्वासी थे।

उन्होंने शंकराचार्य के अद्वैतवाद का विरोध करते हुए रामानुज के द्वैतवाद का समर्थन किया। मध्यकालीन मराठा संतों के प्रति उनकी गहरी आस्था थी। वे ईश्वर को सार्वभौम और स्रष्टा मानते थे। आत्मा की अमरता में उन्हें विश्वास था। पर वे अपने विचारों में कहीं भी प्रतिक्रियावादी नहीं हैं और न तो उनमें कोई पूर्वग्रह ही है।

अतीत के प्रति उनके मन में आदर था। किंतु इसका अर्थ यह नहीं था कि वे अतीत को उसके उसी रूप में पुनः प्रतिष्ठित करना चाहते थे। पुराने आचार-विचार और संस्थाओं को उनके मूल रूप में पुनः स्थापित करने वाले पुनरुत्थान-वादियों से वे अनेक प्रश्न पूछते हैं। "हम किस चीज़ का पुनरुत्थान करें? क्या हम अपने पूर्वजों के पशुतुल्य भोजन और सुरापान को पुनरुत्थापित करें? क्या हम बारह प्रकार के पुत्र और आठ प्रकार के विवाहों को पुनः शुरू करें? क्या पशु यज्ञ या मानव बलि का पुनरारंभ किया जाय? क्या सती प्रथा को पुनः जारी करना चाहिए? क्या आज भी जगन्नाथ के रथ से कुचलकर मर जाना श्रेयस्कर घोषित करना चाहिए?"

रानाडे अतीत के मृततत्त्व को मृत मानकर चलनेवाले व्यक्ति थे। उन्होंने स्पष्ट लिखा है कि मृत अतीत को कभी भी जीवित नहीं किया जा सकता। समाज जीवित अवयवों का संघटन है। इसमें परिवर्तन की प्रक्रिया बराबर चलती रहती है। इस प्रक्रिया के बंद हो जाने पर समाज मुर्दा हो जायगा।

रानाडे ने जिस एक सुधार पर बार-बार जोर दिया है वह है मनुष्य की समानता। वे जाति-पाँति की प्रथा के विरुद्ध और अन्तर्जातीय विवाह के पक्षधर थे। स्त्री-शिक्षा पर उन्होंने बराबर बल दिया है। उनका वस्तुनिष्ठ दृष्टिकोण, तर्कपद्धति और सामाजिक परिष्कार के प्रति अभिरुचि आदि से स्पष्ट है कि वे पाश्चात्य विचारधारा से प्रभावित थे। किंतु पाश्चात्य मत को भी उन्होंने बिना वितर्क के स्वीकार नहीं किया। जाहिर कि वे भी भारतीय संस्कृति को नवीन वैज्ञानिक विचार-प्रणाली के अनुरूप ढालने की कोशिश कर रहे थे।

रामकृष्ण मिशन

रामकृष्ण परमहंस अपने संपूर्ण व्यक्तित्व में परमहंस थे। उनके संबंध में कहा जाता है कि इस गरीब, अपढ़, गँवार, रोगी, अर्धमूर्तिपूजक, मित्रहीन हिन्दू भक्त ने बँगाल को बुरी तरह हिला दिया। उनके योग्य शिष्य विवेकानन्द ने उन्हें बाहर से भक्त और भीतर से ज्ञानी कहा है। स्वयं विवेकानन्द के

संबंध में ठीक इसका उलटा कहा जा सकता है। रामकृष्ण परमहंस के देहावसान के बाद विवेकानन्द ने रामकृष्ण मिशन की स्थापना की।

सन् १८९३ में विश्व-धर्म संसद् में सम्मिलित होने के लिए वे शिकागो गए। उनकी वक्तृता से प्रभावित होकर न्यूयार्क हेराल्ड ट्रिब्यून ने लिखा था—"विश्व-धर्म संसद् में विवेकानन्द सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति थे। उनको सुनने के बाद ऐसा लगता है कि उस महान् देश में धार्मिक मिशनों को भेजना कितनी बड़ी मूर्खता थी।" विश्वविजय करने के बाद इस देश में उनका अत्यंत भव्य स्वागत हुआ।

यद्यपि उनका मुख्य प्रयोजन रामकृष्ण परमहंस के उपदेशों का प्रचार करना था फिर भी सामाजिक कार्यों में उनकी गहरी रुचि थी। मानवीय समता के विश्वासी होने के कारण उन्होंने जाति, संप्रदाय, छुआछूत आदि का विरोध किया। गरीबों के प्रति उनकी सहानुभूति अत्यंत प्रगाढ़ थी। उन्होंने कहा है—"पूजा के सभी उपकरणों को फेंक दो—शंख, घंटा-घड़ियाल, दीप को प्रतिमा के सम्मुख डाल दो—वैयक्तिक मुक्ति के लिए की गई साधना; शास्त्रों के अध्ययन का अहंकार छोड़ दो। गाँव-गाँव जाओ और गरीबों की सेवा में अपने को निछावर कर दो।"

शिक्षितों तथा उच्चवर्ग की भर्त्सना करते हुए उन्होंने लिखा है—"जब तक देश के हजारों लोग भूखे हैं, अज्ञानी हैं, मैं प्रत्येक शिक्षित वर्ग को धोखेबाज कहूँगा। गरीबों के पैसे से पढ़कर भी वे उनकी ओर तनिक भी ध्यान नहीं देते। भारत को केवल जनता से आशा करनी चाहिए। उच्चवर्ग शारीरिक और नैतिक दृष्टि से मर चुका है। धर्म वह है जो शारीरिक, बौद्धिक और आध्यात्मिक शक्ति दे, जो आत्म-सम्मान और राष्ट्रीय गौरव प्रदान करने में सहायता करे। धर्मगत ध्यान यदि व्यक्ति को प्रमादी और निष्क्रिय बनाता है तो उसे त्याग देना चाहिए। तुम्हारे रामकृष्ण की चिन्ता कौन करता है? तुम्हारी भक्ति और मुक्ति को कौन देखता है? तुम्हारे धर्मग्रंथों की परवाह किसे है? अगर मैं अपने देशवासियों को कर्मयोग में दीक्षित कर सकूँ और इसके लिए मुझे हजारों बार नरक जाना पड़े तो मुझे प्रसन्नता होगी।"

विवेकानन्द ने हीनता की भावना से ग्रस्त देश को यह अनुभव कराया कि इस देश की संस्कृति अब भी अपनी श्रेष्ठता में अद्वितीय है, इस देश का आध्यात्मिक चिन्तन असमानान्तर है। आध्यात्मिक स्तर पर मनुष्य-मनुष्य की समता, एकता, बंधुत्व और स्वतंत्रता की ओर भी उन्होंने हमारा ध्यान आकृष्ट किया। पश्चिम की भौतिकता से चमत्कृत देशवासियों को पहली बार यह एहसास हुआ कि हमारी अपनी परंपरा में भी कुछ ऐसी वस्तुएँ हैं जिन्हें दुनिया के सामने गौरवपूर्ण ढंग से रखा जा सकता है।

आर्यसमाज

गुजरात, उत्तर प्रदेश और पंजाब में आर्यसमाज का प्रभाव था। इन प्रदेशों का मिजाज बंगाल से भिन्न है। बंगाल की भावुकता के स्थान पर इन्हें पौरुष और अक्खड़ता अधिक प्रिय है। बंगाल और महाराष्ट्र के पुनर्जागरण में मध्यकालीन संतों की वाणी का भी योगदान है। पर आर्यसमाज में उनका कोई स्थान नहीं है।

सन् १८६७ में दयानन्द सरस्वती ने बंबई में आर्यसमाज की स्थापना की। दयानन्द असाधारण व्यक्ति थे। वे संस्कृत के चोटी के विद्वान्, वाग्मी और अत्यंत मेधावी थे। उनका व्यक्तित्व अतिशय दृढ़ और असमझौतावादी था। उनके विचारों में कहीं भी अस्पष्टता और रहस्यवादिता नहीं मिलेगी। विवेकानन्द को छोड़कर इतना अटूट आत्म-विश्वास अन्यत्र नहीं दिखाई देगा।

उन्होंने आर्यसमाज के लिए वेदों को आधार माना। वे वेदों को शाश्वत और अपौरुषेय मानते थे। वैदिक धर्म ही सत्य और सार्वभौम है। दूसरे धर्म अधूरे हैं। इसलिए समाज का कर्त्तव्य है कि अन्य धर्मावलंबियों को हिन्दू धर्म में दीक्षित करे।

आर्यसमाज ने सामाजिक और नैतिक मूल्यों को देखते हुए एक आचार संहिता बनाई। इसमें जाति भेद, मनुष्य-मनुष्य या स्त्री-पुरुष में असमानता के लिए कोई स्थान नहीं था। निश्चय ही यह एक लोकतांत्रिक दृष्टि थी। वैदिक धर्म के व्याख्याता होने के बावजूद वे पाश्चात्य शिक्षा के समर्थक थे। समाज की भौतिक उन्नति के लिए वे पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा आवश्यक समझते थे। १८८६ में दयानन्द एंग्लो-वैदिक कालेज की स्थापना हुई। आगे चलकर प्रत्येक महत्त्वपूर्ण स्थान पर दयानन्द स्कूल-कालेज खोले गए।

अपने हिन्दूवादी दृष्टिकोण के बावजूद आर्यसमाज ने राष्ट्रीय विचारधारा को आगे बढ़ाने में आश्चर्यजनक योगदान किया। कुछ समय तक ब्रिटिश सरकार इसे दबाने के लिए भरपूर चेष्टा करती रही। दी टाइम्स की ओर से १९०७ के बाद होनेवाले राष्ट्रीय आन्दोलनों की जाँच करने के लिए एक प्रतिनिधि आया था। उसने आर्यसमाज को ब्रिटिश साम्राज्य के विरुद्ध सबसे अधिक खतरनाक तत्त्व बतलाया।

उत्तर भारत के आचार-विचार, रहन-सहन, साहित्य-संस्कृति पर आर्यसमाज का गहरा प्रभाव पड़ा। गद्य की भाषा के परिष्कार में भी इस आन्दोलन का अभूतपूर्व योग है। छुआछूत पर जितना प्रबल आघात इस आन्दोलन ने किया उतना और किसी ने नहीं। बंगाल, महाराष्ट्र और तामिलनाडु के आन्दोलन उच्च और उच्च-मध्यवर्ग तक ही सीमित रहे।

पर आर्यसमाज का प्रसार मुख्यतः मध्यवर्ग के बीच हुआ। इसलिए इसका कार्य अधिक क्रांतिकारी सिद्ध हो सका।

आर्यसमाज के कार्य एक ओर प्रगतिशील थे तो दूसरी ओर प्रतिक्रियावादी। जहाँ तक मानवीय समता, अस्पृश्यता आदि का संबंध है, इसे प्रगतिशील माना जायगा। किंतु मुसलमानों के प्रति इसका आक्रामक रुख प्रतिगामी प्रवृत्ति का सूचक है। वेद को अपौरुषेय और अतर्क्य मान लेने के कारण मुक्त व्यक्तिगत चिन्तन के लिए इसमें अवकाश नहीं रह गया।

थियोसोफी

थियोसोफिकल आन्दोलन भारतीय धार्मिक परंपरा पर ही आधारित था। थियोसोफिकल सोसाइटी की स्थापना मदाम ब्लावत्स्की और कर्नल ओल्काट द्वारा न्यूयार्क में सन् १८७५ में हुई। सोसाइटी के संस्थापक जनवरी १८७९ में भारतवर्ष पहुँचे। १८८२ ई० में अड्यार (मद्रास) में इसकी शाखा खोल दी गई। श्रीमती एनी बेसेंट सन् १८८८ में इस संस्था की इंग्लैंड शाखा से संबद्ध हो गईं। १८९३ में वे भारत आईं और सोसाइटी के विकास में तन-मन से जुट गईं। उन्होंने घोषित किया कि "मैं अपने विगत के संस्कारों के कारण हृदय से तुम्हारे साथ हूँ।" अपने गत्यात्मक व्यक्तित्व और असाधारण वक्तृत्व शक्ति के कारण उन्होंने अनेक शिक्षित भारतीयों को आकृष्ट किया।

श्रीमती बेसेंट ने समस्त देश का दौरा किया और हिन्दू धर्म के आध्यात्मिकता के पक्ष में ओजस्वी भाषण दिए। थियोसोफी में उन्होंने अपने आदर्शों को मूर्त रूप देने के लिए शिक्षा संस्थाएँ भी खोलीं। बनारस का सेंट्रल हिन्दू कालेज इसी तरह का कालेज था। इस आन्दोलन के कारण उदारता और समन्वयवादी दृष्टि का विकास हुआ। किंतु यह बहुत कुछ उच्च वर्ग तक ही सीमित रहा।

प्रतिक्रियाएं

बंगाल, महाराष्ट्र और उत्तर भारत में नए धार्मिक आन्दोलनों के विरुद्ध पुनरुत्थानवादी प्रतिक्रियाएँ आरंभ हुईं। बंगाल में राधाकांत देव ने राजा राममोहन राय के ब्रह्मसमाज के विरोध में धर्म सभा (१८३०) की स्थापना की। पर '५७ तक वह समाज का प्रभाव कम नहीं कर सकी। किंतु '५७ के विद्रोह के बाद सुधारवादी रेडिकल्स का जोर कम हो गया और पुरातनवादी मनोवृत्तियाँ उभर कर सामने आईं।

१८५८ के अनन्तर बंगाल में दो प्रवृत्तियों का ज्यादा जोर था—राष्ट्रीयतावादी और स्वच्छन्दतावादी। दोनों के मूल में वैयक्तिकता, अतीत के प्रति

गौरव का भाव, विदेशी सत्ता के विरुद्ध आक्रोश, गाँव की बढ़ती हुई गरीबी के प्रति सहानुभूति, स्वतंत्रता और समानता के प्रति आग्रह आदि क्रियाशील थे।

अतीत के गौरव के प्रति जाग्रति फैलाने का श्रेय उन पुरातत्त्ववेत्ताओं और पुरालेखविदों के मुद्राशास्त्रियों को है जिन्होंने विस्मृति के गर्भ में विलीन भारतीय साहित्य, कला, ज्ञान-विज्ञान, दर्शन, वास्तुकला आदि का पुनरुद्धार किया। इसके फलस्वरूप संसार में भारत का गौरव बढ़ा और इस देश के निवासियों में आत्म-सम्मान का भाव जाग उठा।

अब पाश्चात्य संस्कृति के सामने डटकर खड़ा हुआ जा सकता था। नवीन हिन्दूवाद का जन्म हुआ। इसमें मुख्यतः दो दल थे, एक प्रत्येक प्रकार के सुधार का विरोधी था, दूसरा यथास्थान नए विचारों के सन्निवेश का पक्षपाती था। किंतु मुख्य धारा में यह किसी प्रकार के मौलिक परिवर्तन का आकांक्षी नहीं था। बंकिमचंद्र चैटर्जी ऐसे ही व्यक्ति थे। वे गीता के निष्काम कर्मयोग के हिमायती थे। उन्होंने धर्मतत्त्व पर दो जिल्दों में पुस्तकें लिखीं, कृष्ण के संबंध में कृष्ण-चरित्र ग्रंथ लिखा।

वे धर्म सुधारकों की भाँति टुकड़ों-टुकड़ों में समाज सुधार के हिमायती नहीं थे। उनका विश्वास था कि धर्म और नैतिकता के समग्र पुनर्जागरण में ही समाज-सुधार समाविष्ट हो जाता है। बंकिम के विचारों और उपन्यासों में देशप्रेम का स्थान बहुत ऊँचा था। वे देशप्रेम को धर्म और धर्म को देशप्रेम कहते थे।

महाराष्ट्र की स्थिति बंगाल से भिन्न थी। एक तो वह अंग्रेजों के अधिकार में बंगाल से ६० वर्ष पीछे आया और दूसरे पेशवा राज्य की परिसमाप्ति का दर्द उसे बना हुआ था। अपनी परंपराओं के प्रति उसे अधिक अनुराग था। महाराष्ट्र ने देश की गरीबी, भुखमरी आदि का पूरा दायित्व अंग्रेजी राज्य पर डाल दिया। चिपलूणकर के निबंधों में देश के पराभव का एकमात्र जिम्मेवार विदेशी शासन को ठहराया गया। तिलक ने रानाडे के सुधारों का विरोध किया। उनकी दृष्टि में इन सुधारों से समाज विभक्त होगा और इससे राजनीतिक शक्ति प्राप्त करने में बाधा पहुँचेगी। जनता को एक करने के लिए उन्होंने गणेश पूजा की शुरुआत की। उत्तर भारत में आर्यसमाज के विरोध में सनातन धर्मावलंबियों ने अपना स्वर बुलंद किया। इन विरोधी स्वरों के कारण सुधार का कार्य तो मंद पड़ा किंतु राष्ट्रीयता को और अधिक बल मिला।

मध्यकालीनता से आधुनिकता की ओर

यद्यपि अंग्रेजों ने इस देश में नयी अर्थ-व्यवस्था, औद्योगिकता, संचार-सुविधा, प्रेस आदि को अपने निजी स्वार्थों के लिए स्थापित किया फिर भी इससे इस देश का हित हुआ। एक स्थिर व्यवस्था से छूटकर देश को नूतन गत्यात्मकता का

अनुभव हुआ । परंपराएँ टूटने लगीं। नए परिवेश में, ऐतिहासिक माँग के फलस्वरूप, लोग अपने को नए ढंग से ढालने लगे । आधुनिक काल में जिस पुनर्जागरण का उल्लेख किया जाता है उसके मूल में भी ये बदली हुई परिस्थितियाँ ही थीं ।

इसके पूर्व धर्म मुख्यतः पारलौकिक आकांक्षाओं से संबद्ध था, किंतु आधुनिक काल में वह इहलौकिक आकांक्षाओं का भी वाहक बना । पूँजीवादी समाज की भौतिकता के फलस्वरूप धर्म-सुधारकों को इस तरह का बाना धारण करना पड़ा था या कहिए कि इसके लिए उन्हें बाध्य होना पड़ा ।

भारतीय धर्म और संस्कृति के संबंध में अंग्रेज प्रशासकों और ईसाई मिशनरियों के आक्रामक रुख के कारण धर्म-सुधारकों को धारदार मार्ग से गुजरना आवश्यक हो गया । एक ओर उन्हें विदेशियों के समक्ष अपनी धर्म-संस्कृति की वकालत करनी पड़ी और दूसरी ओर देशवासियों के सामने धर्म का नया अर्थापन करना पड़ा । इस प्रकार हर बात को तर्क-संगत (रैशनल) बनाने की दिशा में जो पहल की गई वह बहुत फलदायक सिद्ध हुई ।

इस संक्रांतिकाल में धर्म का पल्ला पकड़ना बहुत जरूरी था, क्योंकि धर्म अनिवार्यतः समाज सुधार के साथ जुड़ा हुआ था । पुराणपंथी और सुधारक दोनों ने अपने-अपने मत के प्रचारार्थ धर्मशास्त्रों की शरण ली । इस युग में राजा राममोहन राय अकेले व्यक्ति थे जिन्हें शुद्ध बुद्धिवादी कहा जा सकता है । सती प्रथा को उन्मूलित करने के लिए उन्हें भी धर्मशास्त्रों की गवाही की आवश्यकता हुई । विद्यासागर ने सिद्ध किया कि धर्मशास्त्रों में वैधव्य का कोई विधान नहीं है । दयानन्द सरस्वती सामाजिक सुधारों को वैधता देने के लिए वेदों की ओर उन्मुख हुए और उन्होंने अपने मत के पुष्ट्यर्थ वेदों का नया अर्थ भी किया । धीरे-धीरे तर्क की संगति पर विशेष बल दिया जाने लगा । इससे रूढ़ियों को उच्छिन्न करने में सुविधा हुई ।

परंपरावादी और धर्मसुधारक दोनों ही अतीत के गौरव को जागरित करने में सफल हुए । इससे भारतीयों को आत्म-सम्मान का बोध हुआ और बराबरी के स्तर पर पश्चिम का सामना करने तथा स्वतंत्रता की माँग करने का आत्म-विश्वास प्राप्त हुआ । यद्यपि वे परंपरावादी धर्म सुधार में बहुत आस्था नहीं रखते थे फिर भी राष्ट्रीयता पर उन्होंने अत्यधिक बल दिया । उनका कहना था कि राष्ट्रीयता में सभी सुधार समाविष्ट हैं ।

वस्तुतः जिन्हें परंपरावादी कहा जाता है और जिस अर्थ में कहा जाता है उस अर्थ में वे परंपरावादी नहीं थे । रैडिकल भी पूरे तौर पर रैडिकल नहीं थे । परंपरा के नैरन्तर्य को देखते हुए समस्या केवल चुनाव को लेकर खड़ी होती है ।

परंपरा की निरंतरता में कुछ अंश नए युग के प्रसंग में सार्थक होते हैं और कुछ अर्थहीन। परंपरा की प्रासंगिकता किस तत्त्व में है और किस में नहीं––इसका विवेचन और चुनाव अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। तथाकथित परंपरावादी और रैडिकल दोनों के मूलभूत दृष्टिकोण में कोई अन्तर नहीं था, फिर भी दोनों के अभिगम अलग-अलग थे। पाश्चात्य शिक्षा-प्रणाली में दोनों ने विश्वास व्यक्त किया और नई शिक्षा-संस्थाएँ खोलीं। शिक्षा-संस्थाएँ तो पहले भी थीं पर इन शिक्षा-संस्थाओं का रूप एकदम बदल गया। इनका उद्देश्य पश्चिमी ज्ञान-विज्ञान से परिचित कराना था।

नए अर्थ-तंत्र, शिक्षा-प्रणाली, संचार-जाल आदि के कारण पश्चिमीकरण की प्रक्रिया का आरंभ होता है। बहुत से लोग इसे पश्चिमीकरण न कहकर आधुनिकीकरण कहते हैं। पश्चिमीकरण शब्द का प्रयोग बहुत संगत नहीं है क्योंकि स्वयं पश्चिम को बहुत-सी बातें पूर्व से मालूम हुई हैं जैसे मुद्रण-यंत्र का आविष्कार सबसे पहले चीन देश में हुआ। पश्चिमीकरण से भ्रम होता कि पश्चिमी रीति-नीति, आचार-व्यवहार, वेश-भूषा आदि का अंधानुकरण। आधुनिकीकरण एक दृष्टिकोण है जो वैज्ञानिक विचारधारा से बनता है और वह मूलतः इस लोक से ही संबद्ध होता है।

एम० एन० श्रीनिवास ने 'आधुनिक भारत में सामाजिक परिवर्तन' पुस्तक में लिखा है––"भारतीयों को केवल स्याहीसोख का दर्जा देना तो स्पष्ट ही वाहियात है। यह कहना ठीक नहीं कि जिस किसी बात के संपर्क में वे आए वह सब उन्होंने आत्मसात् किया उसे दूसरों तक संप्रेषित कर दिया––यद्यपि कुछ एक व्यक्तियों के साथ निस्संदेह ऐसा हुआ। वास्तव में पश्चिम से कुछ बातें ग्रहण की गईं और ग्रहण की गईं बातों में भी रूपान्तर हुआ।"

रूपान्तरण की इस प्रक्रिया में पश्चिमी विचारकों में मिल, बेंथम, काम्ते आदि से बहुत कुछ प्रेरणा ग्रहण की गई। किन्तु इसके लिए शास्त्रों के साथ-साथ मध्यकालीन संतों की बानियों का भी सहारा लिया गया। छुआछूत, जाति-प्रथा, स्त्री-पुरुष के भेद आदि का विरोध और स्वतंत्रता-समानता आदि का समर्थन इस तथ्य का सूचक है कि इस समय तक नवीन मानवतावाद का आविर्भाव हो चुका था।

संस्कृत के शास्त्रों और मध्यकालीन संतों-भक्तों की बानियों में भी एक प्रकार का मानवतावाद मिलता है पर वह मानवतावाद सर्वत्र ईश्वरवाद से संदर्भित है। कबीर हिन्दू-मुसलमान के भेद पर यह कहकर प्रहार करते हैं कि वे सभी ईश्वर की संतान हैं। कर्मकांड की निन्दा वे 'इसलिए करते हैं कि वह ईश्वर

प्राप्ति में बाधक है। भक्तों में तुलसी की स्पष्टोक्ति है 'नाते सबै रामके मानि-यत।' पर आधुनिक युग में मनुष्य-मनुष्य की समता, स्वतंत्रता आदि को सामाजिक न्याय के आधार पर समर्थित किया गया।

पर इन आन्दोलनों में से अधिकांश में एक अन्तर्विरोध दिखाई पड़ता है। इनके आदर्शों और व्यवहारों में सर्वत्र एकरूपता नहीं मिलती। टैगोर परिवार ब्राह्म था। ब्रह्मसमाज में मूर्तिपूजा के लिए कोई स्थान नहीं है पर टैगोर परिवार खूब धूमधाम के साथ दुर्गोत्सव मनाता था। आर्यसमाज में वर्ण-व्यवस्था जन्मना नहीं कर्मणा मानी जाती थी। लेकिन आर्य-समाजियों में ऐसे बहुत कम लोग मिलेंगे जो जाति के बाहर विवाह-संबंध स्थापित करने में संकोच का अनुभव न करते रहे हों। दूसरा अन्तर्विरोध यह था कि राजा राममोहन राय, रानाडे आदि बहुत से लोग अंग्रेजी राज्य को देश के लिए वरदान समझते थे लेकिन उनके दोहन, शोषण आदि का विरोध करते थे। समाज में एक ओर संस्क्रतीकरण बढ़ रहा था तो दूसरी ओर लौकिकीकरण। इस अन्तर्विरोध से गुजर करके आधुनिक काल का स्वरूप निखरा।

संगीत, चित्र और साहित्य की नई स्थिति

नई परिस्थिति और परिवेश के कारण साहित्य,-संगीत और कला को भी संकट का सामना करना पड़ा। उनको आश्रय देनेवाले केन्द्र तेजी से टूटने लगे थे। कला-संगीत तो विशेष घरानों से संबद्ध हुआ करते थे। ये घराने पीढ़ी दर पीढ़ी उनकी रक्षा में संलग्न रहा करते थे। इन घरानों के संरक्षण का दायित्व सामंत वर्ग पर था।

मध्यकाल में भक्त कवियों के अतिरिक्त अकबर, जहाँगीर, मानसिंह तोमर आदि ने संगीत को प्रश्रय दिया। उनके दरबारों में अनेक कलावन्त रहते थे। तानसेन अकबरी दरबार का ही संगीतज्ञ था। मानसिंह ने गूजरी टोड़ी, मंगल गूजरी, ध्रुपद आदि को नवाविष्क्रत किया। मुगल-सल्तनत के समाप्त होने पर संगीत की मौलिकता समाप्त हो गई। वह छोटे-मोटे सामंतों के आश्रय में किसी प्रकार साँस लेता रहा।

पाश्चात्य संस्क्रति की आँधी में जो कुछ शेष था वह भी समाप्त हो गया। पर भारतीय पुनर्जागरण के फलस्वरूप रविबाबू ने नए संगीत की कल्पना की जिसमें पूर्व और पश्चिम के स्वरों का मिश्रण था। इसे रावीन्द्रिक संगीत की संज्ञा दी गई। सन् १९१९ में अखिल भारतीय संगीत परिषद् की स्थापना हुई। अब भारतीय संगीत के पुनरुद्धार का कार्य आरंभ हुआ। इस कार्य में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण योग विष्णुनारायण भातखंडे का है।

आधुनिक काल में कुछ दिनों तक भारतीय चित्रकला पश्चिम का अनुकरण

करती रही। पर पश्चिम के ढंग के जिन तैल चित्रों पर निर्माण किया गया वे अपनी अभिव्यक्ति में मध्यकालीन थे। त्रावंकोर के राजा रविवर्मा के चित्रों की विषय-वस्तु भी पौराणिक और धार्मिक थी। उनके चित्रों की रूपरेखा सुनिर्मित, वर्णयोजना चटकपूर्ण और आकर्षक थी। महावीर प्रसाद द्विवेदी ने सरस्वती में रविवर्मा के अनेक चित्रों को प्रकाशित किया।

पर १८५४ में कलकत्ता आर्ट स्कूल की स्थापना के साथ ही भारतीय चित्रकला में नया मोड़ आता है। ई० बी० हैवेल इसके अध्यक्ष थे। आगे चलकर हैवेल, अवनीन्द्रनाथ ठाकुर तथा आनन्द कुमारस्वामी ने भारतीय चित्र-शैली को नया रूप दिया जो मूलतः इस देश की होती हुई भी आधुनिक जीवन-दृष्टि से अनुप्राणित थी। सन् १९०७ में गगनेन्द्रनाथ ठाकुर ने इंडियन सोसाइटी आफ ओरिएंटल आर्ट्स की स्थापना की। इन प्रयत्नों का फल यह हुआ कि भारतीय चित्र-शैली का एक स्वतंत्र रूप निर्मित हुआ। चित्र-शैली में भी बंगाल ने पहल की। इसके माध्यम से अपनी चित्र-परंपरा को नए संदर्भों में पुनः जीवित करने का प्रयास किया गया। भारतीय नव-जागरण की ही अभिव्यक्ति चित्रों के माध्यम से हुई।

नव-जागरण का सबसे अधिक प्रभाव बँगला साहित्य पर पड़ा। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'हिंदी साहित्य का इतिहास' में लिखा है—"संवत् १९२२ में वे (भारतेंदु हरिश्चन्द्र) अपने परिवार के साथ जगन्नाथ जी गए। उसी यात्रा में उनका परिचय बंगदेश की नवीन साहित्यिक प्रगति से हुआ। उन्होंने बंगाल में नए ढंग के सामाजिक, देश-देशान्तर संबंधी ऐतिहासिक और पौराणिक नाटक, उपन्यास आदि देखे और हिन्दी में वैसी पुस्तकों के अभाव का अनुभव किया।" संभव है वे बँगला साहित्य से अनुप्रेरित हुए हों। किंतु दूसरे साहित्य के आदर्श पर अपने वास्तविक साहित्य का निर्माण नहीं होता। अपने युग की संवेदनाओं को आत्मसात् करके ही भारतेंदु ने नए ढंग की साहित्य रचना का समारंभ किया।

नई आर्थिक व्यवस्था, पाश्चात्य शिक्षा, जीवन-पद्धति के कारण इस देश की अपनी पहचान खो गई थी। पर इस अवरोध ने ही यहाँ के प्रबुद्ध वर्ग को नए सिरे से अपनी पहचान करने के लिए बाध्य किया। यह पहचान नवीन और प्राचीन के अन्तर्विरोध में की गई। इसे दूसरे शब्दों में पश्चिमीकरण और भारतीयकरण का विरोध भी कहा जा सकता है। इन दोनों की रस्साकशी काफी दिनों तक चलती रही। नव-जागरण के अग्रदूतों ने पश्चिमीकरण के विवेक-सम्मत परिवेश में अपनी संस्कृति को नए ढंग से संघटित करने का प्रयास किया। इसके फलस्वरूप साहित्यकारों ने अतीत को सामने रखकर अपने को पुनः

गौरवान्वित अनुभव किया और देश में उभरती हुई राष्ट्रीय चेतना को ठोस रूप दिया। आधुनिक काल का अधिकांश साहित्य अपने को पहचानने तथा पाश्चात्य बंधनों से छुटकारा पाने का इतिहास है।

अतीत के गौरव को इस देश की सभी भाषाओं में अभिव्यक्त किया गया। इस गौरव के मूल में पुनरुत्थानवाद (रिवाइवलिज़्म) न होकर नवीन जागरण ही क्रियाशील था। यदि कहीं पर इस पुनरुत्थानवाद की ध्वनि सुनाई भी पड़ी तो कालान्तर में समाप्त हो गई।

राष्ट्रीयता इस काल का दूसरा प्रमुख स्वर था। सन् १९४७ तक इसमें कहीं भी शिथिलता नहीं दिखाई पड़ती। स्वतंत्रता प्राप्त करने के पश्चात् यह स्वर आत्मालोचन में बदल गया। किंतु १९६० के आसपास आधुनिकता का जो प्रभाव हिंदी साहित्य पर पड़ा उससे साहित्यिक प्रगति की दिशा बदल गई।

आधुनिकता

हिन्दी साहित्य का पिछला दशक (१९६०-७०) आधुनिकता से विशेष प्रभावित है। आधुनिक और आधुनिकता में अन्तर है। 'आधुनिक' 'मध्यकालीन' से अलग होने की सूचना देता है। 'आधुनिक' वैज्ञानिक आविष्कारों और औद्योगीकरण का परिणाम है जब कि 'आधुनिकता' औद्योगीकरण की अतिशयता, महानगरीय एकरसता, दो महायुद्धों की विभीषिका का फल है। वस्तुतः नवीन ज्ञान-विज्ञान, टेक्नोलॉजी के फलस्वरूप उत्पन्न विषम मानवीय स्थितियों के नये, गैर-रोमैंटिक और अमिथकीय साक्षात्कार का नाम 'आधुनिकता' है।

एक समय तक इहलौकिक होकर, आधुनिक दृष्टि प्रगतिशील बनी रही। प्रत्येक देश में पुनर्जागरण (रेनेसाँ) आया, बहुत से परतंत्र देश स्वतंत्र हुए, अपने-अपने सपने लेकर उन्होंने अपने ढंग की सरकारें बनाईं। एक बिन्दु पर खड़े होकर मनुष्य ने पाया कि जिस औद्योगीकरण और प्रविधीकरण के सहारे उसने परी-देश का सपना देखा था, वह साकार नहीं हो सका। सरकारें स्थिर व्यवस्था में बदल गईं। लोकतंत्र तथा साम्यवादी सरकारें समान रूप से निराशाजनक सिद्ध हुईं। व्यक्ति या तो व्यवस्था का पुर्जा हो गया या प्रविधि का। उसका अपना व्यक्तित्व और पहचान खो गयी। इस खोये हुए व्यक्तित्व की खोज-प्रक्रिया का नाम आधुनिकता है।

आधुनिक ज्ञान-विज्ञान ने मनुष्य को बहुत कुछ बुद्धि-सम्मत बना दिया था। नीत्शे की इस घोषणा से कि 'ईश्वर मर गया' बौद्धिक जगत् में एक क्रान्तिकारी परिवर्तन आया; यथार्थ का स्वरूप ही बदल गया। पाप-पुण्य, धर्म-अधर्म, अच्छे-बुरे की जो कसौटियाँ धर्मग्रंथों में निर्धारित की गयी थीं, उनकी प्रामाणिकता समाप्त हो गयी; पुराने मूल्य विघटित हो गये। मनुष्य ने पाया कि वर्त-

मान परिस्थिति (सिचुएशन) में वह असहाय, क्षुद्र और निरर्थक प्राणी है। विज्ञान की प्रगति ने भी निश्चयतावादी सिद्धान्त को खोखला सिद्ध कर दिया। प्लैंक के क्वांटम-सिद्धान्त और आइन्स्टीन के सापेक्षतावाद से सिद्ध हो गया कि न तो कोई सार्वभौम सत्य होता है और न शाश्वत नैतिकता। अणुओं की सत्ता के असिद्ध हो जाने के बाद अणु शक्ति (एनर्जी) में बदल जाता है और शक्ति अणु में। निश्चयात्मकता की समाप्ति की अन्तिम घोषणा हो गयी। अस्तित्व-वादी दर्शन ने इस पर अपनी मुहर लगा कर इसे और भी पुष्ट कर दिया।

अस्तित्ववादी दर्शन ने अपने पूर्ववर्ती दर्शन और विज्ञान की अमूर्तता पर आक्रमण किया। उसने अपने को ठोस अनुभवों तथा प्रत्येक व्यक्ति के बुनियादी सवालों के साथ जोड़ा। ये बुनियादी सवाल हैं——व्यक्ति की व्यग्रता, दुःख, निराशा अकेलापन, मृत्यु-बोध, स्वतंत्रता, त्रास आदि। इसके साथ ही वह सामूहिकतावाद और निश्चयवाद के विरुद्ध भी खड़ा हुआ। वह उन समस्त विचारों के विरुद्ध है जो व्यक्ति को अ-मनुष्य और अस्तित्वहीन बनाते हैं। उसकी दृष्टि में मनुष्य स्वतंत्र है——वह न वस्तु है न मशीन है; वह क्रियात्मक शक्ति है। वह स्वतंत्र निर्णय लेने में समर्थ है और इसके लिए खुद जिम्मेदार है। कीर्केगार्ड, हेडगर, जैस्पर्स, मार्सेल, सार्त्र आदि के अस्तित्ववादी विचारों का प्रभाव आधुनिक पश्चिमी साहित्य पर खूब पड़ा है। आधुनिक चित्रकला भी इससे कम प्रभा-वित नहीं है। सेजाँ, वान गोग, पिकासो आदि पर इनका स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है।

आधुनिकतावादी साहित्य एक विशेष प्रकार का साहित्य है। समसाम-यिकता का संबंध 'काल' से है तो आधुनिकता का संवेदना, शैली और रूप से। यह स्थापित संस्कृति, मूल्य और संवेदना को अस्वीकार करती है। यह दुनिया की मान्यताओं को मंजूर नहीं करती, परंपरा को बेड़ी के रूप में लेती है। आधुनिकतावादी अन्तर्यात्रा करता है, मूल्यों का मखौल उड़ाता है, वह विद्रोही होता है। भीड़ का विरोध करता है, वह व्यक्ति की मुक्ति का विश्वासी है। वह अपने को अ-मानव की स्थिति में पाता है, और स्नेह, कृतज्ञता आदि को निष्कासित कर देता है। संयम की कमी, प्रयोग, साहित्य रूपों की तोड़-फोड़, शॉक देने की मनोवृत्ति, आक्रोश-क्षोभ-हिंसा की आकांक्षा आदि इसकी विशेष-ताएँ या 'मोटिफ' हैं।

सातवें दशक के हिन्दी-साहित्य में अ-कविता, अ-कहानी, अ-नाटक, अ-उपन्यास की जो चर्चाएँ हुईं (चर्चाएँ कहना अधिक उपयुक्त है क्योंकि इन्होंने आन्दोलन का रूप नहीं लिया। अत्यंत अल्प काल के लिए अ-कविता का एक आन्दोलन चला पर वह शीघ्र ही काल के गाल में समा गया) उनके आधार पर लिखा

गया साहित्य आज के अनिश्चय, व्यर्थता, अकेलेपन, अजनबियत, आत्मनिर्वा-सन आदि को व्यक्त करता है। यह साहित्य अपने रूप-संवेदना में किस दर्जे का है, यह अलग बात है।

आधुनिकता का यह बोध एक वास्तविकता है, इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। इस देश में इसे ले आने की बहुत कुछ जिम्मेदारी हमारे भ्रष्टाचारी लोकतंत्र को है। पर आठवें दशक के आरंभ में हमारे साहित्यकारों में इससे छुटकारा पाने की बेचैनी दिखाई पड़ने लगी है। सबसे पहले यह बोध कविता में दिखाई पड़ा। इन रचनाओं को नव-वामपंथी रचनाएँ कहा जा सकता है। वस्तुत: नव-वामपंथी आन्दोलन 'न्यू लेफ्ट मूवमेंट' का अनुवाद है। अपने देश में इसका जन्म साम्यवादी दल के पारस्परिक विरोध और विघटन के कारण हुआ। इसे अधिक रैडिकल समझ कर नए साहित्यकार भी इस ओर उन्मुख हुए। इन रचनाओं में अधिकांश सूडो नव-वामपंथी हैं। किंतु कुछ ऐसे भी हैं जिनके पास दृढ़ आदर्श हैं पर राजनीतिक दृष्टि से वे शोर-शराबा के इर्द-गिर्द अधिक चक्कर काटते हैं। इन लोगों ने कुछ अर्थवान रचनाएँ दी हैं। पर इनके अपने निश्चित मुहावरे बन गए हैं। इसलिए, डर है कि तथ्य बनने के पहले आधुनिकतावादी निहिलिस्टों की तरह, ये इतिहास की वस्तु न बन जायँ।

अध्याय तीन

खड़ीबोली का आरम्भिक गद्य

अंग्रेजों के आगमन के पूर्व गाँव और नगर सामान्यत: अलग-अलग स्वतंत्र इकाइयाँ थीं। उनके निवासियों को वस्तु-विनिमय के लिए प्राय: बाहर नहीं जाना पड़ता था। किन्तु पुरानी अर्थ-व्यवस्था के टूटने और यातायात के नये साधनों के उपलब्ध होने पर लोगों को जीविका अथवा वस्तु-विनिमय के लिए बाहर जाना पड़ा। इस तरह देश धीरे-धीरे आर्थिक एकसूत्रता में बँधता गया। पारस्परिक सम्पर्क तथा भावों और विचारों के आदान-प्रदान के लिए एक सामान्य भाषा का होना जरूरी था। यह भाषा हिन्दी या हिन्दुस्तानी ही हो सकती थी।

इसका तात्पर्य यह नहीं है कि नई अर्थ-व्यवस्था ने इस भाषा को जन्म दिया। भाषा का जन्म इस प्रकार नहीं हुआ करता। कोई बुनियादी बोली, अनेक ऐतिहासिक कारणों से विकसित होकर भाषा का रूप धारण कर लेती है। नई अर्थ-व्यवस्था ने दिल्ली-मेरठ की बोली को सम्पर्क-भाषा के रूप में विकसित होने सहायता पहुँचाई। दिल्ली-मेरठ के आस-पास की भाषा, जिसे अमीर खुसरो और अबुल फज़ल ने देहलवी कहा है, हिन्दी ही है।

हिन्दी, हिन्दुवी, रेखता, खड़ीबोली

हिन्दी शब्द का प्रयोग कब से आरंभ हुआ, इसके संबंध में सुनिश्चित रूप से कुछ कह सकना कठिन है। पर इतना सच है कि हिन्द, हिन्दू, हिन्दी शब्द का प्रयोग पहले-पहल मुसलमानों ने किया। ईरानी सम्राट् दारा के अभिलेख में 'हिन्दु' शब्द भारत के लिए आया है। अन्त्य उ के लोप होने पर हिन्दु का हिन्द हो गया। हिन्द में ईरानी के विशेष बोधक प्रत्यय ईक के जुड़ जाने से हिन्दीक हुआ। क के लोप होने पर हिन्दी हो गयी। हिन्दी का तात्पर्य था भारत। यहाँ की भाषा को जबान-ए-हिन्दी कहा जाता रहा है। नौशेरवाँ (५३१-५७९ ई०) के समय में बजरोया ने पंचतंत्र का जो अनुवाद किया है उसकी भूमिका में इसे 'जबान-ए-हिन्दी' से अनूदित किया बताया गया है। स्पष्ट है कि उस समय भी हिन्दी का अभिप्राय भारत से था।

खुसरो की 'खालिकबारी' अप्रामाणिक रचना है। अन्य स्थलों में हिन्दी से उसका अभिप्राय भारतीय से है। भाषा के अर्थ में उसने हिन्दवी पर 'हिन्दुई' का प्रयोग किया है—'तुर्क हिन्दुस्तानियम मन हिन्दवी गोय जवाब।' हिन्दवी

या हिन्दुई का प्रयोग मध्यदेश की भाषा के लिए किया गया। हिन्दवी भी शौरसेनी अपभ्रंश से निकली थी। भाषा उपनिषद्, गोरा बादल की बात, रानी केतकी की कहानी की खड़ीबोली को उनके कर्त्ताओं ने हिन्दवी कहा है।

मध्यदेश की भाषा को यहाँ के लोग भाषा कहते थे। कबीर, जायसी, तुलसी, केशवदास आदि ने भाषा शब्द का ही प्रयोग किया है।[1] हिन्दवी और भाषा दोनों समानार्थक थे—हिन्दवी का प्रयोग विदेशी मुसलमानों ने किया और भाषा का प्रयोग यहाँ के हिन्दुओं और मुसलमानों दोनों ने। चन्द्रबली पाण्डेय ने हिन्दवी को मुसलमानों की भाषा माना है। (उर्दू रहस्य, पृ० ४०-४८) पर यह भ्रम केवल इसलिए हुआ कि हिन्दवी का भाषा के अर्थ में प्रयोग केवल मुसलमानों ने किया है। किन्तु हिन्दवी भाषा ही थी—साहित्यिक भाषा। खुसरो ने अपने ग्रंथ 'नुहेसिपर' में उस समय की ग्यारह भाषाओं का उल्लेख किया है, जिनमें हिन्दवी का नाम नहीं है, देहलवी का है। अनुमान लगाया जा सकता है कि देहलवी बोलचाल की भाषा थी और हिन्दवी साहित्य की। अबुल फ़जल की 'आईने अकबरी' में भी देहलवी का उल्लेख मिलता है।

यह देहलवी ही दक्षिण में (१५वीं शताब्दी ई०) दक्खिनी हिन्दी के नाम से विख्यात्त हुई। शाही मीराजी (१४७५ ई०), शाहबुर्हानुद्दीन (१५८२ ई०), मुल्ला वजही (१६३५ ई०) आदि ने देहलवी को 'हिन्दी बोल', 'हिन्दी जबाँ' कहा है। इसी समय से हिन्दी शब्द-प्रयोग की अखंड परम्परा चलती है। सन् १७७३ ई० में सूफी कवि नूर मुहम्मद लिखता है 'हिन्दू मग पर पाँव न राख्यों। का जो बहुतै हिन्दी भाख्यों।' लगता है कि १८वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में यह शब्द हिन्दुओं में भी प्रचलित हो गया था। इसी शताब्दी में नासिख, सौदा और मीर ने अपने शेरों को हिन्दी-शेर कहा है। गालिब ने अपने खतों में उर्दू हिन्दी रेख्ता को कई स्थलों पर एक ही अर्थ में प्रयुक्त किया है। फोर्ट विलियम कालेज के हिन्दी अध्यापक गिलक्राइस्ट हिन्दी, हिन्दुस्तानी, उर्दू और रेख्ता आदि को समानार्थी समझते थे। इससे जाहिर है कि हिन्दी उस भाषा के लिए प्रयुक्त किया जाने लगा था, जो अरबी-फारसी बहुल होती जा रही थी। गिलक्राइस्ट के हिन्दी-व्याकरण 'कवानीन सर्फ वे न हो' हिन्दी को इसके प्रमाण में पेश किया जा सकता है। किन्तु अरबी-फारसी प्रधान हिन्दी जनता की भाषा कभी भी नहीं रही। १८१२ ई० में कैप्टेन टेलर ने फोर्ट विलियम कालेज के वार्षिक विवरण

१—संस्कृत कबिरा कूप जल भाषा बहता नीर। —कबीर
आदि अंत जसि कथ्था अहै। लिखि भाषा चौपाई कहे ॥ —जायसी
भाषा भनति मोरि मति थोरी। —गोस्वामी तुलसीदास

में लिखा है—"मैं केवल हिन्दुस्तानी या रेख्ता का जिक्र कर रहा हूँ जो फारसी लिपि में लिखी जाती है—मैं हिन्दी का जिक्र नहीं कर रहा, जिसकी अपनी लिपि है................जिसमें अरबी-फ़ारसी शब्दों का प्रयोग नहीं होता और मुसलमानी आक्रमण के पहले जो भारतवर्ष के समस्त उत्तर-पश्चिम प्रान्त की भाषा थी।" (इंपीरियल रेकार्ड, जिल्द ४, पृ० २७६-७७) पश्चिमोत्तर प्रान्त की यही भाषा धीरे-धीरे हिन्दी के रूप में प्रतिष्ठित हो गई।

पहले ही कहा जा चुका है कि हिन्दी शब्द का प्रयोग उत्तर भारत के लिए किया जाता रहा है। इसलिए इस विशाल प्रदेश की भाषाओं को हिन्दी कहा जाने लगा। ब्रजभाषा, अवधी, राजस्थानी, मैथिली आदि का अन्तर्भाव भी इसी में हो जाता है। किन्तु भाषाशास्त्रियों की दृष्टि में केवल पश्चिम-उत्तर प्रदेश की भाषा में खड़ीबोली और ब्रजभाषा और उनकी बोलियाँ ही हिन्दी के अन्तर्गत आती हैं। ग्रियर्सन ने राजस्थानी को गुजराती के अन्तर्गत माना है। पर राजस्थानी की ढूंठाहाड़ी और मेवाती गुजराती की अपेक्षा हिन्दी के निकट है। मैथिली और भोजपुरी को भी हिन्दी से अलग स्वतंत्र माना जाने लगा है। भाषावैज्ञानिक दृष्टि से इनमें अन्तर अवश्य है किन्तु ये हिन्दी-परिवार की ही भाषाएँ हैं। उनका साहित्य हिन्दी के ही अन्तर्गत माना जाता है। पठन-पाठन की दृष्टि से इन सभी भाषाओं के साहित्य को हिन्दी ही माना जाता रहा है और हिन्दी साहित्य के इतिहास में सभी का समावेश होता रहा है। किंतु आधुनिक युग में खड़ीबोली साहित्य की भाषा बनी।

पद्य के क्षेत्र में खड़ीबोली के साथ-साथ ब्रजभाषा, अवधी, राजस्थानी और मैथिली में रचनाएँ होती रही हैं। वास्तविकता तो यह है कि परिनिष्ठित काव्य इन्हीं में लिखे गए। पर गद्य का विकास खड़ीबोली में ही हुआ। जो कुछ गद्य ब्रजभाषा, अवधी, मैथिली में मिलता है वह अव्यवस्थित, लचर और कंथभूती अनुवाद है। इसलिए जहाँ तक गद्य का सम्बन्ध है साहित्य के इतिहास में उनका कोई स्थान नहीं है।

नाथ सिद्ध और निरंजनी संप्रदाय का गद्य

खड़ीबोली में साहित्य की रचना १३वीं शताब्दी में शुरू हुई, पर इसका पूर्वाभास ८वीं-९वीं शताब्दी की भाषा में मिलने लगता है। उद्योतन सूरि रचित कुबलयमाला कथा (७७८ ई०) में एक हाट प्रसंग का उल्लेख मिलता है। उसमें एक मध्यदेशीय वणिक के मुख से सुने हुए मेरे तेरे आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है। इससे पता लगता है कि खड़ीबोली मध्यदेश की बोली है। इसके अतिरिक्त इसमें पुच्छह, अल्लया, तुज्झे ऐसे शब्द भी प्रयुक्त हैं जिन्हें खड़ीबोली शैली का कहा जा सकता है।

वस्तुत: १६वीं शताब्दी तक खड़ीबोली गद्य-परंपरा का कोई प्रामाणिक स्रोत नहीं मिलता। प्रो० हामिद हसन कादरी ने उर्दू साहित्य के इतिहास में १४वीं शताब्दी के किसी ख्वाजा सैयद अशरफ जहाँगीर समनीनी की सूफीमत विषयक रचना का उल्लेख किया है, किन्तु उसकी प्रामाणिकता असंदिग्ध नहीं है। नाथ सिद्धों की कुछ ऐसी रचनाएँ मिली हैं जिनमें ब्रजभाषा, राजस्थानी, पंजाबी और पूर्वी के मेल के साथ खड़ीबोली का मिश्रण मिलता है। किंतु ये रचनाएँ १७वीं-१८वीं शताब्दी की हैं। दक्खिनी हिन्दी के प्रामाणिक नमूने भी १६वीं शताब्दी के पहले के नहीं मिलते।

नाथ-सिद्धों और निरंजनी संप्रदाय के साधुओं की प्राप्त गद्य-रचनाओं में गेशोस गोसठ (गोरख गणेस गुष्टि), महादेव गोरष गुष्टि, गोरक्षा शतम-टिप्पण अभैमात्रा जोग, रामावली, गोरखनाथ के सत्ताईस पदों का तिलक, योगाभ्यास मुद्रा-टिप्पण, परवत सिद्धका कह्या और भोगुल पुराण विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। ये १७वीं शताब्दी के उत्तरार्ध और १८वीं शताब्दी की रचनाएँ हैं।

गणेस गोसठ या गोरष गणेस गुष्टि की प्रतिलिपियाँ बड़थ्वाल जी को प्राप्त हुई थीं। उनके आधार पर उन्होंने इसका पाठ-शोधन कर गोरखबाणी के परिशिष्ट में प्रकाशित किया था। यह १७वीं शताब्दी के पूर्वार्ध की रचना ज्ञात होती है, क्योंकि उसमें प्रतिलिपि सं० १७१५ लिखा गया है। भाषा का नमूना निम्नलिखित है—

'गणेस बुज गोरष कहै। स्वामी जी तूम का हां त आया। काहा तुमाहारा नाव। अवधू हम निरत्ततं आया। जोगी है मारा नाव। स्वामी जी जोगी ते तो कून बोलिवे। जीन येता मेर भेषला रचिआ। तूम कून गरु न चेलो। अमें अभधू नीरंजन जोगी। अतीत गुरु न चेला।'

इसमें अपभ्रंश का द्वित्व व्यंजन नहीं है। अपभ्रंश के घेरे से भाषा निकल चुकी है। पर पुराने ढंग के तुमाहारा, अमें, तूम मारा, कून आदि शब्द प्रयुक्त हुए हैं। इसमें खड़ीबोली के शब्द रूप और शैली दोनों हैं—आया, रचिआ, तो आदि को उदाहरणार्थ पेश किया जा सकता है। खड़ीबोली का ओकारान्त भी यहाँ मौजूद है। महादेव गोरष गुष्टि, अभै मात्रा जोग आदि में भी खड़ी बोली के शब्दों और शैली को देखा जा सकता है।

'नाथसिद्धों की बानियाँ' पुस्तक के परिशिष्ट में हजारीप्रसाद द्विवेदी ने 'श्रीपरवत सिद्ध का कहया भूगोल पुराण' नामक गद्य-रचना संकलित की है। इसकी भाषा को उन्होंने काफी पुराना बताया है। नमूना निम्नलिखित है :—

'सुमेरु पर्वत ऊपरि चारि दिशा पुरीआ है न। कउणु पुरी-कउणु कउणु दिसा है। पूर्ब दिशा आगे ऊपरि प्रिथमी ऊपरि चउबीस सहंस्र जोजन अंम्रित पुरी

उची है। तहां राजा इन्द्र राज करता है। तेतीस कोटि देवते हैं। अठासी हजार सहस्र भूपीसुर है। दछिन दिशा आगे प्रिथमो ऊपरि। पचीस सहस्र जोजन जमपुरी ऊची है।—'

दक्खिनी हिन्दी

१४वीं शताब्दी में मुहम्मद तुगलक ने अपनी राजधानी दिल्ली से दौलताबाद बदल दी। उसके साथ दिल्ली के बहुत से लोग दक्षिण पहुँचे। दौलताबाद से राजधानी पुनः दिल्ली आ गई लेकिन जो लोग दिल्ली छोड़कर दौलताबाद बस गए थे उनमें से अधिकांश नहीं लौटे। इन दिल्ली निवासियों ने बहमनी राज्य की नींव डाली। उत्तर भारत बहुत कुछ अरबी-फारसी से प्रभावित था लेकिन इस भू-भाग में उत्तर के प्रभाव से मुक्त आर्यभाषा को विकसित होने का अच्छा अवसर मिला। तारीखे फरिश्ता के अनुसार बहमनी राज्य का कार्य हिन्दी में होता था। बहमनी राज्य की राजभाषा हिन्दी थी या नहीं, इसमें संदेह हो सकता है। किंतु वहाँ के मुसलमानों की भाषा हिन्दी थी, यह असंदिग्ध है।

ख्वाजा बन्दानवाज गेसूदराज (१३२२-१४२७ ई०) सूफी फकीर निजामुद्दीन औलिया के खलीफा ख्वाजा नसरुद्दीन चिराग देहलवी के शिष्य थे। वे सामान्य जनता के लिए अपने विचार हिन्दी में प्रकट किया करते थे। एक दूसरे सूफी शाह मीरान ने अपनी भाषा को स्वयं हिन्दी कहा है। उन्होंने लिखा है—

'हामी बोल अरबी करे
और फारसी बहुतेरे
यों हिन्दवी बोली तब
इस अर्थ भावे सब
यह भाखा भले सो बोले
पुन इसका भाव खोले
वे अरबी बोल न जाने
न फारसी पछाने।'

गेसूदराज की गद्य रचनाओं में मेराजुल आशिकीन सबसे अधिक प्रसिद्ध है। संभवतः उनके शिष्यों द्वारा इसमें उनके उपदेश संगृहीत हैं। भाषा का नमूना निम्नलिखित है—

'इसका माना तहकीक खुदा मिन्नत किया है मुसलमानों होर मुसलमानां की औरतां तुमारे तनां में मुहम्मद का नूर रखिया हूं मो तुमीं बुझो होर जानों हरेक पराई (पराए) पद्यान्त करना आजिब है ए बड़ी न्यामत है।'

इसमें उत्तरी हिन्दुस्तानी की प्रवृत्ति अधिक है, दक्खिनी का प्रभाव न्यून है। किन्तु भाषा का जो रूप इस पुस्तक में मिलता है वह १४-१५वीं शताब्दी दक्खिनी का नहीं है। लगता है लिपिकों ने इसमें परिवर्तन कर दिया है।

दक्खिनी हिन्दी गद्य की सर्वाधिक प्रामाणिक रचना वजही की सबरस है। यह मसनवी शैली में लिखी हुई सूफी प्रेमकथा है। इसका गद्य भी वृत्तगंधी है। वाक्य छोटे-छोटे और शब्द अश्लिष्ट हैं। लोकोक्तियों और मुहावरों का प्रचुर प्रयोग हुआ है। संस्कृत के तत्सम शब्दों के साथ-साथ अरबी-फारसी भी बहुतायत से प्रयुक्त हुए हैं——

'न आफत देखे न जलजला आपे भले तो आलम भला। किसी कूं बुरा बोलना यो बसवास है, भलाई बुराई सब अपने पीस है। आपे चल नीं (नई) जानते दुसर्यां पर बुरा मानते अव्वल अपनी खबर में आपे रहना पीछे दुसर्यां कूं बुरा कहना जिने आपस कूं पछान्या उसे सब जान्या। जिधर ढलना है उधर अक्ल कै उजाले में चलना है।'

उत्तर भारत में खड़ीबोली

दक्खिनी हिन्दी उत्तर भारत की हिन्दी से कुछ इतनी दूर थी कि एक का प्रभाव दूसरे पर पड़ ही नहीं सकता था। यहाँ पर दक्खिनी हिन्दी के उल्लेख का मतलब था खड़ीबोली की प्राचीनता दिखाना और उसके विकास के चरणों को रेखांकित करना। उत्तर भारत में खड़ीबोली अपने ढंग से विकसित हो रही थी। किंतु आचार्य शुक्ल ने अकबर के समय की एक रचना गंग कवि की **'चंद छंद बरनन की महिमा'** का जो उल्लेख किया है वह अप्रामाणिक है। अतः उसकी भाषा के आधार पर शुक्ल जी का यह निष्कर्ष निकालना कि अकबर और जहाँगीर के समय में ही खड़ीबोली भिन्न प्रदेशों में शिष्ट समाज के व्यवहार की भाषा हो चली थी, उचित नहीं है।

वस्तुतः यह जाली ग्रंथ है। यह पृथ्वीराज रासो को प्रामाणिक सिद्ध करने की दृष्टि से आविष्कृत किया गया। कथावस्तु और ऐतिह्य के आधार पर इसकी अप्रामाणिकता स्वतः सिद्ध हो जाती है। अकबरी दरबार का जो वर्णन इसमें आया है वह जादूगर की करामात से कम नहीं है। जिस समय इस ग्रंथ के अनुसार गंग कवि अकबर को रासो की कथा सुना रहा था उस समय अकबर को नूरवादीन कह कर संबोधित करना ऐतिहासिक असंगति है। नूरुद्दीन जहाँगीर का नाम था, अकबर का नहीं। इसलिए इसकी रचना जहाँगीर के बाद उस समय हुई होगी जिस समय लोगों को बादशाह की उपाधियाँ भूल गई होंगी। यों इसकी भाषा का जो उदाहरण शुक्ल जी ने दिया है वह १८वीं शताब्दी के पूर्व का नहीं हो सकता।

शुक्ल जी ने रामप्रसाद निरंजनी के '**भाषा योगवासिष्ठ**, (सं० १७६८)' को बहुत साफ सुथरी खड़ीबोली में लिखा हुआ बताया है। इसके आधार पर उन्होंने निष्कर्ष निकाला है—'इनके ग्रंथ को देखकर यह स्पष्ट हो जाता है कि मुंशी सदासुख और लल्लूलाल से ६२ वर्ष पहले खड़ीबोली का गद्य अच्छे परिमार्जित रूप में पुस्तकें आदि लिखने में व्यवहृत होता था। अब तक पाई गई पुस्तकों में यह योगवासिष्ठ ही सबसे पुराना है जिसमें गद्य अपने परिष्कृत रूप में दिखाई पड़ता है[1] किंतु नई खोजों के फलस्वरूप 'भाषा योगवासिष्ठ' न तो साधु निरंजनी द्वारा लिखा गया और न कथा के रूप में पटियाला नरेश की दो विधवा बहनों को सुनाया गया। योगवासिष्ठ की गुरुमुखी की प्रतियों में रामप्रसाद निरंजनी का नाम भी नहीं आया है।

ना० प्र० सभा के खोज विवरण के अनुसार भाषा योगवासिष्ठ की प्राचीनतम प्रति सं० १८१८ (१७६१ ई०) की है। किंतु इससे प्राचीनतर प्रतियाँ गुरुमुखी लिपि में मौजूद हैं। सिक्ख रेफरेंस लाइब्रेरी अमृतसर और महाराज पटियाला के निजी पुस्तकालय में इन्हें देखा जा सकता है। पटियाला दरबार की प्रति सं० १८०२ (१७४५ ई०) की है। इनमें रामप्रसाद निरंजनी का नाम नहीं है। योगवासिष्ठ के नागरी संस्करणों में जो भूमिका दी गई है, वह सिक्खों के सेवापंथ से संबद्ध ग्रंथ संत रतनपाल में दी गई एक अनुश्रुति से मिलती-जुलती है। किन्तु उसमें भी साधु निरंजनी का नाम नहीं मिलता।

सेवापंथ में योगवासिष्ठ का बहुत आदर रहा है। 'वसिसट की पोथी कथा वसिसट जी की' आदि कई नामों से उक्त पंथ में इसका प्रचार रहा है। शुक्ल जी ने अपने इतिहास में भाषा योगवासिष्ठ से जो उद्धरण दिए हैं उनके समानान्तर उद्धरण गुरुमुखी संस्करणों तथा हस्तलिखित प्रतियों में मिल जाते हैं। शुक्ल जी द्वारा उदाहरित अवतरण से सिक्ख रेफरेंस लाइब्रेरी अमृतसर में संकलित प्रति के अवतरण का मिलान कीजिए :—

'प्रथम परब्रह्म परमात्मा को नमस्कार है जिससे सब भासते हैं और जिसमें सब लीन और स्थित होते हैं, × × × जिस आनन्द के समुद्र के कण से संपूर्ण विश्व आनंदमय है, जिस आनन्द से सब जीव जीते हैं। अगस्त जी के शिष्य सुतीक्ष्ण के मन में एक संदेह पैदा हुआ तब वह उसे दूर करने के कारण अगस्त मुनि के आश्रम को जा विधि-सहित प्रणाम करके बैठे और विनती कर प्रश्न किया कि हे भगवान्! आप सब तत्वों का कारण कर्म है कि ज्ञान है अथवा दोनों है,

---

१—रामचंद्र शुक्ल : हिन्दी साहित्य का इतिहास : पृ० ३७७, सं० १२

समझाय के कहो। इतना सुन अगस्त मुनि बोले कि हे ब्रह्मराम। केवल कर्म से मोक्ष नहीं होता और न केवल ज्ञान से मोक्ष होता है, मोक्ष दोनों से होता है। कर्म से अन्तःकरण शुद्ध होता है, मोक्ष नहीं होता और अन्तःकरण की शुद्धि बिना केवल ज्ञान से मुक्ति नहीं होती।'

'सति चित अनिद रूप जो आतमा है तिसको नमसकारू है। कैसा है चित आनन्द रूप। आतमा सो कहता है। जिस ते एहु सरन भासते हैं। अरु जिस विषै एहुं सरब लीन होते हैं। अरु जिस विषै सरब इसथित हैं। इस सति आतमा का नामसकारू है। गियाता, गियान गेयि, प्रिसटा, दरसन, दिस, करता, करण, क्रिया जिसु करि सिधु होते हैं। ऐसा जो गिआन रूप जो आतमा है। तिसको नमस्कारू है।

'अगस्तोवाच—हे ब्राह्मण। केवल कर्म मोछ का कारण नहीं। अर केवल गिआन ते भी मोछ नहीं प्रापत होता। दोनों करि मोछ की प्रापत होती है। करमांकरण अंतहकरण सुध होता है। मोछ नहीं होती। अर अंतहिकरण सुध होए बिना केवल गिआन ते भी मुक्त नहीं होती। अरथ एहु जो सासत्रहु का तात-परज गिआन निसहा अंतहकरण सुध होए बिना इसथित नहीं होती। तां ते दोनहु कर मोछ की प्राप्त नहीं होती।'

(सिक्ख रेफरेंस लाइब्रेरी, अमृतसर में संगृहीत योगवासिष्ठ भाषा, प्रतिलिपिकाल सं० १९२३)

दोनों उद्धरणों की भाषा का तुलनात्मक अध्ययन सिद्ध करता है कि दूसरे उद्धरण की भाषा प्राचीन और पहले की अर्वाचीन है। अपभ्रंश की उकार बहुला प्रवृत्ति नमसकारू, एहु, जिसु, सासत्रहु आदि में देखी जा सकती है। गुरु-मुखी प्रति में शब्द अश्लिष्ट है, तत्सम शब्दों के स्थान पर अर्ध तत्सम और तद्भव शब्दों का प्रयोग हुआ है जैसे, आत्मा के स्थान पर आतमा, स्थित की जगह इसथित, ज्ञान के स्थान पर गियान आदि। गुरुमुखी के वाक्य सामान्यतः एक ही क्रिया पर आश्रित हैं जब कि शुक्ल जी वाले संस्करण के वाक्य लंबे जटिल और कई सहायक क्रियाओं से युक्त हैं।

'शुक्ल जी के अवतरण में शब्दरूपों का प्रयोग किसी अव्यभिचारित नियम के अनुकूल नहीं है। कभी तो वहाँ संदेह पैदा होता है तो कभी उसको दूर करने के कारण (लिए नहीं) सुतीक्षण (सुतीक्ष्ण ?) प्रणाम करके बैठे और........ प्रश्न किया जैसे अप्रयुक्त एवं व्याकरण-विरुद्ध प्रयोग मिलते हैं तो कभी जानन हारे समझाय के आदि पूर्वी प्रयोग बिना किसी सामंजस्य और अनुपात के वहाँ भरे गए हैं। इसके विपरीत गुरुमुखी प्रतियों के गद्य में शब्दरूपों की अव्यभिचारित

एकरूपता, वर्तनी में पर्याप्त समानता, वाक्य-विन्यास में निरपवाद रूप से सरलता और सहजता प्रायः सर्वत्र उपलब्ध है।[1]

योगवासिष्ठ भाषा का जो रूप, इसमें उपलब्ध है वह आश्चर्यजनक रूप से दक्खिनी हिन्दी से मिलता है। फर्क यह है कि दक्खिनी हिन्दी में अरबी-फारसी शब्दों का प्रचुर प्रयोग हुआ है किंतु योगवासिष्ठ भाषा में उनका स्पर्श नहीं हुआ है। इसे खड़ीबोली की दीर्घ परंपरा की अगली कड़ी के रूप में स्वीकार किया जाना चाहिए।

सन् १७६६ (सं० १८२३) में दौलतराम जैन (बसवावासी) ने पद्मपुराण वचनिका लिखी। यह जैन पद्मपुराण का भाषानुवाद है। इसमें वैराग्यमूलक दृश्यों और कथाओं का चित्रण किया गया है। इसमें जैन पद्धति से रामकथा वर्णित है। भाषा का नमूना है—

'कैसे हैं श्रीराम, लक्ष्मीकर आलिंगित है हृदय जिनका और प्रफुल्लित है। मुखरूपी कमल जिनका महापुण्याधिकारी है, महाबुद्धिमान हैं गुणन के मंदिर उदार है चरित्र जिनका, जिनका चरित्र केवल ज्ञान के ही गम्य है ऐसे जो श्री रामचन्द्र उनका चरित्र श्री गदाधर देव ही किंचित्मात्र कहने को समर्थ हैं।' (प्रथम पर्व पृ० ६)।

गुरुमुखी योगवासिष्ठ भाषा की तरह इसमें भी 'कैसे हैं अमुक' की पद्धति अपनाई गई है। इसके बाद विशेष्य के अनेक विशेषण दिए गए हैं। जैसे, 'लक्ष्मीकर आलिंगित है हृदय जिनका'—रूपकों का स्पष्टीकरण दोनों में 'रूपी' शब्द द्वारा किया गया है। योगवासिष्ठ भाषा पर पंजाबी का प्रभाव है और पद्मपुराण वचनिका पर राजस्थानी और ब्रजी का। फिर भी दोनों के वाक्य-विन्यास में पर्याप्त एकरूपता है।

गुरुमुखी योगवासिष्ठ की भाषा भी १८वीं शताब्दी के उत्तरार्ध की है। आचार्य शुक्ल द्वारा उदाहरित भाषा योगवासिष्ठ की भाषा उस समय की नहीं हो सकती। यह १९वीं शताब्दी के उत्तरार्ध की भाषा प्रतीत होती है।

खड़ीबोली के विकास के सिलसिले में ईसवी खाँ की बिहारी सतसई रसचंद्रिका टीका (सं० १८०९) १७५२ ई० का उल्लेख किया जाता है। किंतु उस टीका पर ब्रजी का इतना अधिक प्रभाव है कि खड़ीबोली की विकास-परंपरा में उसका कोई योग नहीं माना जा सकता। यही हाल साधु मुकुंददास की पद कबीरदास जी का अरथ सहित टीका का भी समझना चाहिए।

१—आधुनिक हिन्दी की प्रथम गद्य कृति : योगवासिष्ठ-भाषा, गोविन्दनाथ राजगुरु : आलोचना (अप्रैल-जून, १९६०)।

हिन्दी न तो विदेशी मुसलमानों के आगमन के कारण पैदा हुई और न तो, जैसा गिलक्राइस्ट कहता है, फोर्ट विलियम के टकसाल में ही ढाली गई। यह स्वयं ऐतिहासिक आवश्यकताओं के फलस्वरूप विकसित होती हुई आधुनिक युग के भावों और विचारों की अभिव्यक्ति का माध्यम बनी। ऊपर जिस योगवासिष्ठ भाषा, पद्मपुराण की भाषा का उल्लेख किया गया है वह १८वीं शताब्दी के उत्तरार्ध की सामान्य खड़ीबोली प्रतीत होती है। दक्खिनी हिन्दी की शैली भी उनसे मिलती-जुलती है। ज्यों-ज्यों खड़ीबोली विकसित होती गई उसमें से अरबी-फारसी की शब्दावली और पंजाबी, राजस्थानी और ब्रजभाषा का प्रभाव कम होता गया। फोर्ट विलियम कालेज की स्थापना के समय तक अंग्रेजों ने फारसी-अरबी शब्दावली से लदी हुई दरबारी भाषा को (हिन्दुस्तानी) हिन्दी से अलग समझ कर भाखा मुंशियों की नियुक्ति की।

फोर्ट विलियम कालेज के बाहर की हिन्दी

प्रशासनिक सुविधा के लिए सन् १८०० में अंग्रेजों ने कलकत्ते में फोर्ट विलियम कालेज की स्थापना की। इस कालेज में साहित्य और विज्ञान दोनों की शिक्षा का आयोजन किया गया। साहित्य में एक ओर तो क्लासिकल भाषा-साहित्य—अरबी, फारसी, संस्कृत—की शिक्षा दी जाने लगी और दूसरी ओर देशभाषा—हिन्दुस्तानी, भाखा, बँगला, तेलगू, मराठी, तमिल, कन्नड़—आदि में पुस्तकों का लिखा जाना आरंभ हुआ। इसके अतिरिक्त प्रकृति विज्ञान, वनस्पति-शास्त्र, रसायनशास्त्र की शिक्षा की भी व्यवस्था हुई। १८०० ई० में ही गिलक्राइस्ट हिन्दुस्तानी के प्राध्यापक नियुक्त हुए। हिन्दुस्तानी से उनका मतलब अरबी-फारसी शब्दावली से भरी हुई भाषा से था। गिलक्राइस्ट के शिष्य बेली हिन्दुस्तानी, उर्दू, हिन्दी और रेख्ता को एक ही अर्थ में प्रयुक्त करते थे। गिलक्राइस्ट ने हिन्दी से अलग हिन्दवी के भाखा मुंशियों की नियुक्ति की। १८२४ में जब कैप्टेन विलियम प्राइस हिन्दुस्तानी विभाग के अध्यक्ष हुए तो उन्होंने गिलक्राइस्ट की भाषा-नीति को बदल दिया, तब उन्होंने उर्दू के स्थान पर हिन्दी को प्रधानता दी और हिन्दी को हिन्दवी के अर्थ में प्रयुक्त किया। ईसाई मिशनरियों को भी गिलक्राइस्ट की भाषानीति मान्य नहीं हुई। मिशनों ने इस देश की बोली हिन्दी को अपनाया। उन्होंने हिन्दुस्तानी (उर्दू) और भाखा (हिन्दी) में पुस्तक तैयार करने की अलग-अलग व्यवस्था की। लल्लूलाल और सदल मिश्र भाखा मुंशी थे। लल्लूलाल ने प्रेमसागर और सदल मिश्र ने नासिकेतोपाख्यान लिखा।

फोर्ट विलियम कालेज के इस प्रयास के बारे में अंग्रेजों ने काफी गलत-फहमी फैलाई। ग्रियर्सन ऐसे भाषाविद् ने कहा कि यह अंग्रेजों द्वारा आविष्कृत

हिन्दी है जिसे गिलक्राइस्ट के तत्त्वावधान में लल्लूलाल ने प्रेमसागर में प्रयुक्त किया।[1] फ्रेजर ने ग्रियर्सन की बात दुहराते हुए लल्लूलाल के साथ सदल मिश्र का नाम भी भाषा के आविष्कारकों में जोड़ दिया। ग्रियर्सन ने खड़ीबोली को किसी की मातृभाषा नहीं स्वीकार किया। आश्चर्य यह है कि ग्रियर्सन ऐसे भाषा-विद् भी भाषा को आविष्कार मानते हैं। ग्रियर्सन का वक्तव्य शरारत से भरा हुआ मालूम होता है क्योंकि यह अत्यन्त सामान्य बात है कि कोई बोली ही विकसित होकर भाषा का रूप धारण करती है। यदि खड़ीबोली कोई भाषा न होती तो फोर्ट विलियम के अधिकारियों को उसमें पुस्तकें लिखाने का इलहाम न होता ?

फोर्ट विलियम कालेज के बाहर खड़ीबोली में जो कुछ लिखा जा रहा था उससे प्रमाणित है कि जन सामान्य की इस बोली के विकास के लिए राज्याश्रय की आवश्यकता नहीं थी। वास्तविकता तो यह है कि हिन्दी अपनी आन्तरिक क्षमता के आधार पर ही आगे बढ़ी, राज्याश्रय तो इसे मिला ही नहीं। फोर्ट विलियम कालेज के बाहर जिन दो लेखकों की गद्य-रचनाएँ उपलब्ध हुई हैं उनके नाम हैं सदासुख निसार और इंशाअल्ला खाँ।

किंतु मुंशी सदासुखराय (१७४६-१८२४) के ग्रंथ और रचनाकाल के संबंध में विद्वानों में मतभेद है। वे उर्दू-फारसी के अच्छे ज्ञाता और शायर थे। १८१८ ई० में उन्होंने मंतखबुत्तवारीख लिखी। इससे उनके जीवन का संक्षिप्त इतिहास मालूम होता है। शुक्ल जी के मतानुसार 'मुंशी जी ने विष्णु पुराण के उपदेशात्मक प्रसंग लेकर एक पुस्तक लिखी थी, जो पूरी नहीं मिली है। कुछ दूर तक सफाई के साथ चलनेवाला गद्य जैसा योगवासिष्ठ का था वैसा ही मुंशी जी की इस पुस्तक में दिखाई पड़ा।' कुछ अन्य लोगों के मत से उन्होंने भागवत का गद्यानुवाद किया। डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय ने उनके अनुवाद का नाम सुखसागर बताया है। पर रामदास गौड़ का कहना है कि उन्होंने विष्णु-पुराण का पद्यानुवाद किया था।

लाला भगवानदीन और रामदास गौड़ ने हिन्दी भाषा सार पुस्तक का संपादन किया है। उसमें मुंशी सदासुखराय का सुरासुरनिर्णय लेख और उसके वार्तिक का एक अंश संगृहीत किया गया है। संपादकों ने सुरासुरनिर्णय का रचना-काल सं० १८३९-४० (१७८३ ई०) ठहराया है। उन्होंने सुखसागर नाम का कोई ग्रंथ नहीं लिखा। हिन्दी में उनका उपनाम सुखसागर था और उर्दू-फारसी

१—ग्रियर्सन : दि मार्डन वर्नाक्यूलर लिटरेचर आफ हिन्दुस्तान : भूमिका (१८८९)।

में निसार। जिस ग्रंथ के आधार पर शुक्ल जी ने उनकी भाषा के संबंध में यह निष्कर्ष निकाला है वह प्रामाणिक नहीं है। सदासुख नाम के तीन व्यक्तियों का उल्लेख मिलता है--एक मुंतखबुत्तवारीख के लेखक सदासुखराय, दूसरे बुद्धिप्रकाश समाचारपत्र के संपादक सदासुखलाल, तीसरे जैन सदासुखलाल। शुक्ल जी ने पहले सदासुखराय का उल्लेख किया है। उनकी भाषा को शुक्ल जी ने साफ-सुथरी कहा है। शुक्ल जी ने इनके गद्य का जो उदाहरण दिया है वह सुरासुर निर्णय की भाषा के मेल में नहीं है। अतः या तो वह उनकी है ही नहीं या योगवासिष्ठ की भाषा की तरह संशोधित है। सुरासुर निर्णय की भाषा का नमूना निम्नलिखित है --

'प्रसिद्ध योनि है।। सुरदेवता असुर दैत्य संज्ञा है।। जो कहिये असुर दैत्य हैं। इस बात में दूषण है। कंस दैत्य न था मनुष्य था। श्रीकृष्ण का मामा उग्रसेन का बेटा था।। तो इससे समझिये कि स्वभाव असुर है मनुष्य होय कि अथवा देवता दैत्य होय।। जिसमें तमोगुण विशेष वही असुर है।। कोई क्यों न होय।। प्रह्लाद दैत्य था।। परंतु स्वभाव उसका सतोगुणी था।। उसे सुर जानना चाहिए।। दुर्वासा ब्रह्मऋषि है। स्वभाव तमोगुणी है।। उसे असुर जानना चाहिए।।'

निश्चय ही इसकी भाषा साफ-सुथरी है। सुरासुर के निर्णय के पीछे एक तर्कानुमोदित वैचारिक पद्धति भी दिखाई पड़ती है जो निबंध के लिए जरूरी होती है। यदि सुरासुर निर्णय का लेखनकाल १७८३ ई० के लगभग मान लिया जाय तो इसकी भाषा को हिन्दी गद्य परंपरा का प्रारंभ स्वीकार करने में किसी तरह का संकोच नहीं होना चाहिए।

इंशाअल्ला खाँ दूसरे लेखक हैं जिन्होंने हिन्दी-गद्य-निर्माण में विशेष योग दिया है। उन्होंने उदयभानचरित या रानी केतकी की कहानी कदाचित् १८०० और १८०८ के बीच लिखी होगी। वे लल्लूलाल और सदल मिश्र के समसामयिक थे। पर रानी केतकी की कहानी लाल और मिश्र की रचनाओं से पहले लिखी जा चुकी थी।

इंशा के पूर्वज समरकंद से आकर कश्मीर में बस गए। इसके बाद वे लोग दिल्ली आ बसे। उनके पिता माशाअल्लाह जो मुग़ल दरबार में हकीम थे, मुगल-साम्राज्य के क्षीण होने पर मुर्शिदाबाद चले आए। इंशा का जन्म यहीं हुआ। इंशा लड़कपन से ही कविता करते थे। मुर्शिदाबाद के नवाब के शक्ति-हीन होने पर वे शाह आलम के दरबार में आ गए। शाह आलम के यहाँ भी वे टिक न सके और अवध के नवाब आसफुद्दौला[1] सआदत अली खाँ के दरबार

१---चन्द्रबली पाण्डेय : हिंदी भाषा का निर्माण : पृ० २४-२५।

में जा पहुँचे। पर नवाब से मनमुटाव हो जाने के कारण वे वहाँ से भी खिसक गए। सन् १८१६ में उन्होंने अपनी इहलौकिक लीला समाप्त की।

रानी केतकी की कहानी लखनऊ में ही लिखी गई। इसके संबंध में इंशा ने लिखा है--"एक दिन बैठे यह बात अपने ध्यान में चढ़ी कि कोई कहानी ऐसी कहिए कि जिसमें **हिन्दी की छुट और किसी बोली का पुट न मिले,** तब जाके मेरा जी फूल की कली के रूप में खिले। बाहरी की बोली और गँवारी कुछ उसके बीच में न हो। अपने मिलनेवालों में से एक कोई बड़े पढ़े लिखे पुराने-धुराने डांग बूढ़े घाग यह खटराग लगा लाए--लगे कहने--यह बात होते दिखाई नहीं देती। हिन्दवीपन भी न निकले और भाषापन भी न हो। बस, भले लोग अच्छों से अच्छे आपस में बोलते-चालते हैं ज्यों का त्यों वही सब डौल रहे औ छाँव किसी की न हो, यही नहीं होने का।"

इससे लगता है कि इंशा ने किसी पुराने-धुराने डांग-बूढ़े की उस चुनौती को स्वीकार किया था जिसमें कहा गया था कि ठेठ हिन्दवी का प्रयोग संभव नहीं है। यहाँ हिन्दी, हिन्दवी, भाषा, बाहरी बोली और गँवारी पर विचार कर लेना चाहिए। बाहरी बोली का अर्थ है यामिनी भाषा यानी अरबी-फारसी से भरी हिन्दुस्तानी। भाषा का माने है संस्कृतनिष्ठ पंडिताऊ हिंदी। गँवारी वह है जो भले लोगों की भाषा न हो। अर्थात् इंशा ने शिष्टजनों की बोलचाल की भाषा में, जिसमें न तो संस्कृत का प्रभाव था, न अरबी-फारसी का, रानी-केतकी की कहानी लिखी।

कुछ लोगों के विचार से--'रानी केतकी की कहानी की भाषा उर्दू की खड़ी-बोली है और वस्तु हिन्दू तथा मजहब शीया है।'[1] इस दृष्टि से देखने पर कबीर, जायसी, कुतुबन, मंझन का क्या होगा? पाण्डेय जी ने इन कवियों पर भी कुछ वैसा ही मन्तव्य व्यक्त किया है। रानी केतकी की कहानी के कुछ शब्दों और मुहावरों के आधार पर उन्होंने उसमें बाहरी शब्दों को भी खोज निकाला है। किंतु समग्रतः उसकी भाषा हिन्दी या हिन्दवी है। लल्लूलाल की भाषा को भी खड़ीबोली और हिन्दवी कहा गया है।

यह सही है कि उक्त कहानी मसनवी शैली पर लिखी गई है पर वह सूफी प्रेमाख्यान नहीं है, जैसा कि शोधग्रंथों में लिखा गया है। हिन्दी के सूफी प्रेमा-ख्यानों और रानी केतकी की कहानी में केवल इतना ही अंतर है कि सूफी काव्य पद्य में है और यह गद्य में। किंतु प्रारंभिक ईश्वर वंदना, प्रत्येक परिच्छेद के

१--डा० गोपाल राय, हिंदी कथा साहित्य : ग्रंथनिकेतन, पटना : पृ० १४२।

आरंभ के लंबे शीर्षक, ईरानी कथानक रूढ़ियाँ आदि इसे सूफी प्रेमाख्यान की कोटि में नहीं रख पातीं। यह केवल प्रेमाख्यान है। इसमें तव्वसुफ का स्पर्श नहीं है। उसकी भाषा का नमूना देखिए :—

'दायरे उसके उभार के दिनों का सुहानापन, चाल-ढाल का अच्छन वच्छन, उठती हुई कोंपल की कली पहने, जैसे बड़े तड़के धुँधले के हरे भरे पहाड़ों की गोद से सूरज की किरने निकल आती हैं।'

कितनी ताजा और जीवंत भाषा है पर इस प्रकार की भाषा कहीं-कहीं है। सब मिलाकर उसकी भाषा सर्वत्र हिन्दी की प्रकृति के अनुकूल नहीं पड़ती। चटक-मटक फारसी के प्रभाव का सूचक है फिर भी प्रारंभिक गद्य में उसके योग को अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

फोर्ट विलियम कालेज की हिन्दी

फोर्ट विलियम कालेज के भाखा-मुंशी लल्लूलाल (१७६३-१८३५ ई०) और सदल मिश्र ने क्रमशः प्रेमसागर और नासिकेतोपाख्यान पाठ्यपुस्तकें लिखीं। लल्लूलाल आगरे के रहनेवाले थे। जीविका की खोज में वे सन् १७८६ ई० में मुर्शिदाबाद पहुँचे और मुबारकउद्दौला के संपर्क में आए। थोड़े दिनों तक वे नागौर नरेश रामकृष्ण के आश्रय में कलकत्ते भी रहे। राजा रामकृष्ण के कैद हो जाने पर वे कलकत्ते लौट आए। कलकत्ता में उन्होंने एक प्रेस भी खोला। गिलक्राइस्ट के संपर्क में आने पर सन् १८०० में फोर्ट विलियम कालेज में वे गद्य-लेखक के रूप में नियुक्त कर लिये गए। दो वर्ष बाद सन् १८०२ में वे भाखा-मुंशी के पद पर प्रतिष्ठित हुए।

लल्लूलाल के नाम पर छोटी-बड़ी चौदह रचनाओं का उल्लेख मिलता है। इनमें कुछ ऐसी रचनाएँ हैं जिनका अनुवाद उन्होंने दूसरे की सहायता से किया है अथवा दूसरों को सहायता पहुँचाई है। सिंहासन बत्तीसी (१८०१ ई०), बैतालपच्चीसी (१८०१ ई०), माधोनल (१८०१ ई०) और शकुंतला (१८०१ ई०) ऐसी ही पुस्तकें हैं। इन चारों पुस्तकों को लिखने में लल्लूलाल की माँग पर कालेज ने उनके सहायतार्थ दो फारसीदां—मजहरअली खान विला और काजिम-अली जवाँ—को नियुक्त किया। उन्होंने स्वयं लिखा है—"उन्होंने दो शायर मेरे लिये तैनात किये, मजहरअली खान विला और काजिम अली जवाँ। एक वरष में चार पोथी का तरजुमा ब्रजभाषा से रेखते की बोली में किया। सिंहासन बत्तीसी। बैताल पच्चीसी। शकुंतला नाटक। औ माधोनल।— सिंहासन बत्तीसी सुन्दरदास की ब्रजभाषा रचना का, बैताल पच्चीसी सुरत कवीश्वर की ब्रजभाषा रचना का, शंकुतला नाटक नेवाड़ा की ब्रजभाषा रचना का और माधोनल मोतीराम की ब्रजभाषा रचना का अनुवाद है।"

उन्होंने स्वयं जो रचनाएँ अनूदित या संगृहीत की हैं वे निम्नलिखित हैं : १—राजनीति अथवा वार्तिक (राजनीति १८०२ ई०) (हितोपदेश का ब्रज-भाषा गद्यानुवाद), २—ओरिएंटल फेब्युलिस्ट का ब्रजभाषा गद्य में रूपान्तरण (१८०२), ३—प्रेमसागर या नागरी दशम (१८०३–१८०९) (चतुर्भुज मिश्र के भागवत पुराण के दशम स्कन्ध के ब्रजभाषानुवाद का खड़ीबोली में अनुवाद), ४—लतायफे-हिन्दी नक्लियात (१८१०) खड़ीबोली, ब्रजी और हिन्दुस्तानी की सौ लघु कथाओं (टेल्स) का संग्रह। लल्लूलाल ने इनका संपादन-प्रकाशन किया था। ५—भाषा कायदा (१८११ ई०) (ब्रजभाषा व्याकरण)। ६—सभा विलास (१८१५) (ब्रजभाषा काव्य संग्रह)। ७—माधोविलास (१८१७) (ब्रजभाषा में लिखा गया चंपू) ८—लालचंद्रिका (१८१८) (बिहारी सतसई की खड़ीबोली में टीका)। ग्रियर्सन ने उनके 'मसादिरे भाषा' तथा तासी ने 'विद्यादर्पण' पुस्तक का उल्लेख किया है।

खड़ीबोली गद्य की दृष्टि से उनकी पाँच पुस्तकें विचारणीय हैं—सिंहासन बत्तीसी, बैताल पच्चीसी, माधोनल, शकुंतला और प्रेमसागर।

पहली चार पुस्तकों को लल्लूलाल ने रेख्ते की बोली कहा है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की दृष्टि में उनकी भाषा उर्दू है। गार्सां द तासी ने लल्लूलाल को उन पुस्तकों की रचना में केवल सहायक माना है। माधोनल और शकुंतला की भाषा उर्दू है। पर क्या सिंहासन बत्तीसी और बैताल पच्चीसी के संबंध में भी यह सच है? इन दोनों पुस्तकों को न तो हिन्दी साहित्य के इतिहास में स्थान मिलता है न उर्दू साहित्य के। इससे इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि इनकी भाषा में बोलचाल के शब्द हैं। बैताल पच्चीसी की भूमिका इसकी भाषा को उर्दू भाषा घोषित करती है पर वह हिन्दी के अधिक निकट है—

"ये बातें करते थे कि इतने में साँझ हुई। उसे अच्छा भोजन दिया, और उसने व्यालू किया। मसल मशहूर है कि भोग आठ प्रकार का है, एक सुगंध है दूसरे बनिता, तीसरे वस्त, चौथे गीत, पांचवें पान, छठे भोजन, सातवें सेज, आठवें आभूषण—ये सब वहाँ मौजूद थे। गरज जब पहररात आई, उसने रंगमहल में जा उसके साथ सारी रात आनंद से काटी जब भोर हुई, वह अपने घर गया और वह उठके अपनी सखियों के पास आई—" बैताल पच्चीसी—अट्ठारहवीं कहानी।

सन् १८६९ ई० में सिंहासन बत्तीसी की भूमिका में उसके संपादक सैयद अब्दुला ने इसकी भाषा के संबंध में लिखा है—"जिस भाषा में सिंहासन बत्तीसी लिखी गयी है वह हिन्दी, हिन्दुस्तानी, संस्कृत, फारसी और अरबी मिश्रित भाषा

है, पर प्रधानता हिन्दी तत्त्व की है।" इसमें वैसे अरबी-फारसी शब्द प्रयुक्त हुए हैं जो सामान्य व्यवहार में प्रचलित हैं और वस्तुत: घरेलू शब्द बन चुके हैं। हिन्दी इसके अतिरिक्त और क्या है? सिंहासन बत्तीसी की भाषा का नमूना देखिए :—

"तीनों लोक में हंगाम: मचा कि राजा बीर बिक्रमाजीत का काल हुआ उस वक्त आगिया कोयला दोनों बीर भी साथ राजा ही के लोप हो गये न वह स्वामी रहा न वे दास रहे——संसार में से धर्म की धजा उखड़ गई सब रएयत राजा के राज की रोने लगी——बिराहमन भाट भिखारी रांड दुखी सब धाय मार मार रो रो कहने लगे कि हमारा आदर करने वाला और मान रखने हारा आज जग से उठ गया रानियां राजा के साथ सती हुईं और जितने दास-दासी थे सब अनाथ हो गए—"

हिन्दी गद्य के विकास के संदर्भ में लल्लूलाल के प्रेमसागर की विशेष चर्चा होती है। यह हिन्दुस्तानी प्रेस कलकत्ता से अंशत: १८०३-५ ई० में और पूर्णत: १८२५ ई० में प्रकाशित हुआ। इसकी रचना का उद्देश्य हिन्दवी (खड़ीबोली) से परिचित कराना था। लल्लूलाल ने इसमें यामिनी भाषा को छोड़ने का प्रयास किया है यद्यपि यामिनी भाषा ने उन्हें पूर्णत: नहीं छोड़ा है।

खड़ीबोली गद्य की दृष्टि से प्रेमसागर का कोई खास महत्त्व नहीं है। इसका ब्रजभाषा रंजित वृत्तगंधी गद्य न इंशा की खड़ीबोली की तरह साफ सुथरा है और न बैताल पच्चीसी और सिंहासन बत्तीसी की तरह खरा। आचार्य शुक्ल ने उसके गद्य को कथावार्ता के काम का कहा है। उसकी भाषा का नमूना देखिए—

'इस बात के सुनते ही श्रीकृष्ण जी ने हँसते-हँसते सत्रजीत से कहा कि यह मनि राजा जी को दो और संसार में जस बड़ाई लो। देने का नाम सुनते ही वह प्रनाम कर चुपचाप वहाँ से उठ सोच-विचार करता अपने भाई के पास जा बोला कि आज श्रीकृष्ण जी ने मनि माँगी और मैंने न दी। इतनी बात जो सत्रजीत के मुँह से निकली तो क्रोध कर उसके भाई प्रेसेन ने वह मनि ले अपने गले में डाली और शस्त्र लगाम घोड़े पर चढ़ अहेर को निकला। महाबन में जाय धनुष चढ़ाय लगा साबर, चीतल, पाढ़े, रीछ और मृग मारने। इसमें एक हिरन जो उसके आगे से झपटा तो इसने भी खिजलायके विसके पीछे घोड़ा दपटा और चला चला अकेला कहाँ पहुँचा कि जहाँ जुगान जुग की एक बड़ी ओंडी गुफा थी।'

स्पष्ट है कि प्रेमसागर केवल ब्रजभाषा रंजित ही नहीं है। इसमें शब्द रूपों की अनिश्चितता भी दिखाई देती है। शैली पर पंडिताऊपन की गहरी छाप है। मुहावरों का वैसा प्रयोग नहीं हुआ है जैसा बैताल पच्चीसी और सिंहासन बत्तीसी में दिखाई पड़ता है। सच तो यह है कि उन्हें न संस्कृत का ज्ञान था न ब्रजभाषा

का। इसलिए न तो वे मूल ग्रंथों का मर्म समझ सके थे और न अनुवादों की भाषा को ही औचित्यपूर्ण ढंग से प्रयुक्त कर सके।

फोर्ट विलियम कालेज के दूसरे भाखा-मुंशी सदल मिश्र (जन्म अनुमानतः १७६८, मृत्यु १८४८ ई०) शाहाबाद जिले के धुवडीहा गाँव के निवासी थे। उक्त कालेज के तत्त्वावधान में सन् १८०३ में उन्होंने 'चन्द्रावती अथवा नासिकेतोपाख्यान' को संस्कृत से खड़ीबोली में अनूदित किया। १८०६ में उन्होंने अध्यात्म रामायण का 'रामचरित अथवा अध्यात्म रामायण' नाम से अनुवाद किया। ये दोनों ग्रंथ सदल मिश्र-ग्रंथावली के रूप में बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना से प्रकाशित हो चुके हैं।

नासिकेतोपाख्यान को वह प्रतिष्ठा नहीं प्राप्त हुई जो प्रेमसागर को मिली। कालेज के पाठ्यक्रम में उसे नहीं रखा गया। इसका कारण कदाचित् यह था कि इसकी भाषा हिन्दुस्तानी के मेल में नहीं थी। सदल मिश्र ने नासिकेतोपाख्यान का सीधे संस्कृत से अनुवाद किया था। इसलिए स्वाभाविक था कि उसकी भाषा में संस्कृत की प्रचुर शब्दावली मिलती। संस्कृत के वाक्य विन्यासों का प्रभाव भी इसकी भाषा पर पड़ा है—लंबे वाक्यों से घिरे हुए वर्णन, पूर्वकालिक क्रियाओं की बहुलता आदि।

नासिकेतोपाख्यान की भाषा पर ब्रजी और भोजपुरी दोनों का रंग है। 'कौदती गाछ', 'बतकही' आदि पूर्वी के शब्द तथा 'कैसेहू', 'जाननिहार' आदि पूर्वी के रूप भी उसमें मिलते हैं। ब्रजी के रूप जैसे 'चितौने लगे', 'सहस्रन', 'किसू' आदि भी उसमें मौजूद हैं। लिंग दोष भी मिलता है—'मुंगेरों के मार से', 'सारे पृथ्वी का पति' आदि। कहीं-कहीं वाक्य अशक्त और लद्दड़ हैं—'पहले मास में तो उस कन्या को कुछ अधिक सा देह में रूप उपजा।' इन त्रुटियों के बावजूद सदल मिश्र की भाषा हिन्दी की अपनी प्रकृति के मेल में है—

'एक दिन एक समय राजा जनमेजय गंगा के तीर पर बारह बरस यज्ञ करने को रहे। एक दिन स्नान-पूजा करि ब्राह्मणों को बहुत-सा दान दे देवता पितरों को तृप्त करके ऋषि और पंडितों को साथ लिए वैशम्पायन मुनि पास जा दंडवत् कर खड़े हो हाथ जोड़ कहने लगे कि महाराज आप वेद-पुराण सब शास्त्र के सार जाननिहार तिसपर व्यास मुनि के शिष्य सब योगियों में इन्द्र समान हो। ऐसी कथा कि जिसके सुनने से पाप कटे और कोई रोग न होय नर जन्म संसार में अच्छा भोग अंत में मुक्ति मिले हमसे कहिए।'

हिंदी गद्य के प्रथम चार आचार्यों—सदासुखराय, इंशाअल्ला, लल्लूलाल और सदल मिश्र—के गद्य के महत्त्व के संबंध में विद्वानों में मतभेद है। श्यामसुन्दरदास के मतानुसार पहला स्थान इंशाअल्ला खाँ, दूसरा सदल मिश्र और

तीसरा लल्लूलाल को मिलना चाहिए। आचार्य शुक्ल का कहना है 'गद्य की एक साथ परंपरा चलानेवाले उपर्युक्त चार लेखकों में से आधुनिक हिन्दी का पूरा-पूरा आभास मुंशी सदासुख और सदल मिश्र की भाषा में ही मिलता है। व्यवहारोपयोगी इन्हीं की भाषा ठहरती है। इन दो में भी मुंशी सदासुख की साधु भाषा अधिक महत्त्व की है।' मैंने पहले ही संकेतित किया है कि शुक्ल जी ने सदासुखराय के संबंध में जो निर्णय लिया है उसका आधार अप्रामाणिक है। इंशा की शब्दावली ठेठ हिन्दी की है किंतु उसका ढाँचा हिन्दी की प्रवृत्ति के बहुत अनुकूल नहीं पड़ता। 'रानी केतकी की कहानी' हिन्दी-उर्दू शैली है उसपर दरबारी शैली की गहरी छाप है। परवर्ती हिन्दी ने उनकी भाषा को तो ग्रहण किया किंतु उनकी शैली को नहीं। सदल मिश्र की भाषा-शैली में हिन्दी की अपनी प्रकृति है। यदि उसमें अरबी-फारसी के शब्दों को रखा जाय तो भी उसे हिन्दी ही कहेंगे। लल्लूलाल की प्रेमसागरी हिन्दी का हिन्दी गद्य के निर्माण में उल्लेख्य योग नहीं है। बल्कि बैताल पच्चीसी और सिंहासन बत्तीसी की भाषा का ढाँचा हिन्दी का है। केवल अरबी फारसी के शब्दों के कारण उसे हिन्दुस्तानी मानने का कोई तुक नहीं है। हिन्दी गद्य के विकास में अपने-अपने ढंग से सभी का योग है। पर सदल मिश्र का महत्त्व अपेक्षाकृत अधिक है। 'सुरासुर निर्णय' के आधार पर सदासुखराय का महत्त्व निर्विवाद है। अतः महत्त्व की दृष्टि से इनका क्रम होगा—– सदासुखराय, सदल मिश्र, इंशाअल्ला खाँ और लल्लूलाल।

ईसाई मिशन

यदि राजकाज के लिए सरकारी स्तर पर हिन्दी गद्य का निर्माण और प्रसार फोर्ट विलियम कालेज के माध्यम से किया जाने लगा तो ईसाई धर्म के प्रचार के लिए ईसाई मिशनों ने भी हिन्दी गद्य के निर्माण में योग दिया। इस देश में धर्म प्रचार के लिए ईसाई मिशन बराबर आया करते थे। पर बाइबिल के हिन्दी अनुवाद का कार्य कलकत्ते के पास श्रीरामपुर में स्थापित डेनिश मिशन ने शुरू किया। केरे, मार्शमैन और वार्ड ने सन् १७९९ में इसकी नींव डाली। पर इस त्रयी में केरी की भूमिका सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण थी।

केरे को गिलक्राइस्ट की हिन्दुस्तानी कृत्रिम प्रतीत हुई। अतः धर्म प्रचार की दृष्टि से उसने इसे उपयोगी नहीं समझा। वे यहाँ आने के पहले कामचलाऊ हिन्दी सीख चुके थे। दो मुंशियों की सहायता से किया गया बाइबिल का हिन्दी अनुवाद सन् १८११ में छपा। यह बाइबिल का पहला हिन्दी अनुवाद है। सर्वप्रथम केरे ने हिन्दी की प्रकृति को अलग किया। अपने अनुवाद के चौथे

संस्करण में उसका कहना है—"हम हिन्दुस्तानी की उस बोली को हिन्दुई या हिन्दी समझते हैं जो मुख्यत: संस्कृत से बनी है और जो मुसलमानों के आने के पूर्व संपूर्ण हिन्दुस्तान में बोली जाती थी। यह अब भी बहुत व्यापक क्षेत्र में समझी जाती है, विशेष कर जन साधारण के मध्य।"

केरे के पश्चात् चेम्बरलेन ने भी हिन्दी की अपनी प्रकृति को समझने की कोशिश की। उसने हिन्दी की विभिन्न शैलियों—चलती हिन्दुस्तानी, चलती नागरी, संस्कृतनिष्ठ हिन्दुस्तानी, ग्राम्य शब्द-बहुल हिन्दी को वह हिन्दवी कहता था। मतलब यह कि चेम्बरलेन ने भी उर्दू को हिन्दी की एक शैली ही माना है। यदि विभिन्न कालों (१८११, १८१८, २१, २६, ३४) में किए गए बाइबिल के अनुवादों की भाषा का अध्ययन किया जाय तो उनमें क्रमिक विकास को स्पष्ट देखा जा सकता है—

१—'फिर उसने अपने बारह शागिर्दों को पास बुलाया और उन्हीं पलीत रूहों के दूर करने की और हर तरह की बीमारी और हर किसम के आजार से शिफा बखशने की कुदरत बखशी—'

२—'और यिशु ने अपने बारह शिष्यों को बुलाके नापाक भूतों के ऊपर उन्हीं के छुड़वाने को और हर तरह की बीमारी और हर अेक आजार दूर करने की उन्हें कुदरत किया—'

३—'और अपने बारह शिष्यों को समीप बुलाकर अपवित्र आत्माओं के ऊपर उन्हीं के छुड़वाने को और सब पीड़ा और सब दुबलाई आछी करने को उन्हीं को अधिकार दिया—'

धीरे-धीरे फोर्ट विलियम कालेज के अधिकारियों की भाँति ईसाई मिशनरियों को भी स्पष्ट हो गया कि उत्तर भारत की जनभाषा हिन्दी है और उनके अनुवादों में इसी का प्रयोग होने लगा।

प्रेस और समाचार पत्र

यों प्रेस स्थापना का छिटफुट प्रयास गोवा आदि स्थानों में हुआ किंतु व्यवस्थित रूप से उसकी शुरुआत कलकत्ते में हुई। चार्ल्स विलिकन्स (१७५०-१८३६) ने नैथेनियल ब्रेसी हालहेड कृत 'ए ग्रामर आफ बंगाली लैंग्वेज' के लिए प्रथम बार बँगला टाइप बनाए। विल्किन्स ने हुगली प्रेस के लिए बँगला टाइप के अतिरिक्त नागरी टाइप भी निर्मित किए।

श्रीरामपुर मिशन के केरी ने पंचानन कर्मकार की सहायता से टाइप फाउण्ड्री खोली। वस्तुत: नागरी टाइपों का जन्मस्थान हुगली और श्रीरामपुर है। श्रीरामपुर में पहले पहल टाइप फाउण्ड्री बनी। यहाँ से ही अन्य स्थानों को

टाइप भेजे जाते थे। टाइप उपलब्ध होने से जगह-जगह छापेखानों का खुलना आरंभ हो गया। छापेखाने के कारण पुस्तकें और समाचार पत्रों के प्रकाशन का द्वार खुल गया।

सन् १७८० में जे० ए० हिकी ने अंग्रेजी में 'दि बंगाल गजट' प्रकाशित किया। गजट भारतीय पत्र जगत् में नया प्रकाश लेकर आया। इसके बाद अंग्रेजी के और भी पत्र प्रकाशित हुए। १८१८ में मार्शमैन और केरे ने 'दिग्दर्शन' नामक बँगला पत्र प्रकाशित किया। वह बंगला और अंग्रेजी दोनों में छपता था। हिन्दी में पहला पत्र उदन्त मार्तण्ड है जो ३० मई १८२६ को जुगलकिशोर सुकुल के संपादकत्व में प्रकाशित हुआ। इसमें देश-विदेश के समाचार, अधिकारियों की नियुक्ति और स्थानान्तरण की सूचनाएँ, बाजार-भाव आदि रहते थे।

हिन्दी संबंधी दूसरे पत्र के सिलसिले में बंगदूत का नाम लिया जाता है। यह (१८२९) आर० एम० मार्टिन और राजा राममोहन राय द्वारा प्रकाशित किया गया। कहा जाता है कि यह बँगला, हिंदी और फारसी में छपता था। पर कलकत्ता रीव्यू के अनुसार यह बँगला और फारसी में छपा करता था। १८२९ में यह सरकारी आदेश से बन्द हो गया। फिर यह दो रूपों में प्रकाशित हुआ—हिन्दू हेराल्ड (अंग्रेजी) और बंगदूत (बँगला और हिन्दुस्तानी यानी उर्दू) में सेठों के लाभार्थ बाजार भाव बँगला और नागरी दोनों में छपते थे। हिन्दी-पत्रकारिता के क्षेत्र में बंगदूत का कोई स्थान नहीं है।

१८४६ में कलकत्ता से मो० नासिरुद्दीन के संपादकत्व में 'जगत दीपक भास्कर' प्रकाशित हुआ। इसके प्रत्येक पृष्ठ पर पाँच स्तंभ होते थे—बँगला, अंग्रेजी, उर्दू, फारसी और हिन्दी के स्तंभ। १८४४ में राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द द्वारा स्थापित और तारामोहन मित्र द्वारा संपादित 'बनारस अखबार' निकला। यह नागराक्षरों में हिन्दुस्तानी शैली का पत्र था। १८५० में 'सुधाकर' तारा-मोहन मित्र के संपादकत्व में निकला। यह पहले हिन्दुस्तानी ढर्रे का पत्र था पर बाद में शुद्ध हिन्दी में निकलने लगा।

सन् १८५० से '६७ ई० के बीच बहुत से और पत्र भी प्रकाशित हुए—तत्त्व-बोधिनी पत्रिका (१८६५), सत्यदीपक (१८६६), लोकमित्र (१८६७) बुद्धि प्रकाश (मुंशी सदासुखलाल के 'नूरुल बाजार' का हिन्दी रूपान्तर) आदि।

इन समाचार पत्रों की भाषा परिष्कृत नहीं कही जा सकती। इनमें ब्रजी, अवधी, भोजपुरी के शब्दों का प्रयोग तो है ही, ब्रजी के कई रूप विन्यास भी पाये जाते हैं। किंतु इनके द्वारा नए-नए शब्दों का व्यवहार होने लगा और खड़ीबोली की श्रीवृद्धि हुई, इसमें कोई सन्देह नहीं।

पाठ्य पुस्तकें

फोर्ट विलियम कालेज ने ही पाठ्य पुस्तकों की परंपरा की शुरुआत की। लल्लूलाल का प्रेम सागर, सदलमिश्र के 'रामचरित्र' और 'नासिकेतोपाख्यान' पाठ्य पुस्तकें ही थीं। लल्लूलाल की सहायता से मजहर अली द्वारा लिखित 'बैताल पच्चीसी' और काजिम अली की 'सिंहासन बत्तीसी' ऐसी ही रचनाएँ हैं। प्राइस के समय में 'हिन्दी एण्ड हिन्दुस्तानी सेलेक्शन्स' दो खंडों में प्रकाशित हुआ।

अंग्रेज शासकों ने प्रशासन की सुविधा तथा ईसाई मिशनरियों ने धर्म-प्रचार के लिए अनेक कालेज और स्कूलों की स्थापना की। १९वीं शताब्दी के पूर्वार्ध में आगरा कालेज आगरा, नार्मल स्कूल आगरा, दिल्ली कालेज, इन्दौर हिन्दी स्कूल आदि स्थापित हो चुके थे। ईसाई मिशनों ने नगरों में छोटी-छोटी पाठशालाएँ खुलवाईं। गाँवों में भी पाठशालाएँ खुलने लगीं। फलस्वरूप हिन्दी पाठ्य पुस्तकों की माँग हुई।

शासकों और मिशनों के प्रयास से बहुत सी टेक्ट-बुक सोसाइटियाँ खुलीं। उनमें कलकत्ता स्कूल बुक सोसाइटी (१८१७ ई०), मद्रास स्कूल बुक सोसाइटी (१८२८ ई०), आगरा बुक सोसाइटी (१८२०), आगरा स्कूल बुक सोसाइटी (१८३३) और नार्दर्न इंडियन क्रिश्चियन बुक सोसाइटी आगरा-बनारस (१८४८) प्रमुख हैं।

इन पाठ्यपुस्तकों में रतनलाल की भूगोल सार, कथासार, भूगोलदर्पण आदि उल्लेखनीय हैं। कलकत्ता स्कूल बुक सोसाइटी के तत्त्वावधान में 'पुरुष परीच्छा संग्रह' (१८१३) अनूदित हुआ। 'मूल सूत्र' १८२० में उसी सोसाइटी द्वारा प्रकाशित हुआ। इसमें कुछ छात्रोपयोगी कहानियाँ संगृहीत हैं। ऐडम लिखित 'उपदेश कथा' (१८२४) लघु कहानियों का संग्रह है। १८४० में 'ज्ञान प्रकाश' आगरा बुक सोसाइटी द्वारा प्रकाशित हुआ। इतिहास, भूगोल आदि विषयों के साथ-साथ 'ज्ञेनान्तर सार या मेटीरिया मेडिका' (१८२१) हिन्दुस्तानी छापाखाना कलकत्ता से प्रकाशित हुआ। इस तरह और भी अनेक पुस्तकों का उल्लेख किया जा सकता है।

बीबीरोसाहिक के 'मूल सूत्र' की भाषा देखिए—

"छोटी दान्त लड़की की बात ।।

"एक छोटी लड़की चार-पाँच बरस की एक गरम रोटी चीखने को चाहती थी। उसने रोटी वाले को जाते देखा तब रोटी खरीद करने को अपनी मां से एक पैसा मांगा, मांने एक पैसा दिया, तब वह दौड़ी और तुरंत मोल ली।

"फिर आके दरवाजे के पास उसने एक गरीब औरत देखी जो खाने मोल लेने के वास्ते पैसा मांगती थी क्योंकि वह बहुत भूखी थी। उसने उससे कहा कि

मेरे पास कोई पैसा और नहीं, लेकिन हम जाके अपनी मां से पूछूंगी पैसे के वास्ते तब वह भीतर दौड़ी गई और जल्दी फिर आयी और गरीब रंडी से कहा कि मेरी मां के पास और कोई पैसा नहीं लेकिन एक रोटी वहां है तुम्हारे वास्ते और वह गरम भी है लो खाओ और दिलखुश रहो। हम भी खुश है कि मेरे पास जो था सो भूखी को दिया।"

पाठ्य पुस्तकों की भाषा बाइबिल के अनुवादों की भाषा की अपेक्षा साफ-सुथरी है यद्यपि ब्रजी के स्पर्श से सर्वथा मुक्त नहीं है। शब्द-प्रयोग की अनुपयुक्तता, लिंग-वचन की अनेक भूलें हैं। किंतु पाठ्य पुस्तकों के लिए नई शब्दावली भी ढूँढ़ना पड़ा है, नए विषयों के अनुरूप शब्दों की तलाश करनी पड़ी है। इस तरह भाषा की श्रीवृद्धि में पाठ्य पुस्तकों का महत्त्वपूर्ण योग है।

खड़ीबोली का गद्य : संघर्ष की कहानी

इस देश की प्रांतीय भाषाओं को पहला धक्का लगा जिसका कारण नवीन शिक्षा का प्रादुर्भाव था। कंपनी सरकार ने सन् १८१३ में एक ऐक्ट बनाकर संस्कृत-फारसी की शिक्षा को प्रोत्साहित किया। राजा राममोहन राय इसके विरुद्ध थे; वे आधुनिकता ले आने के लिए पश्चिमी ढंग की शिक्षा आवश्यक समझते थे। राजा साहब ने इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए डेविड हेयर की सहायता से एक स्कूल की स्थापना की। सन् १८३० में अलेक्जेंडर डफ ने उच्च शिक्षा के निमित्त एक कालेज खोला। सन् १८३४ में लार्ड मैकाले ने अंग्रेजी शिक्षा के पक्ष में कंपनी के डाइरेक्टरों के पास जो परामर्श भेजा उसका परिणाम यह हुआ कि कंपनी ने शिक्षा-संबंधी पूर्व निश्चित नीति में मौलिक परिवर्तन स्वीकार कर लिया। मैकाले ने सोचा था कि इस शिक्षा से प्रशासकीय कार्य के लिए क्लर्क तो मिलेंगे ही, कालान्तर में भारतीय शिक्षित वर्ग अंग्रेजों की तरह सोचने-विचारने लगेगा और अंग्रेजी राज्य की नींव सर्वदा के लिए दृढ़ हो जायगी। मैकाले का सोचना आंशिक रूप में सच निकला पर राजा राममोहन राय अधिक दूरदर्शी सिद्ध हुए। राष्ट्रीयता के उदय में अंग्रेजी शिक्षा का योग कम महत्त्वपूर्ण नहीं रहा। किंतु इससे संस्कृत-फारसी की शिक्षा को धक्का लगा, देशी-भाषाओं का भविष्य खतरे में पड़ गया।

सन् १८३५ ई० में कंपनी सरकार ने अंग्रेजी शिक्षा के प्रचार का प्रस्ताव स्वीकार किया। पर अदालती भाषा के संबंध में सन् १८३६ में जो इश्तहारनामा निकला उसमें अदालतों में देशी भाषा के प्रयोग का निदेश किया गया। अभी तक हिन्दी प्रदेशों की अदालती भाषा फारसी ही थी, पर जनता की सुविधा तथा अंग्रेजी शासन को दृढ़ बनाने की दृष्टि से अदालतों की भाषा देशी कर दी गई—

'पच्छांह के सदर बोर्ड के साहवों ने यह ध्यान किया है कि कचहरी के सब काम फारसी जबान में लिखा-पढ़ा होने के कारण सब लोगों को बहुत हर्ज पड़ता है जब कोई अपनी अर्जी अपनी भाषा में लिख के सरकार में दाखिल करने पावे तो बड़ी बात होगी। इसलिए हुक्म दिया गया है कि सन् १८४४ की कुवार बदी प्रथम से जिसका जो मामला सदर बोर्ड में हो सो अपना अपना सवाल हिन्दी की बोली में और फारसी और नागरी अच्छरन में लिखने के दाखिल करे कि डाक पर भेजे और सवाल जौन अच्छरन में लिखा हो तौने अच्छरन में और हिन्दी बोली में उसपर हुकुम लिखा जायगा। मिती २९ जुलाई सन् १८३६ ई०।'[1]

पर संप्रदायवादियों ने इस व्यवस्था का घोर विरोध किया। कहना न होगा इसकी भूमिका जान गिलक्राइस्ट ने फोर्ट विलियम कालेज में ही बाँध दी थी—हिन्दी-उर्दू को अलग-अलग करके। इश्तहार के साल भर वाद सन् १८३७ ई० में हिन्दी के स्थान पर उर्दू अदालतों की भाषा घोषित कर दी गई। यों सन् १८०३ में ही कंपनी ने 'तमामी आदमी के बुझने के बास्ते' नागरी भाषा और अक्षर में इश्तहार जारी करने की आज्ञा निकाल दी थी। स्पष्ट है कि नागरी भाषा और अक्षर तमामी आदमी (जनसाधारण) की भाषा थी। लेकिन सरकार जान-बूझ कर उसकी अवहेलना कर रही थी।

पर सन् १८३६ के बाद प्रभुवर्ग अधिक चतुर हो गया और नई अदालती भाषा के आधार पर हमारी एकता पर गहरा प्रहार किया। आचार्य रामचंद्र शुक्ल के शब्दों में गार्सां द तासी ने भी फ्रांस में बैठे-बैठे इस झगड़े में योग दिया। बाबू शिवप्रसाद सितारे हिंद ने इस कूटनीतिक कार्यवाही को समझा और उन्होंने स्पष्ट कहा—'दिल्ली के मुसलमान बादशाहों ने भाषा के संबंध में जो कुछ सोचा भी नहीं था, वह अंग्रेजी सरकार अंग्रेजी के साथ-साथ फारसी लिपि में उर्दू को, जो एक दूसरी विदेशी भाषा है, लाद रही है। हिन्दी को अन्य भाषाओं—बँगला, मराठी, गुजराती—से अलग करके उसके विकास को बाधित किया जा रहा है—मेरी प्रार्थना है कि फारसी अक्षरों को हटाकर उसके स्थान पर हिंदी को जारी करना चाहिए।'[2]

१—रामचन्द्र शुक्ल : हिन्दी साहित्य का इतिहास : ८वाँ संस्करण पृ० ४३०।

2. The Government voting that English is not the language for the masses, one thus unconsciously forcing another foreign language namely Persian, or I may say Semi-Persian, the Urdu in Persian character, upon the helpless masses, in fact doing whatever the Muhammadan Emperors of Delhi never thought to do... ...I pray that the Persian letters may be driven out of the courts as the language has been, and that Hindi may be substituted for them. —Memorandum 1868.

चंद्रबली पांडेय, 'कचहरी की भाषा और लिपि' से उद्धृत।

राजा ने भेदभाव का विरोध करते हुए अतिवादी पंडितों और मुल्लाओं के संबंध में लिखा है--'गर्ज मौलवी और पंडित दोनों की यह बड़ी भूल है कि तों सिवाय फेल और हरफों के बाकी सब अल्फाज सहीह पाणिनी की टकसाल के खुरखुरे संस्कृत गोया यह हजारों बरस से हम ही लोग हजारों हालतों के बाअस हजारों तबद्दुल व तग़ैयत अपनी जबान में करते चले आए हैं।'[1] इतना ही नहीं, उन्होंने साफ कहा है कि हमें भाषा में आमफहम और खासपसंद शब्दों का चुनाव करना चाहिए।

अब खड़ीबोली हिन्दी को दो प्रकार के अवरोधों का सामना करना पड़ा। एक तो शासक वर्ग ने उसकी उपेक्षा ही नहीं उसका विरोध करना आरंभ किया, दूसरे उर्दू को राजाश्रय मिलने से उसे एक समानान्तर भाषा का सामना करना पड़ा। मराठी, बँगला, गुजराती आदि भाषाओं को इस तरह के विरोधों से गुजरने की स्थिति ही नहीं आई।

पर जन-भाषा को सरकारी स्तर पर कुछ काल तक उपेक्षित भले ही कर लिया जाय पर सर्वदा के लिए उसे दबाया नहीं जा सकता। धीरे-धीरे इसने अपने को अपनी आन्तरिक शक्ति के आधार पर, सर्वत्र प्रतिष्ठित कर लिया। पर हिन्दी-उर्दू के जो कृत्रिम झगड़ा अंग्रेजों और सम्प्रदायवादियों की कृपा से उठाया गया वह देश के दो खंड हो जाने के बाद ही समाप्त हुआ।

जैसा पहले कहा जा चुका है राजा शिवप्रसाद सितारे हिंद (१८२३-९५ ई०) जनता के हित को देखते हुए सरकार की भाषा विषयक नीति को बदलने की चेष्टा कर रहे थे। वे आम फहम भाषा तथा नागरी लिपि के पक्ष में थे। पीछे कहा जा चुका है कि फारसी लिपि में लिखी उर्दू को अरबी-फारसी बहुल उर्दू को वे विदेशी भाषा मानते थे। परंपरा से विकसित हिन्दी में उन्होंने कई पुस्तकें और निबंध आदि लिखे जैसे, मानवधर्म सार, योगवाशिष्ठ के चुने हुए श्लोक, उपनिषद् सार, भूगोल हस्तामलक, वामामनरंजन, राजा भोज का सपना आदि। लेकिन बाद में चलकर उनकी भाषा अरबी-फारसी-बहुल हो गई, यद्यपि इसके लिए उन्होंने नागरी लिपि का ही व्यवहार किया। पर उनकी अपनी सीमाएँ थीं, शिक्षा-विभाग की नौकरी करते हुए अंग्रेजों की निर्धारित नीति के सर्वथा विरुद्ध जाना कैसे संभव था। फिर भी उन्होंने जो कुछ किया वह बहुत था। राजा साहब की इस नीति से चिढ़कर हेनरी पिंकाट ने भारतेन्दु बाबू के नाम एक पत्र में लिखा था--'कि बीस वर्ष हुए उसने सोचा कि अंग्रेजी साहबों को कैसी-कैसी बातें अच्छी लगती हैं। उन बातों का प्रचलित करना परम चतुर लोगों

१--'कचहरी की भाषा और लिपि' से उद्धृत।

का धर्म है। इसलिए बड़े चाव से उसने अपनी हिंदी भाषा को भी बिना लाज छोड़कर उर्दू को प्रचलित करने में बहुत उद्योग किया।' हेनरी पिंकाट के इन आरोपों को स्वीकार नहीं किया जा सकता। यह पत्र १ जनवरी १८८४ ई० को लिखा गया। इसके दो वर्ष पहले ही १८८२ के एजूकेशन कमीशन के सामने अपने विचार प्रकट करते हुए उन्होंने नागरी लिपि का प्रबल समर्थन किया था। उनका कहना था कि नागरी लिपि के प्रचार होने पर मैं शिक्षा-संस्थाओं में (नार्थ वेस्टर्न प्राविन्सेज और अवध) बंगाल से अधिक इस वृद्धावस्था में अपनी पेंशन छोड़ने को तैयार हूँ।

यह अवश्य है कि वे उर्दू के विरोधी नहीं थे, हाँ फारसी लिपि और विदेशी शब्दावली को स्वीकार करने के लिए वे कभी भी प्रस्तुत न हुए। आज पुर्नविचार करने पर राजा साहब की नीति ही अधिक साधु और विवेकपूर्ण प्रतीत होती है। केवल 'इतिहास तिमिरनाशक' और 'बनारस अखबार' की भाषा के आधार पर, जो फारसी-अरबी प्रधान है, उनकी कीर्ति पर धूल नहीं डाली जा सकती।

'इतिहास तिमिरनाशक' और 'बनारस अखबार' में राजा शिवप्रसाद जिस भाषा—फारसी-अरबी बहुल भाषा—का प्रयोग कर रहे थे उसकी प्रतिक्रिया राजा लक्ष्मण सिंह (१८२६-९६) पर हुई। राजा शिवप्रसाद की भाँति उन्हें भी हिन्दी-अंग्रेजी फारसी का अच्छा ज्ञान था। वे भी २० वर्ष तक सरकारी सेवा में रहे। राजा की उपाधि उन्हें भी अंग्रेजी सरकार से ही प्राप्त हुई थी। किंतु हिंदी के संबंध में उन्होंने राजा शिवप्रसाद के ठीक विरोधी दृष्टिकोण अपनाया। वे शुद्ध हिन्दी के पक्षपाती थे। उन्होंने १८६२ में अभिज्ञान शाकुंतल का अनुवाद विशुद्ध हिंदी में किया। मेघदूत और रघुवंश के अनुवाद भी उन्होंने किए। भाषा के संबंध में उनकी नीति बिलकुल अलग थी—

'हमारे मत में हिन्दी और उर्दू दो बोली न्यारी-न्यारी हैं। हिन्दी इस देश के हिन्दू बोलते हैं और उर्दू यहाँ के मुसलमानों और पारसी पढ़े हुए हिन्दुओं की बोलचाल है। हिंदी में संस्कृत के पद बहुत आते हैं, उर्दू में अरबी-फारसी के।' —रघुवंश का प्राक्कथन।

लेकिन हयूम साहब के साथ एक्ट नं० १० का उलथा करते समय उन्होंने यह अनुभव किया कि जनता में विदेशी भाषा के बहुत से शब्द प्रचलित हैं और इसके आधार पर उन्हें अदालत, गवाह आदि शब्दों को ग्रहण करना पड़ा।

इससे दो बातें स्पष्ट हो जाती हैं; एक तो यह कि इस समय तक हिन्दी-उर्दू अलग-अलग भाषाएँ हो गई थीं, दूसरी यह कि ऐसा होने पर भी अलग्योझा इस सीमा तक नहीं पहुँचा था कि जनता में प्रचलित विदेशी शब्दों का एकबारगी बहिष्कार कर दिया जाय।

सरकारी नीति की चिंता न करते हुए लोग हिन्दी के विकास में लगे हुए थे। अनुवाद, पाठ्यग्रंथ तथा स्वतंत्र पुस्तक लेखन के साथ-साथ समाचार पत्र भी निकलने लगे। उदंत मार्तंड (१८२६-२८ ई०), समाचार सुधावर्षण (१८५४) आदि से भाषा में निखार आने लगा और लोगों में भाषा की ओर झुकाव भी हुआ।

सन् १८७५ ई० में स्वामी दयानन्द सरस्वती ने आर्यसमाज की स्थापना की। वेदों की अपौरुषेयता में विश्वास करते हुए भी इस समाज ने हिन्दू धर्म की सनातनी रूढ़ियों को प्रबल धक्का दिया। समाज के प्रचारकों ने देश में धर्म के माध्यम से जिस राजनीतिक-सांस्कृतिक चेतना को प्रवाहित किया समस्त उत्तर भारत पर उसका व्यापक प्रभाव पड़ा। धार्मिक आन्दोलनों में आर्यसमाज ही सरकार का कोप भाजन हुआ। स्वामी जी गुजराती थे लेकिन उन्होंने देश की सर्वाधिक प्रचलित और व्यापक भाषा को अपने धर्म प्रचार का माध्यम बनाया। स्वामीजी के इस प्रचार के कारण हिन्दी की अभिव्यंजना शक्ति बढ़ी और उसके माध्यम से लोग अपने तर्कपूर्ण विचारों को व्यक्त करने लगे। पंजाब में प्रचलित उर्दू को इससे गहरा धक्का लगा।

आर्यसमाज के पहले ही नवीनचन्द्र राय पंजाब में हिन्दी के माध्यम से ब्रह्म-धर्म का प्रचार कर रहे थे। उन्होंने फारसी-अरबी मिश्रित उर्दू का घोर विरोध किया। उर्दू पर उस समय तक मजहबी रंग हद तक चढ़ चुका था कि राय को कहना पड़ा—उर्दू के प्रचलित होने से देशवासियों को कोई लाभ न होगा क्योंकि वह भाषा खास मुसलमानों की है। १८६७ में उन्होंने हिन्दी में 'ज्ञान प्रकाशिनी पत्रिका' भी निकाली। इन्हीं दिनों श्रद्धाराम फिल्लौरी अपने प्रवचनों से सनातन धर्म के प्रचार के साथ ही हिन्दी का प्रसार कर रहे थे। बाद में चलकर उन्होंने आर्यसमाज का विरोध कया। वे बहुत ही ठोस संस्कृत-निष्ठ हिन्दी लिखते थे। यह उनके ग्रंथ 'सत्यामृत-प्रवाह' से स्पष्ट हो जाता है। सन् १८७३ ई० में उन्होंने 'भाग्यवती' उपन्यास भी लिखा। इन धार्मिक आन्दो-लनों के फलस्वरूप हिन्दी का आशातीत प्रसार हुआ, कठिन से कठिन विषयों का विवेचन सरल भाषा में होने लगा।

कहना न होगा कि हिन्दी गद्य के निर्माण में मुख्यत: दो शक्तियों ने सहायता पहुँचाई; पहली शक्ति तत्कालीन ऐतिहासिक आवश्यकता है जो आधुनिकता के कारण प्रसूत हुई थी, दूसरी विविध प्रकार के धार्मिक आन्दोलनों के रूप में प्रकट हुई। सौदागरों और व्यवसायियों के आवागमन से, उनके पारस्परिक विचार-विनिमय से, इस भाषा का, जो बोलचाल में प्रयुक्त हो रही थी, अपने आप विकास हुआ। धार्मिक आंदोलन-कर्ताओं में ईसाई मिशनों ने पहले पहल देशी बोली की

पहचान की ओर धर्मप्रचारार्थ हिन्दी को अपनाया। गुजरात, महाराष्ट्र, बंगाल, पंजाब आदि प्रांतों का भेद मन में न लाते हुए विभिन्न प्रांतों के धार्मिक आन्दोलन-कर्त्ताओं ने हिन्दी को स्वेच्छया अपनाया। इस तरह एक विशेष प्रकार की राष्ट्रीयता के प्रादुर्भाव के साथ-साथ हिन्दी आरंभ से ही अन्त-प्रान्तीय विचार-विनिमय की भाषा बनती जा रही थी।

पर भारतेंदु के उदय के पूर्व हिन्दी गद्य व्यवस्थित न हो सका। नाना प्रकार के धार्मिक ग्रंथों, उपदेशों, खंडन-मंडन पूर्ण परिपत्रों, पाठ्यग्रंथों आदि को सही अर्थ में साहित्य के अन्तर्गत नहीं ग्रहण किया जा सकता। राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द की रचनाएँ भी इस कोटि में नहीं आ सकतीं। 'राजा भोज का सपना' निबंध के कारण उन्हें साहित्यिक श्रेणी में रखा जाता है, पर वह निबंध मौलिक न होकर मिस सी० एम० टकर के एक निबंध का अनुवाद है। 'राजा भोज का सपना' पुस्तिका के मुखपृष्ठ पर लिखा है--

'राजा भोज का स्वप्ना'
राजाज ड्रीम
बाई
मिस सी० एम० टकर
ट्रांसलेटेड बाई
राजा शिवप्रसाद सी० एस० आई० फार
एच० सी० टकर, स्क्वायर, बी० सी० एस०

अन्ततोगत्वा शताब्दियों से विकसित होती हुई हिंदी, समय की आवश्यकताओं के अनुरूप, अनेक विरोधी परिस्थितियों से गुजरती हुई, एक शैली का निर्माण करने लगी। पर अभी तक ब्रजभाषा, अवधी, पंडिताऊपन, पंजाबी, गुजराती आदि के प्रभाव से वह अपने को सर्वथा मुक्त नहीं कर पाई थी। इसीलिए उसमें एक सर्वसामान्य गद्य शैली की परंपरा नहीं दीख पड़ी जो आगे चलकर भारतेंदु तथा उनके सहयोगियों द्वारा निर्मित हुई। लेकिन भारतेंदु मंडल के लिए भूमि निर्माण का कार्य इसी समय हुआ। इसका ऐतिहासिक महत्त्व कम नहीं आँका जा सकता।

अध्याय चौथा

गद्य की प्रतिष्ठा (१८५७-१६००)

भारतेन्दु और उनका मंडल

जिन ऐतिहासिक परिस्थितियों में हिंदी गद्य का निर्माण हो रहा था उन्हीं में बँगला-मराठी-गुजराती तथा अन्य भारतीय भाषाओं का गद्य भी विकसित और निर्मित हो रहा था। इसलिये अपनी अलग-अलग विशेषताओं के बावजूद उनके साहित्य में एक प्रकार का अद्भुत साम्य भी दिखाई देता है।

इस समय ऐसे व्यक्तियों की आवश्यकता थी जो इतिहास की प्रगति का साथ देते और साहित्य के माध्यम से उसकी गतिशीलता को और भी शक्तिशाली ढंग से अग्रसारित करते। हिंदी में भारतेंदु हरिश्चन्द्र, बँगला में ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, मराठी में विष्णु शास्त्री चिपलूणकर और गुजराती में नर्मदाशंकर ने यही कार्य किया और इसमें ही इनकी महत्ता भी है।

इन सभी व्यक्तियों की रचनाओं को, अपने आप में, साहित्य की उच्चतर कोटि में नहीं रखा जा सकता, फिर भी ये अत्यंत महत्वपूर्ण व्यक्तित्व गिने जाते हैं। इन्होंने ऐतिहासिक गतिविधि के अन्त:संघर्षों को परखा और उसके गतिशील जीवंत तत्वों को आगे बढ़ाने में भरपूर सहायता की। आर्थिक व्यवस्था में जिस पूँजीवाद का उदय हो रहा था वह राष्ट्रीय चेतना का उन्नायक था। इसके कारण जिस व्यक्तिवाद का आविर्भाव हुआ वह पहले पहल निबंधों में प्रकट हुआ।

इस राष्ट्रीय चेतना को पहले पहल भारतेंदु हरिश्चन्द्र (१८५०-८३५) ने पहचाना और हिंदी गद्य के माध्यम से उसे अभिव्यक्ति भी दी। उनका जन्म सन् १८५० ई० में काशी के एक अतिशय समृद्ध कुल में हुआ था। उनके पिता बाबू गोपालचन्द्र स्वयं साहित्यकार और विद्यानुरागी थे। इनके यहाँ कवियों का जमघट लगा रहता था। पंडित ईश्वरीदत्त, सरदार कवि, दीनदयाल गिरि, कन्हैयालाल, लक्ष्मीशंकर व्यास, गुलाबराम नागर आदि उनके सभा सदस्य थे। बालक हरिश्चन्द्र पर इस साहित्यिक वातावरण का गहरा प्रभाव पड़ा। 'निज भाषा उन्नति अहै सब उन्नति को मूल' उनके जीवन का बीज मंत्र था। इसके लिये उन्होंने कई पत्रिकाएँ निकालीं। १८७० ई० में कविता वर्धिनी सभा की नींव पड़ी। इसके माध्यम से नए कवियों को प्रोत्साहित करना उनका लक्ष्य था। १८७३ में उन्होंने 'पेनी रीडिंग क्लब' की स्थापना की। इस क्लब में लेख-पाठ होता था। इस क्लब में पढ़े गए लेख हरिश्चन्द्र मैगजीन

और चन्द्रिका में छपते थे। धर्म और ईश्वर संबंधी विचारों के प्रचारार्थ (१८७३) में उन्होंने 'तदीय समाज' की स्थापना की। वे वल्लभ संप्रदाय में दीक्षित वैष्णव थे, किन्तु बाह्याडंबरों में बिलकुल विश्वास नहीं रखते थे। वे जन्म से उच्चवर्ग के व्यक्ति थे किंतु कर्म से जन सामान्य के साथ थे। वे महारानी विक्टोरिया के प्रति श्रद्धावान थे पर अंग्रेजों के शोषण के विरुद्ध थे। वे एक ओर रीतिकालीन रसिक थे तो दूसरी ओर आधुनिक चेतना से संपन्न। इस प्रतिभासंपन्न व्यक्ति की कुल ३३ वर्ष की अल्पकालिक अवस्था में–सन् १८८३ ई० में-इहलौकिक लीला समाप्त भी हो गई। पर इतने थोड़े समय में ही उन्होंने जो कुछ किया वह सर्वदा अविस्मरणीय रहेगा। सन् १८५७ ई० में देश को अंग्रेजों से मुक्त कराने के लिए सामन्तवादी शक्तियाँ एक प्रकार की क्रांति से गुजर चुकी थीं। इसके फलस्वरूप महारानी विक्टोरिया का घोषणापत्र निकला और कंपनी के राज्य की परिसमाप्ति हो गई। लेकिन इससे अंग्रेजों की नीति में कोई मौलिक अन्तर नहीं आया। थोड़े ही दिनों में लोग इस कपटपूर्ण घोषणापत्र की वास्तविकता को समझ गए और राष्ट्रीय चेतना को आगे बढ़ाने में संलग्न हो गए।

इससे भी बड़ा काम उन्होंने यह किया कि साहित्य को नवीन मार्ग दिखाया और उसे वे शिक्षित जनता के साहचर्य में ले आए।

विचारधारा बदल चली थी। उनके मन में देशहित, समाजहित आदि की नई उमंगें उत्पन्न हो रही थीं। काल की गति के साथ उनके भाव और विचार तो बहुत आगे बढ़ गए थे, पर साहित्य पीछे ही पड़ा था—इस प्रकार हमारे जीवन और साहित्य के बीच जो 'विच्छेद पड़ रहा था उसे उन्होंने दूर किया।'[1]

भारतेंदु के कार्यों का लेखा-जोखा अथवा उनके ऐतिहासिक रोल का आकलन करने के लिए, उनके द्वारा संचालित, प्रकाशित तथा संपादित तीन पत्रिकाओं-कविवचन सुधा (१८६८ ई०) हरिश्चन्द्र मैगजीन (१८७३ ई०) तथा हरिश्चन्द्र चंद्रिका (१८७३ ई०) के पन्नों को उलटना पड़ेगा – चंद्रिका के मुखपृष्ठ पर अंकित है—"नवीन प्राचीन संस्कृत भाषा और अंग्रेजी में गद्यपद्य मय काव्य, प्राचीनवृत्त, राज्य संबंधी विषय, नाटक, विद्या और कला पर लेख, लोकोक्ति, इतिहास, परिहास, गद्य और समालोचना संभूषिता।" इसके अतिरिक्त वैज्ञानिक शब्दावली के निर्माण का कार्य भी जारी था, जिसे भारतेंदु के सहयोगी विहारी चौबे निष्पन्न कर रहे थे। चौबे जी भाषा विज्ञान विषयक लेख भी लिख रहे थे। इंडियन एंटिक्वेरी, टाइम्स आदि से संबद्ध प्रसंगों का चयन भी किया जाता था, ग्राउस आदि के हिन्दी संबंधी वक्तव्यों पर विचार-विनिमय भी प्रकाशित होता था। हरिश्चन्द्र मैगजीन में धर्म, भाषा

१—आचार्य रामचंद्र शुक्ल : हिन्दी साहित्य का इतिहास पृ० ४५०-५१।

आदि विषयक व्याख्यानों की रिपोर्टें छापी जाती थीं। मध्यवर्गीय समाज पर विचार का कार्य उसी समय आरंभ हो गया था। कानून की पुस्तकों के अनुवाद की योजना का प्रकाशन भी होता था। इसके साथ-साथ पुराने ढंग की कविताएँ समस्यापूर्तियाँ, नायिका-भेद पर क्रमशः लेख भी प्रकाशित होते रहते थे।

उनकी पत्रिकाओं से साफ है कि गद्य के क्षेत्र में वे पूर्णतः आधुनिक थे तो काव्य के क्षेत्र में परंपरावादी। इसके मूलभूत कारणों की व्याख्या यथाप्रसंग आगे की जायगी। अभी हम अपने को गद्य के विकास तक ही सीमित रखना चाहेंगे।

गद्य को विविध विषयों की ओर ले जाने के साथ-साथ उन्होंने पूर्ववर्ती गद्य की त्रुटियों का परिहार करते हुए उसे नए विचारों की वाहकता के अनुरूप संस्कृत किया। सन् १८७३ में उन्होंने स्वयं लिखा कि 'हिन्दी नए चाल में ढली।' इसी को हरिश्चन्द्री हिंदी भी कहा जाता है। भारतेंदु, हिन्दी गद्य के संबंध में राजा शिवप्रसाद और राजा लक्ष्मण सिंह के अतिवादों से बचते हुए मध्यम मार्ग के पक्षपाती थे।

भारतेंदु का व्यक्तित्व अपनी उदारता, गुणग्राहकता आदि के कारण इतना आकर्षक और लोकप्रिय था कि उनके आसपास लेखकों का अच्छा खासा मंडल तैयार हो गया। उनमें बदरीनारायण चौधरी प्रेमघन, प्रतापनारायण मिश्र, ठाकुर जगमोहन सिंह, अंबिकादत्त व्यास, राधाचरण गोस्वामी, मोहनलाल विष्णु लाल पंड्या, काशीनाथ खत्री, राधाकृष्णदास आदि प्रमुख हैं। स्वयं भारतेंदु अपने परिवेश को अन्तरप्रान्तीय बनाना चाहते थे। चंद्रिका के सहायक संपादकों में ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, बंगाल, दामोदरशास्त्री, बिहार, राधाकृष्ण, लाहौर, नवीनचन्दराय, पंजाब, आदि का नाम छपता था। इससे भारतेंदु के व्यापक भारतीय दृष्टिकोण का पता चलता है।

अपनी इस व्यापक चेतना के फलस्वरूप उन्होंने हिन्दी गद्य को अनेक रूपों—निबंध, नाटक, उपन्यास, यात्रा-वर्णन, इतिहास आदि में ढाला। उनके सहयोगियों ने भी अपने ढंग से उनका हाथ मजबूत किया। इन लेखकों में विषय संबंधी एकरूपता का पाया जाना स्वाभाविक है, क्योंकि वे सभी एक ही युग-चेतना के सूत्र में बँधे थे। पर अपनी वैयक्तिक विशिष्टता के कारण वे एक दूसरे से काफी भिन्न भी थे।

भारतेंदु सही अर्थ में आधुनिक हिन्दी गद्य के जन्मदाता हैं। निबंध तो आधुनिक गद्य की अपनी खास चीज है। कविता और नाटक की अपनी ही परंपरा कम दीर्घ नहीं है। उपन्यास और कहानी-लेखन के मूल में बँगला की प्रेरणा हो सकती है पर निबंध उस समय की उस वैयक्तिक स्वच्छंदता की देन है जो उस ऐतिहासिक परिवेश के कारण उत्पन्न हुई थी। इसीलिये अपने विचारों और

मान्यताओं को जितने खुले और वैचिव्यपूर्ण ढंग से उन लोगों ने निबंधों में व्यक्त किया उतने खुले ढंग से अन्य किसी रचना-प्रकार के माध्यम से नहीं।

भारतेंदु के पूर्व हिन्दी निबंध के नाम पर कुछ धार्मिक उपदेश, प्रवचन, सिद्धांत-परिचय तो मिल जाता है पर साहित्यिक निबंध नहीं मिलता। भारतेंदु के निबंधों में उनकी प्रगतिशील मान्यताएँ, व्यंग्य-विनोद, उदारता, सजीवता सब कुछ के दर्शन होते हैं। निबंध चाहे ऐतिहासिक हो अथवा गवेषणात्मक, सामाजिक हो अथवा यात्रापरक, सर्वत्र उनके व्यक्तित्व की झाँकी देखी जा सकती है जो अपनी व्यापकता में संपूर्ण युग-चेतना को समेटे हुए है। अकबर और औरंगजेब का तुलनात्मक निबंध अकबर की ओर उनके झुकाव का द्योतक है। 'स्वर्ग में विचार सभा का अधिवेशन' में स्वामी दयानंद और केशवचन्द्र सेन के संबंध में जो रिपोर्ट प्रस्तुत की गई है उसमें केशवचन्द्र को अधिक उदाराशय और आत्म-निरपेक्ष बतलाया गया है। यह भी उनके अधिक उदारवादी और प्रगतिशील होने का ही प्रमाण है।

नई चेतना के फलस्वरूप उन्होंने मरणोन्मुखी रूढ़ियों को सर्वत्र झटका दिया है। काशी नामक निबंध में हिन्दुओं के अंधविश्वास और अज्ञान का बुरी तरह पर्दाफाश किया गया है। तदीय सर्वस्व अस्पृश्यता और बाह्याडंबर का उद्‌घाटन करने में किसी तरह की कोर कसर नहीं करता। बलिया के व्याख्यान में उन्होंने मुसलमानों की संकीर्णताओं पर भी गहरा प्रहार किया है। यात्रा-वर्णन के बीच-बीच जहाँ कहीं उन्हें अवकाश मिला है रूढ़ियों पर चोट करने से वे बाज नहीं आए हैं। एक व्यक्ति का पिता पानी में डूबकर मर गया है। पंडित जी ने जिस मंत्र से पिंडा कराया उसका उल्लेख भारतेंदु ने यों किया है—'आर गंगा पार गंगा बीच में पड़ गई रेत। तहाँ पर गए गाय का चले बुजबुला देत। धर दे पिंडवा।' 'सबै जात गोपाल की' शीर्षक से ही जातिपाँति के विभेद का विरोध किया गया है।

अपने देशवासियों के अज्ञान, संकीर्णता आदि की घोर भर्त्सना करते हुए वे उन्हें जगाने का प्रयास भी करते हैं। 'भारतवर्ष की उन्नति कैसे हो सकती है' में वे लिखते हैं—'वैसे ही हिन्दुस्तानी लोगों को कोई चलानेवाला हो तो ये क्या नहीं कर सकते? इनसे इतना कह दीजिए 'का चुप साधि रहा बलवाना' फिर देखिए हनुमान जी को अपना बल कैसा याद आता है।' यह कार्य स्वयं भारतेंदु कर रहे थे। उन्होंने उसी में और आगे कहा है—'जो लोग अपने को देश हितैषी लगाते हों, वह अपने सुख को होम करके अपने धन और मान का बलिदान करके कमर कस के उठो। देखा देखी थोड़े दिनों में सब हो जायगा—जब तक सौ दो सौ आदमी बदनाम न होंगे, जात से बाहर न निकाले जायेंगे, दरिद्र नहीं

जायंगे, कैद न होंगे वरंच जान से न मारे जायेंगे तब तक कोई देश नहीं सुधरेगा।" वस्तुतः यह सुधार की बात नहीं बल्कि एक क्रांतिकारी परिवर्तन का द्योतक है। देश की गरीबी, कर-क्लेश, अपने देश की बनी हुई वस्तुओं के उपयोग का उल्लेख तो उन्होंने जगह-जगह किया है।

'जातीय संगीत' नामक निबंध में पुस्तक लिखने के लिए अनेक विषयों का निर्देश किया है जो तत्कालीन जागरूकता का प्रमाण है—बाल्य निकेतन, जन्मपत्री की विधि, बालकों की शिक्षा, अंग्रेजी फैशन, स्वधर्म चिंता, भ्रूण-हत्या और शिशुहत्या, फूट, बैर, मैत्री और ऐक्य, बहुजातित्व और बहुभक्तित्व, योग्यपूर्वज आर्यों की स्तुति, जन्मभूमि, आलस्य और संतोष, व्यापार की उन्नति, नशा, अदालत, हिन्दुस्तान की वस्तु हिन्दुस्तानियों को व्यवहार करना, भारतवर्ष के दुर्भाग्य का वर्णन। ये विषय स्वयं भारतेंदु की चतुर्मुखी जागरूकता के परिचायक हैं। इनमें से कुछ विषय शिक्षात्मक हैं पर अधिकांश जन्मभूमि तथा उसकी समस्याओं से संबद्ध हैं। सच पूछिए तो भारतेंदु के निबंध, नाटक, काव्य सभी कुछ इन्हीं विषयों को दृष्टि में रखकर लिखे गए हैं, अतः वे सोद्देश्य हैं।

भारतेंदु ने सतर्कतापूर्वक अपने पूर्ववर्ती गद्य की त्रुटियों का भरसक परिहार किया। यों तो आवश्यकतानुसार भाषा का परिष्कार-संस्कार होता चला आ रहा था। राजा शिवप्रसाद ने राजाभोज का सपना में जिस पुष्ट भाषा-शैली का व्यवहार किया था अथवा राजा लक्ष्मण सिंह ने अपने अनुवादों में भाषा-शैली की जो सरसता उत्पन्न की थी वह इस बात का द्योतक है कि भारतेंदु के पूर्व हिन्दी गद्य का निखार हो चला था, पर भारतेंदु ने उसे व्यवस्था देकर आगे बढ़ाया भारतेंदु को अनेक विषयों पर सोद्देश्य लिखना था, उक्त दोनों अनुवादों में पूर्व निश्चित विचारों और भावों को ढालना था। पर हरिश्चन्द्र को दोनों दृष्टियों से मौलिक प्रयास करना था। उन्हें अपने विचारों को जन साधारण तक पहुँचाना था, उनको जगाना था, उनमें पूर्ण चेतना को विकसित करता था। इसलिये उनकी शैली पर व्याख्यानात्मकता की छाप साफ देखी जा सकती है। किन्तु यह धार्मिक व्याख्यानों से भिन्न है क्योंकि इसमें लेखक का व्यक्तित्व भी किन्हीं अंशों में प्रतिफलित हुआ है।

भाषा के संबंध में जो आदर्श[१] उन्होंने प्रस्तुत किया है, यद्यपि उसका निर्वाह

१—'पर मेरे प्रीतम, अबतक घर न आए क्या उस देश में बरसात नहीं होती या किसी सौत के फेर में पड़ गए कि इधर की सुध ही भूल गए। कहाँ तो वह प्यार की बातें कहाँ एक संग ऐसा भूल जाना कि चिट्ठी भी न भिजवाना। हाँ मैं कहाँ जाऊँ कैसी करूँ मेरी तो कोई रोनी मुँहबोली सहेली नहीं कि उससे दुखड़ा रो सुनाऊँ कुछ इधर-उधर की बातों से ही जी बहलाऊँ।—हिन्दी भाषा

वे सर्वत्र नहीं कर सके फिर भी भरसक उसको पूरा करने के लिए प्रयत्नशील रहे। सामान्यत: उनके वाक्य छोटे, व्यंजक और भावपूर्ण होते हैं। भाषा की यह सफाई और सरसता उनके समसामयिक किसी अन्य लेखक में नहीं मिलेगी। हास्य और व्यंग्य के लिए उनका 'अद्‌भुत अपूर्व स्वप्न' देखा जा सकता है। मुहावरों और लोकोक्तियों ने भाषा को काफी सप्राण बना दिया है।

प्रतापनारायण मिश्र (१८५६-१८९४ ई०) को साहित्य के क्षेत्र में लाने का प्रमुख श्रेय भारतेंदु हरिश्चन्द्र की कविवचन सुधा को है। वे विद्यार्थी-काल में ही भारतेंदु की रचनाएँ पढ़ा करते थे। कानपुर के ललित जी के संसर्ग से उनमें साहित्य के प्रति अभिरुचि जगी। भारतेंदु और मिश्र जी ही ऐसे व्यक्ति थे जिन्हें प्रकृति से स्वच्छन्दतावादी कहा जा सकता है। भारतेंदु तो अपने अभिजात्य संस्कारों के कारण बहुत कुछ संयमित थे। पर मिश्र जी पर ऐसा कोई संस्कार नहीं था। वे अपने ही रंग में मस्त रहने वाले व्यक्ति थे। ब्राह्मण पत्र के माध्यम से उन्होंने गद्य रचना के अनेक रूपों—निबंध, नाटक, कथासाहित्य आदि को समृद्ध किया। निबंधों के लिए उन्होंने जो विषय चुने वे उनकी मनमौजी प्रकृति के सर्वथा अनुकूल हैं। बेगार, रिश्वत देशोन्नति बर्षारंभ, टेढ़जानि शंका सब काहू, मुच्छ, इनकम टैक्स, देशी कपड़ा, पतिव्रता, दबी हुई आग, धरतीमाता, गोरक्षा, बज्रमूर्ख, पुलिस की निंदा क्यों की जाती है। भेड़ियाधसान, छल, विलायत यात्रा, सुचाल शिक्षा आदि को उदाहरणों के रूप में पेश किया जा सकता है यद्यपि उनके बहुत से निबंध शुद्ध शैक्षणिक हैं पर इस युग से ये ही ऐसे निबंधकार हैं जिनके प्रत्येक निबंध में इनका व्यक्तित्व अत्यंत सहज ढंग से अनिवार्यत: अभिव्यक्त हो उठा है। भारतेंदु के प्रत्येक निबंध में ऐसी बात नहीं मिलेगी। युग-चेतना की अभिव्यक्ति उन्होंने अपेक्षाकृत अधिक स्वच्छन्द ढंग से की है। भारतेंदु जिस शिष्ट समाज में उत्पन्न हुए थे उसकी छाप उनपर सर्वत्र दीख पड़ती है, इसलिए उनमें एक प्रकार का संयम दिखाई देता है, उनकी चुटकी अधिकांश स्थलों पर मीठी है। पर प्रतापनारायण मिश्र सामान्य घर के थे, गाँव की बेतकल्लुफी उनके विचारों और शैली दोनों में मिलेगी। उनके व्यंग्य की तलखी जी को तिलमिला देनेवाली होती है, उनका खरापन अपनी पैनी धार के लिए प्रसिद्ध रहेगा। अपनी बात को पाठकों तक पहुँचाने में—बिना किसी प्रयास के पहुँचाने में—वे सिद्ध हैं। भारतेंदु के सहयोगियों में किसी के निबंध में व्यक्तित्व की इतनी गहरी अभिव्यक्ति नहीं पाई जाती।

भाषा और शैली में नागरकता खोजनेवाले साहित्य रसिकों को मिश्र जी से निराशा ही हाथ लगेगी, पर जो लोग उनकी निर्बंधता को, उनके व्यंग्य और

विनोद को, उनकी बेतकल्लुफी को अकृत्रिम ढंग से व्यक्त देखना चाहेंगे उनको आशातीत प्रसन्नता होगी। हिन्दी की गद्य शैली को मिश्र जी की यह बहुत बड़ी देन है। जगह-जगह अशुद्ध शब्द प्रयोग से भाषागत तथा बैंसवाड़ी के प्रभाव से वाक्यगत दोष दिखाई पड़ते हैं। किंतु गाँव के अनेक मुहावरों और शब्दों ने भाषा की व्यंजकता को बढ़ाया ही है। केवल उदाहरण लीजिए—"उचित वक्ता भाई पूछते हैं, क्या प्रयागराज में अंगरेजी राज्य नहीं है? क्यों, क्या वहाँ चुंगी नहीं है? क्या वहाँ उरदू नहीं है? क्या वहाँ दरिद्र नहीं है? क्या वहाँ शराब नहीं है? क्या वहाँ गोरे रंग का अयोग्य पक्षपात नहीं है?—कान्यकुब्ज प्रकाश से कहो रँडरोना बंद करें। जल्दी समाज का ढंचर बदल डालिए. जल्दी कीजिए नहीं निश्चय कुशल नहीं है।"

रँडरोना शब्द किसी शहराती को देहाती लग सकता है, पर क्या इसकी व्यंजना और किसी शब्द से की जा सकती है? उनकी शैली वार्तालाप के अधिक निकट है, जो निबंध-निबंध की मूलभूत विशेषता है।

बालकृष्ण भट्ट (१८४५-१९१५)

भारतेंदु के समसामयिक निबंध-लेखकों में सच्चे अर्थ में दो ही निबंधकार थे—प्रतापनारायण मिश्र और बालकृष्ण भट्ट। दोनों के व्यक्तित्व में सादृश्य की अपेक्षा विसादृश्य अधिक है। मिश्र जी का व्यक्तित्व ग्राम्य था तो भट्ट जी का नागर। पहले में सरलता और मनमौजीपन था तो दूसरे में परिष्कृति और परिपक्वता। मिश्र जी कम पढ़े लिखे थे। पर भट्टजी संस्कृत के प्रकांड पंडित थे। उन्हें अंग्रेजी का भी अच्छा ज्ञान था। अनेक प्रकार के आर्थिक-सामाजिक संकटों के कारण उनकी वाणी में तल्खी आ गई थी। मिश्र जी में धार्मिक कट्टरता के कारण रूढ़िवादिता भी मिलती है पर भट्टजी रूढ़ियों के जानी दुश्मन थे।

भट्टजी का पहला निबंध कालिराज सभा १८७२ में कविवचन सुधा में छपा। १८७७ में उन्होंने हिन्दी प्रदीप का संपादन आरंभ किया। प्रदीप के मुखपृष्ठ पर छपा रहता था— शुभ सरस देश सनेह पूरित, प्रगट ह्वै आनन्द भरे।' इससे पत्र की नीति और भट्टजी के व्यक्तित्व दोनों का पता लगता है। अनेक प्रकार की कठिनाइयों का सामना करते हुए वे तैंतीस वर्षों तक उसे निरंतर निकालते रहे।

भारतेंदु और प्रतापनारायण मिश्र राजनीतिक मान्यताओं में उदारवादी या लिबरल कहे जा सकते हैं। वे देशभक्ति और राजभक्ति दोनों को एक साथ लेकर चलना चाहते थे। किन्तु भट्टजी को यह खिचड़ी नहीं पसन्द थी। हिन्दी लेखकों में वे पहले व्यक्ति हैं जिन्होंने इस नीति का स्पष्ट और तीखा विरोध

किया । वे देशभक्ति और राजभक्ति को एक दूसरे का विरोधी मानते थे। उन्होंने लिखा है—'हमारा कथन है कि राजभक्ति और प्रजा का हित दोनों का साथ कैसे निभ सकता है ? जिसे हँसना और गाल का फुलाना, बहुरी चबाना और शहनाई का बजाना एक संग नहीं हो सकता ऐसा ही यह भी असंभव और दुर्घट है। राजनीति में वे लोकमान्य तिलक के अनुयायी थे । अंग्रेजों को इतनी खरी खोटी न तो भारतेंदु सुना सके थे और न प्रतापनारायण मिश्र । साँप बन के काटना, और ओझा बन झारना यह हिकमत भार लोगों को ही मालूम हैं। अंग्रेज बाहर से भले भले लगें, हैं कुटिलता की खान ।' अंग्रेजी शासन की कटु आलोचना करने के साथ ही भट्टजी ने विदेशी शासन की विकृतियों को अपेक्षाकृत गहराई में बैठकर देखा । वे अपने युग के साहित्यकारों में सर्वाधिक व्यापक और गहन दृष्टि रखनेवाले व्यक्ति थे। सरकारी पिट्ठुओं के कट्टर शत्रु होने के कारण राजा शिवप्रसाद और सर सैयद अहमद खां को उन्होंने खूब आड़े हाथों लिया ।

जहाँ तक साहित्यिक निबंधों का प्रश्न है उनमें विविधता अधिक है। एक ओर वे मिश्रजी के टक्कर का व्यंग्य-विनोद प्रधान निबंध लिख सकते हैं तो दूसरी ओर गंभीर विश्लेषणात्मक निबंध। 'चलता है' निबंध का एक उद्धरण देखिए :—चलता है रांड का चरखा, वो भटियारिन का मुँह, बस जो चला काहे को रुकता है, कर्कशा लड़ाकिन मेहरियों की जुबान, एक-एक मुँह में सौ सौ गाली, जबान क्या कतरनी हो गई, आँधी हो गई, रेल का इंजन हो गई— किसी का मुँह चला तो किसी का हाथ चल निकला । दे तमाचा गालों में, चट दोनों झोंटि-झोंटि करते गटपट लड़ते-लड़ते लस्त हो गईं पर जबान न रुकी वाहरे चलने का जोश ।' फिर भी इसमें एक तरह की सुसंबद्धता और विश्लेषणात्मकता आ गई है। भय और समुचितादर, दृढ़ता, आत्मनिर्भरता, प्रेम और भक्ति ज्ञान और भक्ति स्पर्धा, प्रीति आदि उनके विश्लेषणात्मक और मनोवैज्ञानिक निबंध हैं जो आगे चलकर महावीर प्रसाद द्विवेदी, श्यामसुन्दरदास में विकसित हुए और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल में पूर्णता की उपलब्धि की । गद्यकाव्य के आद्याचार्य भी वे ही हैं। 'चन्द्रोदय' निबंध गद्य काव्य का ही नमूना है।

भाषा पर भट्ट जी का पूरा अधिकार था । विषय के अनुरूप भाषा का प्रयोग उनकी सामर्थ्य का द्योतक है । उनके निबंधों के प्रतिपादन का ढंग भी इतना सरस है कि पढ़ने में कथाओं-सा आनन्द आता है । विनोद और व्यंग्य तो उनकी लेखन-शैली के अभिन्न अंग हैं। उनके व्यंग्य प्रतापनारायण मिश्र की अपेक्षा अधिक चुटीले और कर्कश होते हैं। उर्दू के शब्दों का प्रयोग करने में इन्हें किसी प्रकार का संकोच नहीं होता। नहूसत, बदजायका, हिर्स, आदि सैकड़ों शब्दों के

प्रयोग मिलेंगे। कहीं कहीं तो अनुच्छेद के अनुच्छेद उर्दू शब्दावली से गुँथे रहते हैं।

जैसा कि मैंने पहले कहा है कि अर्थ-बोध की सुगमता के लिए ये कोष्ट में अंग्रेजी के शब्द जैसे फीलिंग, परसेप्शन रख देते हैं। कहीं-कहीं अंग्रेजी के शीर्षक तक रखे हुए हैं। इस प्रकार की शब्दावली का व्यवहार वे केवल मौज में आकर नहीं करते थे, प्रत्युत इसके पीछे तत्कालीन आवश्यकता की प्रेरणा थी। उस समय अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोगों के लिए हिंदी शब्दावली अपरिचित-सी थी। विशेष अर्थ-गर्भ शब्दों के स्पष्टीकरण के लिए उनका अंग्रेजी पर्याय देना आवश्यक था। कुछ विशेष लेखकों की बात जाने दीजिए जो अंग्रेजी शब्दों का व्यवहार केवल इसलिए करते हैं कि लोग जान लें अंग्रेजी में उनकी भी गति है।

भट्टजी की भाषा संबंधी देन अत्यन्त महत्वपूर्ण है, किंतु खड़ीबोली के आदर्श स्वरूप का निर्माण वे न कर सके। भाषा में पूर्वीपन का प्रयोग सर्वत्र मिलता है। उठाकर के स्थान पर उठाय, बैठाकर की जगह बैठाय प्रायः लिखा करते थे। कहीं-कहीं लिंग संबंधी अशुद्धियाँ भी मिलती हैं जैसे हमारी समाज आदि पर मुहावरों के प्रयोग में भट्टजी बड़े निपुण थे। इनके सभी लेखों में मुहावरों के प्रयोग से एक प्रकार की सजीवता आ गई है।

इन्होंने अपने संस्कृत ज्ञान का पूरा पूरा उपयोग किया है। निबंधों के बीच बीच में संस्कृत के श्लोक उद्धृत कर अपने विचारों को शास्त्र तथा पुराने विद्वानों के विचारों के मेल में रख कर उनकी अच्छी तरह से पुष्टि करते जाते हैं। यथा-स्थान हिंदी के दोहे और चौपाइयों का उद्धरण भी दे देते हैं। अरबी-फारसी के शेर और मिसरे रखने में भी उन्हें किसी तरह की हिचकिचाहट नहीं प्रतीत होती।

उपाध्याय पंडित बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' (१८५५–१८९४) ने अपने पत्र आनंद कादंबिनी और 'नागरी नीरद' में अनेक लेख लिखे। वे भारतेंदु के विचारों के पूर्ण समर्थक थे। उन्होंने अपने कई लेखों में अंग्रेजी नीति का भंडाफोड़ किया है। उन्होंने साफ कहा है कि अंग्रेजी राज्य में कर के कारण जो क्लेश किसानों को अब सहना पड़ा है वह पहले मुसलमानों के राज्य में न था। आनन्द कादंबिनी का 'नवीन संवत्सर' तो मानो उनकी कूटनीति के पर्दाफाश के निमित्त ही लिखा गया था। अंग्रेजों की कथनी और करनी का भेद उसमें अच्छी तरह उद्घाटित किया गया है। पर उनके गद्य में रीति तत्व कम नहीं है। यह तत्त्व उनकी रहन-सहन, वेषभूषा, आकृत्ति-प्रकृति में ही थी और साहित्य सेवा को उन्होंने स्वांतःसुखाय स्वीकार किया था। ऋतुवर्णन संबंधी निबंध में नायिकाओं की मनोदशाओं का वर्णन उनकी उसी मनोवृत्ति का सूचक है। भाषा संबंधी

अलंकृति रईसों की अलंकृति ही थी। सानुप्रास और चामत्कारिक पदावली पूर्ण भाषा की ओर उनकी विशेष रुझान थी। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने उनके पैचीलें मजमून की जो शिकायत की है वह यथार्थ है। इनके अतिरिक्त हरिश्चन्द्र उपाध्याय, विनायक शास्त्री वेताल, अंबिकादत्त व्यास, राधाचरण गोस्वामी, मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या, भीमसेन शर्मा आदि ने भी हिन्दी निबंध के विकास में यथाशक्ति योग दिया।

अनेक प्रकार के विचारों की अभिव्यक्ति का फल यह हुआ कि हिन्दी निबंध की बहुत सी शैलियाँ चल निकलीं। निबंध तथा विचारात्मक-विश्लेषणात्मक निबंधों की चर्चा की जा चुकी है। भारतेंदु के चन्द्रोदय, सूर्योदय तथा भट्टजी के चन्द्रोदय निबंधों ने भावात्मक निबंधों का मार्ग प्रशस्त कर दिया। वर्णनात्मक निबंध लेखकों में भारतेंदु तथा हरिश्चन्द्र उपाध्याय प्रमुख थे। इस समय ज्ञान-विज्ञान की कतिपय शाखाओं पर भी निबंध प्रस्तुत किए गए।

नाटक

नाटक दृश्य-श्रव्य काव्य है, इसलिए यह लोक-चेतना से अपेक्षाकृत अधिक घनिष्ठ रूप से संबद्ध है। जिस प्रथम प्रकरण का उल्लेख नाट्यशास्त्र में आता है उसके लेखन और अभिनय का मूल प्रेरक है– लोक चेतना। भारतेंदु तथा उनके सहयोगियों ने इस चेतना के प्रसार के लिए नाटक को अत्यंत उपयोगी माध्यम समझा। इसलिए स्वाभाविक था कि नाटकों में उस युग की अनेक समस्याओं को अभिव्यक्त होने का अच्छा अवसर मिलता।

पर निबंध साहित्य से नाट्य साहित्य की स्थिति भिन्न थी। हिन्दी निबंधों के पूर्व हमारे यहाँ इस तरह की कोई परंपरा नहीं थी, अतः उसका विकास सर्वथा स्वतन्त्र रूप से हुआ। लेकिन इस देश में नाटक की अति दीर्घ परंपरा के रहते हुए हिन्दी नाटक का उससे कुछ ग्रहण न करना असंभव था। इसलिए इस रचना-प्रकार में समन्वय और अन्तर्विरोध दोनों ही अधिक दिखाई पड़ते हैं।

हिन्दी नाटकों को संस्कृत नाटक की जो ह्रासोन्मुखी परंपरा विरासत में मिली उसे स्वस्थ नहीं माना जा सकता और भवभूति में जिस ह्रासोन्मुखता के बीज मिलते हैं, उनका विकास सन् ईसा की दसवीं शताब्दी के पश्चात् लिखे गए संस्कृत नाटकों में साफ परिलक्षित होता है। इस समय के अधिकांश नाटक शास्त्रीय अनुबंधों में विजड़ित पूर्व नाट्य कृतियों की विकृत अनुकृतियाँ मात्र हैं। मुरारि, राजशेखर, जयदेव और सेमीश्वर की नाट्य रचनाएँ इसी श्रेणी में आती हैं। मुरारि के अनर्घ राघव की कविता भी अत्यंत साधारण कोटि की है। राजेश्वर का बाल रामायण कथानक के अनगढ़पन तथा अनुपात

के अनौचित्य के कारण काफी कुख्यात हो चुका है। जयदेव का प्रसन्नराघव काव्योपजीवी, क्रियान्विति हीन तथा शिथिल है।

संस्कृत की इसी क्षयशील परंपरा में प्राणचन्द चौहान का रामायण नाटक (सं० १६६७) बनारसीदास का समयसार (सं० १६९३), रघुराज नागर का सभासार (सं० १७५७) और लछिराम का करुणाभरण (सं० १७७२) आता है। ब्रजभाषा के इन छन्दोबद्ध ग्रंथों को नाटक की श्रेणी में नहीं रखा जाना चाहिए। न तो काव्य की दृष्टि से इनका कोई मूल्य है और न नाटक की दृष्टि से। अनेक त्रुटियों के बावजूद भी रीवाँ नरेश विश्वनाथ सिंह (सं० १८४६-१९११) के आनन्द रघुनन्दन को हिन्दी का पहला नाटक माना जा सकता है। भारतेंदु हरिश्चन्द्र के पिता गोपालचन्द का नहुष (१८४१ ई०) भी आनन्द रघुनन्दन की भाँति ब्रजभाषा में ही लिखा गया है। खड़ीबोली में नाटक लिखने का सूत्रपात भारतेंदु ने ही किया। रंगमंचीय विशेषताओं को देखते हुए बंगीय नाटकों के लिए वैसा करना जरूरी है। हिन्दी नाटकों को पारसी रंगमंच का सामना करना था, उसके सामने अलग समस्या थी। लोक-नाटकों का साहित्यिक नाटकों से बादरायण संबंध स्थापित करना और यह दलील देना कि रासलीला, रामलीला, स्वांग, नौटंकी आदि हिन्दी नाटकों के पूर्व रूप हैं, अपने आप में रोचक होते हुए भी तर्कसंगत नहीं है। बँगला के गिरीशचन्द्र घोष (१८४४-१९११) ने यात्रा की कतिपय विशेषताओं को अपने नाटकों में ग्रहण किया, किंतु इसके आधार पर नहीं कहा जा सकता कि बँगला नाटक यात्रा का परिष्कृत रूप है। संस्कृत नाटकों की इतनी लंबी नाट्य परंपरा की उपेक्षा करते हुए लोक-नाटकों से संबंध स्थापन संभव भी नहीं था। भारतेंदु ने नाट्य सर्जना के लिए संस्कृत नाटकों के साथ पाश्चात्य नाट्य तंत्र को भी अपनाया। इस समय की माँग के अनुरूप नाटकों के प्राचीन ढाँचे में परिवर्तन करना आवश्यक था। भारतेंदु ने अपने नाटक निबंध में लिखा है—किंतु वर्तमान समय में इस काल के कवि तथा सामाजिक लोगों की रुचि उस काल की अपेक्षा अनेकांश में विलक्षण है, इससे संप्रति प्राचीन मत अवलंबन करके नाटक आदि दृश्य काव्य लिखना युक्तिसंगत नहीं बोध होता—नाटकादि दृश्यकाव्य प्रणयन करना हो तो प्राचीन समस्त रीति ही परित्याग करें यह आवश्यक नहीं है, क्योंकि जो सब प्राचीन रीति वा पद्धति आधुनिक सामाजिक लोगों की मतपोषिका होगी। वह सब अवश्य ग्रहण होगी—।'

यह नए युग का आग्रह था जो नाटक को पूर्ण रूप से साँचे में ढालना चाहता था और यह साँचा प्राचीनता के उत्कर्षपूर्ण तथा नवीनता के उपादेय तत्वों से निर्मित था। भारतेंदु ने देखा कि बँगला में नए ढंग के नाटकों का निर्माण हो रहा था,

यह अनुभव उन्हें जगन्नाथपुरी की यात्रा में हुआ और वे भी नाट्य रचना की ओर प्रवृत्त हुए ।

भारतेंदु ने अनुवाद करने के लिए जिन नाटकों का चुनाव किया, वह सोद्देश्य है रत्नावली के संबंध में निश्चयात्मक रूप से नहीं कहा जा सकता कि यह उन्हीं का अनुवाद है । यदि इसे उन्हीं का मान लें तो कहना होगा कि प्रकृति से ही सहृदय और रसिक होने के कारण उदयन की प्रेमकहानी में रस होना उनके लिए अस्वाभाविक नहीं था । अपने व्यक्तिगत सामंतीय संस्कारों के कारण इस दरबारी नाटक (कोर्ट-प्ले) में रुचि लेना भी उनके लिए असंगत नहीं कहा जा सकता । बाद में इसे बहुत उपयोगी न समझकर ही कदाचित् उन्होंने इसे पूरा न किया हो । मुद्राराक्षस (१८७८ ई०) संस्कृत का एक श्रेष्ठ नाटक है जो शास्त्रीय अनुबंधों को अतिक्रमित कर जाता है । इसका कथ्य तथा शिल्प दोनों नए युग के अनुकूल तथा आधुनिकता के मेल में है । नवागत युग के लिए भारतेंदु ने इसका अनुवाद श्रेयस्कर समझा । इस नाटक के उपसंहार में जिन गीतों का निर्देश किया गया है वे राष्ट्रीय चेतना के द्योतक हैं ।

बँगला नाटक 'विद्यासुन्दर' के छायानुवाद का मुख्य कारण है उसमें उठाई गई प्रेम-विवाह की समस्या । अंत में नायक का इसे बुरा कर्म बताना तथा नायिका का इसे अपराध कहना तत्कालीन सामाजिक बंधनों का परिणाम है । सत्य-हरिश्चन्द्र की सृजन प्रेरणा को किसी न किसी बाह्य सामाजिक स्रोत में ढूँढ़ निकालने का दावा करना दूर की कौड़ी लाना है । इसे छायानुवाद माना जाय या मौलिक कृति-यह विवाद भी कोई विशेष महत्व नहीं रखता । सच तो यह है कि जहाँ भारतेंदु ने अपने समाज की अनेक त्रुटियों को नाटक के माध्यम से हमारे सम्मुख रखा वहाँ वे उच्चतर मानवीय आदर्शों को भी सामने ले आए । यह सत्य, त्याग, बलिदान के उच्चतर आदर्शों से अनुप्राणित है । इनके अतिरिक्त कर्पूर-मंजरी तथा प्रबोध चन्द्रोदय के एक खंड दृश्य का अनुवाद पाखंड विडंबन शीर्षक से किया है । पाखंड-विडंबन में मदिरा-सेवन पर प्रकारान्तर से व्यंग्य किया गया है । धनंजय-विजय का कथानक तो पुराना ही है पर भरतवाक्य में भारतेंदु ने जो परिवर्तन किया है, वह उनकी आधुनिकता का परिचायक है । इसमें राजा को मदहीन होने तथा कर में छूट करने की कामना व्यक्त हुई है । शेक्स-पियर के मरचेंट आफ वेनिस के दुर्लभबंधु अनुवाद के मूल में उक्त नाटक की श्रेष्ठता के प्रति उतना आकर्षण नहीं है जितना उसमें प्रतिपादित नीतिमत्ता के प्रति ।

उनके मौलिक नाटकों में वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति, प्रेमयोगिनी, विषस्य विषमौषधम्, चन्द्रावली, भारत दुर्दशा, अंधेर नगरी, नीलदेवी और सतीप्रताप

की गणना की जाती है। वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति (१८७२ ई०) एक प्रहसन है, जिसमें धर्म के नाम पर अनेक प्रकार के कुकृत्यों का मजाक उड़ाया गया है। अंधेर नगरी (१८८१) जैसा तीखा व्यंग्य इसमें नहीं है। इसमें राजकीय अस्तव्यस्तता का बड़ा ही जीवंत चित्र खींचा गया है। प्रेमयोगिनी अधूरी है। पर अपने अधूरेपन में ही यह एक अत्यंत सशक्त यथार्थवादी परंपरा को जन्म देती है। काशी के चार स्थानों में जुटने वाले भिन्न-भिन्न ढंग के व्यक्ति अपने कुत्सित व्यापारों की एकता में एक हैं। भारतेंदु के इस वर्णन से काशी के प्रति श्रद्धालुओं को बड़ा गहरा धक्का लगता है लेकिन धर्म-प्राण काशी का यह भी एक पहलू है। 'विषस्य विषमौषधम्' में देशी रजवाड़ों की दुष्प्रवृत्तियों का उद्घाटन करते हुए उन्होंने उनके समर्थक अंग्रेजों को भी विष ही माना है। 'भारत-दुर्दशा' में भारत की अधोगति का बहुत ही रोचक और यथार्थ चित्र प्रस्तुत किया गया है। चन्द्रावली प्रेमासक्ति का श्रेष्ठ उदाहरण है। नीलदेवी में भारतीय नारियों के वीरत्व, पातिव्रत्य आदि गुणों को उभारा गया है। सती प्रताप में सावित्री के माध्यम से एक उच्चादर्श की प्रतिष्ठा की गई है।

विषय-वस्तु के साथ-साथ नाट्यतंत्र के प्रति भी भारतेंदु ने आधुनिक दृष्टिकोण ही अपनाया। नाटक नामक निबंध में उनका कहना है कि 'अब नाटक में कहीं आशीः प्रभृति नाट्यालंकार, कहीं प्रकरी, कहीं संफेट, कहीं पंचसंधि वा ऐसे ही अन्य विषयों की कोई आवश्यकता नहीं रही। संस्कृत नाटक की भाँति हिन्दी नाटक में इनका अनुसंधान करना, वा किसी नाटकांग में इनको यत्नपूर्वक रखकर हिन्दी नाटक लिखना व्यर्थ है—। प्रेम जोगिनी के पारिपार्श्वक का कथन भी इसके अनुकूल है—उसके खेलने से लोगों को वर्तमान समय का ठीक नमूना दिखाई पड़ेगा और वह नाटक भी नई-पुरानी दोनों रीति मिल के बना है। वस्तुतः समय का ठीक नमूना प्रस्तुत करने के लिए ही उन्होंने अधिकांश नाटक लिखे।

अपनी सांस्कृतिक परंपरा के प्रति पूर्णतः निष्ठावान रहते हुए उन्होंने सामान्य जीवन के विविध पात्रों—दलाल, गंगापुत्र, गड़ेरिया, कुंजड़िन, कवि, एडिटर—को अपने नाटकों में यथार्थ रूप में चित्रित किया है। भारत दुर्दशा में पूरा सुशिक्षित मध्यवर्ग ही पात्र है जिसे आगत संकट से देश का उद्धार करना है—इस सिलसिले में अधिक जिम्मेदारी कवि और एडिटर पर है, मुख्यतः एडिटर पर। संपादक के इस दायित्व का बोध भारतेंदु तथा उनके सहयोगियों को अच्छी तरह ज्ञात था। वे स्वयं संपादक थे और उन्होंने राष्ट्रीय चेतना को जगाने में जो निःस्वार्थ प्रयत्न किया वह बाद में बहुत कम देखा गया। अपने विचारों को नाटक के माध्यम से जनता तक पहुँचाने के लिए उन्होंने कई नाट्यसंस्थाएँ भी

स्थापित कीं जो समय-समय पर नाटकों को रंगमंच पर उतारा करती थीं। पारसी नाटक कंपनियों के कुरुचिपूर्ण और असामाजिक भावनाओं के परिहार का प्रयास भी उन्होंने इसी माध्यम से किया।

उस युग में इतना प्राणवान, जिन्दादिल, प्रबुद्ध और जागरूक दूसरा व्यक्तित्व नहीं मिलेगा। उन्होंने जिस महान् उद्देश्य से चालित होकर साहित्य सेवा का कार्य अपने हाथों में लिया था वह असि-धारा-व्रत की तरह अत्यंत दुस्तर था। इसका मूल्य भी उन्हें कम नहीं चुकाना पड़ा। बड़े-बड़े सत्ताधारियों ने उनके विरुद्ध क्या-क्या षड्यंत्र नहीं किए, ब्रिटिश महाप्रभुओं ने उन्हें डराने धमकाने में क्या-क्या हथकंडे नहीं अपनाए, पर हरिश्चन्द्र अपने सत्य विचारों से कभी नहीं डिगे। जो कुछ उन्होंने उचित समझा, ठीक समझा, देश और जन-कल्याण के अनुकूल समझा उसे डंके की चोट कहा। उनका व्रत भी तो था—'पै दृढ़व्रत श्री हरिचन्द को टरै न सत्य विचार।' यह केवल अयोध्या नरेश सत्यसंध हरिश्चन्द्र के संबंध में ही सत्य नहीं था, बल्कि स्वयं भारतेंदु के संबंध में उससे बड़ा सत्य था। इसे कुछ लोग भारतेंदु की गर्वोक्ति मानते हैं पर यही तो उनके जीवन का सत्य था, यही तो उनके जीवन की संपूर्ण साधना थी। अन्यथा भारतेंदु के स्थान पर वे भी सैयद अहमद की तरह सर होते।

नाटक की विविध दिशाएँ

इस काल के नाटकों की मूलवर्ती विषय वस्तु तत्कालीन युगसत्य से अनुप्राणित होने के कारण पुराने स्वस्थ आचार-विचारों को परिगृहीत तथा नवीन मूल्यों को प्रस्थापित करने की ओर विशेष रूप से रही है। यह प्रवृत्ति रोमांटिक, सामाजिक, ऐतिहासिक, पौराणिक, राष्ट्रीय और व्यंग्यात्मक (प्रहसन) नाटकों में सर्वत्र परिलक्षित होती है।

रोमैंटिक नाटकों में श्रीनिवासदास (१८५१-१८८७) का रणधीर प्रेममोहिनी (१८७७), किशोरीलाल गोस्वामी का मयंक मंजरी नाटक उल्लेख्य है। इनके प्रणयन के मूल में आर्य चरित्र शोधन की भावना ही मुख्य रूप से क्रियाशील थी। इसका फल यह हुआ है कि दोनों में उपदेशों की भरमार हो गई है। गोस्वामी जी के उपदेश तो अपने केंद्रीय उद्देश्य-सतीधर्म की मर्यादा से संबद्ध हैं पर श्रीनिवास जी दुनिया भर के उपदेशों को एक ही स्थान पर एकत्र कर देना चाहते हैं।

पर विषय और विधान की दृष्टि से ये सर्वथा रोमैंटिक हैं। रणधीर और वीरेन्द्र अद्भुत साहसी और पराक्रमी हैं। अपनी प्रेमिकाओं को प्राप्त करने के

लिए वे जिस साहस का परिचय देते हैं वह मध्यकालीन शौर्य की याद दिलाता है। बीच-बीच में कतिपय समसामयिक समस्याओं का भी सन्निवेश कर लिया गया है जैसे अमीर और गरीब का भेद, राजाओं का अत्याचार आदि। किंतु अभी तक रीतिकालीन वातावरण से पीछा न छूट पाने के कारण सभी प्रमुख पात्रों में छिछोरापन आ गया है। रणधीर प्रेममोहिनी को दुखान्त और वीरेन्द्र-मोहिनी को सुखान्त कहा जा सकता है।

रणधीर प्रेममोहिनी का कथानक शिथिल, अगतिपूर्ण तथा संवाद अनावश्यक रूप से लंबे हैं। पात्रानुकूल विभिन्न प्रकार की भाषाओं का प्रयोग इसे एक ऐसा अजायबघर बना देता है कि पाठक के पल्ले कम ही पड़ पाता है। 'मयंक मंजरी' का कथानक अपेक्षाकृत चुस्त तथा कार्य-कारण की शृंखला सुसंबद्ध है। इस नाटक की सबसे बड़ी त्रुटि है कि वह कविताओं से भरा पड़ा है जिससे नाटक के प्रवाह में काफी बाधा पड़ती है। मयंक मंजरी का नायक वीरेन्द्र तो रीतिकाल के पिछले खेवे की कविताओं में वर्णित नायक का रोल अदा करता दिखाई पड़ता है। अपने कथोपकथनों द्वारा वह शोहदा प्रतीत होने लगता है। दोनों नाटकों की नायिकाएँ टिपिकल रीतिकालीन हैं जो चुहलबाजी, छेड़छाड़, तीरे-नजर और इशारेबाजी की कला में प्रवीण हैं। हाँ, इनका प्रेम ऐकान्तिक और एकनिष्ठ है। सब मिलकर तंत्र और प्रतिपाद्य दोनों में ये रोमैंटिक हैं।

दोनों नाटक तंत्रीय दृष्टि से अंग्रेजी नाट्यकला के अधिक समीप हैं। रण-धीर और प्रेममोहिनी नाम ही रोमियो एण्ड जुलियट की ओर ध्यान ले जाता है। मयंक मंजरी में एक अंक में एक ही दृश्य रखा गया है। इस प्रकार की कला का जो श्रेय लक्ष्मीनारायण मिश्र को दिया जाता है वह प्रथम प्रयोक्ता होने के कारण गोस्वामी जी को मिलना चाहिए। अमानसिंह गोठिया का मयंक मंजरी भी इसी के अन्तर्गत माना जायगा।

ऐतिहासिक रोमांस

ऐतिहासिक रोमांसों को नाटक की विषय-वस्तु बनाने का मूल उद्देश्य अपने पूर्वजों के विस्मृत गौरव का स्मरण दिलाकर तत्कालीन समाज को आत्मगौरव का बोध कराना था। इस प्रकार के नाटक भारतेंदु की नीलदेवी की परंपरा में लिखे गए। पर राधाकृष्णदास के 'महाराणा प्रतापसिंह' के अतिरिक्त एक भी अन्य नाटक उल्लेखनीय नहीं कहे जा सकते। श्री निवासदास का संयोगिता स्वयंवर, काशीनाथ खत्री (१८४९-१८९१) का 'सिंधुदेश की राजकुमारियाँ' और 'गुन्नौर की रानी', राधा कृष्णदास का 'महारानी पद्मावती' आदि केवल नाम के ऐति-हासिक नाटक हैं।

नाट्यतंत्र की दृष्टि से 'महाराणा प्रताप सिंह' में कई खामियाँ है। नाटक का द्वितीय अंक कथावस्तु का अनिवार्य अंग नहीं बन पाया है। गुलाबसिंह और मालती का प्रणय प्रसंग जो प्रासंगिक कथावस्तु के रूप में आता है मुख्य कथा का सहायक नहीं हो सका है। किंतु इसके संनिवेश से नाटकीय वातावरण रसमय जरूर बन गया है। फिर भी नाटककार के मुख्य उद्देश्य की सिद्धि में किसी प्रकार की बाधा नहीं पड़ती है। महाराणा के माध्यम से जो देश प्रेम तथा भामाशाह के अभूतपूर्व तथा अविस्मरणीय त्याग के जिस उत्कट आदर्श को प्रस्तुत किया गया है वह राष्ट्रीय चेतना को जागरित करने में बहुत ही सफल कहा जायगा।

प्रहसन

इस काल के निबंधों में व्यंग्य का जो पैनापन दिखाई पड़ता है वह प्रहसनों में भी दृष्टिगोचर होता है जिस उद्देश्य को लेकर, जिस लक्ष्य के लिए, लेखक साधना कर रहे थे, उसकी बहुत बड़ी पूर्ति प्रहसनों के माध्यम से हुई। उस संक्रांति काल में सामाजिक, सांस्कृतिक और वैचारिक परिवर्तन के लिए प्रहसन बहुत ही उपर्युक्त साधन था। इसलिए स्वाभाविक था कि लेखकों का झुकाव उस ओर होता। नई प्रगति की विरोधी सभी प्रकार की मनोवृत्तियों पर व्यंग्य किया गया, फलस्वरूप घिसी पिटी रूढ़िग्रस्त मान्यताओं, अंध विश्वासों आदि को प्रहसनकारों ने अपने व्यंग्य का लक्ष्य बनाया। पाश्चात्य भाषा और संस्कृति में रंगे हुए लोगों की भी अच्छी खबर ली गई।

राधाचरण गोस्वामी (१८५८-१९२५) और खड्गबहादुर मल्ल (१८५३-१८८९ ई०) इस काल के प्रमुख प्रहसनकार थे। गोस्वामी जी वृन्दावन के प्रतिष्ठित गोस्वामियों में थे और उनकी छद्मलीलाओं से अच्छी तरह परिचित थे। 'तन मन धन की गोसाईं जी को अर्पण' में धर्मगुरुओं के व्यभिचारों की पोल खोलकर उनका पर्दाफाश किया गया है। 'बूढ़े मुँह मुँहासे' में परनारी गमन का दुष्परिणाम बतलाया गया है, इसमें प्रकारान्तर से हिन्दू मुस्लिम एकता की ओर भी संकेत किया गया है। गोस्वामी जी ने वृन्दावन से भारतेंदु नामक एक पत्र भी निकाला था। खड्गबहादुर मल्ल मझौली के महाराजकुमार थे। बांकीपुर के खड्गविलास प्रेस की स्थापना उन्हीं के नाम पर हुई थी। ठा० रामदीन सिंह के संपादकत्व में उन्होंने क्षत्रिय पत्रिका का संपादन भी किया था। 'भारत आरत' प्रहसन में उन्होंने शासकों और ओहदेदारों की दुर्वृत्तियों तथा शासितों की दुर्बलताओं पर गहरा व्यंग्य किया है। वैयक्तिक उन्नति के लिए भाषा और धर्म का परित्याग करनेवाले बंगाली बाबू की आत्मभर्त्सना देखते ही बनती है। अपनी भाषा की कदर्थना करनेवाले बंगाली बाबू से अंग्रेज मजिस्ट्रेट

कहता है, 'शूअर हम तुमसे अंगरेजी बोलना नई माँगता। अपना मुलुक की बोली बोलो।' पर आज भी ऐसे लोगों की कमी नहीं है जिन पर उक्त मंजिस्ट्रेट की गाली का कोई असर नहीं पड़ता।

देवकीनंदन के 'जयनाद सिंह' में ओझाई के विश्वासियों पर व्यंग्य किया गया है। गोपालराम गहमरी के 'देश दशा' में सरकारी अहलकारों की धाँधली को व्यंग्य का विषय बनाया गया है। अंबिकादत्त व्यास की 'देशी घी और चर्बी' व्यावसायिक कुरूपता का अच्छा नमूना है।

इन प्रहसनों में पूंजीपतियों, सरमायादारों, शासकों आदि को अवांछनीय तत्वों के रूप में अंकित किया गया है जो नवीन चेतना का द्योतक है। खड्गबहादुर मल्ल ने जमीन्दारों के मनमानेपन का संकेत देते हुए उन्हें वृश्चिक राशि का कहा है। टेकनीक की दृष्टि से इनका विशेष महत्व नहीं आँका जा सकता है।

सामाजिक-पौराणिक

सामाजिक नाटकों की केन्द्रीय समस्या नारी है, जो मुख्यतः सुधारवादी दृष्टिकोण से परिचालित है। इस तरह के नाटकों में बालविवाह, पर्दाप्रथा का विरोध तथा विधवा विवाह, स्त्री शिक्षा आदि का समर्थन किया गया है। बालकृष्ण भट्ट के 'जैसा काम वैसा परिणाम,' 'राधाकृष्णदास के 'दुःखिनी बाला' आदि नाटक ऐसे ही हैं। भट्टजी के नाटक में दृष्टिकोण की प्रौढ़ता तथा व्यंग्य का तीखापन मिलता है जो उनके व्यक्तित्व के अनुरूप है। राधाकृष्ण दास ने विधवा के स्वाभाविक शरीर धर्म को प्रस्तुत करते हुए दुःखिनी बाला लिखा था। पहले इसका नाम 'विधवा विवाह' नाटक था जिसकी श्यामा भ्रूणहत्या करती है, पर 'दुःखिनी बाला' में सरला विषपान द्वारा आत्महत्या कर लेती है। वस्तुतः विधवा-विवाह में यथार्थवादी दृष्टिकोण दिखाई पड़ता है जो समाज विरोधी होने के कारण बाद में दूसरी पुस्तक में बदल जाता है। अभी समाज इस तरह के नग्न यथार्थ को सहन नहीं कर सकता था, इसलिए उसे एक आदर्श की ओर मोड़ना पड़ा। बाद में चलकर समझौते की यही प्रवृत्ति प्रेमचन्द में आदर्शोन्मुखी यथार्थ के रूप में प्रकट हुई। लाला जवाहर लाल वैद्य का 'कमल मोहिनी भँवर सिंह' नाटक परनारी-गमन के विरोध में लिखा गया। गोपालराम गहमरी के 'विद्या विनोद' में ओझाई, अनमेल विवाह, बहु विवाह का विरोध तथा पातिव्रत्य का समर्थन किया गया है। नारी समस्या के भारतदुर्दशा के मेल में भारतोद्धार, भारत आरत, भारत सौभाग्य, देश-रक्षा आदि नाटक लिखे गए।

उपन्यास

इस कालावधि में हिन्दी उपन्यासों में मनुष्य के नए मानसिक विकास और अन्तर्विरोधों का इतिहास समाविष्ट है। आर्थिक व्यवस्था में उलटफेर,

प्रेस, समाचार पत्र, शिक्षा की व्यवस्था, नए व्यावसायिक वर्ग का उदय आदि के कारण जो मध्यमवर्ग उत्पन्न हुआ उसकी बहुमुखी तथा नई समस्याओं को अभिव्यक्त करने के लिए नवीन साहित्यिक विधा की आवश्यकता हुई। यह विधा उपन्यास थी।

इसके पूर्व की साहित्यिक विधाओं-काव्य, नाटक, आख्यायिका आदि-के रूपाकार काव्य रूढ़ियों से बँधे होने के कारण नए विषयों के अनुरूप नहीं थे। इन रूपाकारों में जीवन की विविधताओं को उनकी समग्रता में आकलित नहीं किया जा सकता। बहुआयामी जीवन को बाँधने के लिए ऐसी विधा की जरूरत थी जो स्वयं बहुआयामी हो। अर्थात् जिसमें काव्य, नाटक, आख्यायिका आदि का अन्तर्भाव होने के साथ और भी कुछ हो। उसका अपना निजी छंद हो किन्तु वह स्वच्छन्द हो।

पूर्ववर्ती विधाएँ बहुत कुछ अभिजातीय रूपाकारों, परम्परामुक्त मूल्यों सार्वभौम सत्यों को अभिव्यक्त करती आई थीं। उनमें वैयक्तिक अनुभवों के प्रकाशन का अवकाश नहीं था। उपन्यास सामूहिक अनुभवों के स्थान पर वैयक्तिक अनुभवों को तरजीह देता है। व्यक्ति अपने सामयिक परिवेश में अनुभव प्राप्त करता है। उपन्यासों में वैयक्तिक अनुभव, परिवेश के विस्तृत चित्रण के लिए भूमि मिली।

फारेस्टर इस समसामयिकता को 'लाइफ बाई टाइम' का नाम देकर कहता है कि इस विशेषता के कारण ही उपन्यास अन्य साहित्यिक विधाओं से अलग हो जाता है। व्यापक अर्थ में सामयिकता और साहित्य का समन्वित रूप पहले पहल इस विधा में ही मिला। दूसरे शब्दों में जीवन के यथार्थ को चित्रित करने के लिए नई विधा आविष्कृत हुई।

हिन्दी उपन्यासों का प्रारंभ जीवन के उपदेशमूलक यथार्थ चित्रण द्वारा होता है। पर अतिरंजनापूर्ण काल्पनिक जीवन के अयथार्थ रोमांस भी कम नहीं मिलते। इस प्रकार रोमांस-यथार्थ का अन्तर्विरोध इतिहास के नैरन्तर्य में ही पाया जाता है। रीतिकालीन प्रेम-कल्पनाओं से अभी पीछा नहीं छूट पाया था। क्रीड़ापरक प्रेम से उस समय के अनेक उपन्यास भरे पड़े हैं। उस समय सामंत-सरदारों को चमत्कृत किया जाता था तो इस समय जनता के एक व्यापक तबके को तिलस्मों और ऐयारों द्वारा चमत्कृत किया जाने लगा। पर रोमांस, उपदेश के भीतर से ही आगे चलकर यथार्थोन्मुखी उपन्यासों का विकास हुआ।

'परीक्षा-गुरु' (१८८२) जो हिन्दी का पहला उपन्यास स्वीकृत कर लिया गया है, मध्यवर्गीय जीवन से ही संबद्ध है। इसके पूर्व लिखे गए नारी शिक्षा विषयक ग्रन्थों को भी कुछ लोगों ने उपन्यास के खाते में डाल दिया है। 'देव-

रानी जेठानी की कहानी' (१८७०), 'वामाशिक्षक' (१८७२), 'भाग्यवती' (१८७७) ऐसी ही पुस्तकें हैं। भारतेंदु हरिश्चन्द्र की 'एक कहानी कुछ आप बीती कुछ जग बीती' में औपन्यासिकता की संभावनाएँ बताई जाती हैं। किंतु संभावनाओं के आधार पर कोई निर्णय नहीं किया जा सकता।

'परीक्षागुरु' के लेखक लाला श्रीनिवास दास राजा लक्ष्मणदास की कोठी के मुनीम-मैनेजर थे। बाद में वे म्युनिस्पिल कमिश्नर और आनरेरी मजिस्ट्रेट भी हुए। व्यापारी होते हुए भी वे साहित्य रचना में लगे रहते थे। इस उपन्यास की रचना के पहिले वे 'रणधीर प्रेममोहिनी' जैसा प्रसिद्ध नाटक लिख चुके थे। पर परम्परामुक्त प्रणाली से हटकर वे नई चाल की पुस्तक लिखना चाहते थे। इसका उल्लेख परीक्षागुरु की भूमिका में किया गया है।

इसे वे 'अनुभव द्वारा उपदेश मिलने की संसारी वार्ता' कहते हैं। 'संसारी वार्ता' से साफ जाहिर है कि इसे वे परियों, राजकुमारों, पशु-पक्षियों की अति-लौकिक कथाओं से अलग यथार्थ की भूमिका पर खड़ा करना चाहते थे। लाला जी ने इसे 'नावेल' भी कहा है। इसका मतलब है कि वे अंग्रेजी में लिखे गए उपन्यासों के ढर्रे पर उपन्यास लिखना चाहते थे।

भूमिका से ही पता लगता है कि उनके दिमाग में उपन्यास की योजना बन गई थी। इसमें परम्परा मुक्त सिलसिलेवार कथा नहीं कही गई है बल्कि उसमें आवश्यकतानुसार उलट-फेर किया गया है। पात्रों के स्वभाव, उनके पारस्परिक संबंधों को, यथासंभव विश्वसनीय बनाने की चेष्टा की गई है। बोलचाल की भाषा, पात्रों का काल्पनिक चित्रण, साकांक्षता आदि के सम्बन्ध में वे पहले ही से सतर्क थे। यही कारण है कि इसे हिन्दी का पहला उपन्यास कहा जाता है। 'देवरानी जेठानी की कहानी', 'भाग्यवती' आदि में ये औपन्यासिक तत्व नहीं मिलते।

इस उपन्यास में दिल्ली के एक ऐसे व्यापारी के सुधार की कहानी है जो कुसंग में पड़कर गुमराह हो गया था। इस माध्यम से लेखक जीवन के विविध प्रसंगों का आकलन कर उन्हें एक ढीले सूत्र में पिरोता है। लंबे-लंबे शिक्षा-मूलक प्रकरणों के कारण यह सूत्र और भी शिथिल और कमजोर हो जाता है। मुख्य कथा से असंबद्ध इन प्रकरणों के फलस्वरूप उपन्यास का कथानक बेहद बिखर गया है। अपनी बातों को पुष्ट करने के लिए बहुत सी ऐतिहासिक और उपदेशमूलक कथाएँ भी बीच-बीच में कह दी जाती हैं। और उपन्यास बहुत कुछ विश्रृंखलित हो जाता है। पर यह बिखराव एक ओर इस उपन्यास की संघटना संबंधी त्रुटि की सूचना देता है तो दूसरी ओर भावी उपन्यासों की संभावनाएँ भी रेखांकित करता है।

इसके चरित्र विभिन्न मनोवृत्तियों का प्रतिनिधित्व करते हैं। इसका नायक मदनमोहन मूलतः अच्छा होते हुए भी कुसंग के कारण अपना सब कुछ खो बैठता है। वह अव्यवस्थित, खुशामद-पसंद और प्रदर्शनप्रिय व्यक्ति है। वृज-किशोर नई रोशनी से प्रभावित, संयमी, विवेकवान, देशप्रेमी, अपनी भाषा, संस्कृति गत्यात्मक रीतिनीति का समर्थक है। मुंशी चुन्नीलाल और मास्टर शिम्भु-दयाल कुसंग के जीते-जागते स्वरूप हैं। जीवन की छोटी-मोटी और बुराइयों को उद्‌घाटित करने वाले ये चरित्र इतने आकर्षक नहीं बन पड़े हैं कि पाठकों के मन को रमा सकें। सुख, दुःख, प्रामाणिकता, सावधानी, सज्जनता जैसे विषयों पर जो विचार- विमर्श चलता है वह किताबी होने के कारण जी उबा देने वाला हो गया है।

जिस भारतीय पुनर्जागरण का प्रभाव भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की रचनाओं में-नाटकों और निबन्धों में-दिखाई पड़ता है उसकी छाप परीक्षागुरु पर भी है। 'निज भाषा उन्नति अहै सब उन्नति को मूल' की प्रतिध्वनि इस उपन्यास में भी सुनाई पड़ती है। नए ढंग की खेती और कल-कारखाने की उन्नति द्वारा देश को आधुनिक बनाने का मन्तव्य भी व्यक्त किया गया है। अंग्रेजों की नकल को निषिद्ध ठहराया गया है, देशी भाषा में शिक्षा देने पर जोर दिया गया है, अखबारों की कद्र न करने की गिला की गई है, पुरानी पीढ़ी की कर्मठता को अनुकरणीय बताया गया है। नए फैशन, विलासिता पर आक्रमण किया गया है। इस तरह उस युग को अपनी समग्रता में समेटने का जो प्रयास लाला जी ने किया है वह प्रशंसा के योग्य है। प्रेमचन्द ने जिसे आदर्शोन्मुख यथार्थवाद कहा है उसकी शुरुआत यहीं से होती है।

लाला जी अपने नाटक 'रणधीर-प्रेममोहिनी' में रोमैंटिक हैं तो 'परीक्षा-गुरु' में यथार्थपरक। जीवन के यथार्थ को व्यक्त करने के लिए उन्होंने औपन्या-सिक विधा को क्यों चुना? यह आकस्मिक नहीं है। उपन्यास मूलतः यथार्थ को आँकने वाली विधा है। नाटक की तरह यह भी मिश्रित विधा (कंपोजिट-आर्ट) है जिसमें कहानी, रेखाचित्र, निर्बंध निबंध, कथोपकथन, विवरण-वर्णन, नाटकीयता, काव्य सभी का समावेश होता है। यदि कथानक निर्माण में लाला जी रीतिमुक्त हो पाते, जैसा कि प्रत्येक अध्याय में कोई न कोई नीतिपरक पद्य लिखकर कथा को लक्षण-उदाहरण का नमूना बना दिया गया है, तो यह उपन्यास अधिक महत्वपूर्ण हो जाता।

बालकृष्ण भट्ट ने दो उपन्यास लिखे—'नूतन ब्रह्मचारी' (१८८७) और' सौ अजान और एक सुजान' (१८९२)। दोनों ही शिक्षोपयोगी कथाएँ हैं। दोनों में ही सत्संग की महिमा गाई गई है। 'नूतन ब्रह्मचारी' का विनायक अपने अच्छे

संस्कारों के कारण डाकुओं का हृदय परिवर्तन करता है। 'सौ अजान और एक सुजान' एक ऐसे सेठ की कहानी है जो कुसंग में पड़कर बिगड़ जाता है किन्तु सत्संग के कारण पुनः सुधर जाता है। 'परीक्षागुरु' की भाँति यह उपन्यास भी हिन्दी-संस्कृत के नीतिपरक उद्धरणों से भरा पड़ा है। इसकी भाषा अलंकृत है।

'नूतन ब्रह्मचारी' की भाषा में सहजता अधिक है—'इतनी बातचीत विनायक और उन तीनों आदमियों से बाहर हुई। विनायक आगे हुआ और वे लोग उसके पीछे-पीछे घर में चले। भीतर जाकर देखा तो घर में कोई बात अमीरी की नहीं, पर सफाई और सुथरापन हर वस्तु में झलकता है। भीतर जाकर उन दोनों साथियों को एक नाउम्मीदी सी हुई, क्योंकि जैसा बाहर से देखने में मकान भड़कीला मालूम होता था वैसा भीतर कुछ भी सामान न था।' इसमें कोई संदेह नहीं कि इसकी भाषा में जो प्रवाहमयता है वह 'परीक्षागुरु' में नहीं है। फिर भी यह अपेक्षाकृत सपाट उपन्यास है।

इन प्रारंभिक उपन्यासों को देखने से पता लगता है कि रईस वर्ग अपनी ऐय्याशी और अकर्मण्यता में किस प्रकार ढह रहा था। उसके स्थान पर कर्मण्य, क्रियाशील और नवीनयुगीन चेतना से संपृक्त पढ़ा-लिखा वर्ग उभड़ रहा था। नए समाज के निर्माण में आगे चलकर इसी वर्ग की भूमिका महत्वपूर्ण सिद्ध हुई।

महता लज्जाराम शर्मा के उपन्यास 'धूर्त रसिकलाल' (१८९९) में भी कुसंग में पड़कर एक बिगड़े हुए सेठ के सुधार की कहानी है। सेठ रसिकलाल के कुसंग में पड़कर मद्यपान, वेश्यागमन, जुआ आदि के कुटेवों में फँस जाता है। पर पत्नी के प्रभाव से अन्त में सुधर जाता है। महता के दूसरे उपन्यास 'स्वतंत्र रमा परतंत्र लक्ष्मी' (१८९९) में रमा और लक्ष्मी दोनों बहनें हैं—पहली पाश्चात्य संस्कृति में पली हुई स्वच्छन्द और दूसरी भारतीय संस्कृति में पली हुई संस्कारबद्ध। इसमें लक्ष्मी की शालीनता, पातिव्रत्य आदि को रमा की स्वच्छन्दतावादिता के विरोध में रखा गया है। इस तरह पाश्चात्य संस्कृति को भारतीय संस्कृति से हीन ठहराया गया है। पुनर्जागरण काल तथा बाद में भी भारतीय संस्कृति पर बल दिए जाने के फलस्वरूप इस तरह के उपन्यास आए। पर पाश्चात्य संस्कृति पर आक्रमण करने के सिलसिले में लेखक शृंगारिकता के अत्यन्त ओछे स्तर पर उतर आता है। आगे चलकर उन्होंने हिन्दू गृहस्थ, आदर्श दंपति, बिगड़े का सुधार, आदर्श हिन्दू आदि अनेक उपन्यास लिखे जिनमें मुख्यतः आदर्श हिन्दुत्व की स्थापना की गई है।

इस सिलसिले में राधाकृष्णदास का 'निस्सहाय हिन्दू' (१८८९) भी स्मरणीय है। इसमें गोवध समस्या और हिन्दुओं की निस्सहायता तथा मुसलमानों की

कट्टरता चित्रित है। अयोध्यासिंह उपाध्याय हरिऔध उपन्यास 'ठेठ हिन्दी का ठाट' (१८९९) और 'अधखिला फूल' (१९०७) में हिन्दू समाज में व्याप्त कुरीतियों और आदर्शों को चित्रित किया गया है। 'ठेठ हिन्दी का ठाठ' की नायिका जिस व्यक्ति से प्रेम करती है उससे उसका विवाह न होकर एक धनी किन्तु अशिक्षित और दुराचारी व्यक्ति से हो जाता है। प्रेमी अपने आदर्श प्रेम के रक्षार्थ नायिका के पति को अच्छी राह पर ले आता है। किंतु नायिका विरह में घुलकर समाप्त हो जाती है। वस्तुतः इसमें प्रेम की समस्या न होकर अनमेल विवाह की समस्या है क्योंकि वास्तविकता के रूप में इसी समस्या को लिया गया है और प्रेम आदर्श और उत्सर्गमूलक होकर रह गया है। 'अधखिला फूल' की देवदूती अपने सतीत्व की रक्षा करती हुई अपने संन्यासी पति को प्राप्त कर लेती है।

ठाकुर जगमोहन सिंह का उपन्यास 'श्यामास्वप्न' (१८८५) विवाह की परम्परामूलक धारणा का विरोध करते हुए प्रेम को वरीयता देता है। प्रेम के आगे वर्ण का मूल्य उन्हें मान्य नहीं है। अपने उपन्यास में उन्होंने ब्राह्मण कन्या श्यामा और क्षत्रिय राजकुमार श्यामसुन्दर के प्रेम का चित्रण किया है।

पर इस स्वच्छन्दतावादी प्रेम को जिस रूपाकार में व्यक्त किया गया है वह इसके अनुरूप नहीं है। वस्तुतः यह रीतिकाल का परकीया प्रेम है क्योंकि स्वच्छन्द प्रेम की अभिव्यक्ति रीतिबद्ध रूप (फार्म) में नहीं की जा सकती। लगता है नायिका के नखशिखवर्णन, आलिंगन-चुंबन, विरह-निवेदन, ऋतु-वर्णन के लिए विषय-वस्तु को माध्यम के रूप में चुना गया है। वस्तु और रूप का यह विरोध भी तत्कालीन मानस का विरोध है। नए विचार पुराने संस्कारों को बदल नहीं पाए थे। रीतिवादी ढाँचा स्वीकार कर लेने के कारण जगमोहन सिंह का स्वच्छन्द प्रेम औपन्यासिक न होकर वैचारिक बनकर रह जाता है। आचार्य शुक्ल ने उनके जिस प्रकृत-वर्णन की इतनी प्रशंसा की है वह उपन्यास के ढाँचे में किसी प्रकार अपनी सार्थकता नहीं सिद्ध कर पाता। यही नहीं कादंबरी की शैली पर प्रकृति का जो आलेख प्रस्तुत किया गया है वह उसकी मौलिकता के आगे प्रश्नचिह्न लगा देता है।

इसकी भाषा-शैली का एक नमूना लीजिए——

'उसकी कटि छटि कर छल्ला-सी हो गई थी। केहरी भी जिसे देख अपने घर की देहरी के बाहर कभी नहीं निकला, ऐसी सुकुमारी जो बार के भार से भी लचती थी ऐसी पतरी जो मुट्ठी में भी आ जाती थी। कई तो उसे देख भ्रम में पड़े थे कि लंक है कि नहीं या केवल अंग का ही शंक है। नव जोबन नरेश के प्रवेश होते ही अंग के सिपाहियों ने बड़ी लूटपाट मचाई........पर यह न जान पड़ा कि कटि किसने लूट ली।..........'

इस तरह के वर्णनों से उपन्यास भरा पड़ा है ; ये वर्णन रीतिबद्ध काव्य की कार्बन-कापी हैं। वस्तु-रूप का यह द्वैत सिंह जी के अपने संस्कारों और विचारों का भी द्वैत हो सकता है। दरबारी शैली में मुक्त भाव का अंट पाना संभव नहीं था।

श्यामास्वप्न के साथ, अंबिकादत्त व्यास के 'आश्चर्य वृतान्त' (१८९३) और ब्रजनन्दन सहाय 'सौन्दर्योपासक' (१९१२) की भी चर्चा की जाती है। 'श्यामास्वप्न' और 'आश्चर्य वृत्तान्त' में केवल इतना ही साम्य है कि दोनों स्वप्न कथाएँ हैं। आश्चर्य वृत्तान्त में एक व्यक्ति गया से काशी होते हुए चित्रकूट तक भ्रमण करता है। इसमें भी अलौकिक और विस्मयाविभूत कर देने वाले दृश्यों की योजना प्रचुर मात्रा में है। किन्तु इस बहाने वह भारतीय संस्कृति की प्रशंसा, और विदेशी रंग में रँगे शिक्षित जोरू के गुलाम की निन्दा करता है। इसका गद्य किंचित् भावी संभावनाएँ लिए हुए है।

'सौन्दर्योपासक' इस कालावधि में लिखा गया अकेला रोमैंटिक उपन्यास है। उसकी सौन्दर्योपासना में विवाह की समस्या नहीं है बल्कि उस चित्तवृत्ति की समस्या है जिसे प्रेम कहते हैं। इसके फलस्वरूप उसकी प्रिया और पत्नी दोनों का अवसान हो जाता है और प्रेमजन्य वेदना को ढोने के लिए वह अकेला शेष बचता है। विरहानुभूति की तीव्रता के कारण इसमें 'श्यामास्वप्न' की अलंकृति नहीं है।

सन् १८९१ ई० में 'चन्द्रकान्ता' के प्रकाशन के साथ देवकीनन्दन खत्री (१८६१-१९१३) तिलस्म का जो करिश्मा लेकर आए उससे हिन्दी उपन्यास के क्षेत्र में धूम मच गई। बहुत से लोगों ने 'चन्द्रकान्ता' पढ़ने के लिए ही हिन्दी सीखी। खत्री जी ने अपने समय के अर्धशिक्षित जनमानस को पहचाना और उनके मनोरंजनार्थ उपन्यास लिखे। उपदेश से परे शुद्ध मनोरंजन की चमत्कारपूर्ण सामग्री का पाठकों ने अपूर्व स्वागत किया।

पर प्रश्न होता है कि चन्द्रकांता, चन्द्रकांता संतति जैसे उपन्यासों की रचना क्यों हुई ? प्रेमचन्द के मतानुसार इस पर फारसी के तिलस्म होशरुबा का प्रभाव है। पर ऐसा लगता है कि इसमें अस्तोन्मुख सामंतीय वर्ग का अंतिम खेल चित्रित किया गया है। देवकीनन्दन ने भी प्रेमी-प्रेमिका का परिणय कराया है, सदाचारी पात्रों को पुरस्कृत और दुराचारी को दंडित कराया है। पर पाठकों के ऊपर तिलस्म के खेलों का ही प्रभाव शेष रहता है।

ऐयारों की बाजीगरी का सम्मोहन पाठकों को सहज ही मुग्ध कर लेता है। जिस तरह बाजीगर जमूरे को देखने-देखते अदृश्य कर देता है फिर दूसरे क्षण सामने खड़ा कर देता है, उसका सिर धड़ से अलग कर देता है, फिर जोड़ देता है

उसी प्रकार खत्री का ऐयार पाठकों को अनेक प्रकार के सब्जबाग दिखाता है। कभी वह तहखाने में बंद ऐयारों के दर्शन करता है, कभी गहन कांतारों, नदी-नालों, खोहों पहाड़ों की सैर करता है। कभी वह तहखाने में कैद नायिका को अंगूर खाते हुए देखता है तो कभी उसका शव देखता है फिर भी उसे जिन्दा पाता है। यह सब देखकर पाठक हक्का-बक्का हो जाता है।

इसमें युद्ध ऐयारी का होता है। मध्यकालीन शौर्य का स्थान ऐयारों ने ले रखा है। ऐयारों को तिलस्म का व्यूह तोड़ना पड़ता है। इस व्यूह की रचना अजीबोगरीब होती है। कहीं पत्थर की खूबसूरत पुतली है तो कहीं बेहोश कर देने वाली दीवाल, कहीं मसालों के बने साँप हैं, कहीं ऊपर से भहरा पड़ने वाले दरवाजे। इस भूलभुलैया में पड़ा पाठक भौचक्का हो जाता है। ऐयारी का बटुआ तो गजब की चीज है। उसमें एक दुनिया ही भरी रहती है। लखलखा इसी बटुए में पड़ा रहता है, बेहोश करने की बूटी भी इसी में मिल जायगी और अदृश्य बनाने वाला गुटका भी।

उन्होंने अपने उपन्यासों को विश्वसनीय बनाने की कोशिश भी की है। इस कोशिश का आधार था उनका अपना अनुभव। नौगढ़ में लकड़ी की ठेकेदारी करते समय वे पहाड़ी खोहों, दरियों, खंडहरों का अच्छा अनुभव प्राप्त कर चुके थे। इस अनुभव के आधार पर ही अपने वर्णनों को वे किंचित् विश्वसनीय बना सके हैं।

मध्यकाल में सुन्दरियों को प्राप्त करने के लिए राजपूतों में पारस्परिक युद्ध हुआ करता था। तिलस्मी उपन्यासों में भी राजकुमार सुन्दरी राजकुमारियों को प्राप्त करने का प्रयास करते हैं और सफल भी होते हैं। फर्क इतना है कि मध्यकालीन राजपूत राजे स्वयं लड़ते थे पर इन उपन्यासों के राजकुमारों की लड़ाइयाँ ऐयार लड़ते हैं। ऐयार वीर, उदार, स्वामिभक्त और नैतिक आचारों से युक्त होते हैं।

तिलस्मों की इस दुनिया में घटनाओं का अद्भुत वैचित्र्य और शृंखला होती है। इनमें चरित्र नहीं व्यक्ति होते हैं, जिन्हें कोई भी नाम दिया जा सकता है। इसलिए एक पात्र को दूसरे पात्र से अलगाना कठिन है। इनमें जो भी क्रिया-कलाप घटित होते हैं वे जीवन की वास्तविकताओं से अछूते और काल्पनिक होते हैं। घटनाओं के दूर तक फैले जटाजूट को समेट लेना भी बाजीगरी से कम नहीं है। इन तिलस्मी उपन्यासों का अपना महत्व चाहे जो हो पर हिन्दी-उपन्यासों की परम्परा में न तो इनसे कुछ जुड़ता है और न कुछ घटता है। दुर्गाप्रसाद खत्री तथा अन्य कई लोगों ने इस परम्परा को आगे बढ़ाने का प्रयास किया किन्तु केवल वायवीय कुतूहल को कबतक कायम रखा जा सकता है?

खत्री के उपन्यासों की लोकप्रियता देखकर गोपालराम गहमरी (१८६६-१९४६) नए किस्म के उपन्यास—जासूसी उपन्यास—लेकर हिन्दी के क्षेत्र में अवतरित हुए। यद्यपि जासूसी उपन्यासों में तिलस्मी उपन्यासों की तरह बेपर उड़ने की गुंजायश नहीं है फिर भी इन्हें तिलस्मी-ऐयारी से सर्वथा अलग नहीं किया जा सकता। सन् १८९८ में उन्होंने बँगला उपन्यास 'हीरार मूल्य शेखर धूली' का हिन्दी अनुवाद किया। इसे हिन्दी के पाठकों ने काफी पसंद किया। फिर तो उन्होंने लगभग दो सौ उपन्यास लिखे और अनूदित किए। अपने उपन्यासों के प्रकाशन के लिए उन्होंने एक पत्र 'जासूस' (१९००) निकाला जो तीस वर्षों तक प्रकाशित होता रहा।

पर गहमरी की जासूसी मोटे किस्म की जासूसी है। प्राय: उपन्यासों का कथानक कहीं पड़ी हुई लाश को लेकर शुरू होता है और अपराधी की खोज, आरंभ हो जाती है। परन्तु यह तलाश इतनी बचकानी लगती है कि जासूसी का कोई महत्व ही नहीं रह जाता। जिन प्रमाणों, प्रसंगों, घटनाओं के आधार पर जासूस अपराधी की तलाश करता है वे पूर्वनिर्मित होती हैं और जासूस को उनका इलहाम हो जाता है। ज़ाहिर है कि तलाश की यह प्रक्रिया उतनी बुद्धि-जन्य नहीं है जितनी कल्पनाजन्य है।

उनके जासूस भेष बदलने की कला में इतने माहिर हैं कि देवकीनन्दन खत्री के ऐयारों के कान काट लेते हैं। 'वजीरन बीवी' का जासूस अजीबोगरीब बाजीगर है। वह भूत बन जाता है। अपराधी के सिर पर हाथ रखकर उसे अन्धा बना देता है। यहाँ की गुप्त कोठरियाँ कम रहस्यात्मक नहीं हैं। खटका दबाया नहीं की दीवालें नदारत। दूसरे खटके पर हाथ पड़ा नहीं कि दीवालें वापस।

गहमरी के जासूसी उपन्यास घटनाप्रधान और काल्पनिक हैं। घटनाओं की विलक्षणता उनका मुख्य आधार है। पर वैलक्षण्य की अतिशयता यथार्थ का अध्यास नहीं पैदा करतीं। 'कानन डायल' ने जटिल जीवन के बीच होने वाले अपराधों को चुना है। इसी कारण 'शरलक होम्स' जैसे चरित्रों की सृष्टि हो सकी है। गहमरी ने जिस समय जासूसी उपन्यास लिखना आरंभ किया उस समय यहाँ की जिन्दगी, विशेष रूप से बनारस की जिन्दगी काफी सरल थी। अत: उन्हें कल्पना का ही भरोसा था। कल्पना के भरोसे, ऐसी कल्पना जो यथार्थ से कटी हुई हो, सपाट कथानकों और बाल बुद्धिवाले जासूसों की ही सृष्टि हो सकती है।

इस कालावधि के उपन्यासकारों में किशोरीलाल गोस्वामी (१८६५-१९३२) केन्द्रवर्ती उपन्यासकार माने जायँगे। संख्या और परिमाण में उनके उपन्यास

सर्वाधिक हैं। अपने समय में प्रचलित सभी तरह के उपन्यासों की उन्होंने रचना की-सामाजिक, ऐयारी-तिलस्मी तथा जासूसी। यही नहीं ऐतिहासिक उपन्यास लिखकर उपन्यासों का एक नवीन आयाम उद्घाटित करने का श्रेय भी उन्हीं को है। इस काल के कुछ उपन्यास मुख्यतः शिक्षामूलक हैं तो कुछ मनोरंजनमूलक। पर गोस्वामी के उपन्यासों में शिक्षा, धर्म और मनोरंजन तीनों का गठबंधन हुआ है, यद्यपि यह गठबंधन बिखरावपूर्ण और शिथिल है। जिस हिन्दू पुनरुत्थानवाद की शुरुआत राधाकृष्णदास के उपन्यासों से होती है उसकी चरम परिणति गोस्वामी के उपन्यासों में दिखाई पड़ी।

सन् १९०१ से उन्होंने 'उपन्यास-मासिक पुस्तक' निकालना आरंभ किया था। इस पत्रिका में केवल उन्हीं के उपन्यास प्रकाशित होते थे। उसके मुखपृष्ठ पर छपा रहता था।—'उपन्यासस्तु वाङमुखम्' आचार्य शुक्ल ने उनके छोटे-बड़े पैंसठ उपन्यासों का उल्लेख किया है। पर वे सबके सब उपन्यास नहीं थे। इनमें उनकी कुछ कहानियाँ भी सम्मिलित हैं। कुछ उपन्यास बँगला से भी अनूदित हैं। सन् १८८९ में वे कलकत्ता के रद्दी खाने से बहुत सी बँगला पुस्तकें खरीद लाये थे और उनका अच्छा-खासा उपयोग किया।

सन् १८८७ में उन्होंने 'प्रणयिनी परिणय' लिखा। किन्तु यह उपन्यास न होकर कहानी है। वस्तुतः इसी को हिन्दी की पहली कहानी मानना चाहिए। १८८८ में 'त्रिवेणी' उपन्यास प्रकाशित हुआ जो १८९० ई० में 'बिहार बंधु' में छपा। १८९० में 'हृदयहारिणी' उपन्यास 'हिंदोस्थान' दैनिक के कई अंकों में छपा। इसके बाद तो उनके उपन्यास उनके अपने ही मासिक पत्र में छपने लगे।

गोस्वामी जी निंबार्क संप्रदाय के वैष्णव थे। उनके ऊपर सनातन धर्म का गहरा संस्कार था। इस सम्प्रदाय में मधुरोपासना का भी प्राधान्य था। वे सहृदय और रीतिकाव्य के प्रेमी थे। स्पष्ट है कि श्रृंगार उन्हें धर्म, विरासत और प्रकृति से मिला था। अतः उनके उपन्यासों का श्रृंगार-प्रधान होना स्वाभाविक था। पर उन्होंने जिस हिन्दुत्व की, उसके संस्कारों की प्रतिष्ठा करनी चाही है वे मर चुके थे। अतः इस अर्थ में वे प्रतिक्रियावादी ही कहे जायेंगे।

गोस्वामी जी ने उपन्यास को प्रेम का विज्ञान कहा है। 'प्रेम एव परं ज्ञानं, प्रेम एव परा गतिः' उनका मंत्र था। सच तो यह है कि यह उनका मंत्र नहीं था बल्कि हिन्दू दर्शन में यह बराबर दुहराया जाता रहा है। भक्ति और ज्ञान के क्षेत्र से बाहर यह कभी नहीं आया। जीवन में यह स्त्री पुरुष के प्रेम तक ही

सीमित था। उनके परागति वाले प्रेम की स्थिति इससे भिन्न नहीं मानी जा सकती। प्रेम की अनिवार्य परिणति है विवाह।

इस प्रेम में दुष्यंत-शकुंतला जैसी कोर्टशिप का होना अनिवार्य था। इस सनातनधर्मी कोर्टशिप का परिणाम था विवाह। त्रिवेणी का नायक प्रेम-महिमा को गुनता हुआ सनातन धर्म का गुणानुवाद भी करता जाता है। हिन्दी की उन्नति की बुनियादी शर्त है 'सनातन रीत्यनुसार सनातनधर्ममय देव-देवियों की उन्नति।' त्रिवेणी का समापन नायिका की गोद में खेलते हुए एक बालक के चित्रण द्वारा होती है। 'कुटीरवासिनी' की नायिका और प्रेममयी की अमला और शांती की गोद भी भरी-पुरी हो जाती है।

प्रेम के माध्यम से ही वह पाप का परिणाम बुरा और पुण्य का परिणाम भला बतलाता है। 'मालती माधव या मदनमोहन' का माधव महात्मा है। उसे माधवी मिलती है। हरिहर प्रसाद पापात्मा है। वह मकान गिरने से मर जाता है। उसकी लाश डोम फेंकते हैं।

रामचन्द्र शुक्ल ने गोस्वामी जी के उपन्यासों को साहित्यिक कोटि की रचनाएँ माना है। 'इनके उपन्यासों में समाज के कुछ सजीव चित्र, वासनाओं के रूपरंग, चित्ताकर्षक वर्णन और थोड़ा बहुत चरित्र-चित्रण भी अवश्य पाया जाता है।' संभवतः अपने समय की विविध घटना-प्रधान औपन्यासिक पद्धतियों को समेट कर लंबे कथासूत्रों में बाँधने के कारण ही शुक्ल जी ने उनकी रचनाओं को साहित्यिक कोटि में माना है।

इनके अतिरिक्त इस समय के अन्य उपन्यासकारों में कार्तिक प्रसाद खत्री, बलदेव प्रसाद मिश्र, गंगाप्रसाद गुप्त, जयरामदास गुप्त, ईश्वरीप्रसाद शर्मा आदि का भी उल्लेख किया जा सकता है।

इस समय के उपन्यासों में जो मूल वृत्ति दिखाई पड़ती है वह है हिन्दू पुनरुत्थानवाद। इसकी अभिव्यक्ति हिन्दी, बँगला, मराठी, गुजराती आदि के उपन्यासों में देखी जा सकती है। बंकिमचंद्र के 'दुर्गेशनन्दिनी' (१८६५) और आनंदमठ (१८७५) उपन्यासों की लोकप्रियता के मूल में यही तथ्य निहित है। इस अवधि के मराठी उपन्यासों-मंजुघोषा (१८६८), विचित्रपुरी (१८७०) चन्द्रप्रभा विरह वर्णन (१८७३) में भी अद्‌भुत चमत्कारों का समावेश मिलेगा। उनका परिवेश दरबारी और भाषा अलंकृत है।

उर्दू-उपन्यासों की स्थिति भी इससे भिन्न नहीं थी। मौलाना अब्दुल हलीम शरर (१८६०-१९२६) के सम्बन्ध में एहतेशाम हुसैन लिखते हैं—'शरर के अधिकतर उपन्यास मुसलमानों के प्राचीन जीवन से सम्बन्ध रखते हैं, जिनमें मुसलमानों की वीरता, उदारता और धार्मिक दृढ़ता के चित्रों को प्रचार

की दृष्टि से प्रस्तुत किया गया है। इस प्रकार उनकी दृष्टि में संकीर्णता झलकती है। शरर के अधिकांश उपन्यास एक ही ढंग के और एक ही शैली में लिखे हुए मिलते हैं। कभी-कभी तो ऐसा जान पड़ता है कि यदि एक उपन्यास के पात्र दूसरे में रख दिये जायँ तो कोई बड़ा अन्तर न होगा। नवयुवक और अनुभव रहित रोमानी स्वभाव रखने वालों के लिए उनके हल्के-फुल्के उपन्यासों में आनन्द का बड़ा सामान मिल सकता है। परन्तु उपन्यास को जीवन के मूल आदर्शों और जीवन के बड़े संघर्षों का चित्रण करने वाला साहित्यिक रूप मानने वालों को उनके यहाँ बहुत कमी मिलेगी। उनके प्लाट ढीले, उनके पात्र सपाट और उनका उद्देश्य साधारण होता है।' उनके उपन्यासों के शीर्षक भी हिन्दी उपन्यासों से मिलते-जुलते हैं--'हुस्न का डाकू' 'मन्सूर मोहना', 'जवाले बगदाद' आदि।

इन तीन दशक के उपन्यासों में रोमांस और सुधारवादी यथार्थ का मिला जुला रूप दिखाई देगा। रोमांस का उद्देश्य मनोरंजन था तो सुधार का उद्देश्य अपनी रीति-नीति, आचार-विचार और संस्कारों का संरक्षण। रोमांस मध्य-युगीन प्रवृत्ति से बोझिल था तो सुधारवादी यथार्थ रूढ़िवादी संस्कारों से। नारी के नाम पर जो समस्याएँ इन उपन्यासों में उठाई गई हैं वे मुख्यत: वेश्याजीवन, नारी-शिक्षा, अनमेल विवाह, स्त्री-स्वतंत्रता आदि से संबद्ध हैं। किन्तु इनका समाधान पुराने ढंग पर ही किया गया है।

इन दृष्टिकोण का असर उपन्यासों के कथा-संघटन, चरित्र-चित्रण, वातावरण-निर्माण, भाषा-शैली आदि पर भी पड़ा है। लाला श्रीनिवास दास के 'परीक्षागुरु' को छोड़कर प्राय: सभी उपन्यासकारों ने कथावस्तु के निर्माण में घटनाओं का अंबार लगा दिया है--घटनाएँ भी एक से एक विचित्र, रोमांचकारी और विस्मयावह। चरित्र वर्गों में बँटे हैं--अच्छे और बुरे, उनके कार्यों का परिणाम भी नियत है--अच्छे का अच्छा, बुरे का बुरा। इसीलिए बीच-बीच में उपदेशात्मक श्लोक, छंद, कथा-आख्यायिका आदि को डाल दिया गया। ये छंद चरित्रों की वर्गगत विशेषताओं को ही पुष्ट करते हैं। यद्यपि भारतेन्दु और उनकी मंडली ने भाषा को एक सीमा तक अभिव्यक्ति योग्य बनाया पर अभी वह कथा कहने (नैरेशन) के योग्य नहीं बन पाई थी। उपदेशों की रुक्षता, रोमांसों की ऊहात्मकता, सस्ते मनोरंजनों के चटकीलेपन के केंचुल को छोड़कर अभी वह अपेक्षित सामर्थ्य नहीं प्राप्त कर सकी थी।

कहानी

सन् १८५० से १९०० तक उपन्यास-कहानी का भेद स्पष्ट नहीं किया जा

जा सका था। समस्त कथा साहित्य (फिक्शन) को उपन्यास कहने का चलन था। एक कहानी कुछ आपबीती कुछ जगबीती को, जो कदाचित् उपन्यास के रूप में लिखा जा रहा था, भारतेंदु ने कहानी की संज्ञा दी। किशोरीलाल गोस्वामी की इन्दुमती जिसे हिन्दी की पहली कहानी माना जाता है और जो सरस्वती में (१९००) कहानी के रूप में प्रकाशित हो चुकी थी उसे भी गोस्वामी ने उपन्यास कह कर ही प्रकाशित किया है। इससे स्पष्ट है कि अभी हिन्दी में उपन्यास-कहानी के बीच कोई विभाजक रेखा नहीं खींची जा सकी थी।

हिन्दी के पहले कहानीकार किशोरीलाल गोस्वामी ही हैं। प्रणयिनी परिणय जिसे उन्होंने उपन्यास कहा है, हिन्दी की पहली कहानी है। यह १८८७ में लिखी गई थी। इसमें दो प्रेमियों की कहानी कही गई है। प्रेमी प्रेमिका के घर में प्रविष्ट होने का उपक्रम कर ही रहा था कि राजा द्वारा चोर समझ कर पकड़ लिया गया। किंतु उनके प्रगाढ़ प्रेम का परिचय पाते ही उसने दोनों का ब्याह करा दिया। इस पर निश्चय ही कथासरित्सागर का प्रभाव है। इसकी शैली पुरानी है, समापन भरत वाक्य से हुआ है। पर यदि कहानी में एक ही मूल प्रेरक भाव होता है तो निश्चय ही यह हिन्दी की आदि-कहानी ठहरती है। इसमें जन-जागृति का भी आंशिक चित्रण हुआ है, तत्कालीन पुलिस के अत्याचारों को भी उभारा गया है। भाषा अलंकृतिमूलक है, बीच-बीच में विरह-निवेदन और उपदेश का भी संनिवेश है।

गोस्वामी की इंदुमती १९०० की सरस्वती में प्रकाशित हुई। इंदुमती की भाषाशैली बहुत कुछ बदली हुई है। अनलंकृत है। इसका आरंभ और विकास अपेक्षाकृत अधिक स्वाभाविक पद्धति पर चलता प्रतीत होता है, यद्यपि इस पर जासूसी कहानियों का स्पष्ट प्रभाव है। अजयगढ़, देवगढ़ आदि नाम भी जासूसी कथासाहित्य से ही लिए गए हैं। जिस रहस्यात्मक रीति से इंदुमती का पिता विंध्य के जंगलों में निवास करता है और जिस ढंग से उसके सशस्त्र सहचर प्रकट होते हैं। वह सब कुछ जासूसी कथाओं की चमत्कारिकता से मिलता-जुलता है। जासूसी भी कथाएँ कहानियाँ हैं। कथानक, साकांक्षता, एकन्विति आदि की दृष्टि से इनको आगे की कहानियों से जोड़ा जा सकता है।

आलोचना

आलोचना जातीय जीवन की अनिवार्य माँग है। साहित्य की कोई विधा- कविता, नाटक, उपन्यास, निबंध-अतीत का दस्तावेज नहीं है, वह वर्तमान के लिए जीवंत शक्ति है। आलोचक अपनी विवेचना द्वारा रचनात्मक साहित्य को

अपने समसामयिक जीवन के संदर्भ में देखता है। सही तो यह है कि अपने समय के साहित्य की आलोचना करना आलोचक का मुख्य कार्य है।

प्रायः तो नायक-नायिका का एक-एक अंग नख शिख वर्णन उनकी संपूर्ण कवित्व शक्ति का ओर छोर आ लगा है। बहुत बड़े षट्ऋतु वर्णन में जाने कैसे वसंत हुआ तो वही सहकार मधुकर कामदेव की सेना को अपने अपने ढंग पर सजाने के अतिरिक्त एक ही विषय पर और नई बात लावें कहाँ से ? पावस को कहने लगे तो मोर दादुर की दर-दर वियोगिनी नायिका की स्मर दशा आदि इनी गिनी दस पाँच बातें हैं जिनपर कविता की अधिष्ठातृ देवी का सैकड़ों वर्षों से घसीटा हुआ जीर्ण कलेवर कह डाला।

उन्होंने बँधी हुई क्लसिकल रचनाओं से लोक साहित्य को कम महत्व नहीं दिया– मल्लाहों की गीत, कहारों का कहरवा, आदि सब गँवारों की रोचक कविताएँ हैं उनकी प्रशंसा में यदि हम कुछ कहें तो नागरिक जन अवश्य हम पर आक्षेप करेंगे––पर उनमें सच्ची कविता का लहरा पाया है। अर्थात् उनमें चित्त की एक सच्ची और वास्तविक भावना की तस्वीर खींची हुई पाई जाती है और क्लासिक उत्तम श्रेणी की भाषा का जहर इसमें कहीं नहीं पाया जाता।

इसके लिये आवश्यक है कि आलोचक अपने समय की समस्याओं के प्रति जागरूक हो। किंतु यह जागरूकता ही सब कुछ नहीं है। आलोचक के लिए अपनी सांस्कृतिक परंपरा का गहरा और बहुमुखी ज्ञान होना जरूरी है उसमें परंपरा के संदर्भ के बौद्धिक स्तर पर विवेचन की क्षमता होनी चाहिए। इस इस काल में बौद्धिक स्तर और जागरूकता (अवेयरनेस) की दृष्टि से बालकृष्ण भट्ट अद्वितीय हैं।

वे संस्कृत के पंडित थे। उनका अंग्रेजी का ज्ञान भी अच्छा था। राजनीति में उन्हें गहरी दिलचस्पी थी। गरीबी का असाधारण संकट भी उन्हें झेलना पड़ा था। किंतु इससे उनकी आस्था में कहीं स्खलन नहीं आया। राजनीति, धर्म, भाषा आदि के प्रति उनकी दृष्टि यथार्थवादी थी। उनके मत से चाहे धर्म संबंधी आदि एकता से आप और तरह का लाभ मानें पर देश की उन्नति और वास्तविक भलाई करने का द्वार हम राजनीतिक एकता को ही मानेंगे। वे जीवन के प्रति अत्यधिक आस्थावान थे। इसलिए जगह-जगह अतीतोन्मुख हिन्दू समाज और विरक्त वेदान्तियों को आड़े हाथों लिया है।

इहलौकिक जीवन के प्रति आस्थावान होने के कारण वे साहित्य को सामूहिक जीवन की अभिव्यक्ति मानते हैं। समालोचना की उपयोगिता पर प्रकाश डालते हुए उन्होंने कहा है––जो जाति जिस समय जिस भाव से परिपूर्ण या परिप्लुत रहती है वह सब भाव उसके उस समय के साहित्य की समालोचना

से अच्छी तरह प्रकट हो सकते हैं। कहना न होगा कि अपने समय के साहित्य की आलोचना में उन्होंने अधिक दिलचस्पी ली।

रीतिबद्ध कविता के विरुद्ध उन्होंने ही पहले पहल आवाज उठाई।

हिन्दी की मध्यकालीन कविता पर उन्होंने कुछ नहीं लिखा है। संस्कृत के कवियों पर अत्यंत परिचयात्मक ढंग से लिखा गया है। अपने सम-सामयिक साहित्य पर उन्होंने जो विचार व्यक्त किए हैं वे ही हिन्दी आलोचना की विकास-यात्रा के आरंभिक विंदु है। रणधीर प्रेममोहिनी को पहली ट्रेजिडी कहना उनकी पकड़ का सबूत है। परीक्षागुरु के संबन्ध में उन्होंने बताया है कि इसकी भाषा और प्लाट-बंदिश दोनों सराहनीय हैं। किन्तु इसकी उपदेश बहुलता इसकी सबसे बड़ी त्रुटि है—ग्रंथकर्ता महाशय को अनेक प्रकार के उपदेश वाक्य और विज्ञान चातुरी प्रकट करना था तो गुलदस्ते, मखलाक या विधाकुर के ढंग की कोई पुस्तक बनाते।

पर भट्ट जी आलोचना का वास्तविक स्वरूप संयोगिता स्वयंवर की सच्ची आलोचना से मिलता है। कथानक, चरित्र-चित्रण, कथोपकथन, देशकाल, उद्देश्य को दृष्टि में रखकर जो आलोचना प्रस्तुत की गई वह भट्ट जी के नए दृष्टिकोण की द्योतक है। यद्यपि नाटकों का ढाँचा अभी बहुत कुछ पुराना था पर युगीन प्रवृत्तियों की माँग के फलस्वरूप भट्ट जी ने आलोचना का मान बदल दिया।

आरंभ में ही उन्होंने सवाल उठाया है कि ऐतिहासिक पुरावृत्त और ऐतिहासिक नाटक में अन्तर होता है लेकिन लालाजी ने इस अन्तर को नहीं समझा। पुरावृत्त को ऐतिहासिक नाटक में रूपायित करने के लिए जिस कल्पनाशक्ति की आवश्यकता होती है वह लालाजी में नहीं थी।

चरित्र-चित्रण की बारीकी की ओर ध्यान आकृष्ट करते हुए उन्होंने बताया है——हमने जहाँ तक नाटक देखे उनमें पात्रों की व्यक्ति (कैरेक्टराइज़ेशन) के भिन्न-भिन्न होने से ही नाटक की शोभा देखी पर आपके पात्र सब एक ही रस में सने उपदेश देने का हबस में लथर पथर पाए गए और उस रस में आपही की विद्या के प्रकाश का जहर भरा है। जाहिर है कि वे नाटक में एक ही चेहरा नहीं देखना चाहते अर्थात् वे चरित्रों में व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा के आकांक्षी हैं। तथ्य यह है कि प्रसाद के पहले नाटकों के चरित्रों को व्यक्तित्व नहीं प्राप्त हो सका।

कथोपकथन की अस्वाभाविकता पर भी उन्होंने कड़ा प्रहार किया है। संयोगिता का कथोपकथन न तो नाटकगत परिस्थिति के अनुकूल है और न भारतीय संस्कृति के प्रेम के संबंध में उसकी उक्तियां प्रेम का मखौल उड़ाती हैं। इस तरह

के कथोपकथन न कथानक के विकास में योग दे पाते हैं और न चारित्रिक विकास में बीच-बीच में पद्यों के अमर्यादित प्रयोग पर चिढ़कर भट्ट जी कहते हैं—'हम समझते हैं ग्रंथकार महाशय बीबी संयोगिता को (पंडित प्रतापनारायण मिश्र के कलि-कौतुक वाली) शराबखोरों वाली महफिल में भेज देते तो शराब की तारीख में सबसे बीस संयोगिता की ही स्पीच रहती। अंत में भट्ट जी कहते कि हाय। हाय। संयोगिता पर भरपूर शामत सवार हुई जो उसके बारे में नाटक लिखने का हौसला आपके मन में बढ़ा। भट्ट जी की आलोचना में व्यंग्य और कटुता जरूरत से ज्यादा उभर आए हैं फिर भी उसके दोष पक्ष पर विचार करने में त्रुटि नहीं पाई है। लेकिन सब मिलाकर यह एकांगी हो सकी है।

प्रेमघन दूसरे व्यक्ति हैं जिन्होंने आनंद कादंबिनी में आलोचना का सूत्रपात किया। भट्ट जी की संयोगिता स्वयंवर की आलोचना देखकर उन्होंने भी इसे आलोच्य विषय बनाया। प्रेमघन की आलोचना पुराने किस्म की है। उन्होंने मुख्यत: रस और संधियों की दृष्टि से इसकी आलोचना की है। इस पुस्तक में उन्होंने अनेक दोष दिखाए हैं। इसमें यह नहीं पता लगता कि वीर और शृंगार में कौन अंगी है, छन्द और अलंकार सदोष हैं। कुछ गर्भांक व्यर्थ हैं। पद्यों में कालिदास और शेक्सपियर की चोरी की गई है। निर्वहण संधि का निर्वाह नहीं हुआ है। भट्टजी में जो मौलिकता और क्षमता दिखाई देती है वह प्रेमघन में नहीं है। इस काल में भारतेंदु ने नाटक पर सैद्धान्तिक आलोचना लिखी पर उसका स्वर पुराना ज्यादा है नया कम। नाटक के मुख्य उद्देश्यों में समाज-संस्कार और देश-वत्सलता नएपन के द्योतक हैं। भट्टजी ने उपन्यास पर एक सामान्य निबंध लिखा।

ब्रजभाषा की काव्य परंपरा

गद्य के क्षेत्र में खड़ी बोली को जल्दी स्वीकार कर लिया गया किंतु पद्य के क्षेत्र में इसकी स्वीकृति में विलंब लगा : हिंदी में गद्य की कोई परंपरा नहीं थी, इसलिए वैचारिक अभिव्यक्ति के लिए खड़ी बोली के व्यवहार को लेकर कोई द्वन्द्व या विवाद नहीं उठा। पर ब्रजभाषा की सुदीर्घ काव्य परंपरा को सहसा छोड़ देना संभव नहीं था। ब्रजभाषा काव्य का माधुर्य, अभिव्यंजना शक्ति उस समय की खड़ी बोली में कहाँ मिलती? भावना के स्तर पर भी उसे छोड़ा नहीं जा सकता था।

उस समय ब्रजभाषा काव्य की अखंड परंपरा में जो अगली कड़ी के रूप में थे उनकी दो कोटियाँ की जा सकती हैं। पहली कोटि में वे लोग आयेंगे जो विषय और भाषा दोनों में परंपरानुगामी थे। उनमें कुछ राज्य या रईस आश्रित

कवि, कुछ राजे और कुछ भक्त थे । दूसरी कोटि उन लोगों की थी जो ब्रजी में कविता करते थे लेकिन उनके विषयों में वैविध्य था और वे कभी-कभी खड़ी बोली में भी पद्य रचना का प्रयोग किया करते थे । इन लोगों में मुख्यत: भारतेंदु मंडल के लोग थे ।

पहली कोटि में सेवक, महाराज रघुराज सिंह रीवांनरेश, सरदार बाबा रघुनाथदास, ललितकिशोरी, राजा लक्ष्मण सिंह, लछिराम आदि आते हैं । यद्यपि वे न राजा थे न रइसों के आश्रित ।

भारतेंदु और उनके मंडल के कवियों में प्रमुख हैं बाबा सुमेर सिंह, साहबजादे, प्रेमघन, प्रतापनारायण मिश्र, ठाकुर जगमोहन सिंह, अंबिकादत्त व्यास, रामकृष्ण वर्मा बलवीर, राधाचरण गोस्वामी, सुधाकर द्विवेदी और राधाकृष्णदास ।

सेवक, सरदार, लछिराम, बेनीद्विज और हनुमान रीतिकालीन परंपरा के दरबारी कवि थे । लछिराम को छोड़कर शेष का संबंध काशी और रामनगर दरबार से था । सेवक (१८१५--१८८१) असनीवाले प्रसिद्ध ठाकुर के प्रपौत्र थे और काशी के रईस हरिशंकर के आश्रित थे । ये काशिराज ईश्वरीनारायण सिंह के भी कृपापात्र थे । दोनों की प्रशंसा में उन्होंने कवित्त लिखे हैं । उन्होंने वाग्विलास नाम का नायिका भेद ग्रंथ भी बनाया है । भारतेंदु हरिश्चन्द्र के सुन्दरी तिलक में उनके कुछ सवैये संगृहीत हैं ।

अज्ञात यौवन का यह चमत्कारपूर्ण उदाहरण देखिए—

देखिये आनि कछू दिन ते उर से उठे व्याधि के अंकुर वारे ।
कीजिये बेगि उपाय न तो दुख पाय है आगे भरे पर भारे ।।
हो प्रिय सेवक प्राण तुम्हें सुख देहैं अनोखे विरंचि सवारे ।
वीर अधीर क्यों होत खरी अरी पीर सहेंगे विलोकनि हारे ।।

सरदार ईश्वरीनारायण सिंह के दरबारी कवि थे । इस काल के ब्रजभाषा कवियों में उनका प्रमुख स्थान है । केशवदास के दो ग्रंथों, कविप्रिया और रसिकप्रिया, की जो टीकाएँ उन्होंने लिखी हैं वे उनकी ब्रजभाषा काव्य की पकड़ की द्योतक हैं । ब्रजभाषा काव्य पर उनका अच्छा अधिकार था ।

बाबा रघुनाथदास रामसनेही अयोध्या के महंत थे । उन्होंने रामचरितमानस के ढंग पर विश्राम सागर लिखा । ललितकिशोरी और ललितमाधुरी वैश्य बन्धु लखनऊ निवासी थे । ये विरक्त होकर वृन्दावन में रहने लगे थे । सच्चे भक्त थे । उनकी कविता में भक्त हृदय की सरलता और माधुरी पाई जाती है । राजा लक्ष्मण सिंह ने कालिदास के मेघदूत का पद्यानुवाद किया । इसमें दोहा, चौपाई, सोरठा; शिखरिणी, सवैया, घनाक्षरी आदि छंदों का प्रयोग किया गया है । सवैया और घनाक्षरी बहुत सरस बन पड़े हैं ।

शकुन्तला नाटक के बीच-बीच में आए हुए पद्यानुवाद का लालित्य भी प्रशंसनीय है।

लछिराम और बेनीद्विज हनुमान आदि रीतिकालीन ढर्रे के कवि थे। इस सिलसिले में गोविन्द गिल्लाभाई का नाम इसलिए उल्लेखनीय है कि गुजराती होते हुए भी उन्होंने ब्रजी में रचनाएँ की।

लछिराम देव की भाँति बहुत से राजा रईसों के दरबारों में भटकते रहे। कभी तो वे अयोध्या नरेश द्विजदेव के यहाँ थे। कभी बस्ती के राजा शीतलाबख्श सिंह के यहां तो कभी दरभंगा दरबार की शोभा बढ़ाते रहे। कभी गिद्धौर दरबार में, कभी पूर्णिया दरबार में दिखाई देते थे तो कभी काशी के कवि समाज में। अपने आश्रयदाताओं की प्रशंसा में उन्होंने कई ग्रंथ लिखे। मानसिंहाष्टक, प्रताप रत्नाकर, प्रेमरत्नाकर, रावणेश्वर कल्पतरु, कमलानन्द कल्पतरु उनके प्रसिद्ध ग्रंथ हैं।

लछिराम (१८४१-१६०४) नाम के सात कवि हुए हैं। किंतु उनमें सबसे अधिक प्रसिद्धि जिला बस्ती वाले लछिराम की ही है। उनका जन्म बस्ती जिला के शेखपुरा गाँव में हुआ था। सोलह वर्ष की अवस्था में लछिराम ने अयोध्या नरेश मानसिंह (द्विजदेव) से भी भेंट की और उन्हीं के दरबार में रहने लगे। वहाँ पर उनका संपर्क अन्य राजाओं से भी हुआ। प्रत्येक राजा के प्रीत्यर्थ कवि ने एक-एक रचना की। प्रेम रत्नाकर (राजा बस्ती के नाम पर), महेश्वर विलास (राजा रामपुर-मथुरा, सीतापुर के नाम पर) रावणेश्वर कल्पतरु (गिद्धौर-नरेश रावणेश्वरप्रसाद सिंह के नाम पर) मुनीश्वर कल्पतरु (मल्लापुरनरेश के नाम पर) रघुवीर विलास (गुरुप्रसाद सिंह, गिद्धौर के नाम पर), लक्ष्मीश्वर रत्नाकर (दरभंगा नरेश के नाम पर), प्रताप रत्नाकर (प्रतापनारायण सिंह अयोध्या नरेश के नाम पर) रचे गए। रामरत्नाकर, मानसिंहाष्टक और प्रताप रसभूषण की रचना भी उन्होंने की। किंतु ये ग्रंथ अभी तक प्राप्त नहीं हो सके हैं।

वर्ण्य विषय की दृष्टि से उनके ग्रंथों को दो कोटियों में रखा जा सकता है। प्रथम कोटि में वे ग्रंथ आएँगे जिनमें रस तथा उनके भेदों का वर्णन किया गया है। दूसरी कोटि की पुस्तकों में अलंकारों शब्दशक्तियों आदि को वर्ण्य विषय बनाया गया है। रीतिकाल के आचार्यों की भाँति लछिराम ने भी काव्य-शास्त्र संबंधी कोई मौलिक उद्‌भावना नहीं की है।

पर लछिराम का कवि रूप रीतिकाव्य की तरह सरस शृंगारिक है। ब्रज-भाषा पर उनका व्यापक अधिकार था यद्यपि पद्‌माकर की तरह अरबी, फारसी, के शब्दों का भी वे बेधड़क प्रयोग करते थे। वस्तुतः वे रीतिबद्ध काव्य परंपरा के आखिरी कवि थे। बेनीद्विज और हनुमान लछिराम की तरह

आचार्य नहीं थे पर उनकी रचनाएँ रीतिकाव्य की ह्रासोन्मुखी परंपरा के मेल में हैं। कुछ उदाहरण देखिए—

जैन जगे तुम काहू के साथ लहे रति चैन भए अति आरसी।
रावरे ओठ रह्यो रमि भौंर सो मेरे हिये में गड़ावती आरसी।
नैकु न आवत लाज अजौं हनुमान वह तिय नैनन आरसी।
बातें बनावत काहे लखी किन हाथ के कंकन को कह आरसी।

—हनुमान

अपबाद कोऊ किन कीबो करो हम नैकु नहीं सक मानसी हैं।
वहि छैल छबीले कि चाहन तें द्विज प्रेम की बारुनि छानती हैं।
वेइ फूँकि के पाँव धरें सिगरी अपने को सदा जे बखानती हैं।
नहिं काज भली ओ बुरी तें कछू हम जानती हैं कि अजानती हैं।।

—बेनीद्विज

भारतेंदु तथा उनके मंडल के कवियों ने गद्य के माध्यम से जीवन की तत्कालीन समस्याओं को साहित्य से जोड़ा। पर कविता के क्षेत्र में वे परंपरा को नहीं छोड़ सके। उनकी अधिकांश कविताएँ परंपरामुक्त हैं। फिर भी विषय की दृष्टि से उनमें नवीनताओं का सन्निवेश हुआ है। इस नवीनता के आधार पर ही खड़ीबोली की इमारत खड़ी हो सकी।

टी० एल० इलिएट ने लिखा है कि श्रेष्ठ साहित्यकार की मज्जा में उसकी परंपरा अनुस्यूत रहती है। कवि हरिश्चन्द्र में पूर्ण मध्यकालीन परंपरा को देखा जा सकता है। यद्यपि वे वल्लभ संप्रदाय के अनुयायी थे फिर भी उन्होंने राम काव्य और जैन काव्य भी लिखा। एक खास संप्रदाय से लगाव होते हुए भी उन्हें किसी धार्मिक संप्रदाय से द्वेष नहीं था। उनमें कहीं संतों का फक्कड़पन, मस्ती और जीव-जगत के प्रति नश्वरता का भाव मिलता है तो कहीं सगुणोपासक भक्तों की भाँति दैन्य और प्रतिपत्ति। उन्होंने संप्रदाय-सापेक्ष काव्य-भक्ति-सर्वस्व, वैशाख महात्म्य आदि लिखा तो संप्रदाय-काव्य की भी रचना की। किंतु सब मिलाकर उनकी धार्मिक रचनाओं में युगलोपासना का रंग अधिक है। चीरहरण, गोवर्धन, रासलीला, मानलीला, दानलीला, पनघट लीला। छद्मलीला आदि लीलाओं की भरमार है। इन पर संत कबीर, भक्त सूर, तुलसी, मीराबाई की स्पष्ट छाप देखी जा सकती है। कुछ उदाहरण देखिए :—

हमन है मस्त मस्ताना हमन को होशियारी क्या ?

× × ×

उत्तरमध्यकाल यानी रीतिकाल की श्रृंगारिक कविताएँ भी उन्हें विरासत में मिली थीं। उनका अपना वातावरण भी बहुत कुछ दरबारी था। इसलिए

श्रृंगारिक कविताओं के साथ समस्यापूर्ति भी उनके समकालीन कवियों का व्यसन था। भक्तिपरक रचनाओं में कतिपय स्थलों को छोड़ जीवन का स्पन्दन अत्यंत क्षीण है। किंतु श्रृंगारिक कविताओं में जो सरसता मिलती है वह उनकी अपनी है। इस दृष्टि से वे मतिराम, देव, घन आनंद, पद्माकर, द्विजदेव की परंपरा में पड़ते हैं। कुछ लोगों ने अपनी आदत से लाचार होकर उनकी श्रृंगारिक कविताओं को नायिका-भेद के ढाँचे में ढालने की कोशिश की है। नायिका भेद खोजने वाले को वह कहाँ नहीं मिलेगा ? कुछ उदाहरण लीजिए :—

ब्रजके लता-पता मोंहि कीजै
गोपी-पद-पंकज पावन की रज जामे सिर भींजै ।।

भारतेंदु में जो अन्तर्विरोध दिखता है उसका कारण इस विरासत के प्रति उनका गहरा लगाव है। उनके इस मध्यकालीन संस्कार और नई युगचेतना में काफी कशमकश होती रही। राज्यभक्ति, देशभक्ति, गद्य की भाषा, पद्य की भाषा, आस्तिकता-नास्तिकता का अन्तर्विरोध पुरातन और नए संस्कारों का अन्तर्विरोध है।

सिसुताई अजों न गई तन तें, तऊ जोबन जोति बटोरे लगी।
सुनि के चरचा हरिचंद की, कान कछूक दे, भौंह मरोरे लगी।
बचि सासु जेठानिनि सौं, पियतें दुरि घूँघट में दृग जोरे लगी।
दुलही उलही सब आंगन तें, दिन द्वै तैं पियूष निचोरे लगी।

× × ×

कूकें लगी कोइलें कदंबन पै बैठि फेरि
के धोए धोए पात हिलि-हिलि सरसै लगे।
बोले लगे दादुर मयूर लगे नाचे फेरि
देखि के सँयोगी जन हिय हरसै लगे।
हरी भई भूमि सीरी पवन चलन लागी
लखि हरिचंद फेर प्रान तरसै लगे।
फेरि झूमि झूमि बरसा की रितु आई फेरि
बादर निगोरे झुकि-झुकि बरसै लगै ।।

यह संग में लागिये डोले सदा बिन देखे न धीरज आनती हैं।
छिनहू जो वियोग परै हरिचंद तो चाल प्रलै की सु ठानती है।
बरुनी में थिरै न झपैं उझपैं पल में न समाइबो जानती हैं।
पिय प्यार तिहारे निहारे बिना अँखियाँ दुखियाँ नहीं मानती हैं।

× × ×

लाज समाज निवारि सबै प्रन प्रेम को प्यारे पसारन दीजिये ।
जानन दीजिये लोगन को कुलटा कहि मोहि पुकारन दीजिये ।।
त्यों हरिचंद सबै भय टारि के लालन घूँघट टारन दीजिये ।
छाड़ि संकोचन चंद मुखै भरि लोचन आज निहारन दीजिये ।।

छंदों में रोला, छप्पय; दोहा, चौपाई, पद, कवित्त-सवैया, गजल, आदि के प्रयोग किए ।

भक्तिपरक रचनाओं में सरसता और रीति-काव्य पद्धति पर लिखी गई रचनाओं में रमणीयता, खुलापन और रोमानी स्पर्श उनकी विशेषताएँ हैं ।

मध्यकाल की प्रायः सभी प्रचलित काव्य-शैलियों और छंदों में उन्होंने रचनाएँ कीं । भक्ति काल की यह शैली और रीतिकाल की मुक्तक शैली, आदि-काल की छप्पय-रोला शैली और खुसरो की मुकरी शैली भी अपनाई है । उन्होंने कथा-निबंध, काव्य भी लिखे जिनका विकास मैथिलीशरण गुप्त ने किया । लोक-काव्य-शैली की रचनाएँ उनकी नवीन पद्धति थी जिसके प्रति बहुत बाद में लोग सचेत हुए ।

गद्य उनके गतिशील चिंतन का द्योतक है और पद्य उनके पुरातन संस्कारों का । यों पद्य में भी उन्होंने अनेक सामाजिक विषयों का समावेश करके उसे नई दिशा दी और ब्रजी को गिने-चुने रसों के घेरे से बाहर की व्यापक भावभूमि से परिचित कराया । भारतेंदु तथा उनके सहयोगियों ने बिरहा, कजली, लावनी, खेमटा आदि लिखकर सिद्ध कर दिया कि वे लोक से बाह्य अर्थ में संपृक्त थे । इसका ब्रजभाषा की भाषा-शैली पर भी अत्यधिक प्रभाव पड़ा है ।

यदि तुलना करके देखा जाय तो परंपरा प्रयुक्त अनेक रूढ़ शब्दों का भारतेंदु ने परित्याग कर दिया था । फारसी-अरबी के अत्यंत प्रचलित शब्दों ही को उन्होंने अपनी भाषा में स्थान दिया । उदाहरणार्थ मुराद, अरज, अदब आदि (अरबी) बेहोशी, नशीली, जुल्मी, परवाना आदि (फारसी) । अंग्रेजी के टिक्कस, सिविल, लिबरल, वार्ड कानून आदि अंग्रेजी के शब्दों को भी यथास्थान प्रयुक्त किया गया है । ग्रामीण शब्दों में बारे (जलाया) बिगरै; मछरिया आदि को ब्रजभाषा का अंग बना उसे संपन्न ही किया । उनकी लोकोक्तियाँ-जैसे दूकान की फीकी मिठाई, हाय सखी इन हाथन सों अपने पग आप कुठार मैं दीनों वगैरह ठाकुर की लोकोक्तियों की याद दिलाती हैं । मुहावरों का भी उन्होंने प्रचुर प्रयोग किया है ।

जो कविताएँ उनके अधिकांश नाटकों में आई हैं वे भक्ति तथा रीतिपरक रचनाओं से भिन्न हैं । उनमें अतीत के गौरव, देश की दुर्दशा भारतवासियों की हीनता आदि का कहीं क्षोभपूर्ण तो कहीं निरीहतापूर्ण वर्णन है । इन्हें भारत

दुर्दशा, भारत जननी, नीलदेवी और अंधेर नगरी में देखा जा सकता है। इनमें से जो कविताएँ नाटकीय परिस्थितियों के संदर्भ में लिखी गई हैं वे अधिक भावपूर्ण बन पड़ी हैं। यों उनमें से अधिकांश इतिवृत्तात्मक हैं।

भाषा से सामान्य अर्थ ब्रजी और अवधी लिया जाता रहा है––का भाषा का संसकृत। भारतेंदु ने खड़ीबोली को नई भाषा की संज्ञा दी है। उनके हिन्दी भाषा निबंध में एक उपशीर्षक है––नई भाषा की कविता। इस संदर्भ में अपना बनाया हुआ एक दोहा उद्धृत करते हुए उन्होंने लिखा है :––

भजन करो श्री कृष्ण का मिलकर के सब लोग
सिद्ध होयगा काम और छूटेगा सब सोग ।।

अब देखिए यह कैसी भोड़ी कविता है !

उन्होंने खड़ी बोली में एक ही कविता लिखी–दशरथ विलाप। उसकी कुछ पंक्तियाँ हैं––

कहाँ हो ऐ हमारे राम प्यारे।
घर तुम छोड़कर हमको सिधारे
बुढ़ापे में यह दुख भी देखना था।
इसी के देखने को मैं बचा था।

उक्त निबंध में ही उन्होंने कहा है–जो हो मैंने आप कई बेर परिश्रम किया कि खड़ी बोली में कुछ कविता बनाऊँ पर वह मेरे चित्तानुसार नहीं।

उनकी उर्दू की कविताएँ खड़ी बोली में हैं। नाटकों में मुसलमानी वातावरण में गाए जाने वाले गजलों और संबोधन गीतों की भाषा भी खड़ी बोली है। अंधेर नगरी के चूरन और पाचक बेचने वाले के विज्ञापनगीत खड़ी बोली में गाए जाते हैं। सतीप्रताप में भी एक पद्य गान है––

तुझ पर काल अचानक टूटेगा
गाफिल मत हो लवा बाज ज्यों हँसी खेल में लूटेगा।
कब आवेगा, कौन राह से, प्रान कौन विधि छूटेगा।
यह नहिं जान परैगी बीचहि यह तन दरपन फूटेगा।
तब न बचावेगा कोई जब काल दंड सिर कूटेगा।
हरिचंद एक वही बचैगा जो हरिपद रस घूँटेगा।

इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि भारतेंदु को यह एहसास जरूर था कि मुसलमानी राज्य के बिखर जाने से दिल्ली के आसपास की बोली में जो विकास आया था वही जन सामान्य के भावों और विचारों की अभिव्यक्ति की भाषा हो सकती है।

भारतेंदु के समसामयिक कवियों और सहयोगियों में बाबा सुमेर सिंह, साहबजादे जो सिख-गुरु थे रीतिकाव्य लिखते रहे। प्रतापनारायण मिश्र मन की लहर में लावनियाँ लिखते थे। श्रृंगार विलास में उनकी श्रृंगारिक रचनाएँ हैं। दंगल खंड (आल्हा) ब्रैडलास्वागत लोकोक्ति शतक (१०० कहावतों पर देशभक्ति परक कविता), संगीत शाकुंतल (अनुवाद) दीवाने बरहमन (उर्दू कविताओं का संग्रह है) और रसखान शतक उनकी किताबें हैं। उनकी कुछ समस्यापूर्तियाँ बहुत ही सरस हैं। 'धुरवान की धावन सावन में' की पूर्ति देखिए:—

सिर चोटी गुँथावती फूलन सों, मेंहदी रचि हाथन पांवन में।
परताप त्यों चूनरी सूही सजी, मन मोहती हावन-भावन में।
निस द्यौस बितावति पीतम के संग, झूलन में औ झुलावन में।
उनहीं को सुहावन लागत है, धुरवान की धावन सावन में।।

भारतेंदु की भाँति उन्होंने भी राज-भक्ति-देशभक्ति परक काव्य लिखे। कांग्रेस की जय नाम की कविता कांग्रेस की स्तुति में है। जिस प्रकार उनके निबंधों में हास-व्यंग्य भरा पड़ा है। उस प्रकार उनकी कुछ कविताओं में भी उसके प्रचुर रंग हैं। वे अपने व्यंग्य में भारतेंदु की तरह मीठी चुटकियाँ नहीं लेते बल्कि तल्खी भर कर तीखा प्रहार करते हैं। 'जन्म सुफल कब होय' में लार्ड रिपन, गौरांग देव, पादरी साहब, भैंड़राज, गोरंडदास, हजरत, सेठ, अमीर, राजा, बुढऊ, लिकपिटन पुरोहित, कनवजिया, आलसी, बगुला भक्त आदि की उक्तियाँ द्रष्टव्य हैं।

गोरंडदास उवाच

जग जाने इंगलिश हमें, वाणी वस्त्रहिं जोय।
मिटे बदन कर श्याम रंग, जन्म सुफल तब होय।।

सेठ उवाच

बुधि विद्या बन मनुजता, छुवहिं न हम कहँ कोय।
लछिमिनियां घर में बसै, जन्म सुफल तब होय।।

प्रेमघन भी भारतेंदु के परम प्रशंसकों में थे। उन्हें एक प्रकार से भारतेंदु का अनुकर्ता कहना चाहिए। भारतेंदु के अपवर्ग और पुरुषोत्तमपंचक की तरह बृजचंद पंकज लिखा, बकरी विलाप की तरह पितरप्रताप लिखा। उनके श्रृंगारिक कवित्त-सवैयों की तरह कवित्त-सवैये लिखे जो प्रेमपियूष वर्षा में संकलित हैं। भारतेंदु रसा उपनाम से उर्दू में कविता लिखते थे तो प्रेमघन अब्र उपनाम से। भारतेंदु ने तरजीह बद्ध लिखा तो उन्होंने साखी बद्ध लिखा। मीरजापुर कजली का गढ़ समझा जाता है। प्रेमघन ने कजली, चैता, कबीर

आदि की रचनाएँ भी कीं। उन्होंने भारतेंदु की भाँति राजभक्ति और देश-भक्ति संबंधी कविताएँ भी लिखीं। दादा भाई नौरोजी के पार्लियामेंट के सदस्य होने पर उन्होंने मंगलाशा अथवा हार्दिक धन्यवाद लिखा जिसमें देशभक्ति और राजभक्ति दोनों का संनिवेश हुआ है। उनकी रचनाओं का संग्रह प्रेमघन सर्वस्व में हुआ। रीतिकाव्य शैली में लिखा हुआ उनका एक सवैया देखिए :—

सजि सूहे दुकूलन झूलन झूलत बालम से मिली भामिनियाँ।
बरसावत सो रस राग मलार अलापत मंजु कलामिनियां।।
बिति हैं किहि भाँतिन सावन की यह कारी भयंकर जामिनियाँ।
पन प्रेम पिया नहि आए दसो दिसि हैं दमके दुरि दामिनियाँ।।

किंतु प्रेमघन का महत्व इस पिष्ट पेषण में नहीं है। ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करने पर वे भारतेंदु के समकालीन कवियों में सबसे अधिक समसामयिक हैं। उनकी समसामयिक रचनाएँ परिमाण में भी अपेक्षाकृत अधिक हैं। लेकिन परिमाण अधिक होने पर भी वे समसामयिक विषयों पर आधारित इतिवृत्तात्मक काव्य परंपरा को आगे नहीं बढ़ाते। दो खंड काव्यों जीर्णजन पद और अलौकिक लीला की सर्जना अवश्य उनकी ऐतिहासिक देन हैं। जो भविष्य के रोमानी और इतिवृत्तात्मक खंड काव्यों की दिशा निर्देश करती हैं।

जीर्ण जनपद का दूसरा नाम है दुर्दशा दत्तापुर, यह प्रेमघन की जन्मभूमि है। इस काव्य में दत्तापुर ग्राम के संबंध में कवि के स्मृति-चित्र वर्णित हैं। इसमें ग्राम के प्राचीन वैभव और आधुनिक दुर्दशा को चित्रित किया गया है। प्रेमघन गाँव को, उसके समाज को, उसके त्योहार आदि को जिस रूप में अनुभूत किया था उसका यथार्थ चित्र उभारा है। संभव है प्रेमघन को गोल्डस्मिथ के ऊजड़ग्राम (डेजर्टेड विलेज) से प्रेरणा मिली हो। आचार्य शुक्ल ने जिसे स्वच्छन्दता वाद की संज्ञा दी है उसका समारंभ यहीं से मानना चाहिए। खेतों में निराही करनेवाली स्त्रियों का एक स्वच्छन्द चित्र देखिए :—

खेतन में जल भर्‌यो शस्य उठि ऊपर लहरत।
चारहुँ ओरन हरियाली ही की छवि छहरत।।
भोरी भोरी ग्राम बधू इक संग मिलि गावति।
इक सुर में रस भरी गीत झनकार मचावति।।
धान खेत में बैठी चंचल चखनि नचावति।।
बन में भटकी चकित मृगी सी छवि छावत।।

इस काल में जगमोहन सिंह अपनी स्वच्छन्दतावादी रचनाओं के लिए जो घन आनंद की परंपरा में पड़ती हैं, स्मरणीय रहेंगे। उन्होंने अपनी प्रेयसी

श्यामा के विरह में श्यामास्वप्न, श्यामविनय, श्यामलता, श्यामसरोजनी आदि की सर्जना की। इनमें उनके अकृत्रिम हृदय का उद्‌गार है। उदाहरण देखिए :–

सु मायके में नव जोबनी बाला, सनेह सकै किहि भाँति दुराय।
कहूँ बगरावति चीर अधीर, समीर उड्यों गहि कै लपटाय ।।
कभू गृह काज के बाज चढ़ी, उत ऊंचे अटा निरखे पिय आय ।।
विलास सहाय प्रमोद भरी, जगमोहन प्रीति छकी दरसाय ।।
धरती धरती डरती पद को, घुँघरु नहि नेकु बजावती हो।
झुकि झाँकती भौंह चलावती हो, नकबेसर झूमि झुमावती हो।
कर में पिचकारी लिए किनको तुम रंग भिगावन आवती हो।

भारतेंदु के समकालीन कवियों की तरह उन्होंने कजलियाँ भी लिखी थीं। नए विषयों पर भी उनकी स्फुट कविताएँ मिलती हैं।

रामकृष्ण वर्मा बलवीर, राधाचरण गोस्वामी, सुधाकर द्विवेदी ने भी पुरानी चाल की कविताएँ लिखीं, जिनका ऐतिहासिक विकास की दृष्टि से कोई खास महत्त्व नहीं है। रामकृष्ण वर्मा ने भारत जीवन प्रेस से अनेक पुरानी पुस्तकों को छापकर हिन्दी का बड़ा उपकार किया अन्यथा उनमें से बहुत सी पुस्तकें नष्ट हो जातीं।

अंबिकादत्त व्यास (१८५८-१६०० ई०) ब्रजभाषा के अच्छे कवि थे। वे काशी के कवि समाज के प्राण थे। इस समाज में प्रायः समस्यापूर्तियाँ होती थीं। व्यास जी की समस्यापूर्तियाँ बहुत चाव से सुनी जाती थीं। समस्यापूर्तियों को समस्यापूर्ति सर्वस्व में संगृहीत किया गया है। पावस पचासा में पावस का उद्दीपन परक वर्णन पचास कवित्त–सवैयों में हुआ है। ब्रजभाषा काव्य के कवित्त-सवैयों का लालित्य इनमें नहीं मिलेगा। सुकवि सतसई में श्रीकृष्ण की बाललीला से संबद्ध सात सौ सामान्य दोहे संगृहीत हैं। बिहारी बिहार में बिहारी के दोहों को कुंडलियों में अनूदित किया गया है। उनके अपने कवित्त, सवैया और दोहे की अपेक्षा कुंडलियाँ सरस बन पड़े हैं।

खड़ीबोली की कविता :

गद्य के लिए खड़ीबोली सुगमता से स्वीकार कर ली गई पर कविता क्षेत्र में स्वीकृत होने के लिए इसे संघर्ष करना पड़ा। हिंदी में गद्य की कोई परंपरा विकसित नहीं हुई थी। इसलिए खड़ीबोली गद्य को अपना स्थान बनाने में विलंब नहीं लगा। दैनिक जीवन के कार्यों में विचारों के विनिमय में गद्य का माध्यम ही व्यावहारिक होता है। ऐसी स्थिति में खड़ीबोली गद्य को स्वीकार करने के अतिरिक्त कोई विकल्प नहीं था। किंतु हिन्दी कविता की एक

ही परंपरा थी और उसमें अनेक परिनिष्ठित ग्रंथों का निर्माण हो चुका था। अतः उसे सहसा छोड़ देना संभव नहीं था। भारतेंदु तथा उनके समसामयिक कवियों ने गद्य में खड़ीबोली और पद्य में ब्रजभाषा का उपयोग किया।

इससे यह नहीं समझना चाहिए कि खड़ीबोली में कविता करना एकदम नई चीज थी। ईसा की नवीं शताब्दी में सिद्धों-नाथों के गद्य ग्रंथों में जिस प्रकार खड़ीबोली का प्रारंभिक रूप दिखाई पड़ता है, उसी प्रकार उनके पद्य में भी। सरहपाद के उचा उच्चा पावत तहि बसह सबरी वाली[1] बब्बर के भौंहां कविला, उच्चा निअला, मज्झा पिअला, नेत्ता जुअला[2] आदि से इसकी प्राचीनता का प्रमाण मिल जाता है। गोरखबानी, हेमचन्द्रसूरि के प्राकृत व्याकरण, देशीनाममाला आदि में खड़ीबोली के कुछ प्रयोग मिलने लगते हैं। यदि अमीर खुसरो की कृतियों को प्रामाणिक माना जाय तो यह खड़ीबोली का आदिकवि ठहरता है और इस प्रकार खड़ीबोली कविता का समारंभ १३वीं शताब्दी में हो जाता है। वे प्रसिद्ध औलिया शेख निजामुद्दीन (१२३६-१३२४ ई०) के शिष्य थे। कहा जाता है कि वे सन् १२५३ ई० में एटा में पैदा हुए थे और १३२५ ई० में उनका देहावसान हुआ। उन्होंने अपने पूर्ववर्ती कवि मसऊर का उल्लेख किया है जिसने फारसी के अतिरिक्त हिंदी में भी कविता की। मुहम्मद औफी ने अपने तजकिरे (१२२८ ई०) में लिखा है कि मसजद ने दो दीवान फारसी में और एक हिन्दवी में लिखा था। शेख फरीउद्दीन शंकरगंजी जो अमीर खुसरो के समकालीन थे उनका एक दोहा मशहूर है:—

सजन सकारे जायेंगे और नैन मरेंगे दोय।
विधना ऐसी रैन कर भोर कभी ना होय॥

१४वीं-१५वीं शताब्दी में दक्षिण में मुसलमानों की राज्य-स्थापना के साथ बीजापुर-गोलकुंडा में दक्खिनी हिन्दी को राजकीय प्रोत्साहन भी मिला। वजही गवासी, इब्नेनिशाती, बुहनिदुद्दीन जानिम, रानाती नुसरती आदि कवियों ने हिन्दवी में प्रबंध काव्य और फुटकल कविताएँ रचीं:—

सत्रहवीं शताब्दी में रचा गया प्रणामी संप्रदाय का ग्रंथ बीजत बहुत खड़ीबोली में ही है:—

१—हिन्दी साहित्य की भूमिका: हजारीप्रसाद द्विवेदी: पृ० ३४।
२—हिन्दी काव्य धारा, महापंडित आचार्य राहुल सांकृत्यायन।

नैनों नीर झरत हैं, जब लो चरचा धाम ।
रंग जरदी का आइया, और न सूझे कांम ।।[1]

१२वीं शताब्दी में महाराष्ट्र में महानुभाव पंथ का प्रवर्तन हुआ । वहीं पर तेरहवीं शती में वारेकरी पंथ का भी आविर्भाव हुआ। इन दोनों पंथ के संतों ने अपनी रचनाओं में जन भाषा खड़ी बोली का व्यवहार किया । वारकरी पंथ में नामदेव, एकनाथ, तुकाराम आदि अनेक संत हुए । नामदेव की रचना का एक नमूना दिया जाता है :—

पांडे तुमारी गायत्री
लँन्धे का खेत खाती थी ।
लेकर टेंगा-टेंगरी तेरी
लांगत-लांगत जाती थी
पांडे तुम्हारा महादेव
धौल बदल चढ्या आवत देखा था ।।
मोदी के घर खाना पाका
वा का लड़का मार्‌या था ।[2]

हिन्दी के संतकवियों में कबीर, दादू, सुन्दरदास, मलूक, धरनीदास, दरिया-साहब, पलटू आदि की रचनाओं में खड़ीबोली का पर्याप्त पुट मिलता है । ये संत प्राय: पढ़े-लिखे नहीं थे । कुछ ने तो मसि कागद भी नहीं छुआ था । अत: उन्होंने अपने मत के प्रचारार्थ लोकभाषा का आश्रय लिया । इनकी रचनाओं में अनेक बोलियों का संमिश्रण मिलता है । सगुणोपासक में मीरा की रचनाओं में भी खड़ीबोली का पुट देखा जा सकता है ।

खड़ीबोली की दृष्टि से रीतिकाल में दो प्रकार के कवि देखे जाते हैं— एक तो वे जिनके काव्यों में बीच-बीच में खड़ीबोली का मिश्रण मिल जाता है, दूसरे वे जिन्होंने ब्रजभाषा के साथ खड़ीबोली में भी काव्य रचना की है । पहली श्रेणी में जटमल, वृन्द, ग्वाल, भूषन, सूदन आदि आते हैं । दूसरी श्रेणी में आलम, घनआनंद, प्रतापसिंह देव, नजीर, वृन्दावन जैन, ललित किशोरी आदि ।

मुसलमान कवियों में तालिबशाह, शेख मुल्लन, हैदर, खैराशाह आदि उल्लेखनीय हैं । उन्होंने प्राय: गजल, तुर्रे, ख्याल, लावनी और रेखते लिखे हैं ।

भारतेंदु समय में एक ओर गद्य में खड़ीबोली का व्यवहार हो रहा था दूसरी ओर पद्य की भाषा ब्रजभाषा ही बनी हुई थी । किंतु खड़ीबोली लोक रागों—लावनी,

---

१—बीतक : सं० डा० माताबदल जायसवाल : पृ० ६२ ।
२—ग्रंथ साहित्य : पृ० ८७५ ।

खयाल, तुर्रा, ठुमरी---में अपना स्थान बना चुकी थी । १९वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में नत्थासिंह तालिब, बाबा रामकरन गिरि, बाबा संभुपुरी, रामप्रसाद आदि तुर्रे वाले थे । कलंगी सम्प्रदाय के बाबा बनारसीदास प्रसिद्ध लावनीबाज थे ।

भारतेंदु तथा उनकी मंडली के लोग उनसे अप्रभावित न रह सके । उन्होंने भी लावनियों और कजलियों की रचना की । ठुमरियों, संगीतों और नौटंकियों से भी जनता का मनोरंजन हो रहा था । किंतु ठुमरियों संगीतों (अमानत की इन्दर सभा ५३ ई०) में कुत्सित दरबारी रुचि का प्राधान्य था । कदाचित् इनके प्रतिकार में भारतेंदु प्रताप नारायण मिश्र आदि ने जातीय संगीत लिखा ।

लेकिन भारतेंदु तथा उनके सहयोगियों को परिनिष्ठित पद्य रचना के लिए खड़ीबोली ग्राह्य नहीं हुई । ब्रजभाषा में लिखी गई कविताओं को उन लोगों ने समसामयिक विषयों की ओर मोड़ा नीलदेवी भारत दुर्दशा आदि नाटकों में समाविष्ट कविताओं में कहीं देश के अतीत का गौरव गान मिलेगा तो कहीं वर्तमान की गिरावट के प्रति आक्रोश-क्षोभ । प्रतापनारायण मिश्र ने गोरक्षा, बुढ़ापा आदि विषयों पर भी कविताएँ लिखीं । प्रेमघन ने दादा भाई नौरोजी के पार्लियामेंट के मेम्बर होने पर, नागरी के कचहरियों में प्रवेश पाने पर अपने हर्षोद्‌गार प्रकट किए । विषय की नवीनता तथा समसामयिक जीवन को वाणी देने की दृष्टि से ही इनका मूल्य हो सकता है काव्य की दृष्टि से उन्हें महत्वपूर्ण नहीं माना जा सकता । किंतु ब्रजभाषा की पारंपरिक कविताओं के परिमाण को देखते हुए इस तरह की कविताएँ संख्या में कम हैं । वस्तुतः नए भावों को व्यक्त करने के लिए नई भाषा की आवश्यकता थी और उन लोगों ने काव्य के क्षेत्र में उसे स्वीकार नहीं किया । इसलिये गद्य की उस समय की रचनाओं में नए युग का तेवर दिखाई देता है । किन्तु पथ में मध्यकालीन प्रवृत्तियाँ ही नजर आती हैं ।

लेकिन बहुत दिनों तक किसी भी साहित्य का गद्य एक बोली में और पद्य दूसरी बोली में नहीं लिखा जा सकता । इस दिशा में श्रीधर पाठक की पहल सर्वाधिक प्रशंसनीय है । उन्होंने एकान्तवासी योग (१८८६ ई०) और जगत-सचाईसार (१८८७ ई०) खड़ीबोली में लिखा ।

मुजफ्फरपुर के निवासी अयोध्याप्रसाद ने खड़ीबोली में पद्य लिखने का आन्दोलन ही खड़ा कर दिया । उनके कार्यों की प्रशंसा करते हुए महावीर प्रसाद द्विवेदी ने लिखा था :

'इस विषय की ओर पहले पहल बाबू अयोध्या प्रसाद जी का ध्यान गया । बोलचाल की भाषा में कविता अवश्य होनी चाहिए ।' खत्री जी ने खड़ी बोली की पद्य पुस्तक, जिसमें अनेक व्यक्तियों के खड़ीबोली के पद्य संगृहीत हैं, सन्

१८८७ ई० में प्रकाशित की। भारतेंदु का हवाला देते हुए प्रतापनारायण मिश्र और ग्रियर्सन ने इस तरह के प्रयास को कोई अहमियत नहीं दी।

मुंशी जी के इस आन्दोलन का विरोध ब्रजभाषा के प्रेमियों ने किया। उनकी मुंशी स्टाइल को, आदर्श स्टाइल स्वीकार करना श्रीधर पाठक को भी, जो खड़ी बोली के प्रबल समर्थक थे, अच्छा नहीं लगा। इस आन्दोलन को लेकर हिन्दोस्थान में (नवंबर १८८७ ई० से अप्रैल १८८८) काफी वाद विवाद चला। इस विवाद में अयोध्याप्रसाद खत्री और श्रीधर पाठक ने खड़ीबोली का पक्ष लिया तो प्रतापनारायण मिश्र और राधाकृष्ण गोस्वामी ने ब्रजभाषा का।

यह विवाद अपनी जगह था किन्तु भारतेंदु मंडल के प्रायः सभी लोग ब्रजभाषा और खड़ीबोली दोनों में कविता लिखते रहे। इस आन्दोलन से खड़ी-बोली का पक्ष प्रबल हुआ और उसके विरोध का स्वर मंद पड़ता गया। फिर भी सरस्वती के प्रकाशन के समय तक पद्य के क्षेत्र में पर्याप्त अव्यवस्था और द्विविधा बनी रही। गद्य की व्यवस्था का कार्य भी 'सरस्वती' के माध्यम से ही हुआ।

पूर्व-स्वच्छन्दतावादी-युग (१६००-१६१८)

अध्याय पाँच

पूर्व-स्वच्छन्दतावादी युग

स्वच्छन्दतावाद की एक क्षीण धारा भारतेंदु तथा उनके समकालीन लेखकों की कविताओं, निबंधों, उपन्यासों और नाटकों में देखी जा सकती है। पुनर्जागरण की कौंध की चमक सन् '४० तक की रचनाओं में मिलती है।

पुनर्जागरण के कारण इस देश के लोगों को एक दृष्टि मिली। इससे उन्हें अपनी विशिष्टता को पहचानने और बदलने का अवसर प्राप्त हुआ। इस पहचान के दो धरातल थे, सांस्कृतिक--राजनीतिक और वैयक्तिक। पहले धरातल पर बदली हुई परिस्थितियों में रूढ़ियों अंधविश्वासों को नकार कर ठहराव और गतिरोध से आगे बढ़कर गत्यात्मक बनने की कोशिश की गई। इस अवरोध को गोखले और तिलक ने अपने वक्तव्यों में बार-बार रेखांकित किया है। उदाहरण के लिए गोखले का एक वक्तव्य (१८९५) उद्धृत किया जा सकता है जिसमें कहा गया है कि 'वर्तमान (राजनीतिक) व्यवस्था के प्रभाव से भारतीय जाति का विकास अवरुद्ध हो रहा है'। दूसरे धरातल पर वैयक्तिकता के परि-प्रेक्ष्य में पहचान की अनुभूति को गहरा बनाया गया।

जातीय विकास के अवरोध को दूर करने के लिए प्रयास जारी था। सन् १९०५ में वंग-विच्छेद से असंतोष की जो लहर फैली उससे स्वदेशी को प्रतिष्ठा मिली। १९०४ में जापान ने रूस को हराया। एशियाई देशों पर इसका गहरा मनोवैज्ञानिक प्रभाव पड़ा। श्वेत जातियों के प्रति उच्चता की भावना बहुत कुछ टूट गई। अपनी भाषा, संगीत और चित्रकला के नवोत्थान की ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट हुआ। संगीत के क्षेत्र में भातखंडे और चित्र के क्षेत्र में अवनीन्द्रनाथ ठाकुर ने नया प्रवर्तन किया।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने पहले ही आवाज लगाई थी--'निज भाषा उन्नति अहै सब उन्नति कौ मूल।' इस युग में इस तथ्य पर साहित्यकारों का--विशेष रूप से महावीर प्रसाद द्विवेदी का--ध्यान आकृष्ट हुआ। पुनर्जागरण युग में अतीत के प्रति जो नव निष्ठा व्यक्त की गई वह द्विवेदी मंडल के लोगों में भी देखी जा सकती है। किन्तु दोनों युगों की अतीतोन्मुखता में अन्तर था। इस युग में अतीत को समाज के वृहत्तर आयामों के साथ समाविष्ट किया गया। इसके प्रमाण में मैथिलीशरण गुप्त के काव्य-साहित्य को उदाहरित किया जा सकता है। इनकी रचनाओं में परंपरा के प्रति आग्रह भी था पर समसामयिकता के

कारण जितना टूट सकता था उतना टूटा भी। भाषा में सफाई, सपाटता और भावनामयता विशेष रूप से द्रष्टव्य है। भावनामयता स्वच्छन्दतावादी अनुभूति के आसपास पड़ती है।

इस युग में ही वैयक्तिकताप्रधान अनुभूतिमूलक साहित्य-धारा भी विकसित हुई। श्रीधर पाठक, मुकुटधर पांडेय, रामनरेश त्रिपाठी, बालमुकुन्द गुप्त आदि इसके प्रवर्तक हैं। प्रकृति-चित्रण, कल्पना, उदासी, भग्नावशेषों के प्रति ललक उनकी रचनाओं में मिलती है। वस्तुतः इस काल के लेखकों ने जमीन बनाने का काम किया। गंभीर और अर्थवान रचनाओं की दृष्टि से इस काल का अधिक महत्त्व नहीं है।

जमीन तैयार करने के लिए सामूहिक ढंग पर साहित्य के प्रसार-प्रचार के लिए कुछ करने की जरूरत थी। सन् १८९३ ई० में श्यामसुन्दरदास, रामनारायण मिश्र और शिवकुमार सिंह के उद्योग से नागरीप्रचारिणी सभा की स्थापना हुई। इस सभा ने विभिन्न विषयों के ग्रंथों का प्रकाशन, हिन्दी के हस्तलिखित ग्रंथों की खोज, नागरीप्रचारिणी पत्रिका का प्रकाशन, आर्यभाषा पुस्तकालय की प्रतिष्ठा, हिंदी साहित्य सम्मेलन का संस्थापन आदि अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य किए। सम्मेलन की स्थापना के बाद सभा ने अपना ध्यान हिंदी साहित्य की संवृद्धि में लगाया और प्रचार का कार्य सम्मेलन ने सँभाला।

सरस्वती का प्रकाशन :

सन् १८९९ में इंडियन प्रेस, इलाहाबाद के स्वामी चिंतामणि घोष ने हिन्दी में एक मासिक पत्रिका निकालने का निश्चय किया। उन्होंने सभा से अनुरोध किया कि उसका सम्पादनभार वह स्वयं ग्रहण करे। सभा ने इसके लिए एक संपादक मंडल गठित किया। इस मंडल के सदस्य थे——श्यामसुन्दरदास, राधाकृष्णदास, जगन्नाथदास, कार्तिकप्रसाद और किशोरीलाल गोस्वामी। एक वर्ष तक (१९०० ई०) यही संपादक मंडल कार्य करता रहा। सन् १९०१ में इस कार्य का दायित्व श्यामसुन्दरदास पर पड़ा। किंतु १९०२ के अंत में उन्होंने भी अपने को संपादन कार्य से मुक्त कर लिया।

सन् १९०३ में चिंतामणि घोष ने यह कार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी को सौंपा। द्विवेदी जी ने जिस लगन, निष्ठा, योग्यता और परिश्रम से 'सरस्वती' का संपादन किया वह पत्रकारिता के इतिहास में अत्यंत विरल है। इसके माध्यम से उन्होंने गद्य की भाषा को व्यवस्थित किया। अभी तक पद्य की भाषा ब्रजभाषा बनी हुई थी। किन्तु उन्होंने गद्य की भाँति पद्य की भाषा के लिए भी खड़ीबोली को चुना। इस प्रकार गद्य-पद्य की भाषा की विभाजक रेखा को मिटा कर उनके एकीकरण का जो कार्य संपन्न हुआ, उसका बहुत अधिक महत्त्व है। अनेक कवि लेखकों को प्रोत्साहित-प्रतिष्ठित करने का श्रेय भी 'सरस्वती' को ही है।

विषयों के चुनाव की दृष्टि से 'सरस्वती' ने जो व्यापक दृष्टिकोण अपनाया वह व्यावहारिक और सामयिक था। 'सरस्वती' के अंकों में प्रायः संस्कृत या हिन्दी के किसी प्राचीन कवि की परिचर्चा और हिन्दीतर भाषा के किसी सामयिक कवि-लेखक का परिचय, इतिहास-पुरातत्त्व के किसी उन्नत काल का विवरण, यात्रा, भूगोल, स्थान वर्णन, उद्योगपति समाज सुधारक की जीवनी, चित्र-परिचय देशोन्नति से संबद्ध समस्याओं पर लेख, राजनीतिक आर्थिक प्रश्नों के संबंध में सरकार से निवेदन, बालक-वनितोपयोगी सामग्री, टिप्पणियाँ, सामयिक हलचलों का उल्लेख, कहानियाँ, कविताएँ, पुस्तक-समीक्षा आदि को देखा जा सकता है।

यदि भारतेंदु हरिश्चन्द्र की पत्रिका से 'सरस्वती' की तुलना की जाय तो यह उससे सर्वथा भिन्न तो नहीं मिलेगी पर इसमें समसामयिकता के प्रति विशेष ध्यान दिया गया है। 'कविवचन सुधा', 'हरिश्चन्द्र मैगजीन' की परिहासप्रियता के स्थान पर यह मध्यवर्गी समाज की नैतिक चेतना (मोटी नैतिकता) के परिष्कार के प्रति अधिक जागरूक थी।

'सरस्वती' में पुराने ढंग की कविताओं और समस्या-पूर्तियों के स्थान पर खड़ीबोली की कविताएँ छपने लगी थीं। नई भाषा और कविता के विषय नए थे। द्विवेदी जी का जन्म दौलतपुर, रायबरेली में १८६४ ई० में हुआ था। वे लड़कपन से ही अत्यंत परिश्रमी और कर्मनिष्ठ थे। रेलवे में नौकरी करते समय भी उनकी कार्य-निष्ठा ने उनकी पदोन्नति की। बंबई में रहकर उन्होंने मराठी का अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया था। किंतु अपने 'बाँस' से मतभेद हो जाने पर उन्होंने नौकरी को लात मार दी। 'सरस्वती' के संपादन का भार सँभालने पर साहित्य लेखन और संपादन के क्षेत्र में भी उन्होंने रेलवे की ही नियमितता बरती।

द्विवेदी जी ने अनुभव किया कि रीतिकालीन काव्य-वस्तु और शैली पुरानी ही नहीं पड़ गई है बल्कि अनुपयोगी और जड़ हो गई है। हिन्दी काव्य को उन्होंने उपयोगिता से संबद्ध किया। भारतेंदु और उनके मंडल के कवियों ने खड़ीबोली में जो कुछ लिखा उसमें ब्रजभाषा, भोजपुरी के शब्दों का ही मिश्रण नहीं था बल्कि संज्ञाओं और क्रियारूपों में भी अनेक विकृतियाँ आ गई थीं। विभक्तियाँ हटाने के लिए संधियों का रूप भी बिगाड़ दिया गया था। उदाहरणार्थ :— दुनिये (दुनिया), असिल (असली), नेंव (नींव), इस्से, उस्से, जिस्से, तिस्पर, उचितादेश, प्रगटायें, प्रचारों, हरसाना आदि शब्दों को देखा जा सकता है। अम्बिकादत्त व्यास के मतानुसार यह के स्थान पर य और वह के स्थान पर व लिखा जा सकता था। भाषा संबंधी इस अव्यवस्था को दूर करने की जो कोशिश द्विवेदी जी ने की वह साहित्य के इतिहास में चिरस्मरणीय रहेगी।

द्विवेदी जी का कहना है कि, कविता का विषय मनोरंजक एवं उपदेशजनक होना चाहिए। यमुना के किनारे केलि कौतूहल का अद्भुत वर्णन बहुत हो चुका। न परकीयाओं पर प्रबंध लिखने की अब कोई आवश्यकता है और न स्वकीयाओं के 'गतागत' की पहेली बुझाने की। चींटी से लेकर हाथी पर्यन्त, भिक्षुक से लेकर राजा पर्यन्त मनुष्य, बिन्दु से लेकर समुद्र पर्यन्त जल, अनंत आकाश, अनंत पृथ्वी, अनन्त पर्वत–सभी पर कविता हो सकती है।' (रसज्ञ रंजन)।

काव्यभाषा के संबंध में उनका विचार था कि कवि को ऐसी भाषा लिखनी चाहिए जिसे सब कोई सहज में समझ ले––जो काव्य सर्वसाधारण की समझ के बाहर होता है वह बहुत लोकमान्य नहीं होता।

काव्यभाषा के संस्कार-परिष्कार के साथ-साथ उन्होंने स्वयं कविताएँ लिखीं। अपनी काव्य-प्रतिभा के संबंध में वे 'मोग़ालते' में नहीं थे। उनका मुख्य कार्य खड़ीबोली कविता को नाना विषयों और शैलियों की ओर उन्मुख करना तथा उसकी भाषा को संस्कार देना था।

उन्होंने संस्कृत की काव्य माधुरी और वृत्तों को हिंदी में अवतरित करने के लिए कुछ रचनाओं का अनुवाद किया। विनय-विनोद (भर्तृहरि के वैराग्यशतक का दोहों में अनुवाद), विहार-वाटिका (जयदेव के गीतगोविन्द का संक्षिप्त अनुवाद), स्नेहमाला (भर्तृहरि के शृंगारशतक का दोहों में अनुवाद),। श्री महिम्न स्तोत्र (संस्कृत महिम्न स्तोत्र का अनुवाद), गंगालहरी (पंडितराज जगन्नाथ की गंगालहरी का सवैया छंद में अनुवाद), ऋतुतरंगिणी (कालिदास के ऋतुसंहार का छायानुवाद) ऐसे ही ग्रंथ हैं। उनके मौलिक पद्य-ग्रंथ हैं—देवीस्तुतिशतक, कान्यकुब्जावलीव्रतम्, समाचारपत्र संपादकस्तव, नागरी, काव्यमंजूषा, कान्यकुब्ज अबला-विलाप, सुमन, द्विवेदी काव्यमाला और कविता-कलाप, (द्विवेदी जी द्वारा संपादित, महावीर प्रसाद द्विवेदी, देवीप्रसाद पूर्ण, नाथूराम शर्मा शंकर, कामताप्रसाद गुरू, मैथिलीशरण गुप्त की रचनाओं का संग्रह)।

वर्ण्य विषय की दृष्टि से उनकी कविताओं को चार कोटियों में बाँटा जा सकता है—देशभक्ति, आध्यात्मिक, समाज की अधोगति और हास्य-व्यंग्यपूर्ण अन्योक्तियाँ। किंतु ये सभी रचनाएँ इतिवृत्तात्मक है। इसके कई कारण हैं। सच तो यह है कि उनमें कवि-प्रतिभा का अभाव था। उनके उपयोगितावादी दृष्टिकोण के कारण भी काव्य में अपेक्षित सरसता नहीं आ सकी। खड़ीबोली पद्य का यह आरंभिक काल था। इसलिए उनका वर्णनात्मक होना स्वाभाविक था। किसी भी भाषा में भावाभिव्यंजन की क्षमता आते-आते आती है।

द्विवेदी जी की प्रारंभिक कविताओं में––वलीवर्द, विधि विडंबना, हे कविते

आदि में——भाषा की संकरता प्रचुर मात्रा में मिलती है। शब्दों के प्रयोग में न तो परिनिष्ठता है और न एकरूपता। ब्रजी से अभी उन्हें छुट्टी नहीं मिली थी। शब्द-रूपों, संधियों और क्रियापदों में भी मनमानापन दिखाई देता है। थिर, मिटाय, तपि, अकुलानी, योज्ञता, मूरखताई आदि सदोष प्रयोग है। नामधातु की संयुक्तता को उन्होंने कविता में प्रयुक्त करना पसंद नहीं किया। किंतु इसे दोष न मानकर भाषा की अभिव्यंजनाशक्ति का सहायक समझना चाहिए—'अवगाहा', 'स्वीकारा' ऐसे ही शब्द हैं। बाद में वे भाषा की व्याकरण सम्मत शुद्धता के प्रति सावधान हो गए।

श्री गणेश प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है——"सुप्रसिद्ध अंग्रेजी कवि वर्डस्वर्थ के नवीन सिद्धान्त——गद्य और पद्य का पद-विन्यास एक ही प्रकार का होना चाहिए——का पालन द्विवेदी जी यथाशक्ति करने लगे' और दूसरे भी उनकी प्रेरणा से ऐसा करने पर बाध्य हुए। परंतु जैसा कि सब साहित्य मर्मज्ञ समझते हैं वर्ड्स्वर्थ स्वयं अपने सिद्धांत का पालन अपनी सर्वोत्कृष्ट कविताओं में नहीं कर सका था, उसी प्रकार द्विवेदी जी भी सब जगह इस सिद्धांत का निर्वाह नहीं कर सके हैं। किन्तु सिद्धांततः वे इसके पक्ष में थे कि यथासंभव संस्कृत के क्लिष्ट शब्दों का प्रयोग कम होना चाहिए।

"वे भावानुकूल छन्द योजना के पक्षपाती थे। द्रुतविलंबित, वंशस्थ, वसंत-तिलका आदि संस्कृत वृत्तों के अतिरिक्त हिन्दी और उर्दू के छन्दों का प्रयोग भी उन्हें स्वीकार्य था। इस प्रभाव से यह हुआ कि हिन्दी कविता गिने-चुने छंदों के बाहर जाकर नए-नए छंदों में ढलने लगी।"[१]

बँगला के मेघनादवध और मराठी के यशवंतराय महाकाव्य की ओर ध्यान आकृष्ट करते हुए उन्होंने लिखा है 'यदि मेघनादवध अथवा यशवंतराय महाकाव्य वे नहीं लिख सकते तो उनको ईश्वर की निस्सीम सृष्टि में से छोटे-छोटे सजीव अथवा निर्जीव पदार्थों को चुनकर उन्हीं पर छोटी-छोटी कविताएँ करनी चाहिए क्योंकि इस प्रकार की कविताओं का हिंदी में अभाव है।' इससे प्रभावित होकर हिन्दी के कवियों का ध्यान पौराणिक कथानकों को नए रूप में प्रस्तुत करने की ओर गया। यद्यपि हिन्दी के कवि माइकेल मधुसूदन दत्त की भाँति यूनानी पुराण-गाथा की कलम अपनी पुराण-गाथा में नहीं लगा सके फिर भी युगानुरूप उसमें परिवर्तन किया। हरिऔध और मैथिलीशरण गुप्त ने इस दिशा में महत्त्व के कार्य किए हैं। गुप्त जी ने पौराणिक कथाओं के आधार पर खंडकाव्यों की भी रचना की है और निबंध काव्यों की भी।

१——हिन्दी सर्वे कमेटी की रिपोर्ट : १९३०, भूमिका, पृ० ८५।

मैथिलीशरण गुप्त (१८८६ ई०-१९६४ ई०) :

महावीर प्रसाद द्विवेदी के आदर्शों, मान्यताओं और तपश्चर्या की फलश्रुति थे मैथिलीशरण गुप्त। पूरे दो दशकों पर महावीर प्रसाद द्विवेदी का निर्बाध आचार्यत्व छाया रहा। काव्य-रचना की दृष्टि से उनकी कमी की पूर्ति गुप्त जी ने की। इन दो दशकों का पूर्ण प्रतिनिधित्व गुरु-शिष्य करते हैं। उनकी पहली कविता 'हेमंत' सरस्वती (१९०५) में प्रकाशित हुई। द्विवेदी जी के प्रोत्साहन के फलस्वरूप उन्होंने पाँच-छह वर्षों में ही पौराणिक-ऐतिहासिक चित्रों तथा देश-काल, धर्म-समाज से संबद्ध अनेक रचनाएँ लिख डालीं।

द्विवेदी जी की तरह गुप्त जी भी गाँव—चिरगाँव—के रहने वाले थे। उनकी स्कूली शिक्षा भी मामूली तौर पर ही हुई थी। किंतु उस पीढ़ी में अद्भुत जीवट, कर्मठता और संकल्प शक्ति थी। ये विशेषताएँ उनके जीवन और काव्य-संघर्ष दोनों में परिलक्षित होती हैं।

गुप्त जी के परिवार और परिवेश दोनों पर गहरा वैष्णवी रंग था। उनके पिता माधुर्यभाव से उपासना करते थे। गुप्त जी की दीक्षा भी इसी संप्रदाय में हुई थी। उनके परिवेश में जो गांधीवादी विचारधारा परिव्याप्त थी उसका मेरुदंड भी वैष्णवी था। किंतु जो भक्ति उन्हें विरासत में मिली उसका वैष्णवपन देश-काल के मेल में नहीं था। गुप्त जी ने उसे संशोधित कर मर्यादा पुरुषोत्तम को अपना आराध्य बनाया। गांधी जी के आदर्श भी राम ही थे। उनकी राज्य-कल्पना रामराज्य की कल्पना थी। वह युग एक मर्यादा और संयम से बँधा हुआ अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर हो रहा था। गुप्त जी का काव्य मर्यादा और संयम की डोर से बँधा हुआ नए जागरण का मंत्र फूँकने में सर्वथा समर्थ सिद्ध हुआ।

अभी तक हिन्दी खड़ीबोली का काव्य नवीन युग चेतना को नहीं अपना पाया था। गुप्त जी पहले कवि हैं जिन्होंने अपने समसामयिक नैतिक, धार्मिक, राष्ट्रीय आकांक्षाओं को वाणी देकर खड़ीबोली काव्य को युगीन चेतना से जोड़ा। इसी अर्थ में वे राष्ट्रकवि हैं।

इससे यह समझना नहीं चाहिए कि गुप्त जी ने पुराने आदर्शों में कोई क्रांतिकारी परिवर्तन किया है। उन्हें पुराने नैतिक मूल्यों में अटूट आस्था थी, अतीत के प्रति प्रबल आकर्षण था। किंतु वर्तमान की समस्याओं के प्रति वे पूर्णतः जागरूक थे।

गुप्त जी ने माइकेल मधुसूदन दत्त के मेघनादवध, विरहिणी ब्रजांगना और वीरांगना का अनुवाद किया। यह नवीन के प्रति उनकी अभिरुचि का प्रमाण है। माइकेल की अभिरुचियों के साथ उनका तालमेल नहीं बैठता। मधुसूदन

दत्त ने भी अपने काव्य के लिए अतीत की कथाएँ चुनी हैं पर उनके आदर्शों को आश्चर्यजनक ढंग से उलट दिया है। उनका विद्रोह और तीखापन आज भी पुराने ढंग के विचारकों के गले से नीचे नहीं उतरता। दत्त केवल विषय-वस्तु और दृष्टि में ही विप्लवी नहीं हैं बल्कि काव्यशैली में भी क्रांतिकारी हैं।

गुप्त जी की काव्य रूढ़ि पुरानी है पर उस पर रंग नया है और जो कुछ नया है उसका मूलाधार पुराना है। वे काव्य में रस, अनुभव, काव्य गुण, छंद निर्वाह पर ध्यान देने के आग्रही हैं। शृंगार-रस के अन्तर्गत दाम्पत्यप्रेम की अभिव्यक्ति तक ही वे अपने को सीमित रखते हैं। उनके काव्य का प्रयोजन है लोकहित, मनुष्य के मन में सद्भावों का संचार, ज्ञान का प्रकाश। अपने प्रयोजन की सिद्धि के लिए वे उत्कृष्ट विषयों का चयन करते हुए उन्हें अपने समसामयिक समस्याओं से संदर्भित करते हैं।

गुप्त जी जिस राष्ट्रीय चेतना को लेकर काव्यक्षेत्र में अवतीर्ण हुए वह भारतेंदु तथा उनके समसामयिक कवियों की काव्य-चेतना से किंचित् भिन्न है। उस समय के कवि करुणा विगलित स्वर में या तो करुणानिधि केशव को जगा रहे थे या अपने अतीत गौरव का स्मरण कर गंगा-यमुना से मथुरा-काशी को डुबो देने की प्रार्थना करते थे। चित्तौड़ को अपने समसामयिक संदर्भ में रखकर उनके मन में मायूसी छा जाती थी। किंतु गुप्त जी के प्रथम काव्य 'रंग में भंग' (१९०९) चित्तमें ौड़ का स्मरण दूसरे ढंग से किया गया है—

आज भी चित्तौर का सुन नाम कुछ जादूभरा।
चमक जाती चंचला सी चित्त में करके त्वरा॥

अंधकार में बिजली की चमक क्षणभर के लिए ही सही प्रकाश बिखेर जाती है और चित्त को बेचैन बना देती है। इस संदर्भ में 'जयद्रथ वध' (१९१०) और 'भारत-भारती' (१९१२) जो रंग में भंग के बाद लिखी गईं, भी विचारणीय हैं। दोनों की आरंभिक पंक्तियाँ हैं—

फिर पूर्वजों की शिक्षा तरंगों में बहो।

—जयद्रथ वध

हम कौन थे, क्या हो गये, और क्या होंगे अभी।
आओ विचारें आज मिलकर ये समस्याएँ सभी॥

—भारत भारती

कवि पूर्वजों की दिव्य झाँकी प्रस्तुत करते हुए उनसे शिक्षा ग्रहण करने का संदेश देता है और हमें भूत, वर्तमान और भविष्य के संबंध में विचार करने के लिए प्रेरित करता है। 'रंग में भंग' में बूँदी का हाड़ा चित्तौड़ के महाराणा के प्रतिज्ञा पालन के निमित्त बने बूँदी के कृत्रिम दुर्ग को तब तक नहीं तोड़ने देता

जब तक उसके शरीर में प्राण शेष था। मातृभूमि की प्रतिमा के प्रति भी यह निर्व्याज ममता, उस युग क्या इस युग के लिए भी समान रूप से महत्त्वपूर्ण है। जयद्रथ वध में अभिमन्यु उस युवापीढ़ी का प्रतिनिधि है जो राष्ट्रीय यज्ञ में, महारथियों के अभेद्यचक्र की चिन्ता न करते हुए अपनी बलि चढ़ा देती है। 'भारत भारती' तो उस समय की राष्ट्रीय भावना का सिसिमोग्राफ है। इसे लिखने की प्रेरणा उन्हें 'मुसद्दसे–हाली' और कैफी के 'भारत दर्पण' से मिली। पहली में मुसलमानों के सांस्कृतिक जागरण की अभिव्यक्ति की गई है और दूसरी में हिन्दुओं के सांस्कृतिक उत्थान की।

गुप्त जी ने शैली हाली से ली और जमीन कैफी से। इसमें तत्कालीन राष्ट्रीय चेतना, वर्तमान की हीनभावना के संदर्भ में अतीत का गौरव और प्रकारान्तर से भविष्य का संकेत चित्र है। इसमें हिन्दू जातीयता की गंध खोजने वालों को जानना चाहिए कि भारतीय राष्ट्रीय चेतना का प्रारंभिक स्रोत, हिन्दू-धर्म की पुनरुत्थानवादी भावना ही है। छायावाद के पूर्व तक इसकी प्रगतिशीलता असंदिग्ध बनी रही। सरल, सुबोध और इतिवृत्तात्मक शैली में समसामयिक जीवन को खड़ीबोली में बाँधकर उसकी अभिव्यक्ति क्षमता और छंद-संगीत को इस ढंग से उजागर किया गया कि शिक्षित युवावर्ग पर इसका उद्‌बोधनात्मक प्रभाव पड़ा। समसामयिक चेतना के प्रति अत्यधिक आग्रह ने इसकी काव्यात्मक क्षमता को बहुत कम कर दिया। किंतु खड़ीबोली की काव्यात्मक संभावनाओं का द्वार उन्मुक्त हो गया। इस ढंग पर लिखा गया 'हिन्दू' उनका दूसरा काव्य है जो हिन्दुओं के जागरण तक सीमित होने के कारण समादृत नहीं हो सका। 'राजा-प्रजा' में जो बहुत बाद में लिखा गया है, लोकतंत्र और उसके उज्ज्वल पक्ष को संवाद-शैली में प्रस्तुत किया गया है। यह उनकी कालानुसारी चेतना का सबूत है। एक छोर पर 'भारत-भारती' में अविकसित राष्ट्रीय चेतना, जिसे उदारदल का भावबोध कहा जा सकता है, चित्रित हुई है तो दूसरे छोर पर राष्ट्रीयता का पूर्ण विकास लोकतंत्र के आधार पर। इनके माध्यम से गुप्त जी की अपनी राजनीतिक चेतना के साथ-साथ पूरे युग की राजनीतिक चेतना का विकास देखा जा सकता है।

सन् १९०३ तक गुप्त जी के काव्य का विकास-काल है। '३१ में प्रकाशित 'साकेत' उनकी काव्य-चेतना की चरमोपलब्धि है। 'भारत भारती' और 'साकेत' के प्रकाशन के मध्यवर्तीकाल में शकुंतला, पत्रावली, वैतालिक, किसान, अनघ, पंचवटी, स्वदेश संगीत, हिन्दू, त्रिपथगा, शक्ति, विकटभट, गुरुकुल और झंकार के प्रकाशन हुए। 'पंचवटी' और 'झंकार' को छोड़कर शेष रचनाओं में कवि भावनात्मकता (सेंटीमेंटलिटी) से मुक्त नहीं हो पाया है। अधिकांश

रचनाओं में वह समसामयिक राजनीतिक विचारों का वैतालिक दिखाई पड़ता है।

'साकेत' गुप्त जी की साधना की चरमोपलब्धि है। इसमें अपने युग के जीवन को समग्रतः चित्रित करने का प्रयास किया गया है, यह दूसरी बात है कि उनका युगबोध सामान्यतः सतह का ही है। इसमें द्विवेदी युगीन नीतिमत्ता, आदर्श, पुनरुत्थानवादी सांस्कृतिक चेतना मानवतावादी मान को प्रत्यक्षतः देखा जा सकता है।

'साकेत'-रचना की मूल प्रेरणा उन्हें महावीर प्रसाद द्विवेदी के एक लेख 'कवियों की उर्मिला-विषयक उदासीनता' से मिली जो 'सरस्वती' १९०८ की जुलाई में भुजंगभूषण भट्टाचार्य के छद्म नाम से छपा था। स्वयं द्विवेदी जी का लेख रवीन्द्रनाथ टैगोर के लेख 'काव्य की उपेक्षिताएँ' से प्रभावित था। द्विवेदी जी ने लिखा था, 'खेद की बात है कि उर्मिला का उज्ज्वल चरित्र-चित्र कवियों के द्वारा आज तक उसी तरह ढकता आया।' इससे अनुप्रेरित होकर उर्मिला विषयक कई काव्य लिखे गए। हरिऔध ने 'उर्मिला,' नवीन ने 'विस्मृता उर्मिला' गुप्त जी ने 'उर्मिला' की रचना की। पर साकेत काव्य का लेखन सन् १९१४ से समारंभ होता है। इन सभी प्रयासों का मूल प्रेरक तत्त्व नारी के संबंध में बदली हुई भावना थी। उर्मिला अपनी पारंपरिक गरिमा के लिए नवीन है।

उर्मिला को केन्द्रवर्ती विन्दु मान लेने पर समस्त रामायणी कथा उसके चतुर्दिक घूमने के लिए बाध्य हो जाती है। फलस्वरूप 'साकेत' का कथ्य और रूप दोनों में अपेक्षित परिवर्तन आवश्यक हो गया। लेकिन इसका नाम उर्मिला न रखकर साकेत क्यों रखा गया? संभवतः कवि उर्मिला को साकेत के नर-नारियों, नदी-कछारों, प्रातः, दुपहर, संध्या, रात्रि, लोग-बाग की चर्चाओं और समस्याओं आदि से संबद्ध करना चाहता था। अन्यथा उर्मिला की चारित्रिक पूर्णता संभव नहीं थी। ऐसा करने के लिए वह बाध्य था क्योंकि उर्मिला की सीमा साकेत की सीमा थी। चित्रकूट को प्रत्यक्ष कथा का अंग बनाने का कारण यह था कि एक विशेष अवसर पर साकेत का पूरा समाज चित्रकूट में ही था। उस समाज के अतिरिक्त साकेत और क्या हो सकता था? गोस्वामी तुलसीदास ने भी चित्रकूट की घटना को अयोध्याकांड के ही भीतर रखा है।

इस नाम के फलस्वरूप रामायणी कथा का मुख्य आधार लेते हुए भी साकेत का स्वतंत्र अस्तित्व प्रतिष्ठित हो सका है। कथा का आरंभ अयोध्या के राजभवन में होने वाले लक्ष्मण-उर्मिला के विनोद से होता है। इसके पश्चात् कैकेयी-मंथरा-संवाद, राम-वन-गमन, चित्रकूट-सभा आदि की घटनाएँ आठ सर्गों तक चलती

हैं। नवें सर्ग में उर्मिला का वियोग वर्णन है। दसवें सर्ग में सरयू को संबोधित करती हुई उर्मिला अपने जन्म से लेकर स्वयंवर तक की कथा स्मृति संचारी के रूप में या फ्लैशबैक के रूप में कहती है। ग्यारहवें सर्ग में शत्रुघ्न और हनुमान के माध्यम से दंडकारण्य से लेकर लक्ष्मण को शक्ति लगने तक की घटनाओं का वर्णन किया गया है। बारहवें सर्ग में साकेत निवासियों की युद्ध की तैयारी, लंका का युद्ध, राम का अयोध्या आगमन और उर्मिला-लक्ष्मण का मिलन वर्णित है। संपूर्ण कथा को उर्मिला और साकेत से संबद्ध रखने के कारण नाटकीय शिल्प का सहारा लेना पड़ा है। सारी घटनाएँ साकेत के रंगमंच पर घटित होती हैं--कुछ प्रत्यक्ष रूप में कुछ सूच्य रूप में। दूसरे शब्दों में अयोध्याकांड के अतिरिक्त रामायणी कथा की शेष घटनाएँ सूच्य रूप में ही कही गई हैं। इससे साकेत की रूप संघटना में एक प्रकार की नवीनता आई है। किंतु क्रिया-व्यापार से समन्वित समस्त घटनाओं को सूक्ष्म बना देने से साकेत का रंगमंच सूना-सूना लगने लगता है। इस शून्यता को उर्मिला के विरह-वर्णन और साकेत समाज की प्रतिक्रियाओं से भरने का प्रयास किया गया है। पर विरह वर्णन की भावुकतामयता और साकेत-समाज की उपरली प्रतिक्रियाएँ शून्य को भर नहीं पातीं। इसके संबंध में यह कहा जाता है कि कवि ने रामायणी कथा को असंतुलित रूप में प्रस्तुत किया है। किंतु रामायणी कथा लिखना उसका उद्देश्य नहीं था। रामायणी कथा के अधिकांश भाग को सूक्ष्म रूप में प्रस्तुत करने के अतिरिक्त उसके पास चारा नहीं था। खटकनेवाली बात है रंगमंच की शून्यता। इससे उसे महाकाव्योचित औदात्य नहीं मिल पाया है।

गुप्त जी के काव्य का नक्शा गोस्वामी जी के 'रामचरितमानस' के नक्शे से अलग है। इसलिए 'साकेत' के मार्मिक स्थल 'मानस' के मार्मिक स्थलों से भिन्न हैं। पर निषाद मिलन, दशरथ मरण, चित्रकूट प्रसंग दोनों में हैं। इन स्थलों के संदर्भ में तुलनात्मक दृष्टि से विचार करने पर गुप्त जी का वर्णन न उतना गंभीर बन पाया है और न मनोवैज्ञानिक। इन प्रसंगों में भी भावनामयता (सेंटीमेंटालिटी) उनका पीछा नहीं छोड़ सकी है। अपने नवीन उद्‌गारों के बावजूद उनके पात्र भावनामय, मर्यादावादी और नवीन मानवतावादी आदर्श लिए हुए हैं।

कवि ने पुराने घेरे के भीतर अपने पात्रों को व्यक्तित्व प्रदान करने की चेष्टा की है। पर जहाँ अपने घेरे को तोड़कर उर्मिला अयोध्यावासियों को युद्ध का उपदेश देने लगती है वहाँ उसकी व्यक्तित्व संपन्नता सतही हो जाती है। विरह-वर्णन के प्रसंग में परंपरायुक्त परिपाटी से भिन्न वह अपने प्रेम के शुभ प्रभाव से प्रकृति को प्रसन्न देखना चाहती है। किंतु यह नयापन केवल आदर्श है।

इससे अधिक यथार्थवादी वे ही लोग थे जो प्रकृति को नायक-नायिका के दुःख में दुःखी और सुख में सुखी दिखलाते आए थे।

लक्ष्मण 'मानस' में बहुत कम बोलते हैं। वे प्रायः उन्हीं अवसरों पर बोलते दिखाई पड़ते हैं जहाँ कोई अपमान जनक स्थिति उत्पन्न होती है। पर 'साकेत' में उनकी मुखरता, विशेषतः कैकेयी के प्रसंग में, उनके व्यक्तित्व में कुछ जोड़ती नहीं बल्कि घटाती ही है। पर परिवार के वृत्त में सभी चरित्र विशेष प्रकार की आत्मीयता लिये हुए हैं। सच पूछिए तो वे पारिवारिक परिवेश के कवि हैं। उनके चरित्र-चित्रण और भाव-दशाओं को इसकी सीमा में रखकर देखना चाहिए। उन्होंने अपने को 'कौटुंबिक कविमात्र' कहा है। इस पारिवारिक भावमयता के कारण डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इसे गार्हस्थ्य रस की संज्ञा दी है। इस परिप्रेक्ष्य में कवि ने प्रेम, त्याग, उदारता, निस्पृहता आदि मानवीय गुणों को देखा है। पति-पत्नी, देवर-भाभी, माँ-बेटा, सास-बहू, स्वामी-सेवक आदि के मर्यादापूर्ण संबंधों को चित्रित करना गुप्त जी का मुख्य लक्ष्य रहा है। उनके आदर्श चरित्र साधक चरित्र रहे हैं क्योंकि वे स्वयं साधक कवि थे। परिवार उस समय का आदर्श था। इससे संघटनात्मक पक्ष पर प्रेमचन्द और शुक्ल जी दोनों ने जोर दिया है।

पर 'साकेत' की विशेषता रामायणी कथा को इहलौकिकता का अनुषंग देने में है। राम मानव हैं। राजकीय परिवार के लोग सामान्य मनुष्य के रूप में पहचाने जाते हैं। सीता के बारे में तुलसीदास ने लिखा है—'पलंगपीठ तजि गोद हिंडोरा, सिय न दीन्ह पग अवनि कठोरा।' पर वे 'साकेत' में स्वावलंबिनी बन जाती हैं। सामान्य मनुष्य के रूप में चित्रित होकर 'साकेत' के पात्र कहीं जटिल नहीं हैं, कहीं अभावुक नहीं हैं। गुप्त जी के व्यक्तित्व के अनुरूप सीधे और सरल हैं।

रस और महाकाव्य के रूप विन्यास की दृष्टि से भी इसमें नयापन है। न तो इसमें परंपरानुमोदित वीर रस है और न कथा का सिलसिलेवार वर्णन। यह हिन्दी महाकाव्य के भविष्य का संकेत लेकर आया। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी के मतानुसार "साकेत में महाकाव्य संबंधी नया आदर्श और प्रतिमान स्थिर करने का प्रयत्न जान-बूझकर भले ही न किया गया हो, परन्तु महाकाव्य विषयक क्रमागत व्यवस्था और परिपाटी से यह अनजाने में ही इतना दूर चला गया है कि आधुनिक युग का नया साहित्यिक प्रवर्तन उसे स्वभावतः अपने विकास की प्रारंभिक कड़ी मानकर चलता है।"

'साकेत' के बाद रचे गए गुप्त जी के मुख्य ग्रंथ हैं—यशोधरा, सिद्धराज द्वापर, हिडिंबा, पृथ्वीपुत्र, जयभारत, विष्णुप्रिया आदि।

'यशोधरा' और 'विष्णुप्रिया' में 'साकेत' की उर्मिला का ही चरित्र-विस्तार

है। इनमें भी नारी के वे ही आयाम उभरे हैं जो उर्मिला में दिखाई पड़ते हैं। त्याग, तपश्चर्या, साधना, तप आदि से मंडित ये सभी नारियाँ पति से वियुक्त हैं। लक्ष्मण, बुद्ध और चैतन्य अपने-अपने ढंग से साधक हैं। इनमें बुद्ध का व्यक्तित्व सबसे बड़ा है। संभवतः इसी परिप्रेक्ष्य के कारण यशोधरा का व्यक्तित्व अधिक मनस्वितापूर्ण और संयमित बन पड़ा है। विष्णुप्रिया भी एक दुखिया नारी है जो सहने के लिए बनी है।

वस्तुतः नारी को परंपरायुक्त रूप में ही देखा गया है। उसको जो व्यक्तित्व दिया गया है उसका केन्द्रीय विन्दु पति है। नारी की समस्त साधना, तपश्चर्या, त्याग अपने किसी मन्तव्य को लेकर नहीं हैं बल्कि वे पति के ही केन्द्रीय विन्दु के चारों ओर घूमते हैं। गुप्त जी की नारी भारतेंदु युगीन नारीविषयक चेतना का संस्कार है। वह वर्णाश्रम धर्मी, कुलबधू, पतिव्रता और परंपरावादी है। उसकी इच्छा पति की इच्छा है, उसका प्राप्य पति है। पति के बाहर, कुल के बाहर जो कुछ भी वह दिखाई पड़ती है वह औपचारिक है। सच तो यह है कि गुप्त जी के यश का मूलाधार 'साकेत' ही है। इसका मुख्य कारण है कि वह अपने-अपने युग के अनुरूप है। वह अपने समसामयिक सामाजिक आदर्श के न आगे है न पीछे। वह ठीक उसके साथ है। सन् १९१४ में 'साकेत' की रचना का प्रारंभ हुआ और '१८ तक उसके पाँच सर्ग 'सरस्वती' में छप गए। सन् १९२२ में इसका प्रकाशन हुआ। पंत का 'पल्लव' सन् १९३९ में प्रकाशित हुआ। इसके पूर्व आदर्शवादी सांस्कृतिक पुनरुत्थान का ही जमाना था और 'साकेत' इसका पूर्ण प्रतिनिधित्व करता है। 'साकेत' का नवम सर्ग इस बात का सबूत है कि वह नवीन युगचेतना का समर्थक तो हो सकता है पर उसके साथ नहीं चल सकता।

जयभारत (१९५२) में उनके पुराने आदर्श ही दुहराए गए हैं। हिडिंबा के चरित्र-चित्रण को देखकर आलोचक गुप्त जी के पारस स्पर्श की मुग्धभाव से प्रशंसा करते हैं—यह उच्चतम मानव आदर्श की शिक्षा से ओत-प्रोत है। पर इसमें नए युग के अनुरूप मार्मिक स्थलों को नहीं चुना जा सका है, अन्यथा शांतिपर्व को दो पंक्तियों में चलता न कर दिया जाता। नर में नारायण की प्रतिष्ठा, सभी लोगों के सुख की कामना, अबला जीवन की कहानी, वैष्णव दृष्टि प्रसूत विकृत अर्थापन द्वारा जो कुछ निर्मित हुआ है वह ५वें दशक की संशयात्मक दृष्टि के विरुद्ध है। नए युग में विगत आदर्शों की स्थापना चेष्टा उनकी उत्थानमूलक पुरानी दृष्टि के अनुरूप है।

गुप्त जी की काव्य-शैली में जो विविधता दिखाई देती है वह उनकी दीर्घकालीन साधना का परिणाम है। उन्होंने खंडकाव्य, निबंधकाव्य, महाकाव्य,

पद्यनाट्य, चंपू, प्रगीत, मुक्तक आदि लिखे। अनेक प्रकार के वर्णिक, मात्रिक छंदों के प्रयोग किए। पर उनकी मुख्य देन खड़ीबोली को काव्योचित संस्कार देने में है। स्वयं गुप्त जी भारतीय संस्कृति तथा समसामयिक यथार्थ के बाह्यार्थ निरूपक कवि हैं। इसलिए खड़ीबोली का विवरण-वर्णनात्मक क्षमता को बढ़ाकर उस युग में उन्होंने अत्यंत महत्त्वपूर्ण कार्य किया। हरिऔध जी का काव्य-क्षेत्र में पदार्पण उनके पहले ही हो चुका था। पर वे भाषा के दो छोरों पर थे। या तो उन्होंने संस्कृत वृत्तों को संस्कृतनिष्ठ भाषा में बाँधा या मुहावरों लोकोक्तियों को ठेठ भाषा में। सामान्य काव्य भाषा का प्रयोग उन्होंने प्रायः नहीं किया। गुप्त जी ने भी संस्कृत शब्दावली की प्रचुर सहायता ली है पर खड़ीबोली का अपना स्वरूप सुरक्षित रहा है।

उनकी शब्दावली मुख्यतया अभिधा विशिष्ट है। वे अन्तर्वृत्तियों के निरूपक कवि नहीं हैं। इसलिए जहाँ कहीं उन्होंने लाक्षणिक पदावली का प्रयोग किया है वह बहुत कुछ सपाट हो गया है। उनका महत्त्व इसी में है कि इस तरह के नए प्रयोगों के लिए उन्होंने जमीन बनाई।

अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'

महावीरप्रसाद द्विवेदी का व्यक्तित्व इतना प्रभावशाली सिद्ध हुआ कि भारतेंदु के बाद से ही काव्य साधना करने वाले अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध' (१८६५-१९४७) भी संस्कृत वृत्तों में रचना करने लगे। इन वृत्तों में लिखा गया काव्यग्रंथ 'प्रियप्रवास' अपने समय का महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है।

आरंभ में उनपर भक्ति और रीति के संस्कार ही प्रबल थे। वे कवि समाज के सदस्य के रूप में ब्रजभाषा में समस्या पूर्तियाँ किया करते थे। जब उन्होंने खड़ीबोली का बढ़ता हुआ प्रचार देखा तो उन्होंने भी उर्दू छन्दों के सहारे बोलचाल की खड़ीबोली में पदों की रचना की। किंतु उनकी ख्याति का मुख्य आधार 'प्रियप्रवास' है। यह ग्रंथ सन् १९१४ में प्रकाशित हुआ। इसमें कवि ने राधाकृष्ण की वियोग कथा को नया रूप देने तथा श्रीकृष्ण से सम्बद्ध अलौकिक कार्यों को बुद्धि संगत बनाने की चेष्टा की है।

'प्रियप्रवास' को कुछ लोगों ने हिन्दी का—खड़ीबोली हिन्दी का—प्रथम महाकाव्य माना है। इसमें श्रीकृष्ण के बचपन से लेकर मथुरा-प्रस्थान तक की कथा सत्रह सर्गों में लिखी गयी है। कुछ लोग इसे नए ढंग का महाकाव्य मानते हुए बतलाते हैं कि इसमें संस्कृत आचार्यों द्वारा निर्दिष्ट महाकाव्यों का लक्षण नहीं मिलेगा। कुछ लोग ठीक उसके विपरीत महाकाव्य की पुरानी कसौटी पर इसे खरा उतार देते हैं। वे इसमें मंगलाचरण, सज्जन-दुर्जन प्रसंग, ऋतु वर्णन, सर्ग के अन्त में

छन्द का परिवर्तन आदि को दिखाते हुए 'प्रियप्रवास' को निःसंकोच महाकाव्य की संज्ञा दे डालते हैं। किन्तु न तो शैलीगत नवीनता के कारण ही कोई काव्य महाकाव्य हो सकता है और न तो पुरानी परिपाटी का अनुसरण करने से ही यह संभव है। महाकाव्य के लिए जीवन की जो संपूर्णता और उदात्तता अपेक्षित होती है उसका इसमें नितान्त अभाव है। आचार्य शुक्ल ने तो इसे प्रबंधकाव्य भी नहीं माना है। उन्होंने कहा है—'ये काव्य अधिकतर भाव विवरणात्मक और वर्णनात्मक हैं। कृष्ण के चले जाने पर व्रज की दशा का वर्णन बहुत अच्छा है। विरह वेदना से क्षुब्ध वचनावली प्रेम की अनेक अन्तर्दशाओं की व्यंजना करती हुई बहुत दूर तक चली चलती है। जैसा कि इसके नाम से प्रकट है, इसकी कथा वस्तु महाकाव्य क्या अच्छे प्रबंधकाव्य के लिए भी अपर्याप्त है।'

इस काव्य में वर्णन का इतना विस्तार है कि चरित्र-चित्रण के लिए विशेष अवकाश नहीं मिल पाया है। कृष्ण को कवि ने गांधीवादी नीतिमत्ता के अनुरूप लोकसेवक के रूप में चित्रित करने का प्रयास किया है। स्थूल नैतिकता और मर्यादावादी दृष्टिकोण के कारण कृष्ण का शक्त व्यक्तित्व अनुद्घाटित ही रह गया है। राधा को लोकसेवा-व्रत में दीक्षित कर दिया गया है। राधाकृष्ण में न भक्तिकालीन कवियों द्वारा प्रक्षेपित अलौकिकता है न रीतिकालीन कवियों द्वारा प्रक्षेपित विलासिता। अब उन्हें सुधारवादी दृष्टिकोण से प्रस्तुत किया गया है।

'प्रियप्रवास' की छन्द योजना और संस्कृतनिष्ठ पदावली ने भी खड़ीबोली के विकास में बहुत उल्लेखनीय योग नहीं दिया है। बाद में चलकर हिन्दी में न तो संस्कृत के वृत्त ग्रहण किये गये और न 'प्रियप्रवास' की संस्कृतबहुला पदावली।

इसके बाद 'हरिऔध' जी ने बोलचाल संबंधी मुक्तकों की रचना की। इनमें मुख्य रूप से चुभते चौपदों और चोखे चौपदों का विशेष नाम लिया जाता है। बाद में 'वैदेही बनवास' नामक दूसरा प्रबंधकाव्य प्रकाशित हुआ। इस काव्य को भी 'हरिऔध' जी ने महाकाव्य ही माना है। कुछ शोधार्थियों ने 'हरिऔध' जी के कथन को बावन तोला पाव रत्ती सही मानकर 'वैदेही बनवास' को भी महाकाव्य की कोटि में बैठा दिया। किन्तु यह काव्य तो अनेक अंशों में 'प्रियप्रवास' की अपेक्षा सीमित तथा फलक तथा काव्यात्मकता में अपकर्षपूर्ण है।

'प्रियप्रवास' में यशोदा और राधा की विरहानुभूति मन के अन्तरंग को छूती है। पर 'वैदेही बनवास' का आदर्शवाद वाल्मीकि, कालिदास तथा भवभूति के यथार्थ के विरुद्ध पड़ता है। 'वैदेही बनवास' के सीता राम हाड़-मांस के मनुष्य न होकर आर्यसमाजी आदर्श के धोखे हैं।

महावीर प्रसाद द्विवेदी तथा उनकी 'सरस्वती' से प्रेरणा पाकर कविता

लिखने वाले कवियों की संख्या बहुत अधिक है। किंतु उनमें रामचरित उपाध्याय, गिरिधर शर्मा नवरत्न, लोचन प्रसाद पाण्डेय, सियारामशरण गुप्त आदि प्रसिद्ध हैं।

सियारामशरण गुप्त (१८९५ ई०--) इस समय के दूसरे विशिष्ट कवि हैं जिनके साहित्य में साधना, तपश्चर्या और करुणा का स्वर मुखरित हुआ है। बार-बार प्रश्न उठाया गया है कि जब अन्य कवि पौरुष, ओज, देशभक्ति आदि का राग सुना रहे थे तब सियारामशरण सबसे अलग करुणरागिनी छेड़े हुए थे। ऐसा क्यों, इसे कुछ लोग उनकी अपनी पारिवारिक स्थिति, दैवी प्रकोप, शारीरिक रुग्णता से संबद्ध करते हैं। यह आंशिक रूप में सच है। पर उस समय के राजनीतिक वातावरण में उल्लास और करुणा दोनों व्याप्त थे। अपनी रुचि, परिष्कृति के कारण सियारामशरण गुप्त ने दूसरे को ही चुना। इनकी पहली रचना 'मौर्य विजय' १९१४ में प्रकाशित हुई और उसमें राष्ट्रीय चेतना का अन्तर्भाव है। पर इनके शेष काव्य अनाथ, दूर्वादल, निषाद, आर्द्रा, आत्मोत्सर्ग, पाथेय, मृण्मयी, बापू, दैनिकी, उन्मुक्त, नकुल, नोआखाली, जयहिन्द और गीता संवाद सन् १९२० के बाद प्रकाशित हुए। इनमें सामान्यत: जीवन की साधना, सात्त्विकता, शुद्ध बुद्धत्व की सहज अभिव्यक्ति हुई है। उनमें मैथिलीशरण गुप्त की भाँति भावना मयता नहीं है, हास-विलास नहीं है--पर है एक ईमानदार कवि की प्रामाणिक अनुभूति की अभिव्यक्ति। यह कहीं भी नैराश्य की सृष्टि नहीं करती, उनकी मानववादी दृष्टि ने सामान्यत: दुखियों का ही चित्र खींचा है। काव्य सौन्दर्य के विचार से भी ये कम नहीं ठहराये जा सकते। इसके प्रमाण में 'बापू' को प्रस्तुत किया जा सकता है। वास्तविकता यह है कि '२० के बाद हिन्दी में छायावादी काव्य बहुत कुछ प्रतिष्ठित हो चुका था और गुप्त जी अभी द्विवेदी युगीन संवेदना (सुधारवादी दृष्टिकोण से संपृक्त) को ही वाणी दे रहे थे। उनकी कविता युग के पीछे थी। इसलिए उनकी ओर दृष्टि का न जाना अस्वाभाविक नहीं था।

रामचरित उपाध्याय (१८७२ ई०-१९३८ ई०) द्विवेदी युग के एक प्रमुख कवि हैं। उन्होंने पहले ब्रजभाषा में काव्य-रचना शुरू की। विजयी वसंत, श्रावण शृंगार, सुधाशतक का बरवा आदि ब्रजभाषा की रचनाएँ हैं। महावीर प्रसाद द्विवेदी के प्रोत्साहन से उन्होंने खड़ीबोली की एक रचना 'पवनदूत' १९०६ में 'सरस्वती' में प्रकाशनार्थ भेजी। १९१४-१५ में उनके प्रसिद्ध काव्य 'रामचरित-चिन्तामणि' का कुछ अंश 'सरस्वती' में प्रकाशित हुआ। यों इस ग्रंथ का प्रकाशन '२० में हुआ। इसके अतिरिक्त सूक्ति मुक्तावली (१९१५ ई०), देवदूत (१९१८), भारत भक्ति (१९१९), रामचरित चन्द्रिका (१९१९) आदि उनके अन्य काव्यग्रंथ हैं।

उस समय के प्रवाह के अनुसार अतीत के गौरव का स्मरण, वर्तमान की दुर्दशा का वर्णन और भविष्य का उज्ज्वल चित्र उनकी मुक्तक रचनाओं में मिलेगा। पद्य-प्रबंधों में सामाजिक त्रुटियों---बाल विवाह, वृद्ध विवाह, स्त्री शिक्षा का अभाव---का चित्रण हुआ है। कुछ रचनाओं में वीर भावना को जगाया गया है तो कुछ में कृषकवर्ग के प्रति सहानुभूति प्रदर्शित की गई है। प्रकृति वर्णन बहुत कुछ नीतिपरक हो गया है। 'ब्रजभाषा की विदाई', 'सम्य समालोचक' आदि कविताएँ साहित्य से संबद्ध हैं।

उनका प्रमुख ग्रंथ 'रामचरित चिन्तामणि' है। इस प्रबंधकाव्य को भी युगीन परिप्रेक्ष्य में रखने का प्रयास किया गया है। इस काव्य पर आक्षेप लगाया जाता है कि इसमें रामकथा के मार्मिक स्थलों को छोड़ दिया गया है या उन्हें संक्षिप्त कर दिया गया है। पर यह आक्षेप आलोचकों की लीकबद्ध दृष्टि का परिचायक है। उपाध्याय जी ने उन्हें छोड़ कर अथवा संक्षिप्त कर बुद्धिमानी का परिचय दिया है। 'मानस' के मार्मिक स्थल पुनः दुहराए नहीं जा सकते। 'साकेत' में दुहराए जाकर वे निष्प्रभ हो गए हैं।

उपाध्याय जी ने कई नए प्रसंगों की परिकल्पना की है। मारीच का रावण को उपदेश देना, अँगूठी देने के पूर्व अशोक वाटिका में हनुमान का सीता की हृदय परीक्षा लेना, राम-बाली संवाद, सीता निर्वासन के समय लक्ष्मण-सीता संवाद। किंतु ये स्थल बहुत मार्मिक नहीं बनाए जा सके हैं। स्थान-स्थान पर उस समय के पराधीनता जन्य क्लेश और भविष्य की आशापरक परिकल्पना को जड़ दिया गया है। किंतु सब मिलाकर उन्होंने राम-कथा का परंपराभुक्त रूप ही प्रस्तुत किया। यही कारण है कि रामचरित चिन्तामणि का स्वागत नहीं हुआ।

उनकी भाषा भी समय से पिछड़ी हुई है। व्याकरणगत भ्रांतियों के साथ-साथ उनमें भाषा परिनिष्ठतता की भी कमी मिलती है। उस समय तक भाषा का रूप बहुत कुछ स्थिर हो चुका था। किंतु उपाध्याय जी ने इसका लाभ नहीं उठाया। उनके संबंध में इतना ही कहा जा सकता है कि वे भरसक युग के साथ थे।

लोचनप्रसाद पाण्डेय (१८८६ ई०-१९५९ई०) छत्तीसगढ़ के निवासी थे। उनकी रचनाएँ आनन्द कादंबिनी, सरस्वती, हिन्दी प्रदीप, इन्दु, मर्यादा, प्रभा, सम्मेलन पत्रिका आदि में बराबर प्रकाशित होती रही हैं। विषय की दृष्टि से उनके काव्य में विविधता दिखाई देती है। नीतिकविता (१९०६), मेवाड़-गाथा (१९१४), पद्य-पुष्पांजलि (१९१५) आदि उनके काव्य हैं। नीति-कविता में नीति से संबद्ध विषय हैं। मेवाड़गाथा में चित्तौड़ के राणा भीमसिंह

के अनुपम त्याग की गाथा है। पद्यपुष्पांजलि में देशभक्ति विषयक रचनाएँ हैं। ग्रीष्म, वर्षा, हेमंत, मंदाकिनी गंगा आदि में प्रकृति को आलंबन के रूप में सामान्य ढंग से चित्रित किया गया है। शिक्षा, हिन्दू विश्वविद्यालय, हिन्दी राष्ट्रभाषा आदि विवरणात्मक रचनाएँ हैं। मृगी दुःखमोचन की सरसता सराहनीय है।

पांडेय जी की रचनाओं में जो इतिवृत्तात्मकता और विवरण की प्रधानता मिलती है वह द्विवेदी जी के प्रभावमंडल की विशेषता है। भाषा अपरिष्कृत और सदोष है।

द्विवेदी जी के प्रभाव और प्रोत्साहन से जो रचनाएँ प्रकाश में आईं वे सामान्यतः वर्णनात्मक और विवरणात्मक हैं। जो लोग सीधे उनसे प्रभावित नहीं थे वे भी उस परिवेश से मुक्त नहीं हो सके।

इस काल में कुछ ऐसे कवि भी हुए जो मूलतः ब्रजभाषा के संस्कारी कवि थे किंतु खड़ीबोली के काव्य से प्रभावित होकर खड़ीबोली में भी रचनाएँ कीं। वे द्विवेदी जी के प्रभाव के बाहर नहीं कहे जा सकते। द्विवेदी जी द्वारा संपादित 'कविताकलाप' में पूर्ण और शंकर की कविताएँ भी सम्मिलित हैं।

राय देवीप्रसाद पूर्ण और नाथूराम शंकर शर्मा, गयाप्रसाद शुक्ल सनेही को आचार्य शुक्ल ने द्विवेदी मंडल के बाहर की काव्यभूमि के अन्तर्गत रखा है। किन्तु उनकी जिन प्रवृत्तियों, देश-दशा, समाज-दशा, आचार-विचार, त्याग-वीरता, ऐतिहासिक प्रसंग आदि का उन्होंने उल्लेख किया है वे स्वयं द्विवेदी मंडल या उन दो दशकों की विशेषताएँ हैं।

राय देवीप्रसाद पूर्ण (१८६८ ई०-१९१५ ई०) की अधिकांश कविताएँ ब्रजभाषा में लिखी गई हैं। 'प्रदर्शनी-स्वागत' में सामाजिक अवस्था से संबद्ध २०६ छप्पय और 'स्वदेश कुंडल' में देशभक्ति के संबंध में ५२ कुंडलियाँ संगृहीत हैं। ये कविताएँ सामान्यतः प्रचार-मूलक और सुधारवादी हैं।

विषय-वस्तु के रूप में स्वदेशी वस्तुओं का प्रयोग, पारस्परिक सहयोग, विदेशियों द्वारा धन का अपहरण, भारतीय समाज की अधोगति आदि को ग्रहण किया गया है तो दूसरी ओर सन् १९११ वाले दिल्ली दरबार को भी लिया गया है। यह प्रवृत्ति भारतेंदु मंडल की उस काव्य-परंपरा के मेल में है जिसमें देशभक्ति और राजभक्ति दोनों को सम्मिलित किया जाता रहा है। 'मनमंदिर', 'विश्व वैचित्र्य' में भक्ति और वेदान्त संबंधी रचनाएँ हैं। 'चेतावनी' में सनातन धर्म के समक्ष आर्य समाज को संकीर्ण बतलाया गया है। इन उपदेशात्मक और प्रचारात्मक रचनाओं के अतिरिक्त उन्होंने 'अमलतास' और 'बसंतवियोग' नामक रचनाएँ भी की हैं जो अपेक्षाकृत अधिक सरस और कल्पनात्मक हैं। दोनों में प्रकृति वर्णन का प्राधान्य है।

'बसंतवियोग' एक लंबी कविता है जिसमें दो भाग और छह अध्याय हैं। इसमें भारत भूमि को एक उद्यान के रूप में कल्पित किया गया है। गुण की दृष्टि से इसमें सत्त्व की प्रधानता है। प्राचीन काल में इस उद्यान में बारह मास बसंत शोभायमान रहता था। अयोध्या, मथुरा, चित्रकूट आदि क्यारियाँ स्वर्गीय पुष्पों से अभिमंडित थीं। इसके माली (सम्राट्) अपूर्व थे। विक्रमादित्य और पृथ्वीराज जैसे मालियों ने इसे प्रफुल्लित रखने का प्रयास किया पर प्रमाद तथा अनैक्य के कारण यह संभव न हो सका। अंत में माली तपस्या के निमित्त मानसरोवर की ओर चले जाते हैं। अंत में आकाशवाणी होती है कि विक्रम की बीसवीं शताब्दी में पश्चिमी शासन के अन्तर्गत इसकी पुनः उन्नति होगी।

पूर्ण की रचनाओं का महत्त्व काव्य-सौंदर्य की दृष्टि से नहीं आँका जा सकता। पर बीसवीं शताब्दी ईस्वी के प्रथम दो दशकों में संगृहीत विषय-वस्तु प्रायः वे ही हैं जो अन्य कवियों की। उनकी खड़ीबोली व्याकरण सम्मत होते हुए भी व्यवस्थित नहीं है। इसमें अनेक प्रकार की बोलियों का सम्मिश्रण है जो खड़ीबोली की शक्ति-संपन्नता का ही परिचायक है।

नाथूराम शंकर शर्मा (१८५९ ई०-१९३५ ई०) ने समस्यापूर्तियों के साथ काव्य-क्षेत्र में प्रवेश किया। यह प्रवृत्ति रीतिकालीन ब्रजभाषा काव्य परंपरा के अनुरूप है। वे जिस संक्रांतिकाल में रचना कर रहे थे, उसमें पुरानी और नई काव्य-परंपरा दोनों के दर्शन होते हैं। उर्दू की काव्य-परंपरा से वे खूब परिचित थे। उसके कारण उनके काव्य में वैदग्ध्य और बाँकपन आ गया है। शंकर एक ओर समस्यापूर्ति में सिद्धहस्त थे तो दूसरी ओर नवीन सामाजिक-राजनीतिक समस्याओं के प्रति पूर्णतः जागरूक। अपनी चमत्कारपूर्ण अनूठी समस्यापूर्तियों के लिए वे पदक तथा उपाधियों से सम्मानित होते थे।

किंतु उनका महत्त्व इतिहास की प्रगतिशील धारा का साथ देने और उसे आगे बढ़ाने में है। महावीरप्रसाद द्विवेदी की सरस्वती की लाज रखने की अपील पर 'हमारा अधःपतन', 'समालोचक लक्षण', 'पावस पंचाशिका' आदि रचनाएँ उन्होंने प्रकाशनार्थ भेजीं। ये रचनाएँ १९०६-७ की 'सरस्वती' के कुछ अंकों में प्रकाशित हुईं। इन रचनाओं पर अपनी सम्मति देते हुए ग्रियर्सन ने कहा था कि खड़ीबोली में सुन्दर और सरस रचनाएँ हो सकती हैं।

उनकी सामाजिक रचनाओं का मूलस्वर व्यंग्यपरक है। 'गर्भरंडा-रहस्य' इसी तरह का प्रबंधकाव्य है। इसमें विधवाओं की हीन दशा और मंदिरों में होनेवाले दुराचारों का भंडाफोड़ किया गया है। व्यंग्य के फलस्वरूप उनकी भाषा में जो कर्कशता आई है वह उस तरह की कविताओं तक ही सीमित है।

विषयानुरूप भाषा में सरसता का गुण भी विद्यमान है। बालकृष्ण शर्मा नवीन ने उनके संबंध में कहा है कि, 'शंकर जी शब्दों के स्वामी, भाषा के अधीश्वर, मुहाविरों के सिरजनहार और साहित्य के अखाड़े के अक्खड़ पहलवान थे—।'

इन्होंने खड़ीबोली में समयानुकूल विषयों पर कविताएँ ही नहीं लिखीं बल्कि उसे नवीन काव्य शैली और छंदों की निर्दोष विधियाँ भी दीं। भाषा को परिमार्जित करने के साथ ही उन्होंने उसे अभिव्यंजना की नूतन भंगिमाएँ प्रदान की हैं। सनेही जी के सवैयों और गोपालशरण सिंह के कवित्तों पर उनके टकसालीपन का प्रभाव देखा जा सकता है। शंकर की रचनाओं का एक वृहद् संग्रह 'शंकर सर्वस्व' के नाम से प्रकाशित हो चुका है।

गयाप्रसाद शुक्ल सनेही (१८८३ ई०-१९७२ ई०) पूर्ण जी की भाँति ब्रजभाषा और खड़ीबोली दोनों के माध्यम से रचनाएँ करते रहे हैं। प्रारंभ में समस्या-पूर्तियों का इन्हें भी काफी शौक था। समस्यापूर्ति मध्यकालीन काव्य की जड़ परंपरा अवश्य थी। पर इसके द्वारा एक विशेष अनुशासन में भी बँधना पड़ता है। इन कवियों ने समस्यापूर्ति के अनुशासन का परिचय खड़ीबोली में भी दिया। फलतः इनका खड़ीबोली का काव्य एक प्रकार का टकसालीपन लिये हुए है।

ये सनेही और त्रिशूल दोनों उपनामों से कविता करते थे। सनेही नाम से लिखी गई कविताएँ सरस और कलात्मक सौष्ठव से संपृक्त हैं। त्रिशूल नाम से वे समसामयिक विषयों पर लिखा करते थे। सन् १९२८ में इन्होंने 'सुकवि' नाम की एक पत्रिका भी निकाली जो ५० तक बराबर निकलती रही। इससे अनेक नए कवि प्रकाश में आए। प्रेमपचीसी, कृषक क्रंदन, राष्ट्रीय मंत्र, राष्ट्रीय वीणा, त्रिशूल तरंग, कला में त्रिशूल संजीवनी और करुणा कादंबिनी काव्य संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। सनेही जी कवि-सम्मेलनों के बादशाह माने जाते रहे हैं। पर कवि-सम्मेलनों के कारण उनकी रुचि मध्यकालीन काव्य चमत्कार में उलझकर सीमाबद्ध हो गई।

लाला भगवानदीन (१८६६ ई०-१९३० ई०) और सत्यनारायण कविरत्न (१८८० ई०-१९१८ई०) दोनों इन दो दशकों की मुख्य धारा से अलग थे। लालाजी ने तो खड़ीबोली में भी कविताएँ लिखीं पर कविरत्न जी ब्रजी में पूरे तौर पर सने हुए जीव थे। फिर भी युगीन चेतना से संपृक्त थे। लालाजी पुरानी काव्य-धारा के प्रति अत्यधिक आस्था रखते थे। रोमैंटिक काव्यधारा के वे कट्टर विरोधी थे। इसे वे 'छोकरावाद' की संज्ञा देते थे। 'वीर पंचरत्न' वीररस की कविताओं का संग्रह है। दीन विद्यालय की ओर से उनकी कविताओं का संग्रह दीनग्रंथावली भाग १ नाम से प्रकाशित हो चुका है। वे पुराने काव्य के मर्मज्ञ थे। वस्तुतः उनकी ख्याति टीकाकार के रूप में ही अधिक है। उन्होंने रामचन्द्रिका,

कविप्रिया, रसिकप्रिया, कवितावली और बिहारी सतसई पर विद्वत्तापूर्ण टीकाएँ लिखीं। उन्होंने अलंकार मंजूषा नाम का अलंकार ग्रंथ और व्यंग्यार्थ मंजूषा नाम से शब्दशक्ति संबंधी ग्रंथ लिखा। वे ब्रजभाषा के मर्मज्ञ थे और उसमें कविताएँ लिखते थे। उनकी खड़ीबोली की कविता के संबंध में आचार्य शुक्ल ने ठीक ही लिखा है—"खड़ीबोली की कविताओं का तर्ज उन्होंने प्रायः मुंशियाना ही रखा था। बह्र, या छंद भी उर्दू के रखते थे और भाषा में चलते अरबी या फारसी शब्द भी लाते थे।"

सत्यनारायण कविरत्न का जीवन—जीवन की ट्रेजिडी था। वे दरिद्रता, असंतोष और पारिवारिक कलह के विष को मौन भाव से पीते रहे। प्रारंभ में वे शृंगारिक समस्यापूर्तियाँ और दोहों का पल्लवन करने में अधिक संलग्न थे। किंतु समय की मांग के अनुरूप उन्होंने राष्ट्रीय भावनाओं से संबद्ध काफी रचनाएँ कीं। वन्देमातरम्, करुणाक्रन्दन आदि कविताओं में देश-दुर्दशा का चित्रण मिलता है। वह उस राष्ट्रीय चेतना के मेल में है जिसकी शुरुआत भारतेंदु के समय में हुई थी। अपने समय के अनेक सांस्कृतिक महापुरुषों पर भी उन्होंने कविताएँ लिखीं। श्री तिलक वंदना, श्री सरोजिनी नायडू षट्पदी, रवीन्द्रवंदना, श्री रामतीर्थाष्टिक, गांधीस्तव आदि इसी तरह की रचनाएँ हैं। उनकी फुटकल कविताएँ 'हृदय तरंग' संग्रह में संकलित हैं। इसी संग्रह में उनकी बहुचर्चित रचनाएँ 'भ्रमरदूत' और 'प्रेमकली' हैं। भ्रमरदूत नन्ददास के रासपंचाध्यायी के ढंग पर लिखा गया है। इसके माध्यम से भी उन्होंने राष्ट्रीय भावों की अभिव्यक्ति का स्थान निकाल लिया है।

उनकी ब्रजभाषा उनके जीवन की तरह ही साधु और सरस है। आधुनिक ब्रजभाषा के कवियों में रसमग्न करने की जितनी क्षमता कविरत्न की भाषा में है उतनी अन्य किसी कवि की भाषा में नहीं है। भारतेंदु के कवित्त सवैयों को छोड़कर पदों की भाषा कर्कश है। रत्नाकरी भाषा पर रेहटारिक का गहरा रंग है। किन्तु कविरत्न की भाषा मीरा की भाषा की तरह स्वतः स्फूर्त है। रत्नाकर और भारतेंदु ने ब्रजभाषा में मध्यकालीन भावनाओं का ही संरक्षण किया। लेकिन कविरत्न ने मध्यकालीन भाषा और भाव को नई चेतना से अभिमंडित कर उसे बहुत कुछ युगानुकूल बनाने की चेष्टा की। इस दृष्टि से साहित्य के इतिहास में उनके योग का आकलन अभी शेष है।

स्वच्छन्द काव्य धारा

रीतिकाल की छंदों, रसों और अलंकारों के बंधनों में बँधी कविता को भारतेंदु और उनके मंडल के लोग शिथिल नहीं कर सके। उनकी भाषा ब्रजभाषा

थी, छंद मध्यकालीन थे, अभिव्यंजना की पद्धति और शिल्प का विधान भी पुराना था। श्रीधर पाठक पहले व्यक्ति हैं जिन्होंने प्रकृति के स्वतंत्र चित्रण की ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट किया, ख्याल और लावनी जैसे ग्रामीण लय को साहित्यिक रूप दिया, काव्य में उस परोक्ष सत्ता का समावेश किया जो छायावादी काव्य की एक विशेषता मानी जाती है। इसलिए इस धारा के प्रवर्तन का श्रेय उन्हीं को दिया जाता है।

श्रीधर पाठक (१८५९ ई०-१९२८ ई०) की रचनाओं को दो श्रेणियों में बाँटा जा सकता है---अनूदित और मौलिक। अनूदित काव्यों में सर्वप्रथम उन्होंने ग्रे की शेफर्ड एंड फिलासफर पुस्तक का गड़ेरिये और दार्शनिकशास्त्री नाम से अनुवाद किया। गोल्डस्मिथ के तीन काव्यों--हरमिट, ट्रेवलर और डेजर्टेड विलेज--को बाद में अनूदित किया गया। हरमिट का एकांतवासी योगी, ट्रेवलर का श्रान्त पथिक और ड्रेजर्टेड विलेज का ऊजड़ग्राम के नाम से अनुवाद किए गए हैं। पहले दो अनुवादों की भाषा खड़ीबोली है और तीसरे की ब्रजभाषा। कालिदास के ऋतुसंहार के प्रथम तीन सर्गों का अनुवाद ब्रजभाषा में किया गया है। इसमें कुछ पद खड़ीबोली के भी हैं। इज़ावियला कीट्स की इजाबेला (दी थाट आफ वाखल) का भावानुवाद है।

उनकी मौलिक कृतियों में जगत सचाई सार, कश्मीर सुषमा और भारत-गीत प्रमुख हैं। जगत सचाई सार इक्यावन पदों की एक लंबी कविता है। इसमें जगत् की सारता-निस्सारता पर विचार किया गया है। प्रायः योगियों और तत्त्वदर्शियों ने संसार को असार कहा है पर इस अद्भुत जगत् को निस्सार भी कैसे कहा जा सकता है। कश्मीर सुषमा में प्रकृति को उद्दीपन के खाते से निकाल कर बहुत कुछ आलंबन रूप में चित्रित किया गया है। भारतगीत फुटकल गीतों का संग्रह है। मनोविनोद, धनविजय, गुनवन्त हेमन्त, वनाष्टक, देहरादून, स्वर्गीय वीणा आदि उनकी अन्य रचनाएँ हैं।

पाठक जी की समसामयिक विषय-वस्तु भारतेंदु की युगीन चेतना के मेल में है। वे भारत की दुर्दशा, आर्थिक विपन्नता से दुःखी अवश्य हैं पर 'ब्रिटेन की भारत के प्रति कृतज्ञता' का गान करने में भी नहीं चूकते। वस्तुतः उनकी विशिष्टता प्रकृति के स्वतंत्र चित्रण में ही सुरक्षित है। स्वच्छंदतावादी प्रवृत्ति वहीं पर दिखाई देती है।

विषय-वस्तु तथा अनुभूति की नवीनता की दृष्टि से पाठक जी का महत्त्व नहीं है। हाँ, भाषा की अभिव्यंजना को उन्होंने अवश्य बल दिया। प्रारंभ में उनकी पदावली में ब्रजभाषा का मिश्रण, उर्दू शब्दों का मेल, संस्कृत की तत्सम शब्दावली का घालमेल दिखाई पड़ता है। पर बाद में वे भाषा की विशुद्धता

पर बल देने लगे। 'मिश्रित या खिचड़ी भाषा के पद्य में यह योग्यता नहीं आ सकती' ऐसा उनका विचार था। संस्कृत शब्दों की सहायता की आवश्यकता वे स्वीकार करते थे पर अप्रचलित शब्दों और लंबे समासों के प्रयोग के वे विरोधी थे।

रामनरेश त्रिपाठी (१८८९ ई०-१९६३ ई०) द्विवेदी जी के समय की इतिवृत्तात्मकता और छायावाद की आत्मनिष्ठता के बीच कड़ी हैं। अभी तक देशभक्ति संबंधी रचनाओं में दो प्रकार की प्रवृत्तियाँ दिखाई पड़ती हैं—एक तो देश की हीनता का विवरण, दूसरी भावुकता परक (सेंटीमेंटल) चित्र। त्रिपाठी जी ने देशभक्ति को बहुत कुछ अनुभूतिपरक बनाया। फिर भी उनके पहले दो खंडकाव्यों—'मिलन' और 'पथिक'—में उपदेशात्मक अंश कम नहीं है। गांधी दर्शन की छाया में 'पथिक' सहज नहीं बन पाया है। किंतु प्रकृति के रमणीय खंड दृश्यों के कथानक के बीच उसका रूखापन कम हो जाता है। 'मिलन' का पथिक खूब देशभ्रमण करता है। इस भ्रमण से वह प्रकृति तथा जनसामान्य का सामीप्य प्राप्त करता है। त्रिपाठी जी का भ्रमण स्वयं अपना है। बिना देश में रमे हुए देशप्रेम की अनुभूति संभव नहीं है। 'मिलन' में विदेशी राज्य से स्वदेश के उद्धार तथा 'पथिक' में क्रूर एकतंत्र से मुक्ति पाने के लिए बलिदान की कहानी है। तीसरे खंडकाव्य 'स्वप्न' में आक्रमणकारी शत्रु से देश की रक्षा की जो कथा कही गई है वह अपेक्षाकृत अधिक मार्मिक और मनोवैज्ञानिक है।

इन तीनों खंडकाव्यों द्वारा जनतंत्र के तीन खतरों—विदेशी शासन, एकतंत्र और आक्रमणकारी शत्रुओं—से अवगत कराया गया है। इन्हें काव्य में पहले पहल त्रिपाठी जी ने उठाया। इन खंडकाव्यों की एक उल्लेखनीय विशेषता की ओर प्रायः ध्यान नहीं गया है और वह है युवकों का आवाहन। उन्होंने अन्य कवियों की तरह बाल, वृद्ध, युवक सभी को एक जुट होकर देशोद्धार के लिए आहूत नहीं किया है। यह आवाहन केवल भावात्मक होता है। इस तरह का भार मुख्यतः युवापीढ़ी ही उठाती है। त्रिपाठी जी ने इसी पीढ़ी को इस कार्य में संलग्न किया है। पराधीनता के दुःख-दर्द का काव्य में उल्लेख बहुत हो चुका है। किंतु अपने स्वत्त्व और अधिकार भाव के प्रति गहरा संकेत नहीं किया गया था। पथिक कहता है—

> तुम अपने सुख के प्रबंध के हो न पूर्ण अधिकारी
> यह मनुष्यता पर कलंक है प्रिय बंधु, तुम्हारी
> पराधीन रहकर अपना सुख शोक न कह सकता है।
> यह अपमान जगत् में केवल पशु ही सह सकता है।।

स्वप्न में गहरे अन्तर्द्वन्द्व की पृष्ठभूमि में देशभक्ति का प्रभावशाली चित्रण है। किसी महत्त्वपूर्ण कार्य के लिए स्वप्न देखना जरूरी है। किंतु उसे कार्यरूप

देने में ही स्वप्न की चरितार्थता है और इस तरह का सपना युवावर्ग ही देख सकता है।

इन तीनों खंडकाव्यों में अनुभूति, कल्पना, वैयक्तिक स्पर्श और अभिव्यंजना की नवीनता देखी जा सकती है। देश की दशा को इन काव्यों में अनुभूति के स्तर पर चित्रित किया गया है। इसे प्रभावशाली बनाने के लिए कवि ने देश की दुर्दशा का चित्रण वैयक्तिक दुःख-सुख के संदर्भ में किया है।

इसके फलस्वरूप वह अधिक तीखा हो गया है। उनके शब्द शिल्प को पंत में और अभिधा द्वारा काव्यात्मक अभिव्यक्ति को निराला में देखा जा सकता है। मूर्त उपमेय के लिए अमूर्त उपमान, अमूर्त के लिए मूर्त उपमान, मानवीकरण, लाक्षणिक प्रयोग आदि को छायावादी काव्य का पूर्वाभास कहा जा सकता है—

सर्वोपरि उन्नत मन की सी लक्षित अचल ऊँचाई,
एक घड़ी को भी न किसी के लिए हुई सुखदाई ।।

\+ \+ \+

हुई निविड़ तम में प्रभात-बेला-सी जागृत आशा।

\+ \+ \+

दुख से पका हृदय निशि-वासर, आश्रित चिन्ता पर था।
कहीं शब्द से छू न जाय, हर घड़ी उन्हें यह डर था।।

रामनरेश त्रिपाठी की इस नवीन प्रवृत्ति को मुकुटधर पांडेय (१८९५ ई०) ने और आगे बढ़ाया। उन्होंने १९११-१२ ई० के आसपास खड़ीबोली में कविता लिखना आरंभ किया। इस समय तक नए काव्य के लिए बहुत कुछ मार्ग प्रशस्त हो चुका था। पाण्डेय जी की प्रारंभिक रचनाएँ विषय प्रधान हैं। किन्तु १९१४ के 'इन्दु' में प्रकाशित 'पंथी' कविता में आत्मानुभूति की प्रमुखता परिलक्षित होती है। इसमें भावी जीवन के प्रति नैराश्य और कर्म के प्रति जागरूकता दोनों का चित्रण हुआ है। प्रेमबंधन (१९१३ ई०) आँसू (१९१६ ई०) में प्रेम के संबंध में रोमैंटिक आदर्श प्रतिफलित है। प्रेम को उसने आत्मसमर्पण और उच्चतर भावना से जोड़ा है। भ्रमर की गूंज, नदियों की कलकल ध्वनि, गिरि-नभ के आलिंगन में प्रेम की प्रतिध्वनि का सुनाई पड़ना उस भावना के व्यापक प्रसार का पूर्वरूप है, जो छायावादी काव्य में पाई जाती है। जिस निस्सीम प्रेम को छायावादी कवियों ने अपना वर्ण्य विषय बनाया उसके विस्तार-प्रसार और परोक्ष को आभासित करनेवाले रूप को पाण्डेय जी की रचनाओं में देखा जा सकता है। विश्वबोध, नमक की डली आदि रचनाएँ अव्यक्त के प्रति

जिज्ञासा तथा अद्वैत तत्त्व की ओर संकेत करती हैं। प्रकृति पर कवि की अपनी भावनाओं का आरोप निम्नलिखित अवतरण में देखा जा सकता है—

जब मध्याह्न पवन ने आकर, तप्त किया जलथल आकाश।
पाया मैंने उसमें तेरे, व्यथित हृदय का खर विश्वास ॥

कलनिनादिनी तटिनी ने भी, संध्या को हो भ्रांत महान,
पहुँचाया मेरे कानों तक, विरह वेदना का तव गान ॥

मुकुटधर पाण्डेय की वैयक्तिकता, कल्पना, अनुभूतिमयता, जिज्ञासा, राष्ट्रीयता, लाक्षणिकता, बिंब-विधान आदि से छायावादी काव्य का सीधा संबंध जोड़ा जा सकता है और जोड़ा जाना चाहिए। उसे प्रकृत स्वच्छन्दतावाद से अलग विदेशी प्रभावापन्न मानना तर्क-संगत नहीं है। 'छायावाद' नाम के प्रवर्तन का श्रेय भी उन्हीं को है। इसके प्रमाण में जबलपुर से प्रकाशित होने वाली पत्रिका 'शारदा' में छपे उनके तीन लेख प्रस्तुत किए जा सकते हैं। रूपनारायण पाण्डेय मूलतः स्वच्छन्दतावादी कवि हैं। व्यापक अर्थ में सुभद्रा कुमारी चौहान, गुरुभक्त सिंह, गोपालशरण सिंह आदि को इसी धारा के अन्तर्गत माना जायगा।

ब्रजभाषा काव्य

खड़ीबोली काव्य-प्रवाह के बीच ब्रजभाषा काव्य-परंपरा भी चलती रही। ब्रजभाषा में लिखने वाले कवियों में जगन्नाथदास रत्नाकर, रामचन्द्र शुक्ल (बुद्धचरित), दुलारेलाल भार्गव (दुलारे दोहावली), वियोगी हरि (वीरसतसई), रामनाथ ज्योतिषी (रामचन्द्रोदय), रासकृष्ण दास आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। इनमें सबसे विशिष्ट कवि रत्नाकर हैं।

समूची ब्रजकाव्य-परंपरा में बिहारी को छोड़कर इतना व्युत्पन्न कवि दूसरा नहीं है। संभवतः इसीलिए बिहारी इनके सर्वाधिक प्रिय कवि थे। बिहारी सतसई पर लिखी हुई उनकी टीका 'बिहारी रत्नाकर' आज भी बेजोड़ है। उनके समस्त काव्य में बिहारी का सा क्लासिकल संयम है तथा शब्द-प्रयोग में अर्थ की कसावट है। बिहारी की तरह ही पांडित्य का अद्भुत चमत्कार भी उनमें मिलेगा। उनका रहन-सहन, अभिरुचि मध्यकालीन हैं। यह मध्यकालीनता विषयों के चुनाव, अभिव्यक्ति, रूपात्मकता, भाषा सभी में मिलेगी। इसमें संदेह नहीं कि वे श्रेष्ठ प्रतिभा के कवि थे। इसके बावजूद आधुनिक युग में स्वागत खड़ीबोली कविता का ही हुआ। हिंडोला, शृंगारलहरी, वीराष्टक, गंगावतरण, उद्धवशतक आदि उनकी काव्य रचनाएँ हैं।

द्विवेदी युगीन परंपरा के अवशिष्ट कवि

अनूप शर्मा, जगदंबा प्रसाद हितैषी, श्यामनारायण पांडेय, पुरोहित प्रताप नारायण आदि द्विवेदी युगीन चेतना के कवि हैं। अनूप शर्मा पहले ब्रजभाषा में लिखा करते थे। हरिऔध के 'प्रियप्रवास' के ढंग पर उन्होंने 'सिद्धार्थ' प्रबंध-काव्य लिखा। पर इसमें 'प्रियप्रवास' की आधुनिकता नहीं है। 'सुनाल' एक खंडकाव्य है। 'वर्धमान' महाकाव्य जैनाचार्य महावीर स्वामी के चरित पर आधारित है।

हितैषी सनेही-संस्थान के कवि हैं। 'कल्लोलिनी' उनका प्रतिनिधि काव्य-संग्रह है। श्यामनारायण पांडेय वस्तुतः कवि-सम्मेलन के कवि हैं। 'हल्दी-घाटी', 'जौहर' उनके प्रसिद्ध प्रबंधकाव्य हैं जो सुनने पर उत्साहवर्द्धक तथा पढ़ने पर अनुत्साहवर्द्धक प्रतीत होते हैं। पुरोहित प्रतापनारायण का 'नल नरेश' नामक महाकाव्य द्विवेदी युगीन रूढ़ियों से ग्रस्त है।

गद्य :

बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में भारतेंदु हरिश्चन्द्र द्वारा प्रवर्तित 'हरिश्चन्द्री हिन्दी' के विकास में गतिरोध दिखाई देने लगता है। भारतेंदु के समय में शिक्षा का इतना प्रसार नहीं था, यातायात की सुविधाएँ भी कम ही थीं। हिन्दी सामान्य उपयोग की भाषा नहीं बन पाई थी। भारतेंदु और उनके मंडल के लोग मिशनरी उत्साह से उसकी संवर्धना में लगे हुए थे। सार्वजनिक जीवन के साथ जब तक किसी भाषा का जीवंत और उपयोगितावादी सम्बन्ध नहीं होता तब तक उसके विकास में गतिरोध का आ जाना स्वाभाविक है। पर जो भाषा अपने देश के मिट्टी-पानी से उत्पन्न होती है वह प्रकाश्य रूप से गतिरुद्ध होकर भी प्रच्छन्न रूप से प्रवहमान रहती है।

हिन्दी इस भारत के हृदय-देश की भाषा है, इसी लिए स्वामी दयानन्द सरस्वती ने आर्यसमाज के प्रचार के लिए इसी को माध्यम बनाया। सन् १६०० ई० में इसे उत्तर प्रदेश (तब संयुक्त प्रान्त) की कचहरियों में स्थान मिला। अपनी भाषा अब काम-काज की भाषा बन गई। १८९३ ई० में नागरीप्रचारिणी सभा की स्थापना हो चुकी थी। यातायात के साधनों तथा व्यापारिक सुविधाओं के बढ़ जाने से यह स्वभावतः अन्तर्प्रान्तीय व्यवहार की भाषा बनती जा रही थी।

लेकिन इसके प्रसार के कारण इसमें उर्दू, मराठी, बंगला की पदावली और रंग भी आए। उत्तर भारत में अभी तक उर्दू की प्रधानता थी। इसलिए इधर के बहुत से लेखकों की भाषा में उर्दू-फारसी-अरबी की शब्दावली का धड़ल्ले से प्रयोग होने लगा। बिहार (१९१२ ई० तक) बंगाल का एक भाग था।

बिहारी लेखकों की भाषा में बंगला की गुंफित पदावली आई । राजा राधिका-रमण प्रसाद सिंह की रचनाओं में इसे देखा जा सकता है । महाराष्ट्र और मध्यप्रदेश के लोगों की भाषा में मराठी का प्रभाव परिलक्षित होता है । गंगा प्रसाद अग्निहोत्री की भाषा पर मराठी की स्पष्ट छाया है ।

संस्कृत भाषा के प्रति अतिरिक्त उत्साह से भरे हुए लोग, जिनके अवशिष्ट आज भी मौजूद हैं, हिंदी पर उसे पूरा-पूरा लाद देना चाहते थे । सुधाकर द्विवेदी ने इस प्रकार की भाषा का एक उदाहरण देते हुए अपनी 'राम कहानी' में इसका अच्छा मखौल उड़ाया है—"आप के समागमनार्थ में गत दिवस आप के धाम पर पधारा, गृह का कपाट मुद्रित था, आपसे भेंट न हुई, हताश होकर परावर्तित हुआ ।" इसके अतिरिक्त भोजपुरी, अवधी, ब्रजी शब्दावली का समावेश भी धड़ल्ले से हो रहा था ।

शब्दों के बेमेल भंडार के अतिरिक्त व्याकरण सम्मत भाषा लिखने की ओर भी लोगों का ध्यान नहीं गया । वाक्य-विन्यास, लिंग, वचन, विभक्ति और क्रिया-रूपों के मनमाने प्रयोग होने लगे । महावीर प्रसाद द्विवेदी ने भाषा की अस्थिरता और व्याकरणगत त्रुटियों को दूर करने का अथक प्रयास किया और इसमें कोई संदेह नहीं कि भाषागत अराजकता में व्यवस्था लाने का सर्वाधिक श्रेय उन्हीं को है । भाषा का स्वरूप गठित होने के साथ ही द्विवेदी जी ने हिन्दी गद्य को अनेक प्रकार की शैलियाँ भी दीं ।

'सरस्वती' के माध्यम से उन्होंने गद्य-पद्य दोनों की भाषा को व्यवस्थित और भावों तथा विचारों को अभिव्यक्त करने में समर्थ बनाने की चेष्टा की । इस समय पढ़े-लिखे लोगों का एक वर्ग—मध्यमवर्ग—तैयार हो चुका था । उनका समस्त प्रयास साहित्य को इस वर्ग की शिक्षा और मर्यादा के अनुरूप बनाना था । यही कारण था कि उन्होंने गद्य में निबंध की विधा पर विशेष जोर दिया। बेकन के निबंधों के अनुवाद 'बेकन-विचार-रत्नावली' का प्रकाशन विचारा-भिव्यक्ति को दिशा देने के लिए ही किया गया ।

द्विवेदी जी द्वारा लिखे गए छोटे-बड़े निबंधों की संख्या लगभग तीन सौ है । उनमें से बहुत से पुस्तकाकार में प्रकाशित हो चुके हैं । जैसे, रसज्ञरंजन, लेखांजलि, संचयन, संकलन, अद्भुत आलाप, साहित्य सीकर, साहित्यसंदर्भ, समालोचना समुच्चय, प्राचीन कवि और पंडित, विचार-विमर्श, आलोचना आदि ।

द्विवेदी जी के निबंधों को आचार्य शुक्ल ने बातों का संग्रह कहा है । इसका मुख्य कारण है कि उनके निबंधों में विचारों की वह गूढ़ गुंफित परंपरा नहीं मिलती जिससे पाठक की बुद्धि उत्तेजित होकर किसी नई विचार-पद्धति पर दौड़ पड़े । शुक्ल जी ने प्रकारान्तर से अपने निबंधों की शैली की ओर संकेत किया

है । पर द्विवेदी जी जिस भाषा और शैली का विधान कर रहे थे उसे शुक्ल जी के निबंधों की नींव समझनी चाहिए ।

उन्होंने बताया है कि 'ज्ञानराशि के संचित कोष ही का नाम साहित्य है' । यह संचय उन्होंने जगह-जगह से किया है, काव्यप्रकाश से, साहित्यदर्पण से, रविबाबू के 'काव्यों की उपेक्षिताएँ' से, कृष्णानन्द कवि के 'प्रबंध सहृदयानन्द' से (हंससंदेश), नैषधचरित से (नल का दुस्तर दूत कार्य) आदि । इस तरह वे संग्राहक की भूमिका निभाते हुए दिखाई पड़ते हैं । यह ज्ञानराशि भी उपयोगिता-मूलक और सात्त्विक है ।

इस ज्ञानराशि को उन्होंने सुगम भाषा में प्रस्तुत किया है । वे सरल और व्यावहारिक भाषा के पक्षपाती थे—"मैं तो सरल भाषा के लेखक को बहुत बड़ा लेखक मानता हूँ—दूसरी भाषाओं के शब्दों और भावों को ग्रहण कर लेने की शक्ति रखना ही सजीवता का लक्षण है—हमें केवल यह देखते रहना चाहिए कि इस सम्मिश्रण के कारण कहीं हमारी भाषा अपनी विशेषता तो नहीं खो रही—बिगड़कर कहीं वह और कुछ तो नहीं होती जा रही, बस ।" साफ है कि उन्होंने भाषा की मूर्ति गढ़ने का प्रयास किया । यद्यपि इस मूर्ति की संघटना में उनकी नैतिकता, उपयोगितावादी मनोवृत्ति का यथेष्ट योग है । फिर भी वह बाह्य नियमानुवर्तिता—व्याकरणिक नियमानुवर्तिता—के बंधनों में अधिक जकड़ी हुई है । व्याकरण के नियमों के पालन का परिणाम यह हुआ कि हिन्दी भाषा की एक विशिष्ट प्रकृति बनने लगी और लेखक इसकी परिणति के प्रति सावधान हो गए । द्विवेदी जी की भाषा-शैली का एक नमूना देखिए :—

"कविता से विश्रान्ति मिलती है । वह एक प्रकार का विराम स्थान है । उससे मनोमालिन्य दूर होता है थकावट कम हो जाती है । चक्की पीसने के समय स्त्रियाँ, काम करने में मजदूर आदि, परिश्रम कम होने के लिए, गीत गाते हैं । जैसे मनुष्यों के लिए गाने की जरूरत है वैसे ही देश के लिए कविता की जरूरत है । प्रतिदिन नये-नये गीत बनते हैं और सब कहीं गाये जाते हैं । इसी नियमानुसार देश में समय-समय नई-नई कविताएँ हुआ करती हैं । यह स्वाभाविक किंवा नैसर्गिक योजना है ।"

इस उद्धरण के शब्दों पर विचार करते समय पता लगता है कि वे एक मध्यवर्ती मार्ग का अनुसरण करना चाहते थे । संस्कृत के शब्दों का व्यावहारिक स्तर पर प्रयोग करना उन्हें अभीष्ट था । विश्रान्ति, मनोमालिन्य और नैसर्गिक ऐसे ही शब्द हैं जो सरल शब्दावली के साथ खप जाते हैं । सामान्यतः इसमें बोलचाल की भाषा के शब्द ही प्रयुक्त हैं । वे संस्कृत के मार्दव की जगह मृदुता रखना पसंद करते थे । मार्दव की कर्कशता हिन्दी की प्रकृति के अनुकूल नहीं

थी। इस प्रकार विशेष्य के अनुसार विशेषण का लिंग परिवर्तन भी उन्हें अच्छा नहीं लगता था।

साफगोई इसकी दूसरी विशेषता है। सामान्य स्तर के पाठक को भी यह सहज ही बोधगम्य है। यों भाषा की जटिलता का बहुत कुछ संबंध विचारों की जटिलता से होता है। यहाँ विचार सरल हैं। सरल विचारों को भी साफगोई के साथ व्यक्त करना भाषा की विशेषता ही है।

वाक्य छोटे और परस्पर संबद्ध हैं। पर साफगोई और वैचारिक संयम का मेल न होने के कारण वे एक ही बात को बार-बार दुहराते हैं। आगे चलकर श्यामसुंदरदास और रामचन्द्र शुक्ल की शैली में यह संयम आया।

उनमें संग्रह पर आग्रह है विश्लेषण पर नहीं, व्यवस्था पर जोर है उद्भावना पर नहीं, सरलता पर जोर है जटिल भावाभिव्यक्ति पर नहीं। किंतु उस समय की इस उपलब्धि का ऐतिहासिक महत्त्व है।

इस भाषा-शैली का उस युग से घनिष्ठ संबंध है। यह भी कहा जा सकता है कि उस समय के पढ़े-लिखे समाज के ज्ञानवर्द्धन के लिए जरूरी था कि जो कुछ कहा जाय वह सरल और बोधगम्य हो। इस समसामयिक आवश्यकता ने उनकी भाषा-शैली के निर्माण में विशेष योग दिया।

श्यामसुंदरदास (१८७५ ई०-१९४५ ई०) ने हिन्दी साहित्य को अनेक प्रकार से संबृद्ध किया। नागरीप्रचारिणी सभा की स्थापना, हिंदी हस्तलिखित ग्रंथों की खोज, हिंदी वैज्ञानिक कोश और शब्द सागर का संपादन करके उन्होंने हिन्दी को गंभीर दिशा की ओर मोड़ा। उच्चशिक्षा के योग्य 'साहित्यालोचन', 'भाषा-विज्ञान', 'हिंदीभाषा का विकास' आदि पुस्तकें लिखकर सिद्ध किया कि हिंदी गद्य में श्रेष्ठ पुस्तकें लिखी जा सकती हैं। कई प्राचीन कवियों के ग्रंथों का संपादन कर उन्होंने स्नातकोत्तर कक्षाओं के लिए पाठ्यपुस्तकें तैयार कीं।

इसके अतिरिक्त उन्होंने साहित्यिक निबंध भी लिखे। 'समाज और साहित्य', 'भारतीय साहित्य की विशेषताएँ', 'कर्त्तव्य और सत्यता', 'तुलसीदास', 'सूरदास', 'हमारी भाषा' आदि निबंधों द्वारा उन्होंने जो विषय प्रतिपादन किया है उसमें वैचारिक तारतम्यता तो है पर अपेक्षित गंभीरता का अभाव है। फिर भी उसमें विश्लेषण का बीज सुरक्षित है जिसका विकास आगे चलकर शुक्ल जी की भाषा में हुआ।

द्विवेदी जी की भाषा बोलचाल की भाषा के निकट है किन्तु बाबू साहब की भाषा संस्कृतनिष्ठ है। 'आश्रम-चतुष्टय' जैसी भाषा लिखना द्विवेदी जी को

पसंद नहीं हो सकता था। वाक्य लंबे हैं, किन्तु अर्थबोध की दृष्टि से स्पष्ट है। द्विवेदी जी ने तद्भव शब्दों के व्यवहार द्वारा भाषा को स्वाभाविक दिशा की ओर प्रवाहित करने की चेष्टा की। किन्तु बाबू साहब ने कदाचित् शिक्षण को दृष्टि में रखते हुए तत्सम शब्दों का प्रयोग अधिक श्रेयस्कर समझा। मौलिकता उनमें भी नहीं है। पर भाषा को विश्लेषणक्षम बनाने में उनका प्रयास निश्चय ही स्तुत्य है।

बाबू यशोदानन्दन अखौरी, विजयानन्द दुबे, मिश्रबंधु, चतुर्भुज औदिच्य, किशोरीदास वाजपेयी, कृष्णबल्देव वर्मा, स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, मन्नन द्विवेदी, केशवप्रसाद सिंह आदि ने अनेक प्रकार की शैलियों के प्रादुर्भाव में योग दिया।

बालमुकुन्द गुप्त (१८६५-१९०७ ई०)

यद्यपि गुप्त जी पुनर्जागरण युग और पूर्व-स्वच्छन्दतावादी युग के संधि-काल में हुए फिर भी उन्हें पुनर्जागरण युग के अन्तर्गत ही रखा जाता है। क्योंकि उनका कार्यकाल इस युग में भी चला आया है। वे द्विवेदी जी के प्रभाव-मंडल के बाहर थे—कालक्रम की दृष्टि से भी और भाषा-शैली की दृष्टि से भी। वे वस्तुतः भारतेंदु की प्राणवत्ता लेकर आए किंतु भाषा-शैली के प्रति वे वैसे ही संतर्क थे जैसे द्विवेदी जी खुद।

हिन्दी में लिखने के पूर्व वे उर्दू पत्रकारिता में महारत हासिल कर चुके थे। 'अखबारे-चुनार' और लाहौर के 'कोहेनूर' उर्दू पत्रों का उन्होंने योग्यतापूर्वक संपादन किया। कानपुर के उर्दू मासिक 'नया जमाना' में भी वे बराबर लिखते रहे। १८८९ में वे कालाकाँकर के 'हिन्दुस्थान' में सह-संपादक के रूप में आए। किन्तु वैचारिक मतभेद के कारण उन्हें अलग होना पड़ा। १८९३ में वे 'हिन्दी बंगवासी' के संपादक हुए। बदरीनारायण चौधरी 'हिन्दी बंगवासी' को 'भाषा गढ़ने की टकसाल बतलाते थे। उस टकसाल का कोई सिक्का बाबू बालमुकुंद गुप्त की छाप के बिना नहीं निकलता था'। १८९९ में वे 'भारतमित्र' के संपादक नियुक्त हुए। उनकी ख्याति के आधार 'भारतमित्र' के संपादन-काल में लिखे गए 'शिवशंभु के चिट्ठे' और 'खत' हैं।

पुनर्जागरण युग में पुनर्जागरण की जो परंपरा चल निकली थी, गुप्त जी ने उसे ही अत्यंत व्यंग्यात्मक ढंग से प्रस्तुत किया। उनमें चोट करने तथा उसके माध्यम से भारतीयों में आत्मसम्मान भरने की अपूर्व क्षमता थी।

उन्होंने शिवशंभु शर्मा के नाम से ये पत्र लार्ड कर्जन को लिखे। लाला लाजपत राय ने 'कोहेनूर' में राधाकृष्ण के नाम से कुछ चिट्ठे छपवाये थे जो सर सैयद अहमद खाँ के हिन्दू-मुस्लिम एकता संबंधी नीति के विरोध में लिखे गए थे। जब ये चिट्ठे छप रहे थे उस समय गुप्त जी 'कोहेनूर' के संपादक थे। संभव है इन चिट्ठों से गुप्त जी ने प्रेरणा ली हो।

लार्ड कर्जन की भारत-विरोधी नीति से गुप्त जी अत्यधिक क्षुब्ध थे। उस क्षोभ-आक्रोश को प्रभावशाली ढंग से व्यक्त करने के लिए व्यंग्य एकमात्र तरीका था। इसे व्यंग्य न कहकर विडंबना (आइरनी) कहना अधिक संगत है। गुप्त जी के चिट्ठों का सारा ढाँचा विडंबनात्मक है। कुछ उदाहरण देखिए--
"अभी गत मंगलवार को नागपंचमी थी। हमारे श्रीमान् लार्ड कर्जन होते तो देखते क्यों कर हिन्दू स्त्रियाँ नाग की पूजा करने उसकी बांवी पर जाती हैं और कैसे उसे दूध चढ़ाती हैं। जो देश साँप को भी ईश्वर मानकर पूजता है और उससे कल्याण की कामना करता है वह लार्ड कर्जन जैसे वायसराय से क्या कुछ आशा नहीं कर सकता? इससे उसका स्वागत करते हैं।"

+ + +

"तीसरे पहर का समय था। दिन जल्दी-जल्दी ढल रहा था और सामने से संध्या फुर्ती के साथ पाँव बढ़ाये चली आती थी। शर्मा महाराज बूटी की धुन में लगे हुए थे। सिलवट से भंग रगड़ी जा रही थी। मिर्च मसाला साफ हो रहा था, बादाम-इलाइची के छिलके उतारे जा रहे थे। नागपुरी नारंगियाँ छील-छील कर रस निकाला जाता था। इतने में देखा कि बादल उमड़ रहे हैं। चीलें नीचे उतर रही हैं, तबियत भुरभुरा उठी। उधर घटा, बहार में बहार। इतने में वायु का वेग बढ़ा। चीलें अदृश्य हुईं, अँधेरा छाया, बूंदें गिरने लगीं, साथ ही तड़ तड़ धड़ होने लगी, देखा ओले गिर रहे थे, ओले थमे, कुछ वर्षा हुई, बूटी तैयार हुई, बमभोला कहकर शर्मा जी ने एक लोटा भर चढ़ाई। ठीक उसी समय लाल डिग्गी पर बड़े लाट मिंटो ने बंग देश के भूतपूर्व लाट उडवर्न की मूर्ति खोली।"

पहले उद्धरण में नागपूजा के उल्लेख के साथ हिन्दू समाज की अतिशय उदाराशयता का परिचय देते हुए साम्राज्यवादी लार्ड कर्जन को साँप से भी गया बीता संकेतित किया गया है। यह संकेत हास्य-विनोद मात्र नहीं है, बल्कि इस क्षोभ में चोट करने की भरपूर संभावना भी है। दूसरे उद्धरण में छोटे-छोटे वाक्यों और बोलचाल के शब्दों द्वारा संध्या की पृष्ठभूमि में भंग बनाने का जो ब्योरा दिया गया है वह संपूर्ण संदर्भ में काफी अर्थवान है। मौसम का बदलना, ओले पड़ना, अँधेरा होना, लाल डिग्गी का बजना और उडवर्न की मूर्ति का खोलना आदि के वर्णन से लार्ड कर्जन की नीति का भी गहरा लगाव है। दो विरोधी

स्थितियों को एक साथ रख कर भारतीयों और लार्ड कर्जन दोनों की स्थितियों पर प्रकाश डाला गया—एक भांग पी रहा है दूसरा मूर्ति का अनावरण। सारा-का-सारा वातावरण ही विडंबना पूर्ण है। राजनीतिक विषयों को भी साहित्यिक स्तर पर प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत करने में गुप्त जी अकेले हैं। अनेक प्रकार की भावनाओं को धीरे पर गहरी चोट करने वाली शैली उनकी अपनी निजी है। इसमें सन्देह नहीं कि वे अपने समय के अन्यतम निबंधकार हैं।

इसके अतिरिक्त उन्होंने हिन्दी भाषा, व्याकरण, राष्ट्रभाषा आदि पर भी निबंध लिखे। किंतु इन निबंधों में भी शैली उनकी व्यंग्यात्मक ही है। महावीर प्रसाद द्विवेदी के 'अनस्थिरता' शब्द पर लिखे गए निबंध अपनी व्यंग्यात्मकता के लिए प्रसिद्ध हैं।

माधव प्रसाद मिश्र (१८७१-१९०७ ई०)

माधव प्रसाद मिश्र के निबंध भारतेंदु परंपरा के निबंध हैं। लेकिन ये उस परंपरा को आगे नहीं बढ़ाते। भारतेंदु में अपनी संस्कृति पर अंधानुराग नहीं है, वे उस पर खुले ढंग से विचार करते हैं। किंतु मिश्र जी एक धार्मिक घेरे में बद्ध होने के कारण वैचारिक न होकर भावात्मक हो जाते हैं। भावात्मक निबंधों में भाव कम और वागाडंबर अधिक है। एक उदाहरण लीजिए—"जहाँ महा महा महीधर ढुलक जाते थे और अगाध अतल स्पर्शी जल था, वहाँ अब पत्थरों में दबी हुई एक छोटी-सी सुशीतल वारि-धारा बह रही है जिससे भारत के विदग्ध जनों के दग्ध हृदय का यथाकिंचित् संताप दूर हो रहा है। जहाँ के महाप्रकाश से दिक्-दिगंत उद्भासित हो रहे थे, वहाँ अब अंधकार से घिरा हुआ स्नेह शून्य प्रदीप टिमटिमा रहा है जिससे कभी-कभी भू-भाग प्रकाशित हो रहा है। पाठक! जरा विचार कर देखिए, ऐसी अवस्था में यहाँ कब तक शांति और प्रकाश की सामग्री स्थिर रहेगी?"

उनका एक निबंध संग्रह 'निबंधमाला' प्रकाशित हो चुका है।

गोविन्दनारायण मिश्र (१८५९-१९२६ ई०) अपनी विद्वत्ता के लिए अधिक प्रसिद्ध हैं। 'प्राकृत-विचार' एक छोटा-मोटा प्रबंध है। इसमें प्राकृत भाषा के उद्भव और विकास पर विचार किया गया है। 'विभक्ति विचार' में विभक्तियों का व्याकरणिक विवेचन हुआ है। 'आत्माराम की टेंटें' में अनस्थिरता शब्द को लेकर चलने वाले विवाद में द्विवेदी जी का पक्ष लिया गया है। किंतु जब मिश्र जी 'कवि और चित्रकार' विषय पर निबंध लिखने लगते हैं तो तत्सम शब्दावली, उपमा, रूपक के लदाव, सानुप्रास भाषा के प्रयोग आदि में विचार का पता लगना मुश्किल हो जाता है—

"सहज-सुन्दर मनहर सुभाव-छवि-सुभाव-प्रभाव से सबका चित्त चोर सुचारु-सजीव-चित्र-रचना-चुतर चितेरा और जब देखा तब ही अभिनय सब रस-रसीली नित नव-नव-भाव-बरस रसीली अनूप-रूप सरूप-गरबीली, सृजन-जन-मोहन-मंत्र की कीली, गमक जमकादिनक सहज-सुहाते-चमचमाते, अनेक अलंकार-शृंगार-साज-सजीली, छबीली कविता-कलपना-कुशल-कवि, इन दोनों का काम ही उस अग-जग-मोहिनी, बला की सबला सुभाव-सुन्दरी अति सुकोमल-अबला की नवेली-अलबेली-अनोखी छवि को आँखों के आगे परतच्छ-सी खड़ी दरसाकर मर्मज्ञ सुरसिक जनों के मन को लुभाना, तरसाना, सरसाना और रिझाना ही है। अर्थहीन विशेषणों की लंबी कतार भाषा की झंकृति उन्हें निबंधकार नहीं रहने देती।

इस काल की निबंध शैली के निर्माण में **चन्द्रधर शर्मा गुलेरी** (१८८३-१९२० ई०) का विशेष स्थान है। ये संस्कृत के विद्वान् तथा भाषा के मर्मज्ञ थे। अल्पवय में ही जयपुर से 'समालोचक' नामक पत्र अपने संपादकत्व में निकलवाया था। अपभ्रंश साहित्य की विशेषताओं की ओर उन्होंने 'पुरानी हिन्दी' नामक निबंध-माला लिखकर लोगों का ध्यान आकृष्ट किया था। उनके व्यक्तित्व में पांडित्य और सरसता का अद्‌भुत संयोग था। एक ओर वे भाषा जैसे नीरस विषय का पांडित्यपूर्ण सरस विश्लेषण करते हैं तो दूसरी ओर 'मारेसि मोहिं कुठांउ' और 'कछुवा धर्म' जैसे व्यक्तित्व व्यंजक चुटीले निबंधों की सृष्टि। आगे चलकर पांडित्य और सरसता का यह विरल संयोग हजारीप्रसाद द्विवेदी में दिखाई पड़ा।

गुलेरी जी संस्कृत के पंडित होते हुए भी गोविन्द नारायण मिश्र अथवा माधव प्रसाद मिश्र की तरह अपनी संस्कृति के अंधभक्त नहीं थे। इसी लिए अपने निबंधों में उन्होंने भारतीय संस्कृति की त्रुटियों को व्यंग्यात्मक ढंग से चोट करने की शैली में उद्‌घाटित किया है। व्यक्तित्व व्यंजक निबंधों में भी पांडित्य सर्वत्र है पर आधुनिक जीवन से संबद्ध होने के कारण वह रचनात्मक हो गया है। इस रचनात्मकता के मूल में बदलाव की वह आकांक्षा है जो संस्कृति में ताजगी और निखार लाती है। एक उदाहरण देखिए :—

"पर ईरान के अंगूरों और गुलों का, मजबत् पहाड़ की सोमलता का, चसका पड़ा था। लेने जाते तो पुराने गंधर्व मारने दौड़ते। हाँ, उनमें से कोई उस समय का चिलकौआ नकद नारायण लेकर बदले में सोमलता बेचने को राजी हो जाते थे। उस समय का सिक्का गौएं थीं। जैसे आजकल लखपती, करोड़पती कहलाते हैं वैसे तब 'शतगु', 'सहस्त्रगु' कहलाते थे। ये दमड़ीमल के पोते करोड़ीचन्द अपने 'नवग्वा:', 'दशग्वा:' पितरों से शरमाते न थे। आदर से उन्हें याद करते थे। आजकल के मेवा बेचने वाले पेशावरियों की तरह कोई कोई सरहदी यहाँ पर भी

सोम बेचने चले आते थे। मोल ठहराने में बड़ी हुज्जत होती थी; जैसा कि तरकारियों का भाव करने में कुंजड़िनों से हुआ करती। वे कहते, सोम बेच दो। वे कहते हैं, वाह! सोम राजा का दाम इससे कहीं बढ़ कर है। इधर ये गौ का गुण बखानते। पर काबुली काहे को मानता? उसके पास सोम की मनोपली थी और इनका बिना लिए सरता नहीं। अंत में गौ को एक पाद, अर्ध होते-होते दाम तै हो जाते। भूरी आँखों वाली एक बरस की बछिया में सोम राजा खरीद लिये जाते। गाड़ी में रखकर शान से लाये जाते।"

सरल और बोलचाल की भाषा का व्यवहार इसलिए करना पड़ा कि लेखक को नई जमीन तोड़नी थी। बँधी हुई शब्दावली में बँधे हुए विचार ही व्यक्त हो पाते हैं। सोम के प्रसंग में करोड़ीमल और मनोपली जैसे शब्द पूरे निबंध को अर्थ-विस्तार देते हैं। बालमुकुन्द गुप्त को छोड़कर शेष निबंधकारों के पास गुलेरी जी जैसी मूल्यदृष्टि नहीं थी। इसलिए उनकी शब्दावली में ऐसी प्रत्यग्रता भी नहीं दिखाई देती। गुप्त जी समसामयिक विषयों से उलझते रहे किंतु गुलेरी जी ने अपने निबंधों में अपनी लंबी सांस्कृतिक विरासत को ग्रहण किया है। इसलिए विचारों की संकुलता उनमें अधिक है। किंतु इस परंपरा को नवीन जीवन-बोध से जोड़ने के लिए जरूरी था कि वे देशज, तद्भव और उर्दू के शब्दों का प्रयोग करते। शरमाना, चिलकौआ, सरता, शान, बछिया ऐसे ही शब्द हैं।

सरदार पूर्ण सिंह (१८८१-१९३१ ई०) ने केवल छः निबंध लिखे—सच्ची वीरता, कन्यादान, पवित्रता, आचरण की सभ्यता, मजदूरी और प्रेम और अमरीका का मस्ताना जोगी : वाल्ट ह्विटमैन। उनकी भावुकता, प्रेम, मानवतावाद आदि को देखकर कुछ शोध ग्रंथों में कहा गया है कि हिन्दी के निबंधकारों में सरदार पूर्ण सिंह पर अंग्रेजी का सबसे अधिक प्रभाव पड़ा है। पर उनके व्यक्तित्व का बहुत कुछ निर्माण स्वामी रामतीर्थ के भाषणों, रचनाओं, आचार-विचार से हुआ। रामतीर्थ उनके गुरु थे। गुरु की सहजता, पवित्रता, मानवीयता आदि ही उनके निबंधों में अपने ढंग से अवतरित हुई हैं।

'सच्ची वीरता' में सिंह जी ने कारलाइल की अत्यधिक प्रशंसा की है। इमर्सन के एक निबंध 'आन हिरोइज्म' का प्रभाव भी इस पर दिखाई पड़ता है। कारलाइल का उल्लेख 'आचरण की सभ्यता' में भी मिलता है, 'मजदूरी और प्रेम' में रस्किन का। अन्य निबंधों पर टालस्टाय, थोरो आदि के प्रभावों को देखा गया है। वस्तुतः साहित्य की रचना इधर-उधर के प्रभावों पर नहीं होती। भावात्मक निबंध तो बहुत कुछ लेखक के व्यक्तित्व को प्रतिफलित करता है। स्वयं रामतीर्थ के भाषणों में इमर्सन, कारलाइल, टालस्टाय, ह्विटमैन, थोरो आदि

का जगह-जगह उल्लेख हुआ है। यदि स्वामी रामतीर्थ के भाषणों और सरदार पूर्ण सिंह के निबंधों का तुलनात्मक अध्ययन किया जाय तो सिंह जी पर रामतीर्थ का ही प्रभाव परिलक्षित होगा।

रामतीर्थ के प्रभाव में आकर उनकी मानवता में विशेष उदारता, नवीनता, भावाकुलता आ गई है; पाप-पुण्य की पुरानी परिभाषा बदल गई है। एक उदाहरण देखिए :—

'हल चलाने और भेड़ चराने वाले प्रायः स्वभाव से ही साधु होते हैं। हल चलाने वाले अपने शरीर का हवन किया करते हैं। खेत उनकी हवन-शाला है। उनके हवनकुंड की ज्वाला की किरणें चावल के लंबे और सुफेद दानों के रूप में निकलती हैं। गेहूँ के लाल दाने इस अग्नि की चिनगारियों की डालियाँ हैं। मैं जब कभी अनार के फूल और फल को देखता हूँ तब मुझे बाग के माली का रुधिर याद आता है।' इसके रेहटारिक का मूलाधार 'हवन' है। इसका लाक्षणिक प्रयोग उतना महत्त्वपूर्ण नहीं है जितना इसका संदर्पण। यह एक खास संदर्भ में प्रयुक्त होकर मेहनतकश लोगों के फलवान श्रम को उजागर करता है। इसी प्रकार अनार के फूल-फल और माली के रुधिर के वर्ण-सादृश्य पर लट्टू होने वाले लोग केवल विशेषणों के आधार पर इसकी प्रशंसा करने में असमर्थ हैं। 'रुधिर' शब्द पूरे प्रकरण को नई अर्थवत्ता से संपृक्त कर देता है। माली का रुधिर द्रष्टा के यथार्थवादी दृष्टिकोण का सूचक है। यथार्थ पर आधारित होने के कारण उनकी भावात्मक शैली अर्थ-गौरव से पूर्ण हो उठती है।

पूर्ण जी के 'मौन व्याख्यान', 'अपवित्र पवित्रता', 'पापी में महात्मा और महात्मा में पापी डूबा हुआ है' आदि विरोधाभासों की जरूरत चमत्कार के लिए नहीं, बल्कि ये अर्थ की जटिलता के लिए ले आए गए हैं। 'पापी में महात्मा' कह कर वे दो निश्चित कोटियों में बँटे हुए पापी और महात्मा की कोटियों को तोड़ना चाहते हैं।

पद्मसिंह शर्मा, जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी, गणेशशंकर विद्यार्थी, यशोनन्दन अखौरी, विजयानन्द दुबे, मिश्रबन्धु, कृष्ण बल्देव वर्मा, स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, हरिऔध, गंगा प्रसाद अग्निहोत्री, वेंकटेश नारायण तिवारी, काशीप्रसाद जायसवाल, कन्नोमल आदि इस काल के अन्य निबंधकार हैं। इनमें से कुछ तो नाम के निबंधकार हैं, कुछ में चामत्कारिकता के अलावा निबंधीय विशेषताएँ नहीं हैं। प्रारंभिक काल में अपने सामान्य योगदान के कारण इनकी गणना निबंधकारों में कर ली जाती है।

वस्तुतः इस काल के निबंधकारों को तीन श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है—भाषिक चमत्कार पैदा करने वाले लेखक, भाषा परिष्कार करने

वाले लेखक और व्यक्तित्व व्यंजक निबंधकार। पहली दो श्रेणियों के लेखक जमीन तैयार करने की दृष्टि से ही महत्त्वपूर्ण हैं। इस युग के वास्तविक निबंधकार चार ही हैं—श्यामसुन्दरदास, बालमुकुंद गुप्त, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी और सरदार पूर्ण सिंह। श्यामसुन्दरदास का महत्त्व भी इतिहास की दृष्टि से ही है, क्योंकि उनकी परंपरा में शुक्ल जी ऐसे श्रेष्ठ निबंधकार पैदा हुए।

ये तीन निबंधकार (गुप्त, गुलेरी, सिंह) भारतेंदु हरिश्चन्द्र, बालकृष्ण भट्ट और प्रताप नारायण मिश्र की परंपरा को आगे बढ़ाते हैं—विषयवस्तु की दृष्टि से भी और भाषा-शैली की दृष्टि से भी। भारतेंदु युग आन्दोलनों का युग था—धार्मिक और राजनीतिक आन्दोलन। पर इनका स्वरूप ठीक-ठीक स्पष्ट नहीं हो सका था। अतः उनमें पुरानेपन और नवीनता, राजभक्ति और देशभक्ति का द्वंद्व आड़े आता था। अब स्थिति बदल गई थी। गुप्त जी चोट करने में किसी प्रकार की रू-रियायत नहीं करते थे। विदेशी सत्ता पर हमला करने में जो शैली उन्होंने अखत्यार की वह उनकी मूल्य-दृष्टि और पत्रकारिता की देन है। गुलेरी जी इस युग के सर्वश्रेष्ठ निबंधकार हैं। बालकृष्ण भट्ट ने जिसे 'सुहृद संगोष्ठी', 'संलाप', 'घरेलू बातचीत' आदि कहते हैं वह गुलेरी जी में संजीदगी और जिन्दादिली से प्रकट हुई है। हजारी प्रसाद द्विवेदी इसी परंपरा में आते हैं, पर गुलेरी जी की चोट भारतेंदु युग में की जाने वाली चोट की अपेक्षा गहरी और जटिल है।

आलोचना

आधुनिक हिन्दी साहित्य में आरंभ से ही दो प्रकार की प्रवृत्तियाँ दिखाई पड़ती हैं—स्थूल नैतिकतावादी और रीतिवादी। पहली में मोटे भारतीय आचार की परंपरा और नए भौतिकवादी दृष्टिकोण का मिला-जुला रूप है तो दूसरी में मोटी काव्यशास्त्रीय दृष्टि। नैतिकतावादी दृष्टि साहित्य में सामाजिक उपयोगिता और नैतिक शिक्षा की तलाश करती थी तो रीतिवादी दृष्टि स्थूल गुण-दोष की। इन दोनों दृष्टियों का परिचय बदरीनारायण चौधरी द्वारा की गई 'संयोगिता स्वयंवर' की समीक्षा में देखा जा सकता है। इसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। बालकृष्ण भट्ट ने उसी पुस्तक की आलोचना व्यापक दृष्टिकोण से की थी किंतु उसकी ओर कम लोगों का ध्यान गया।

नैतिकता के आग्रह के कारण महावीर प्रसाद द्विवेदी को मेघदूत पसन्द नहीं आया था। पर जब उन्होंने उसमें नैतिक मूल्यों को खोज निकाला तो अपने मत को संशोधित कर लिया। कालिदास की निरंकुशता, कालिदास की विद्वत्ता, मेघदूत रहस्य, प्राचीन कवियों के काव्यों में दोषोद्भावना आदि निबंधों की

श्रेष्ठता उनमें प्राप्त होने वाले नैतिक आनन्द पर निर्भर है। उनकी दृष्टि में उत्तम काव्य वही है जिससे संसार का उपकार-साधन हो।

इस दृष्टिकोण के कारण मेघदूत की अपेक्षा रघुवंश को उन्होंने अधिक श्रेष्ठ काव्य माना है। काव्यगत चरित्रों को वे देशकाल की विशेषताओं से समन्वित होना आवश्यक समझते थे।

द्विवेदी जी अपने समय के सबसे अधिक उदार और प्रगतिशील आलोचक हैं। उन्होंने अलंकारों की कलाबाजी और समस्यापूर्ति तथा नायिकाभेद के खेलवाड़ का विरोध किया। पूर्व प्रचलित छंदों के घेरे को तोड़कर उनके स्थान पर नए-नए छंदों के प्रयोग का आग्रह किया।

भाषा के संबंध में उन्होंने लिखा है कि वह बोलचाल के निकट की भाषा होनी चाहिए। काव्यगत शब्दों के विषय में उनका कथन आज के अर्थ-मीमांसकों के निकट मालूम पड़ता है—कविता को प्रभावोत्पादक बनाने के लिए उचित शब्द स्थापना की भी बड़ी जरूरत है। किसी मनोविकार के दृश्य के वर्णन में ढूंढ़-ढूंढ़ कर ऐसे शब्द रखने चाहिए जो सुनने वालों की आँखों के सामने वर्ण्य-विषय का चित्र-सा खींच दे। इसी लिए कवि को चुन-चुन कर ऐसे शब्द रखने चाहिए, और इस क्रम से रखने चाहिए, जिससे उसके मन का भाव पूरे तौर पर व्यक्त हो जाय। आश्चर्य होता है कि द्विवेदी जी ने काफी पहले काव्य के संदर्भ में शब्द-क्रम का उल्लेख किया।

अपनी व्यावहारिक समीक्षा में—विक्रमांकदेव चरित चर्चा, नैषधचरित चर्चा और कालिदास की निरंकुशता पुस्तकों में—कवि की अन्तःप्रकृति की छानबीन तो नहीं मिलती पर उन सभी बातों का उल्लेख मिलता है जिन्हें शुक्ल जी की आलोचना की भूमिका कही जा सकती है। जैसे, नैतिकता का आग्रह, लोकमंगल की भावना, अलंकृति और निर्दिष्ट रूढ़ियों का विरोध। भाषागत काट-छाँट में लगे रहने तथा समीक्षात्मक अभिनिवेश के अभाव में उनकी आलोचनाओं में गहराई नहीं है, यह सच है, परन्तु वे पहले आलोचक हैं जिन्होंने मिश्रबन्धुओं के हिन्दी नवरत्न की आलोचना करते समय कवियों के उत्कर्षापकर्ष के निर्णयात्मक प्रतिमानों की मांग की। अपने समय में प्रकाशित पुस्तकों की छोटी-छोटी समीक्षाएं भी उन्होंने लिखीं।

मिश्रबंधुओं ने मिश्रबन्धु विनोद और हिंदी नवरत्न में समीक्षा का जो स्वरूप खड़ा किया उससे हिंदी आलोचना को कोई खास लाभ नहीं हुआ। उन्होंने भावपक्ष और कलापक्ष को एकदम असंबद्ध रूप में देखा। हिंदी नवरत्न में कवियों की जो कोटियाँ बनाई गईं उनके पीछे कोई सिद्धांत नहीं है। भावपक्ष और कलापक्ष दोनों का निरूपण निहायत अर्थहीन है। देव के कलापक्ष का उद्‌घाटन देखिए—

"देव ने घनाक्षरियाँ सवैये से अधिक रची हैं। उत्तमता में भी वे सवैयों से न्यून नहीं हैं। इनकी कविता में, पृष्ठ पर पृष्ठ पढ़ते चले जाइए, प्रायः कोई बुरा छन्द न पाइएगा।"

इससे देव की कला का कौन सा पक्ष उद्घाटित होता है? उत्तमता और बुरा कहने से क्या तात्पर्य है?

इस समय के सबसे विशिष्ट आलोचक पद्मसिंह शर्मा हैं। उन्होंने बिहारी की सतसई नामक ग्रंथ में सतसई की तुलनात्मक आलोचना की है। उनकी प्रभावात्मक शैली निश्चय ही आलोचना के उपयुक्त नहीं कही जा सकती। किन्तु खेद है कि उसमें बहुत से शोधार्थियों को सार नहीं दिखाई पड़ता। यदि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का इतिहास ही सामने रख लिया होता तो खुद प्रभावात्मक ढंग न अपनाते। आचार्य शुक्ल ने लिखा है—'आर्यासप्तशती और गाथासप्तशती के बहुत से पद्यों के साथ बिहारी के दोहों का पूरा मेल दिखाकर शर्मा जी ने बड़ी विद्वत्ता के साथ एक चली आती हुई साहित्यिक परंपरा के बीच बिहारी को रखकर दिखाया। किसी चली आती हुई साहित्यिक परंपरा का उद्घाटन भी साहित्य समीक्षक का एक भारी कर्त्तव्य है।'

नन्ददुलारे वाजपेयी ने शर्मा जी के संबंध में लिखा है—'रीतिकाव्य में, जो शर्मा जी के समय में प्रचलित काव्य प्रवाह था, रीतिबद्ध शृंगारिकता तो थी ही, रचना कौशल का भी पूरा योग था। शर्मा जी ने शृंगारिकता को छोड़कर रीतिकाव्य के दूसरे गुण निर्माण-कौशल को अपनाया, उसी की छानबीन की। शर्मा जी के समय के साहित्यिक निर्माण में रचना-कौशल की कमी थी। कदाचित् इसी लिए शर्मा जी की समीक्षा का मुख्य आधार काव्य-कौशल बना, जो सामयिक साहित्य-स्थिति के सुधार में भी एक सीमा तक सहायक हुआ।' वाजपेयी जी ने आगे कहा है कि काव्य शरीर के अन्तर्गत भाषा, पद-प्रयोग, उक्ति-चमत्कार और चित्रण-कौशल आदि आते हैं, इन्हीं की ओर शर्मा जी की दृष्टि गई। शब्दों, पदों आदि की अर्थमीमांसा में शर्मा जी ने अपने पांडित्य और सूझ-बूझ का अच्छा परिचय दिया है। जगह-जगह उन्होंने बिहारी का अनुचित पक्षपात करते हुए देव को नीचा दिखाया है। पर शब्दों की कारीगरी और उक्ति-चमत्कार पर विशेष बल देने के कारण भाव के समग्र सौंदर्य की उपेक्षा हो गई है। लेकिन इससे इतना अवश्य हुआ कि काव्य के कलात्मक सौष्ठव की ओर लोगों का ध्यान गया। यह कम महत्त्वपूर्ण उपलब्धि नहीं है।

अब हिन्दी आलोचना में देव-बिहारी में कौन बड़ा है और कौन छोटा है, इसको लेकर झगड़ा खड़ा हो गया। कृष्णबिहारी मिश्र ने 'देव और बिहारी' नाम की एक आलोचनात्मक पुस्तक ही लिख डाली। मिश्रबन्धुओं की तरह

उनकी दृष्टि भी रीतिवादी है। यों शुक्ल जी ने बताया है कि इसमें जो बातें कही गई हैं, वे बहुत कुछ साहित्यिक विवेचन के साथ कही गई हैं, नवरत्न की तरह यों ही नहीं कही गई हैं। पर न तो उसे विवेचन कहा जा सकता है और न साहित्यिक। विवेचन के नमूने के रूप में ये कुछ वाक्य देखे जा सकते हैं—'धीरज से पृथ्वी पर चरण-कमलों का रखना कितना मर्मस्पर्शी है। कोमल-कांत-पदावली की कमनीयता के विषय में हमें कुछ नहीं कहना है। उनकी समुज्ज्वला उपमा प्रस्फुटित होती है।' कथित विवेचन के बीच-बीच यमक, समुच्चय, दृष्टांत आदि अलंकारों के उल्लेख को क्या साहित्यिक कहा जा सकता है? पुस्तक के भाषा अध्याय में भी प्रभाववादी ढंग से अपूर्व शब्द चमत्कार—अनुप्रास स्वादीयसी—सुधा संयोग ढूँढ़कर कुछ भी नहीं कहा जा सका है। शर्मा जी के पास शब्दों के अर्थगत वैशिष्ट्य को खोज निकालने की अद्‌भुत क्षमता थी, जो इस काल के अन्य व्यक्ति में नहीं पाई जाती।

लाला भगवानदीन को देव को बड़ा कहा जाना कैसे अच्छा लग सकता था। वे 'बिहारी और देव' पुस्तक लेकर आलोचना के अखाड़े में उतरे। उन्होंने मिश्रबन्धुओं की बातों को काटते हुए कृष्णबिहारी मिश्र का पूरा जवाब दिया। लाला जी की शैली आक्षेपयुक्त और बदले की भावना से अनुप्रेरित है। वे टीकाकार थे आलोचक नहीं। अपनी 'लक्ष्मी' पत्रिका में उन्होंने भारत-भारती, जयद्रथ वध की समीक्षाएँ भी लिखीं। पर इन ग्रंथों में भी उन्हें छंदोभंग, यतिभंग आदि ही दिखाई पड़ा। रामचरित उपाध्याय के रामचरित चिन्तामणि की समीक्षा करते समय भी उनकी रीतिवादी दृष्टि को देखा जा सकता है।

यह समालोचना का आरंभिक काल था। नए काव्यालोचन की ओर लोगों का ध्यान बहुत कम गया। महावीरप्रसाद द्विवेदी की सैद्धांतिक आलोचनाओं में पुरानी रूढ़ियों का विरोध तथा नए प्रतिमानों का संकेत अवश्य मिलता है पर उनमें आलोचक की मेधा और पैठ का अभाव था। शेष आलोचकों के उपजीव्य रीतिकालीन व श्रृंगारी कवि थे। इसलिए उनसे नई उद्‌भावना की आशा दुराशा मात्र थी। इस समय तक हिंदी की रचनात्मक उपलब्धियाँ भी कदाचित् उतनी महत्त्वपूर्ण नहीं थीं कि आलोचना को नए मानों की ओर ले जाने के लिए बाध्य करतीं। फिर भी महावीरप्रसाद द्विवेदी और पद्मसिंह शर्मा के प्रभाव को, शुक्ल जी की पीढ़ी इन्कार नहीं कर सकती।

स्वच्छन्दतावाद-युग (१९२०-'४० ई०)

अध्याय छः

स्वच्छन्दतावाद

हिन्दी साहित्य में यह युग छायावाद नाम से रूढ़ हो गया है। पर यह शब्द न तो अपने आप अपेक्षित अर्थ दे पाता है और न अन्य भारतीय साहित्य की धाराओं से जुड़ता है। अपने संकुचित अर्थ में यह तत्कालीन काव्य का विशेषण बन कर रह जाता है। इन दो दशकों के काव्य को तो छायावादी कहा जाता है पर नाटक-कहानी-उपन्यास आदि को नहीं। प्रसाद के काव्य को छायावादी कहा जाता है और नाटक-कहानी को स्वच्छन्दतावादी। स्वच्छन्दतावाद अपनी अर्थ-व्याप्ति में छायावाद को समाविष्ट कर लेता है। यह एक ओर भारतीय साहित्य से भी जुड़ जाता है और दूसरी ओर अन्तर्राष्ट्रीय काव्यधारा 'रोमैंटिसिज्म' से भी। ऐसी स्थिति में इस युग का नामकरण स्वच्छन्दतावाद युग अधिक संगत है।

'स्वच्छन्दतावाद' शब्द का प्रयोग शुक्ल जी ने 'रोमैंटिसिज्म के अर्थ में किया है। केवल 'स्वच्छन्दतावाद' शब्द उन्हें 'रोमैंटिसिज्म' का ठीक पर्याय नहीं लगता। इसलिए वे इसके साथ 'सच्चे' अथवा 'स्वाभाविक' विशेषण भी जोड़ते हैं। 'श्रीधर पाठक ही सच्चे स्वच्छन्दतावाद (रोमैंटिसिज्म) के प्रवर्तक ठहरते हैं।' 'काव्यक्षेत्र में जिस स्वाभाविक स्वच्छन्दता (रोमैंटिसिज्म) का आभास पं० श्रीधर पाठक ने दिया था उसके पथ पर चलने वाले द्वितीय उत्थान में त्रिपाठी जी ही दिखाई पड़े।' सच्चे और स्वाभाविक विशेषण से यह संकेत मिलता है कि छायावाद को वे स्वाभाविक स्वच्छन्दतावाद की कोटि में रखने के लिए तैयार नहीं थे।

इस सिलसिले में उन्होंने काउपर, क्रैब और बर्न्स का उल्लेख किया है। इन कवियों ने विदेशी प्रभावों से मुक्त होकर 'साधारण जनता की नादरुचि के अनुकूल नाना मधुर लयों में तथा लोकहृदय के ढलाव की नाना मार्मिक अन्त-र्भूमियों में स्वच्छन्दतापूर्वक ढाला।' बर्न्स की सफलता का रहस्य ग्राम-जीवन की छवियों, प्राकृतिक दृश्यों, प्रेम और गाँव की निश्छल रीति-नीतियों के चित्रण में है। श्रीधर पाठक और रामनरेश त्रिपाठी की प्रशंसा भी शुक्ल जी ने उसी आधार पर की है। श्रीधर पाठक के 'गुनवंत हेमंत' में मूली मटर आदि का वर्णन उन्हें पसंद आया। ख्याल और लावनी की लय पर लिखा गया एकांतवासी योगी और सुथरे-साइंयों के ढंग पर लिखा गया 'जगत सचाई सार' भी उन्हें अच्छा लगा। रामनरेश त्रिपाठी की रचनाओं के रम्य प्राकृतिक दृश्य, कर्मयुक्त प्रेम, रहस्य-जिज्ञासा के प्रति भी वे आकृष्ट हुए।

वर्न्स अंग्रेजी साहित्य में पूर्व रोमैंटिक युग का कवि माना जाता है। पर शुक्ल जी ने श्रीधर पाठक और रामनरेश त्रिपाठी को पूर्व रोमैंटिक नहीं माना है। ऐसा करने पर उन्हें छायावाद को पाठक और त्रिपाठी द्वारा प्रवर्तित काव्यधारा की अगली मंजिल मानना पड़ता। किन्तु छायावाद को वे बाहर से प्रभावित और शैली की वस्तु स्वीकार करते हैं।

अंग्रेजी साहित्य में जो स्वच्छन्दतावादी धारा विकसित हुई उस पर जर्मन, फ्रांसीसी स्वच्छन्दतावाद का स्पष्ट प्रभाव है, पर है वह अपने देश की प्रकृति और स्वरूप के अनुरूप। फ्रांसीसी स्वच्छन्दतावाद एक प्रकार का नवीन सौन्दर्य-शास्त्रीय सिद्धांतों की सृष्टि कर रहा था जब कि अंग्रेजी स्वच्छन्दतावाद रूढ़ कला के विरोध में आया। पूर्वी योरप में यह सामंतवाद और विदेशी शासन के विरुद्ध उठ खड़ा हुआ। हिन्दी का स्वच्छन्दतावाद अंग्रेजी स्वच्छन्दतावाद के अनुरूप न होकर पूर्वी योरप के स्वच्छन्दतावाद के अनुरूप है।

पूर्व-स्वच्छन्दतावादी काव्यधारा से संबद्ध न करने के कारण शुक्ल जी ने इसे बाहर से आई हुई वस्तु कह कर इसका तिरस्कार किया और केवल शैली-वैचित्र्य के रूप में ग्रहण किया। इसे बाहर की वस्तु सिद्ध करने के लिए उन्हें द्राविड़-प्राणायाम पद्धति अपनानी पड़ी है। छायावाद को उन्होंने दो अर्थों में प्रयुक्त किया––रहस्यवाद के अर्थ में और शैली विशेष या पद्धति विशेष के व्यापक अर्थ में। रहस्यवाद को वे आध्यात्मिक ज्ञान का आभास मानते हुए उसे ईसाई मजहब की छाया (फैंटेसमाटा) से जोड़ देते हैं। ब्रह्म समाज के बीच गाये जाने वाले आध्यात्मिक गीतों को वे उससे प्रभावित मानते हैं। धीरे-धीरे यह शब्द धार्मिक क्षेत्र से बाहर निकल कर साहित्यक्षेत्र में प्रविष्ट हुआ और रवीन्द्र बाबू की धूम मचने पर हिन्दी साहित्य में भी प्रकट हो गया।

छायावादी काव्यशैली को, जो इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं है, वे फ्रांस के रहस्यवादी कवियों के प्रतीकवाद से जोड़ते हैं। यह सीधे हिन्दी काव्य से तो जुड़ नहीं सकता। इसलिए वह अंग्रेजी-बंगला से होते हुए हिन्दी में आया। इस जोड़-तोड़ की झोंक में वे यहाँ तक कह गए कि योरोपीय काव्यक्षेत्र में प्रवर्तित आध्यात्मिक प्रतीकवाद (सिम्बालिज्म) के अनुकरण पर रची जाने के कारण बंगाल में ऐसी कविताएँ छायावादी कही जाने लगी थीं। संभव है शुक्ल जी ने रविबाबू के इस कथन से 'एइ प्रकारेर भाषा के केह बलेन धूयाँ केह बलेन छाया....' अपना मंतव्य निकाल लिया हो।

वस्तुतः छायावाद रूपी गंगावतरण की यह धारणा कोरी काल्पनिक है। बंगाल में किसी प्रकार की कविता को छायावाद की संज्ञा नहीं दी गई और न तो हिंदी का छायावाद ब्रिटेन से सात समुद्र पार करता हुआ बंगाल पहुँच कर

हिंदी में आया। यह अपने देश की उस बेचैनी का परिणाम है जो सांस्कृतिक राजनीतिक पुनर्जागरण में दिखाई पड़ता है, जिसका सीधा संबंध नई मूल्य-दृष्टि से है। योरोपीय स्वच्छन्दतावाद में आगे प्रभाववाद, भविष्यवाद, अति-यथार्थवाद आया जब कि हिन्दी स्वच्छन्दतावाद के बाद प्रगतिवाद। निश्चय ही इसकी ऐतिहासिक शक्तियाँ अन्य देशों से भिन्न थीं।

यदि इस देश के पुनर्जागरण का इतिहास देखा जाय तो पता लगेगा कि प्रत्येक प्रबुद्ध व्यक्ति भारतीय आत्मा की प्रतिष्ठा में संलग्न था। यह प्रतिष्ठा कई स्तरों पर की जा रही थी—धर्म के स्तर पर, दर्शन के स्तर पर, राजनीति के स्तर पर, काव्य के स्तर पर। रवीन्द्रनाथ टैगोर, महात्मा गांधी, कुमारस्वामी, इकबाल आदि के विचार इस बात के सबूत हैं।

अंग्रेजों के संपर्क के कारण भारतीय चिन्ताधारा ने नई करवट ली, मध्यकालीन जड़ता विगलित होने लगी। प्रारंभ में अंग्रेजी संस्कृति की ओर लोग बुरी तरह आकृष्ट हुए। रविबाबू में यह आकर्षण कम नहीं था। इस आकर्षण के कारण थे। पाश्चात्य विज्ञान, यातायात के नए साधन, आर्थिक संघटनों के नए रूप और नई शिक्षा तथा राजनीतिक संस्थाओं द्वारा इस देश का बहिरन्तर तेजी से बदल रहा था। केशवचन्द्र सेन, दयानन्द सरस्वती, रवीन्द्रनाथ टैगोर, कुमारस्वामी, अरविन्द आदि अपने सिद्धांतों की व्याख्या में वैज्ञानिक पद्धतियों का उपयोग किया। पश्चिमी भौतिकवादी दृष्टिकोण को अंशों में ग्रहण करते हुए भी आधुनिक चिंतकों ने अपनी जातीय धार्मिक दृष्टि को मूलाधार के रूप में अपनाया।

उधर योरप अपने भौतिक उन्माद में अंधा हो रहा था। किंतु प्रथम महायुद्ध ने उसके रंगीन सपने चकनाचूर कर दिए। उसे पहली बार महसूस हुआ कि भौतिकता के परे भी कोई मूल्यवान वस्तु है। रविबाबू की 'गीतांजलि' के प्रति पश्चिम की ललक के मूल में उपर्युक्त मनोवृत्ति ही क्रियाशील रही है। पौरस्त्य और पाश्चात्य अभिवृत्तियाँ समन्वित होकर एक विश्वदृष्टि का निर्माण कर रही थीं। इस विश्वदृष्टि को हमारे चिन्तन और राजनीतिक आन्दोलन में भी देखा जा सकता है। महात्मा गांधी के नेतृत्व में सन् १९२१ में तरुण भारत आवेगपूर्वक राष्ट्रीय आन्दोलन में कूद पड़ा।

गांधी जी अंतः प्रज्ञा में विश्वास करते थे। विवेकानन्द का कहना था कि जब हृदय और बुद्धि में संघर्ष हो तो हृदय की बात मानो। गांधी जी तर्कमूलक संगति को बहुत महत्त्व नहीं देते थे। वे इमर्सन की पंक्ति 'मूर्खतापूर्ण तर्कसंगति छोटे दिमागों का हौवा है' प्रायः उद्धृत करते थे। उनके संपूर्ण जीवन-दर्शन में आन्तरिक आवाज का अत्यधिक मूल्य था। इसके आधार पर वे बड़े-से-बड़ा

निर्णय ले लेते थे। वे इस माने में रहस्यवादी थे कि तीव्र ध्यान के क्षणों में ही सत्य का उद्‌घाटन होता है। इस अर्थ में वे रोमैंटिक भी थे।

गांधी जी व्यक्ति को बहुत ऊँचे स्थान के अधिकारी मानते थे। व्यक्ति का आवेग और संकल्प सामाजिक राजनीतिक परिवर्तन ले आने में पूर्णतः समर्थ हैं। जवाहर लाल नेहरू ने कहा है कि वे व्यक्ति के बारे में बहुत सोचते थे, समाज के बारे में बहुत कम। इसे वे पुराना और अवैज्ञानिक ढंग मानते थे, पर स्वयं जवाहर लाल में वैयक्तिकता का अंश कितना प्रबल था, यह किसी से छिपा नहीं है। गांधी जी ने तो सामूहिक सत्याग्रह के अतिरिक्त व्यक्तिगत सत्याग्रह का भी प्रयोग किया। टैगोर का कहना था कि मनुष्य किसी निश्चित नियम के अनुसार नहीं बल्कि अपनी आन्तरिक प्रेरणा के अनुसार परिचालित होता है। अरविन्द ने भी व्यक्तित्ववाद के महत्त्व को स्वीकार किया। इकबाल का कहना है कि मनुष्य के भीतर कोई बागी, कोई विद्रोही है––वही उसका गौरव है।

स्वामी विवेकानन्द ने बहुत पहले पाश्चात्य सभ्यता के विघटन की घोषणा की थी। उस समय पश्चिमी मानस अपने यहाँ के संकट का आभास पाकर भारतीय प्रज्ञा की ओर अग्रसर हो रहा था। आधुनिक चिंतकों ने इसी लिए अपने यहाँ के व्यावहारिक दर्शन को विवेचन का आधार बनाया। यह आध्यात्मिकता उस समय के पूरे परिवेश में दिखाई पड़ती है। छायावादी काव्य में आध्यात्मिकता की झलक चन्द कवियों के मस्तिष्क की कल्पना नहीं है, बल्कि वह तत्कालीन पुनर्जागरण की साहित्यिक सर्जना है।

अब तक पाश्चात्य संस्कृति की चकाचौंध कम हो गई थी। लोग भारतीय परंपरा और संस्कृति की श्रेष्ठता का एहसास करने लगे थे। कुमारस्वामी ने भारतीय परंपरा में जो कुछ मूल्यवान है उसे सौंदर्यपरक और रचनात्मक दिशा देने का प्रयास किया। कुमारस्वामी ने राजनीतिज्ञों से पूछा था––'क्या आपने कभी समझा है कि राजनीतिक और आर्थिक दृष्टि से स्वतंत्र किंतु अपनी अन्तरात्मा में यूरोप द्वारा परास्त, भारत ऐसा आदर्श नहीं प्रस्तुत कर सकता जिसके लिए कोई जिए या मरे।' इसका अर्थ है अतीत और उसके मूल्यों की नए संदर्भ में पुनर्रचना।

मुक्ति के प्रति आग्रह का तात्पर्य इस लौकिक सत्ता से परे किसी चरम सत्ता में विलयन से नहीं था, बल्कि रूढ़ियों, अंधविश्वासों, गलित मूल्यों से मुक्त होना था। स्वतंत्रता को रविबाबू ने एक आन्तरिक दृष्टिकोण माना है। उनका कहना है कि स्वतंत्रता के अभाव का अर्थ है एकता की अपूर्ण प्रतीति। अपने आपको विलीन करने की प्रक्रिया ही स्वतंत्रता तक ले जाती है। बंधन चेतना के मद्धिम पड़ने, बोध के संकीर्ण होने और चीजों के गलत मूल्यांकन का दूसरा

नाम है। मुक्ति एक स्तर पर वैयक्तिक है तो दूसरे स्तर पर सामूहिक। साहित्य में वैयक्तिकता के फलस्वरूप ही काव्य-रूढ़ियों से मुक्त होने की कोशिश की गई। कुछ दिनों तक वैयक्तिकता प्रगतिमूलक तत्त्व—विद्रोही तत्त्व—के रूप में क्रियाशील थी पर आगे चलकर वह अकेलेपन की लाचारी में परिणत हो गई।

गांधी जी ने जीवन में दुःख को बहुत महत्त्व दिया है। वे कहते हैं प्रेम की कसौटी है तपस्या और तपस्या है आत्मपीड़ा। एक दूसरे स्थान पर उन्होंने लिखा है—जनता के लिए मूलभूत महत्त्व की वस्तुएँ केवल तर्कों द्वारा नहीं प्राप्त होतीं, बल्कि दुःख सहकर उन्हें प्राप्त करना होता है। वैयक्तिकता और पीड़ा का निश्चित रूप ही शैली का प्रोमेथियन दृष्टिकोण था। निराला का संपूर्ण जीवन ही प्रमथ्यु गाथा है।

इस सांस्कृतिक परिवेश से अलग देखने पर छायावादी काव्य को विदेश से प्रभावित या रविबाबू की कविताओं की झंकृति मान लेना एकदम असंगत है। कुछ लोगों ने छायावाद काव्य की पृष्ठभूमि की व्याख्या करते हुए ब्रिटिश काल तथा कांग्रेस आन्दोलन के इतिहास के पृष्ठों तथा औद्योगिक आँकड़ों का जो विस्तृत ब्योरा दिया है उससे छायावाद की मूलभूत प्रवृत्तियों पर गलत प्रकाश पड़ता है। मार्क्सवादी सिद्धान्तों को जगह-जगह चस्पा करना अथवा काडवेल के सिद्धांतों को जगह-जगह बैठा देना न आलोचना है न इतिहास। छायावादियों की स्वतंत्रता को स्वतंत्रता का भ्रम कहना काडवेलीय उल्था है। छायावादी काव्य पर विदेशी विचारधारा का उतना ही प्रभाव है जितना भारतीय पुनर्जागरण पर।

आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने ठीक ही कहा था—"इस छायावाद को हम पंडित रामचन्द्र शुक्ल के कथनानुसार केवल अभिव्यक्ति की एक लाक्षणिक प्रणाली विशेष नहीं मान सकेंगे। इसमें एक नूतन सांस्कृतिक मनोभावना का उद्‌गम है और एक स्वतंत्र दर्शन की नियोजना भी—।"

इनकी सामान्य विशेषताओं का उल्लेख करने से पूर्व यह पता लगाने की जरूरत है कि छायावाद शब्द का अभिप्राय क्या है और इस नाम का प्रचलन कब और क्यों हुआ? मुकुटधर पाण्डेय ने १९२० ई० में जबलपुर से प्रकाशित होनेवाली पत्रिका 'श्री शारदा' में हिन्दी में छायावाद शीर्षक चार निबंध प्रकाशित कराए थे। ज़ाहिर है कि उस समय तक छायावाद नाम प्रचलित हो चुका था। अपने निबंधों में उन्होंने छायावाद काव्य की मूलभूत विशेषताओं—आन्तरिकता (वैयक्तिकता), स्वातंत्र्य (मुक्ति का आग्रह), रहस्यवादिता, विचित्र प्रकाशन रीति (शैलीगत वैशिष्ट्य), अस्पष्टता आदि—का उल्लेख किया है। इसे उन्होंने भाव-प्रकाशन का नया मार्ग कहा है।

आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने छायावाद को परिभाषित करते हुए लिखा है—"मानव अथवा प्रकृति के सूक्ष्म किंतु व्यक्त सौंदर्य में आध्यात्मिक छाया का भान मेरे विचार से छायावाद की सर्वमान्य व्याख्या हो सकती है।" किंतु आध्यात्मिक शब्द से चिढ़ने वाले लोग उसका एक ही अर्थ जानते हैं—आत्म और परम आत्म का अभेद। उन्होंने 'आधुनिक साहित्य' में कहा है कि 'आधुनिक छायावादी काव्य किसी क्रमागत अध्यात्म पद्धति को लेकर नहीं चलता।' इसमें इहलौकिक जीवन को जागतिक स्तर पर ही उठाया गया है—ईश्वरत्व या चरम सत्ता से संबद्ध करके। रविबाबू ने कहा है—"असीम का पूर्ण उद्घाटन तारों भरे आसमान में नहीं, मनुष्य की आत्मा में होता है—ईश्वर के प्रकट रूपों में मनुष्य अतुलनीय है। मानव-आत्मा अनुपम है क्योंकि उसमें ईश्वर अपने आपको विशेष प्रकार से प्रकट करता है।" फिर भी जहाँ तक इस आध्यात्मिकता ने मानवतावादी दृष्टि दी है, कवि के आत्म का विस्तार किया है वहीं तक यह प्रशंसनीय है। यह एक बाधा के रूप में भी आई है और इस रूप में वह काव्य का अंग नहीं हो सकी है।

डा० नगेन्द्र ने छायावाद को स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह कहा है। यह विद्रोह भाव तथा शैली दोनों स्तरों पर है। स्थूल से कदाचित् उनका अभिप्राय पूर्व-स्वच्छन्दतावादी इतिवृत्तात्मकता से ही है। किंतु यह विद्रोह बद्ध काव्यरीति और दृष्टिकोण के विरुद्ध है। पंत के 'पल्लव' की भूमिका से ज़ाहिर है, सारा काव्यान्दोलन रीतिबद्धता के विरोध में है। पर वे शुक्ल जी की इस बात से सहमत नहीं हैं कि छायावाद मात्र विशिष्ट काव्यशैली है। शुक्ल जी ने छायावाद की काव्यशैली की प्रशंसा तो की है पर उसकी भावभूमि पर संकीर्णता का आरोप लगाया है। यदि वक्तव्य वस्तु नई नहीं है तो भाषा-शैली की नवीनता अलंकरण मात्र होगी। एक को अच्छा तथा दूसरे को संकीर्ण कहना एक विचित्र अन्तर्विरोध है।

छायावादी काव्यभाषा का संबंध शुक्ल जी ने फ्रांसीसी प्रतीकवाद से जोड़ा है। जब इसे रोमैंटिक अंग्रेजी कविता के साथ संबद्ध नहीं किया जा सकता तो हिन्दी की छायावादी काव्यभाषा से संबद्ध करना दूरारुढ़ कल्पना मात्र है। फ्रांसीसी प्रतीकवाद का प्रभाव ब्रिटेन के रोमैंटिक कवियों पर नहीं है बल्कि इलिएट, एट्स, आडेन, डायलन टामस आदि पर है। उसी प्रकार फ्रांसीसी प्रतीकवादियों का प्रभाव हिन्दी के आधुनिक कवियों—अज्ञेय, शमशेर बहादुर सिंह आदि पर है।

वस्तुत: नई वस्तु को अभिव्यक्त करने के लिए कवि नई भाषा का अन्वेषण करता है। पुरानी भाषा, पुराना छंद भावाभिव्यक्ति में बाधक होते हैं। यों

भाषा की अपनी असमर्थताएँ भाव को संपूर्णतः व्यक्त नहीं कर पातीं। अपनी इस सीमा के कारण वह संकेत करती है। रविबाबू ने लिखा है—

"काव्ये अनेक समये देखा जाय, भाषा भाव के व्यक्त करिते पारेना, केवल लक्ष्य करिया निर्देश करिया दिवार चेष्टा करे। से स्थले सेइ अनभिव्यक्त भाषाइ एकमात्र भाषा। एइ प्रकार भाषा के केह बलेन धूंया केह बलेन छाया, केह बलेन भांगा-भांगि, एवं किछु दिन हइल नवजीवनेर श्रद्धास्पद संपादक महाशय किंचित् हास्यरसावतारणार चेष्टा करिते गिया ताहाके 'काव्यि' नाम दियाछेन।"

कहना न होगा कि छायावादी काव्यभाषा ने निर्देश के पूर्त्यर्थ लाक्षणिक और प्रतीकात्मक शब्दों का भरपूर प्रयोग किया। मानवीकरण, विशषेण विपर्यय आदि नवीन अलंकारों को भी छायावादी काव्य में स्थान मिला। पर इन प्रयोगों को ही छायावाद नहीं मानना चाहिए क्योंकि निराला की काव्यभाषा मुख्यतः अभिधात्मक है। फिर भी उनकी पदावली द्विवेदीकालीन कवियों की पदावली से भिन्न है। छायावादी काव्य छंद, लय, संगीत, पदयोजना, बिंबविधान आदि की अपनी संश्लिष्टता में एकदम अलग, नूतन और ताजा है।

इस संश्लिष्टता को कवि की सृजन-प्रक्रिया द्वारा समझा जा सकता है। उस समय के कवि के मानस में संवेगों की अद्भुत प्रखरता थी। लाभ-हानि के व्यावसायिक जगत्, राजनीतिक प्रभुसत्ता, सामाजिक विसंगतियों में उसकी पहचान लुप्त होती जा रही थी। इसके विरुद्ध उसने अपनी संवेगमयता में, स्वतः स्फूर्त उद्गारों में, अपने अनुभूत संसार की सृष्टि की।

सृजन की इस प्रक्रिया में कल्पना का योग अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। कल्पना एक संश्लेषणात्मक व्यापार है। इसके द्वारा काव्य के समस्तों अवयवों को एकान्विति प्राप्त होती है। कालरिज ने इस तरह की कल्पना को जीवंत और उड़ान भरने वाली कल्पना को यांत्रिक माना है। इसे वह फैंसी कहता है। छायावादी काव्य में जीवंत कल्पना के साथ-साथ फैंसी भी कम नहीं मिलती।

अनुभूति अथवा संवेग जीवंत कल्पना द्वारा जब काव्यरूप में निर्मित हो उठता है तो विचारणीय होता है कि उस पर बौद्धिकता और यथार्थ का कितना अंकुश है। कोरे संवेग अथवा शोकाकुल भावुकता से संपृक्त काव्य श्रेष्ठ नहीं कहा जा सकता। छायावादी काव्य में दोनों प्रकार की रचनाएँ मिलती हैं।

आध्यात्मिकता का उल्लेख किया जा चुका है। छायावादी काव्य में काव्यत्व को न देखकर शांकर अद्वैत, शैवागम, अरविन्द दर्शन, बौद्ध दर्शन, योग आदि को देखने की परिपाटी ने इसके मूल्यांकन में अत्यधिक बाधा पहुंचाई है। वस्तुतः भारतीय पुनर्जागरण दर्शन की वैराग्यमूलक चेतना को कभी नहीं स्वीकार कर

सका। शंकराचार्य का निवृत्त मार्ग भी किसी को मंजूर नहीं था। मुख्य कवियों ने या तो विवेकानन्द के व्यावहारिक दर्शन को स्वीकार किया या शैवागम के समन्वय को। प्रतिक्रियात्मक शक्तियों ने रहस्य में शरण ली।

मध्ययुगीन संतों, सूफियों और भक्तों ने प्रकारान्तर से इहलौकिक जीवन के अनेकानेक पक्षों पर प्रकाश डाला है किंतु उनका ऐकांतिक लक्ष्य ब्रह्म अथवा ईश्वर का साक्षात्कार रहा है। उनके राग-बोध में वैराग्य बोध और निषेधात्मक दृष्टि मिलेगी। उन्होंने इस जीवन और जगत् को गौरव नहीं दिया। छायावादी कवियों की आध्यात्मिक दृष्टि इस जीवन और जगत् को गौरव देने में है। उदाहरण के रूप में निराला की यह कविता देखिए :—

हे नश्वर यह दीन भाव,
कायरता, कामपरता,
ब्रह्म हो तुम :
पद-रज भर भी है नहीं पूरा यह विश्वभार ॥

मध्यकालीन प्रेम से छायावादी कवियों का प्रेम भी भिन्न था। संतों और भक्तों ने निर्गुण और सगुण के प्रति जो प्रेमाभिव्यक्ति की है वह तभी संभव है जब व्यक्ति इस संसार से विमुख हो जाय क्योंकि वह खाला का घर नहीं है। इस पर संसार में मन विश्रांति लाभ नहीं कर सकता। तालस्ताय और महात्मा गांधी ने प्रेम को जगत् और जीवन से संबद्ध करते हुए कहा है कि प्रेम की कसौटी है तपस्या और तपस्या है आत्मपीड़ा। प्रेम बलिदान और त्याग करता है। प्रसाद ने कहा ही है—'इस पथ का उद्देश्य नहीं है श्रांतभवन में टिक रहना।' निराला ने लिखा है—

प्रेम का पयोधि तो उमड़ता है
सदा ही निस्सीम भू पर
प्रेम की महोर्मिमाला तोड़ देती क्षुद्र ठाट।
जिसमें संसारियों के सारे क्षुद्र मनोवेग
तृण सम बह जाते हैं।
हाथ मलते भोगी
धड़कते हैं कलेजे उन कायरों के
सुन-सुन प्रेम सिंधु का
सर्वस्व त्याग गर्जन घन।

वही सात्त्विक प्रेम नारी के प्रति प्रेम-भावना का भी निर्माण करता है। स्वाभाविक था कि छायावादी कवि नारी को अछूते सौंदर्य और निष्कलुष प्रतिमा के रूप में चित्रित करते। उसे उन्होंने केवल श्रद्धा, वासना की मुक्ति मुक्ता, त्याग में

त्यागी, अकेली सुन्दरता आदि कहा। यह सही है कि इस चित्रण में नारी को अतीन्द्रीय धरातल पर रखने के कारण उसे मानवी के रूप में नहीं देखा गया। यह भी सही है कि किन्हीं अर्थों में वह प्रेम-चित्रण कुंठाग्रस्त हो गया। लेकिन छायावादी कवियों ने मुक्त-प्रेम का समर्थन कर नारी के अधिकारों को पहली बार स्वीकृति दी। इस तरह इस प्रेम-चित्रण को भी उच्चतर नैतिक मूल्यों से जोड़ दिया गया।

आत्म-तत्त्व की प्रधानता के कारण प्रवृत्ति में उन्होंने अपनी ही चेतना को देखा। दु:ख, निराशा, वेदना, व्यथा की अभिव्यक्ति भी छायावादी काव्य में हुई है। कभी यह वैयक्तिकता के घेरे में बँधी हुई दिखाई देती है तो कभी गहरे संघर्ष के फलस्वरूप उत्पन्न होती हुई। स्मरण रखना चाहिए कि व्यक्तिवादी चेतना का यह एक अनिवार्य तत्त्व है। प्रसाद, निराला, पंत, महादेवी वर्मा छायावादी काव्य के प्रतिनिधि कवि हैं। इन्हें रोमैंटिक कवियों की दूसरी पीढ़ी माना जा सकता है।

जयशंकर प्रसाद (१८८९–१९३७ ई०)

पहले कहा जा चुका है कि छायावादी काव्य एक विशेष सांस्कृतिक परिवेश की देन है। ऐसी स्थिति में किसी एक कवि को थोड़ा आगे जन्म लेने मात्र से प्रवर्तक कहना ऐतिहासिक भूल है। प्रसाद, निराला, पंत, महादेवी आदि उस समूचे परिवेश से प्रेरणा ले रहे थे जो पुनर्जागरण के नाम से विख्यात है।

प्रसाद के 'झरना' काव्य का द्वितीय संस्करण, जिसमें छायावादी कविताएँ पहली बार सन्निविष्ट की गईं, सन् १९२७ में निकला। पंत का 'पलव' १९२६ में प्रकाशित हो चुका था। 'परिमल' में संगृहीत निराला की अधिकांश कविताएँ '२३-'२४ के मतवाला में छप चुकी थीं। जाहिर है कि ये सब कवि लगभग एक साथ ही नए काव्य-उन्मेष की ओर अग्रसर हो रहे थे।

यों प्रसाद का काव्य-विकास इस काल के अन्य कवियों की अपेक्षा मंद रहा है। इस विकास की शुरुआत इन्दु (१९०९) पत्र के साथ होती है। वे पहले ब्रजभाषा में 'कलाधर' उपनाम से कविता लिखा करते थे। ये कविताएँ चित्राधार (१९१८) में संकलित हैं। इनके भाव, भाषा-शैली आदि पर रीतिकालीन काव्य-बोध की स्पष्ट छाप है। 'प्रेमपथिक' पर रीतिकालीन काव्य-बोध की स्पष्ट छाप है। 'प्रेमपथिक' भी पहले ब्रजभाषा में ही लिखा गया। श्रीधर पाठक के एकांतवासी योगी की छाया से यह मुक्त नहीं है। बाद में उन्होंने बहुत कुछ इसी को परिवर्तित, परिवर्धित रूप में खड़ीबोली में प्रस्तुत किया। 'कानन-कुसुम' खड़ीबोली का उनका पहला काव्य-संग्रह है। इस संग्रह के संबंध में इतना ही कहा जा सकता है कि इसमें रीतिकाल से आगे बढ़कर वे द्विवेदी युग में आए। पर इसकी भाषा

अनगढ़ है। आख्यानक रचनाएँ मध्यकालीन घेरे में से मुक्त नहीं हो पाई हैं। प्रेम-परक कविताओं में वैयक्तिक स्पर्श अवश्य है। करुणालय एक प्रकार का गीति-नाट्य है। इसमें करुणा की प्रतिष्ठा तथा पौराणिक कथानक को नए युग से जोड़ने का प्रयत्न दिखाई देता है। 'महाराणा का महत्त्व' में राष्ट्रीय आकांक्षा की झलक दिखाई देती है।

'झरना' उनकी फुटकल कविताओं का संग्रह है जो सर्वप्रथम १९१८ में प्रकाशित हुआ। उसके दूसरे संस्करण (१९२७) में कुछ नई कविताएँ जोड़ दी गईं। पर अतिशय वैयक्तिक होने के कारण वे बहुत कुछ सेंटीमेंटल हैं। भाषा की नवीनता की दृष्टि से भी इसे उल्लेख्य नहीं कहा जा सकता।

प्रसाद के विकास का पहला चरण 'आँसू' (१९२५) माना जाना चाहिये। इसका द्वितीय संस्करण १९३० ई० में प्रकाशित हुआ। इसमें अनेक प्रकार का सुधार-परिष्कार किया गया। छंदों की काट-छाँट के अतिरिक्त उनके क्रम बदले गए, नवीन छंदों को यथास्थान जोड़ा गया। यह परिवर्तन उसकी सजगता और नवीन जीवन-दृष्टि का सूचक है।

नवीन जीवन-दृष्टि का संबंध आत्म-प्रसार से है, आत्मवेदना को विश्व-वेदना से जोड़ने से है। पहले संस्करण में वह अपने को वैयक्तिक अनुभूति तक ही सीमित रखता है। किंतु दूसरे संस्करण में उसकी विरह-वेदना मांगलिक हो जाती है। यह दूसरी बात है कि वह उसकी संरचना का अनिवार्य अंग नहीं हो पाई है।

'आँसू' विरह काव्य है। प्रेमी अतीत की मादक स्मृतियों की याद में अपनी आन्तरिक ज्वाला, विषाद और वेदना का इजहार करता है। स्मृति के रूप में प्रायः दो वस्तुओं का उल्लेख हुआ है—प्रिय के शारीरिक सौंदर्य और परि-रंभ-कुंभ की मदिरा तथा निःश्वास मलय के झोंके का। वर्ण्य का वास्तविक महत्त्व इसमें है कि वह कैसे वर्णित है। खेद है कि हिन्दी के आलोचकों ने 'आँसू' में सर्वत्र प्रेम का उच्च धरातल, सूफियों का सा प्रेम-गांभीर्य, अद्‌भुत कला-सौंदर्य देखा है। वस्तुतः 'आँसू' काव्य का सृजन और उस तरह की आलोचना का लेखन एक ही विन्दु से होता है—कैशोर भावना के विन्दु से। यदि कैसे पर ध्यान दिया जाता तो कैशोर भावना अपने आप परिलक्षित हो जाती। हाहाकार स्वरों में वेदना की गरजना, मानस-सागर के तट पर लोल लहर की घातों का कुछ कलकल ध्वनि में कहना, प्रतिध्वनि का टकराना, बिलखना और पागलों की तरह फेरी देना आदि प्रयोग की कचाई कैशोर की ही कचाई है। वेदना का गरजना, वह भी हाहाकार स्वरों में, वेदना के स्वरूप को ही विकृत कर देता है। वेदना और उसके गरजने में गहरी असंगति है। सागर की लहरें कलकल ध्वनि नहीं करतीं। प्रति-

ध्वनि का विलखना अतिशय भावुकता (सेंटीमेंटैलिटी) का सूचक है। प्रिय का नखशिख वर्णन मध्यकालीन परंपरा के मेल में है। अप्रस्तुत भी पुराने हैं। 'आँसू' के पहले संस्करण में कवि अपने दायरे को पार नहीं कर पाता। दूसरे संस्करण में अपनी वेदना को जो दार्शनिक रूप देने की चेष्टा करता है वह स्थूल आदर्श से आगे नहीं बढ़ता। 'आँसू' की यह परिसमाप्ति—

सबका निचोड़ लेकर तुम
सुख के सूखे जीवन में
बरसो प्रभात हिमकन-सा
आँसू इस विश्व-सदन में।

भरत-वाक्य के अतिरिक्त और क्या है?

पर आँसू में छायावादी काव्य की दो विशेषताएँ स्पष्टतः परिलक्षित होती हैं—आत्माभिव्यक्ति और प्रकृति के संबंध में नया दृष्टिकोण। अब काव्य का प्रयोजन सार्वजनीन भावों की अभिव्यक्ति से हटकर कवि की आत्माभिव्यक्ति हो गया। 'आँसू' की अनुभूति में जहाँ एक ओर वैयक्तिकता आवश्यकता से अधिक गहरी है वहाँ कम-से-कम दूसरे संस्करण में उसे अतिक्रमित करने का प्रयास भी है। प्रकृति में सर्वत्र कवि की आत्मचेतना व्याप्त है। रहस्य, कुतूहल, जिज्ञासा आदि के संकेत भी जगह-जगह मिलेंगे।

आचार्य शुक्ल ने 'आँसू' में समन्वित प्रभाव नहीं देखा है। किंतु अलग-अलग लेने पर उसमें उन्हें रंजनकारिणी कल्पना, व्यंजक चित्र का बड़ा ही अनूठा विन्यास, भावनाओं की अत्यंत सुकुमार योजना मिलती है। वस्तुतः यह शिकायत शुक्ल जी अपनी सीमा के कारण करते हैं। कथा-तत्त्व और जीवन के मार्मिक स्थलों के अभाव में वे प्रबंध की कल्पना नहीं कर सकते। छायावादी काव्य में सामान्यतः कथा-तत्त्व की कमी मिलेगी। यदि 'आँसू' की केन्द्रवर्ती स्मृति पर शुक्ल जी की दृष्टि जाती तो उन्हें शिकायत का यह मौका न मिलता।

उन्होंने और भी लिखा है—"नियतिवाद और दुःखवाद का विषण्ण स्वर भी सुनाई पड़ता है। इस चेतना को दूर हटाकर मदतन्द्रा, स्वप्न और असंज्ञा की दशा का आह्वान रहस्यवाद की एक स्वीकृत विधि है। इस विधि का पालन 'आँसू' से लेकर 'कामायनी' तक हुआ है।" वस्तुतः नियतिवाद और दुःखवाद का जो स्वर सुनाई पड़ता है वह गहरा नहीं है और न उसमें किसी प्रकार की जटिलता ही दिखाई देती है। 'कामायनी' में आकर रहस्यवादी तत्त्व अधिक बौद्धिक हो जाता है। अपनी त्रुटियों और खामियों के बावजूद 'आँसू' में वे संभावनाएँ दिखाई देती हैं जो 'कामायनी' में अपनी चरम ऊँचाई पर जा पहुँची हैं।

'लहर' उनकी कविताओं का ऐसा संग्रह है जिसे 'आँसू' और कामायनी का

मध्यवर्ती विन्दु कहा जा सकता है। इस संग्रह में भी प्रेम, यौवन, सौन्दर्य से संबद्ध रचनाएँ संख्या में अधिक हैं। लेकिन इनमें 'आँसू' में अभिव्यक्त भावातिरेक नहीं है। वेदना में एक तरह का संयम आ गया है, वह अन्तर्मुखी हो गई है। कुछ बौद्ध धर्म-दर्शन से संबद्ध कविताएँ भी इसमें संगृहीत हैं। अंतिम चार कविताओं में इतिहास के खंडदृश्यों को बहुत कुछ नए जीवन सन्दर्भों में देखा गया है।

वस्तुतः प्रसाद को कवि के रूप में जो श्रेय मिला है उसका मूलाधार कामायनी है। कामायनी आधुनिक युग का श्रेष्ठ काव्य है इसमें कोई सन्देह नहीं। पर इसकी श्रेष्ठता कहाँ है—इसे लेकर काफी मतभेद है।

'कामायनी' का लेखन कब आरंभ हुआ ठीक से नहीं कहा जा सकता। पर सन् '२८ में 'सुधा' के अक्तूबर अंक में कामायनी के 'चिन्ता सर्ग' का अंश छपा और कामायनी प्रकाशित हुई सन् १९३५ ई० में। यदि इसके लेखन का आरंभ-काल '२८ को मान लिया जाय तो इसे पूरा करने में कवि को कुल सात वर्ष लगाने पड़े। इसी बीच 'एक घूँट' और 'कामना' लिखे गए। इन्हें कामायनी की चिन्तन-प्रक्रिया का ही अंग समझना चाहिए। वे 'आँसू' को मनु के चले जाने के बाद श्रद्धा के वियोग-वर्णन के रूप में रखना चाहते थे। किंतु उन्होंने वैसा नहीं किया। इससे साफ है कि वे अपने जीवनदर्शन को (जो शैवागम दर्शन) काव्य का रूप देना चाहते थे। कामायनी के दर्शन और रूपक तत्त्व की जो इतनी अधिक चर्चा की जाती है इसके लिए स्वयं प्रसाद जी भी उत्तरदायी हैं।

कामायनी के सम्बन्ध में पहला प्रश्न यही उठता है कि उसे काव्य माना जाय या रूपक या दोनों। आमुख में प्रसाद ने लिखा है—"आर्य-साहित्य में मानवों के आदि-पुरुष मनु का इतिहास वेदों से लेकर पुराण और इतिहासों में बिखरा हुआ मिलता है। इसलिए वैवस्वत मनु को ऐतिहासिक पुरुष ही मानना उचित है।....यदि श्रद्धा और मनु अर्थात् मनन के सहयोग से मानवता का विकास रूपक है, तो भी बड़ा भावमय और श्लाघ्य है। यह मनुष्यता का मनोवैज्ञानिक इतिहास बनने में समर्थ हो सकता है।.....यह आख्यान इतना प्राचीन है कि इतिहास में रूपक का भी अद्भुत मिश्रण हो गया है। इसलिए मनु, श्रद्धा और इड़ा इत्यादि अपना ऐतिहासिक अस्तित्व रखते हुए, सांकेतिक अर्थ की भी अभिव्यक्ति करें तो मुझे कोई आपत्ति नहीं। मनु अर्थात् मन के दोनों पक्ष हृदय और मस्तिष्क का संबंध क्रमशः श्रद्धा और इड़ा से भी सरलता से लग जाता है।....इन्हीं सबके आधार पर कामायनी की सृष्टि हुई है।"

डा० नगेन्द्र इस उद्धरण के आधार पर मानते हैं कि कामायनी के कवि ने मूलतः ऐतिहासिक काव्य के रूप में ही इसे लिखा है और गौण रूप से इसमें

रूपक तत्त्व वर्तमान हैं। लेकिन आमुख को प्रमाण के रूप में ग्रहण नहीं किया जा सकता। इसकी निर्णायिका स्वयं कामायनी है।

मनु, श्रद्धा और इड़ा अपनी संपूर्णता में ऐतिहासिकता की रक्षा नहीं करते। किंतु सांकेतिकता या रूपकत्व के पद से वे कहीं भी स्खलित नहीं होते। उनके समस्त क्रिया-कलाप एक हद के बाद प्रतीक हो जाते हैं और दोनों के बीच की खाईं पट नहीं पाती। उनके मानवीय क्रिया-कलाप में रूपकत्व तो वर्तमान है पर रूपकत्व में मानवीय क्रिया-कलाप नहीं है। दूसरे शब्दों में कामायनी में खंड मानव चित्रित है किन्तु रूपकत्व अखंड और अविच्छिन्न है।

मनोवृत्तियों का वर्णन मानवीय चरित्र के विकास में बाधक है। उसका अपना स्वयं का चित्रण अत्यंत मनोवैज्ञानिक और अर्थपूर्ण बन पड़ा है। पर अर्थ की अन्वितियाँ (सेमैंटिक यूनिटीज) बिखर गई हैं। अंतिम तीन सर्ग कोरे दार्शनिक हो गए हैं। वे न तो मनोवृत्तियों से जुड़ पाये हैं और न मानवीय व्यापारों से। ऐसी स्थिति में कामायनी की आलोचना करते समय प्रायः मनोवैज्ञानिक आध्यात्मिक तत्त्व को नजर-अन्दाज नहीं किया जाता। अतः सामरस्य के सिद्धांत की प्रतिष्ठा करते हुए भी इतिहास, मनोविज्ञान और दर्शन में सामंजस्य नहीं हो पाता। उल्टे अनेक असंगतियाँ उत्पन्न हो जाती हैं।

आचार्य शुक्ल ने अपने 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में लिखा है—"यदि हम इस विशद काव्य की अन्तर्योजना पर ध्यान न दें, समष्टि रूप में कोई समन्वित प्रभाव न ढूंढ़ें, श्रद्धा, काम, इड़ा इत्यादि को अलग-अलग लें तो हमारे सामने बड़ी ही रमणीय चित्रमयी कल्पना, अभिव्यंजना की अत्यंत मनोरम पद्धति आती है।" शुक्ल जी ने कमजोर अन्तर्योजना और अलग-अलग अभिव्यंजना की मनोरम पद्धति की ओर ध्यान आकृष्ट किया है पर वे दार्शनिक असंगतियों की चर्चा में ही इतने उलझे रहे कि उनका विवेचन न कर सके।

अपनी अंतर्योजना में त्रुटिपूर्ण होने पर भी हिन्दी साहित्य के कलात्मक विकास में इसका अत्यंत महत्त्वपूर्ण स्थान है। कामायनी के पूर्व हिन्दी में दो महाकाव्य लिखे जा चुके थे 'प्रियप्रवास' और 'साकेत'। इन तीनों महाकाव्यों में कथातंतु क्षीण है। यह एक मोटी समानता है। एक साथ ही कई स्तरों पर चलने वाली अर्थवत्ता के कारण इसकी संरचना अधिक जटिल है। 'प्रियप्रवास' और 'साकेत' के शब्द, बिंब, अलंकार जिन संवेदनाओं को मूर्त करते हैं वे बाह्य जगत् के स्थूल आदर्शों से संबद्ध हैं। उनमें व्यवहृत भाषा मध्ययुगीन मूल्यों से बँधी होने के कारण नई नहीं हो पाती।

कामायनी की धुरी जिस श्रद्धा पर आधारित है वह बदले हुए युग की देन है। श्रद्धा का महत्त्व इस देश की संस्कृति में बराबर स्वीकार किया गया है। लेकिन

कामायनी की श्रद्धा अपनी परंपरा-मुक्तता के कारण वरेण्य नहीं है। उसकी महत्ता विशेष संदर्भ में प्रस्तुत किए जाने की वजह से है। आज के पागलपन के जमाने में जब बुद्धि के अतिरेक और यांत्रिकता के कारण मनुष्य शुष्क और जड़ होता जा रहा है, राग या प्रेम की आवश्यकता मनोवैज्ञानिक भी स्वीकार करने लगे हैं।

श्रद्धा में हृदय और मस्तिष्क दोनों का सामंजस्य है। वह कामकन्या है यानी गीता की शब्दावली में धर्म के अविरुद्ध स्वयंकाम है। इसकी धुरी पर ही महाकाव्य घूमता है। इसी के माध्यम से कवि नई मानवता के विकास की कथा कहता है, सौंदर्य का अप्रतिम चित्र उरेहता है, आधुनिक जीवन की विडंबनाओं से मुक्ति की राह अन्वेषित करता है, मन को समंजित करने की कुंजी प्राप्त करता है।

श्रद्धा कामकन्या है। अतः उसका अनिन्द्य सुन्दरी होना सहज है। प्रसाद ने उसके सौंदर्य का जो अविकारी ऐन्द्रीय चित्र खींचा है वह आधुनिक हिंदी काव्य में दुर्लभ है--समस्त हिंदी काव्य में दुर्लभ है यह भी कहा जा सकता है। इन सौंदर्य चित्रों की असमानन्तरता बिंब-निर्माण, उनके अपने अन्तस्संबंध तथा संश्लिष्ट संघटना के संदर्भ में ही विश्लेषित की जा सकती है। कुछ उदाहरण देखिए—

सुना यह मनु ने मधु गुंजार, मधुकरी सा जब सानन्द
किये मुख नीचा कमल समान प्रथम कवि का ज्यों सुन्दर छंद

\+ + +

और देखा वह सुन्दर दृश्य, नयन का इन्द्रजाल अभिराम

\+ + +

नील परिधान बीच सुकुमार खुल रहा मृदुल अधखुला अंग,

\+ + +

या कि, नव इन्द्रनील लघु शृंग फोड़कर धधक रही हो कांत
एक लघु ज्वालामुखी अचेत माधवी रजनी में अश्रांत ॥

\+ + +

कुसुम कानन-अंचल में मन्द पवन प्रेरित सौरभ साकार
रजित परमाणु पराग शरीर, खड़ा हो ले मधु का आधार।

इस संदर्भ में दिनकर की उर्वशी तथा उसकी सहेली अप्सराओं का जो रूप-चित्र खींचा गया है वह कई दृष्टियों से इसकी तुलना में निष्प्रभ है। अप्सराओं को कल्प-कानन की कुसुम वल्लियाँ, वसन्त के स्वप्न की तस्वीरें, कविता की नूतन पंक्तियाँ कहने से प्रस्तुत के संवेदनात्मक चित्र नहीं बनते। इसी प्रकार उर्वशी को रति की मूर्ति, रमा की प्रतिमा, विधु की प्राणेश्वरी कहकर उन्होंने कुछ पुराने धराऊ अप्रस्तुत निकाले हैं जिनसे उर्वशी की नई स्फूर्तिमयी मूर्ति बन

नहीं पाती, बल्कि उसकी काल्पनिक मूर्ति कुछ मैली ही हो जाती है। यदि वह रति और रमा की प्रतिमूर्ति ही है तो उसके सौंदर्य की अद्वितीयता क्या ? फलस्वरूप उर्वशी और पुरुरवा के प्रगाढ़ प्रेम की संघटना क्षीण प्रतीत होने लगती है। दिनकर के विचार (आइडिया) और बिंब या सूक्ष्म (एब्स्ट्रैक्शन) और ठोस के बीच कोई तनाव नहीं है। श्रद्धा की मधुगुंजार और प्रथम कवि के सुन्दर छंद में कोई तर्कसम्मत संबंध नहीं है। यह बात दृश्य और इन्द्रजाल, नीले परिधान और बिजली के फूल, मुखमंडल और ज्वालामुखी, सौरभ और साकार पराग आदि के संबंध में भी सच है। पर इनमें गहरा तर्केतर संबंध है, जो प्रस्तुत को ठोस आधार देकर अधिक छविमान, ऐन्द्रिय तथा अर्थवान बनाता है। एक बिंब दूसरे को शक्ति देता है और सब मिलकर एक समग्र छवि निर्मित करते हैं जो किसी अन्य की प्रतिकृति नहीं है बल्कि अद्वितीय और अप्रतिम है।

इसी लिए मनु उसे लुटे से निरखने लगे थे। वह चिंतित मनु को कर्म में लगाना चाहती है। आत्मविस्तार की प्रेरणा देती है। अतः यह मध्यकालीन नारी से भिन्न, नवीन ऊर्जा के रूप में, मनु को अपने संकीर्ण घेरे से निकाल कर, जीवन और जगत् के कर्मक्षेत्र में ले जाती है। श्रद्धा त्यागमयी है तो मनु अपने सुख को चरम सुख मानते हैं। श्रद्धा मानवतावादी है तो मनु आत्मवादी। मानवतावाद आत्मविस्तार चाहता है तो आत्मवाद आत्मसंकोच। वस्तुतः यह एक चिरंतन समस्या है जो समय-समय पर भिन्न-भिन्न रूपों में प्रकट होकर समाधान की अपेक्षा रखती है। श्रद्धा ने कहा है कि जगतीतल का सारा क्रंदन 'विषमयी विषमता'। एक प्रश्न उठता है कि क्या श्रद्धा के इस प्रकार के चिंतन के पीछे किसी पार्श्वभूमि की सृष्टि की गई है जो उसके चिंतन को सहज बना सके। मुक्तिबोध को यह पार्श्वभूमि नहीं दिखाई पड़ती है। आदिम मानव को इस तरह की चिन्ता क्यों सताने लगी ? क्या पशु-बलि के कारण श्रद्धा के मन में ऐसे विचार उठे ? मुक्तिबोध ने कामायनी को फैंटेसी मानकर समाधान ढूंढ़ लिया है। यदि मुक्तिबोध कामायनी पर मार्क्सवादी फैंटेसी लादने की कोशिश न करते तो संभवतः उन्हें स्थूल पार्श्वभूमि की तलाश न करनी पड़ती। देव-संस्कृति के ध्वस्त होने पर मानव-संस्कृति का विकास हुआ। दोनों ही उसके अवशिष्ट हैं। मनु पर उस संस्कृति के प्रबल संस्कार हैं किन्तु श्रद्धा नवीन संस्कृति–मानव-संस्कृति–की सृष्टि करना चाहती है जो समता पर, सामंजस्य पर आधारित है। इस वैषम्य को, जो बहिरंतर की समान समस्या है, समता या सामंजस्य में परिणत करना ही कामायनी का प्रतिपाद्य है। इस मूलवर्ती समस्या को प्रायः सर्वत्र देखा जा सकता है। कामायनी की समस्त संघटना इसी को संकेतित करती है।

पर इड़ा का महज प्रतीकात्मक सन्निवेश इसकी महाकाव्यात्मक संघटना को आवयविक अन्विति नहीं प्रदान करता। इससे व्यक्ति की मनोवैज्ञानिकता का विकास तो चित्रित हो जाता है लेकिन सामाजिकता का सिलसिला टूट जाता है। अंतिम तीन सर्गों के अतिरिक्त संघर्ष सर्ग भी संचरना का अनिवार्य अंग नहीं बन पाता। यों वह अलग से भी कमजोर है। सारी लड़ाई बेदम है। लड़ाई का कारण और परिणति दोनों निस्सार वागाडंबर प्रतीत होते हैं। पात्र के रूप में इड़ा की कर्मठता, अनासक्तता, निःस्वार्थता जितनी श्लाघ्य है श्रद्धा के आगे अपनी सदोषता की स्वीकृति उतनी कृत्रिम और अश्लाघ्य। विज्ञान, औद्योगीकरण, बुद्धिवाद का जो विरोध प्रसाद ने किया है वह सैद्धांतिक होकर रह गया है। वस्तुतः यथार्थ चित्रण में प्रसाद की चित्तवृत्ति रम ही नहीं पाती। रैन्सम की शब्दावली में इसे यों कहना होगा कि इसके टेक्श्चर और संपूर्ण स्ट्रक्चर में तनावपूर्ण स्थिति ही नहीं आ पाती।

रूपक के प्रसंग में, जिसमें मनु मननशीलता, संकल्प-विकल्प का प्रतीक है, श्रद्धा दया, ममता, त्याग, क्षमा आदि कोमल वृत्तियों का प्रतिनिधित्व करती है, यानी वह राग-वृत्ति है, इड़ा का तालमेल नहीं बैठ पाता है। वह बुद्धि का प्रतीक है जो द्वैत, वर्ग-भेद, वैषम्य की प्रचारक है, वह सामरस्य की बाधक है। श्रद्धा द्वारा ही इच्छा, क्रिया और ज्ञान के त्रिपुर का दाह होता है। इच्छा, ज्ञान और क्रिया को डा० नगेन्द्र संस्कृति, विज्ञान और राजनीति का समन्वय कहते हैं। पर क्या यह रूपक काव्य है ? इसी प्रकार शैवागम दर्शन से सर्गों तथा उससे संबद्ध सिद्धान्तों से भी काव्य का कोई संबंध नहीं माना जाना चाहिए।

अब प्रश्न उठता है कि क्या रूपकतत्त्व और शैवागम दर्शन कामायनी के काव्यत्व में बाधा नहीं पहुँचाते ? रूपकत्व के निर्वाह के कारण संकल्प-विकल्पात्मक मनु अपार वीर्य से ऊर्जस्वित होने के बावजूद बौना ही बना रहता है। श्रद्धा का चरित्र केवल सैद्धांतिक स्तर पर ही स्थिर रहता है व्यावहारिक स्तर पर उसमें गत्यात्मकता नहीं आती।

पर ये आरोप काव्यगत स्थूल घटनाओं और कार्य-व्यापारों के संदर्भ में ही लगाए जाते हैं। मनु और श्रद्धा आन्तरिक वृत्तियाँ हैं। यदि वे कामायनी की संश्लिष्ट संरचना और आन्तरिक वृत्तियों की जटिलता में योग देती हैं तो उनकी सार्थकता स्वतः सिद्ध है। लेकिन इस संघटना के विश्लेषण का अर्थ है उस मूल्य की तलाश जो संघटना की प्रक्रिया में अनुस्यूत है और उसे अलग से न खोजकर उस प्रक्रिया में ही खोजना होगा।

मनु की रूपरेखा--अवयव की दृढ़ मांसपेशियाँ--और 'निकल रही थी मर्म वेदना, करुणा विकल कहानी सी' की विसंगति मनु की चिंता को गहन, करुण

और मार्मिक बना देती है। 'वहाँ अकेली प्रकृति सुन रही, हँसती सी पहचानी सी' में अकेला शब्द अन्य किसी भी श्रोता का निषेध करता है। प्रकृति का हँसना मनु की चिंता को विडंबना पूर्ण बनाकर और भी करुण बना देता है। चिंता सर्ग में चिंता को समग्रतः चित्रित करने के लिए कवि ने कई उपकरणों का प्रयोग किया है। चिंता की भयंकरता को संवेदनात्मक स्तर पर अंकित करने के लिए उसने बिंबों की शृंखला खड़ी कर दी है—विश्व वन की व्याली, ज्वालामुखी के विस्फोट का प्रथम कंप, हरी-भरी सी दौड़-धूप, ग्रहकक्षा की हलचल आदि। ये बिंब चिंता की विषाक्तता, आतंक-त्रास, व्यर्थता आदि अनेक आयामों को उजागर करते हैं। चिंता को अपने संदर्भ में लेते हुए भी वे सार्वभौम संदर्भ देते हैं क्योंकि चिंता विश्व वन की व्याली है, ग्रहकक्षा की हलचल है।

देव सृष्टि की विलासिता का केन्द्रीभूत होना ही विघटन का मूल है, देव होना ही सृष्टि का विशृंखलित होना है। देव अर्थात् अमरता के चमकीले पुतले, विकल वासना के प्रतिनिधि, चिर किशोर-वय, नित्य-विलासी आदि। इसके बाद प्रलय का अद्‌भुत दृश्य उभरता है। इसके लिए दो पद्धतियाँ अपनाई गई हैं—दो विरोधी वस्तुओं को साथ-साथ रखना और उन वस्तुओं का चुनाव जो प्रलय को उसकी विभीषिका में चित्रित कर सकें। उदाहरण लीजिए :—

> देव-कामिनी के नयनों से जहाँ नील नलिनों की सृष्टि
> होती थी, अब वहाँ हो रही प्रलयकारिणी भीषण वृष्टि
> हाहाकार हुआ क्रंदनमय कठिन कुलिश होते थे चूर,
> हुए दिगंत बधिर भीषण रव, बार बार होता था क्रूर।
> दिग्दाहों से धूम उठे, या जलधर उठे क्षितिज तट के।
> सघन गगन में भीम प्रकंपन झंझा के चलते झटके॥

वज्र का चूर होना, दिशाओं की बधिरता, रव की क्रूरता, आकाश का प्रकंप, झंझा के झटके प्रलय को उसकी संपूर्ण क्रूरता में ही आकलित नहीं करते बल्कि चिंता की सघनता को पूरी ऊँचाई तक पहुँचा देते हैं। चिंता की चरम परिणति मृत्यु-चिंता में होती है और उसके संदर्भ में जीवन का दार्शनिक और चिंतापरक वर्णन अपनी यथार्थता में अपूर्व है :—

> अंधकार के अट्टहास सी मुखरित सतत चिरंतन सत्य;
> छिपी सृष्टि के कण-कण में तू यह सुन्दर रहस्य है नित्य
> जीवन तेरा क्षुद्र अंश है व्यक्त नील घन-माला में
> सौदामिनी-संधि सा सुन्दर क्षण भर रहा उजाला में

अंधकार के अट्टहास सी मृत्यु प्रलय के परिवेश से संबद्ध होने से अत्यंत

भयानक हो उठती है। और जीवन ! घनमाला में बिजली की क्षणिक चमक। इस तरह मनु का चिंतन व्यक्ति से हटकर समष्टिपरक हो जाता है।

आशा सर्ग में प्रकृति-वर्णन के संकेतों में उल्लास को मूर्त किया गया है। वह मनु की अपनी प्रफुल्लता का भी सूचक है। हिमालय का परिवर्तित रूप देखिए—

अचल हिमालय का शोभनतम लता कलितशुचि सानु शरीर
निद्रा में सुख स्वप्न देखता जैसे पुलकित हुआ अधीर।

थोड़े समय पूर्व हिमालय की स्थिति दूसरी थी 'नव कोमल आलोक बिखरता हिम-संसृति पर भर अनुराग।' किन्तु अब लताच्छादित उसका शोभन शरीर ऐसा मालूम पड़ने लगा मानों नींद में स्वप्न देखकर कोई पुलकाकुल हो उठा हो। श्रद्धा 'स्पर्श के आकर्षण से पूर्ण, प्रकट करती जड़ में स्फूर्ति।' आकर्षण श्रद्धा की—नारी मात्र की—केन्द्रवर्ती विशेषता है। इसमें आकर्षण शब्द विशेष रूप से द्रष्टव्य है। चिंता सर्ग में मनु ने देखा था—

धू-धू करता नाच रहा था अनस्तित्व का तांडव नृत्य।
आकर्षण विहीन विद्युत्कण बने भारवाही थे भृत्य।

लेकिन बदली हुई परिस्थितियों में सब कुछ आकर्षण की दीप्ति से प्रकाशित है। व्यापक अर्थ में आकर्षण ही काम है। इस आकर्षण के अभाव में आत्मविस्तार संभव नहीं है—'तपस्वी आकर्षण से हीन कर सके नहीं आत्मविस्तार।' इसके फलस्वरूप जिस वासना का उदय हुआ उससे अजीब उल्लास, स्नेह, शांति, विस्मय आदि की सृष्टि हुई। इसकी अभिव्यक्ति के लिए प्रकृति के उपकरणों—रागरंजित चंद्रिका, मदिर भीनी माधवी की गंध, उड़ते पराग, पुलकित पवन—का आधार ग्रहण किया गया है। मनु पूछ बैठते हैं—

कौन हो तुम विश्व माया कुहुक सी साकार
प्राणसत्ता के मनोहर भेद सी सुकुमार।

कामोदय के बाद मनु में वासना और श्रद्धा में लज्जा का उदय होता है। लज्जा का काव्यात्मक बिंब उपस्थित करने के लिए अनुभावों का सहारा लिया गया है 'पुलकित कदंब की माला सी नयनों में भर बांकपन/स्मृति बन जाती तरल हंसी, कपोलों की लाली, आँखों का आँजन' आदि और :—

छूने में हिचक, देखने में पलकें आँखों पर झुकती हैं
कलरव परिहास भरी गूंजें अधरों तक सहसा रुकती हैं।

लज्जा के दो पहलू हैं—सौंदर्यात्मक और मूल्यात्मक। यह चेतना का उज्ज्वल वरदान है और इसी का नाम सौंदर्य है। लज्जा शालीनता का दूसरा नाम है। मनोवैज्ञानिकों के मतानुसार यह नारी की मज्जागत विशेषता है। किंतु जहाँ लज्जा अपना संदेश सुनाती हुई कहती है—

नारी ! तुम केवल श्रद्धा हो विश्वास रजत नग पग तल में
पीयूष स्रोत सी बहा करो जीवन के सुन्दर समतल में।

वहाँ काव्य मध्यकालीन नैतिकता की ओर घूम जाता है। उसका संपूर्ण संदेश लज्जा सर्ग का अनिवार्य अंग नहीं बन पाता। यहीं पर रचना-संश्लिष्टता क्षतिग्रस्त हो जाती है।

कर्म सर्ग दो पद्धतियों का द्वंद्व है--प्राणिमात्र के प्रति ममत्व और आत्म-केन्द्रित ममत्व। आत्मकेन्द्रित ममत्व ईर्ष्या को जन्म देता है और व्यक्ति अपनी आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए इड़ा या बुद्धि का सहारा लेता है। इसके बाद स्वप्न, संघर्ष और निर्वेद सर्ग हैं।

आनन्दवर्धन के मतानुसार काव्य की संघटना गुणों पर आश्रित होती है। लेकिन यह तर्कसंगत नहीं है क्योंकि पाठक के सामने संघटना होती है गुण नहीं। यह मंचीय संघटना भी हो सकती है या इतर काव्य संघटना भी। कुछ आचार्य संघटना को धर्मी और गुण को धर्म मानकर संघटना को ही प्रमुखता देते हैं। इस संघटना को व्यापक अर्थ देकर आज की संरचना के साथ जोड़ा जा सकता है। संभवतः यह वामन की कविव्यापार वक्रता से बहुत भिन्न नहीं है। भिन्न-भिन्न प्रकार के काव्यों की संघटना भी भिन्न होगी ही।

कामायनी की जटिल संघटना के आधार पर उसके गुणों को खोजा जा सकता है। अगर उसे महाकाव्य के पूर्व निश्चित सिद्धांतों के आधार पर महा-काव्य सिद्ध करने की जिद बनी रही तो उस पर दूसरे प्रतिमान आरोपित किए जायँगे। सामान्यतः घुमा-फिरा कर किसी ने उसमें दंडी द्वारा निर्धारित महाकाव्य के तत्त्वों को देखा है तो किसी ने अरस्तू के काव्यशास्त्र में निर्धारित तत्त्वों को। या फिर बौद्धिकता, समरसता, चारित्रिक उदात्तता, आधुनिकता, वस्तु-वर्णन आदि को गिनाकर उसे महाकाव्य सिद्ध कर दिया जाता है।

डा० नगेन्द्र ने इसे उदात्त-तत्त्व के आधार पर महाकाव्य कहा है। इसके कथा-नक, कार्य, चरित्र, भाव और शैली को उदात्त माना है। उदात्त स्वयं गोल शब्द है। ब्रैडले ने सुन्दर के जो पाँच भेद—उदात्त, भव्य, मधुर, मनोरम, ललित—किए हैं, वे गुणमूलक, या प्रशंसामूलक और हवाई हैं। उनके आधार पर रचना की प्रशस्ति की जा सकती है, विवेचना नहीं।

वस्तुतः कामायनी की संरचना अर्थ के विभिन्न स्तरों को समान रूप से महत्त्व-पूर्ण धरातल पर प्रतिष्ठित नहीं कर पाती। किसी लेखक को भाषा अपने समाज से मिलती है। उसकी अपनी भूमि और सीमा होती है। शैली लेखक का जीव-मनोवैज्ञानिक पहलू है। वह भाषा और शैली में स्थित या कंडिशन्ड होता है।

यह स्थिति उसके इरादे से अतिक्रमित होती है। इसी के आधार पर लेखक पुनर्रचना करता है और प्रतिश्रुत होता है।

मनुष्य के मन के अन्तर्विकास को दिखाते हुए प्रसाद ने उसे आनन्दवाद में पर्यवसित किया है। यह आनन्दवाद शैवागम का आनन्दवाद है, दर्शन है। अतः संरचना या काव्य-प्रक्रिया का अनिवार्य अंग नहीं हो सका है। बीच के सर्गों में जहाँ दर्शन काव्य संरचना में अन्तर्भुक्त है वहाँ उसमें अपूर्व चमक आ गयी है।

जीवन तेरा क्षुद्र अंश है व्यक्त नील घनमाला में
सौदामिनी संधि-सा सुन्दर क्षण भर रहा उजाला में।

यह बौद्धदर्शन का क्षणवाद संपूर्ण चिंता सर्ग को सर्ग या सर्जना का गौरव देता है, चिंता की कटुता और वेदना की क्षणभंगुरता का संदर्भ देकर सर्ग की संघटना का अंग हो जाता है।

समरसता को दूर तक संघटना का अंग बनाया गया है। मानव जीवन प्रायः वैषम्य की पीड़ा से विकल रहा है, सुख-दुःख, आकांक्षा-तृप्ति, अधिकार-अधिकारी, नर-नारी, आत्मोपासना-प्राणोपासना की विषमता से आधुनिक जीवन पहले की अपेक्षा अधिक संत्रस्त है। इन्हें सामान्यतः मनु-श्रद्धा के माध्यम से व्यक्त किया गया है। पर जब श्रद्धा की मुसकान द्वारा इच्छा, क्रिया और ज्ञान में सामरस्य स्थापित करके कहा जाता है—

समरस थे जड़ या चेतन, सुन्दर साकार बना था
चेतनता एक विलसती आनन्द अखंड घना था

तो सामरस्य सांप्रदायिक हो जाता है।

बिंबों और प्रतीकों का संघटना में महत्त्व होता है। कामायनी में एक से एक सुन्दर ऐंद्रिय बिंब है—चक्षु और घ्राण बिंब। इन दोनों बिंबों की इसमें प्रचुरता है। ये बिंब प्रसाद के जैव मनोवैज्ञानिक प्रकृति के अनुकूल हैं। इन बिंबों से भिन्न जहाँ उन्होंने अन्य प्रकारों के बिबों का सृजन किया है वे न उतने प्रभावशाली बन पड़े हैं और न ऐंद्रिय। संघर्ष और काम सर्ग के बिंब ऐसे ही हैं।

कामायनी में जो प्रतीक मनोविज्ञान से संबद्ध हैं वे अपने संदर्भों में सार्थक हैं। पर श्रद्धा और इड़ा की प्रतीकात्मकता लज्जा, काम आदि से भिन्न है। लज्जा और काम 'हारमोनिक' विशेषताएँ हैं जब कि श्रद्धा और इड़ा सामाजिक अहं (सुपरइगो) के पाये हैं। इसलिए उन्हें सामाजिक संदर्भों में भी सार्थक होना जरूरी है। मनु को सामाजिक संदर्भ न भी दिया जाय तो कोई हर्ज नहीं है। उसे मात्र प्रतीक मान लेने पर भी कोई संघटनापरक बाधा नहीं खड़ी होती।

किन्तु श्रद्धा बहुत दूर तक चरित्र होकर भी इड़ा से मिलने पर शुद्ध प्रतीक हो जाती है। इससे उसकी चारित्रिकता का खंडित होना सहज है। मनु का इड़ा

को आलिंगन-पाश में बाँधने के प्रयास का स्थल उसे पूरा प्रतीक बना देता है और जब वह निर्दोष होकर भी श्रद्धा के सम्मुख अपना दोष स्वीकार कर लेता है तो उसकी प्रतीकात्मकता पुष्ट हो जाती है। इससे संघटना की प्रक्रिया में जो मानववादी मूल्य दिखाई पड़ रहा था वह लुप्त हो जाता है, और काव्य एक प्रकार की नैतिक साधना की ओर अग्रसर हो उठता है।

इड़ा का स्वरूप या नखशिख वर्णन उसकी प्रतीकात्मकता को प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत करता है—

बिखरी अलकें ज्यों तर्क जाल
वह विश्व मुकुट सा उज्ज्वलतम शशिखंड सदृश था स्पष्ट भाल
दो पद्म पलाश चषक से दृग देते अनुराग विराग ढाल
गुंजरित मधुप से मुकुल सदृश वह आनन जिसमें भरा गान
वक्षस्थल पर एकत्र धरे संस्कृति के सब विज्ञान ज्ञान
था एक हाथ में कर्म कलश वसुधा जीवन रस सार लिये
दूसरा विचारों के नभ को था मधुर अभय अवलंब दिये
त्रिवली थी त्रिगुण तरंगमयी, आलोक वसन लिपटा अराल
चरणों में थी गति भरी ताल।

वह आज के बुद्धिवादी वैज्ञानिक जगत् से जुड़ जाती है। यह रूप उसके भावी क्रिया-कलापों से रचना के स्तर पर संबद्ध है, इसमें संदेह नहीं। इड़ा किसी अज्ञेय सत्ता में विश्वास नहीं करती। वह मनु को प्रकृति के रहस्यों की खोज में लगाती है, विज्ञान के आधार पर जड़ता को चैतन्य की ओर ले जाने का उपाय बताती है। लेकिन जब मनु कहता है कि—'मैं बड़ा सहज, तो स्वयं बुद्धि को मानो आज यहाँ पाया' तो लगता है कि उसके सामने कोई मांसल छवि मौजूद है। परंतु वह मांसल नहीं बन पाई है। श्रद्धा और इड़ा की सैद्धांतिक टकराहट दोनों के मानवीय अस्तित्व को तिरोहित कर देती है। यह पुरातन और नए मूल्यों की भी टकराहट हो सकती है। किंतु टकराहट दोनों के मानवीय अस्तित्व में बाधक होती है।

श्रद्धा के रूप में प्रसाद ने आज के युग का एक ज्वलंत प्रश्न उठाया है कि मानवता का विकास आत्मकेन्द्रित होने में है या आत्मविस्तार में :—

मनु ! क्या यही तुम्हारी होगी उज्ज्वल नव मानवता ?
जिसमें सब कुछ ले लेना हो हंत ! बची क्या शवता।
\+ \+ \+
तुच्छ नहीं है अपना सुख भी श्रद्धे ! वह भी कुछ है
दो दिन के इस जीवन का तो वही चरम सब कुछ है।

स्त्री की प्रवृत्ति सब कुछ दे देने की है और पुरुष की ले लेने की है। सब कुछ पर एकाधिकार की आकांक्षा व्यक्तिवाद, पूँजीवाद की देन है जो संघर्ष, युद्ध और विनाश की ओर ले जाती है। सब कुछ दे देना स्वच्छन्दतावादी परिवेश का आदर्श है। रविबाबू के एक गीत में एक भिखारी की कथा कही गई है। उसने बड़ी मुश्किल से, बहुत कुछ समझाने-बुझाने पर, अपनी झोली से चावल का एक कण निकाल कर दान दिया था। घर पहुँचने पर उसे एक कण सोने का मिला। पर यह आदर्श विगत युग का आदर्श है जो पुरुषों द्वारा स्त्री के लिए बनाया गया है जिससे पुरुष की अपनी लूट-खसोट में कोई बाधा न हो। इस मध्ययुगीन आदर्श की रक्षा में श्रद्धा को व्यक्तित्व नहीं मिल पाता और वह अतिमानवी बनकर रह जाती है। प्रेमचन्द प्रसाद के समसामयिक थे। पर स्त्रियों के संबंध में उनका आदर्श प्रसाद के आदर्श से भिन्न नहीं था। 'गोदान' में वे मेहता को इसी रूप में देखते हैं। श्रद्धा वैयक्तिकता (इंडिविडुवलिटी) का निषेध करती है और मनु आत्मगतिकता से इतर वस्तुओं का। आत्मत्याग और स्वार्थपरता दोनों ही यथार्थपरक मानवीय मूल्य नहीं हैं। मूल्यों के प्रति आस्था होने के पूर्व मनुष्य को अपने को, अपनी प्रकृति को, अपनी क्षमता को जानना होगा। अपने को, अपनी वैयक्तिकता को न जानने के कारण श्रद्धा के मूल्य वास्तविक जीवन के मूल्य नहीं बन पाते। यही कारण है कि उसका बुद्धिवाद का विरोध निष्प्रभ हो जाता है। फलतः कामायनी आधुनिकता का आभास देकर भी आधुनिक नहीं बन पाती।

अपनी इन कमियों के बावजूद कामायनी एक अभिनव कला-कृति है। मनुष्य की अन्तर्वृत्तियों के इतने गूढ़ और संश्लिष्ट रचनात्मक चित्र बहुत ही कम मिलेंगे। हिंदी के पिछले प्रबंधकाव्यों से इसके बिंब, भाषा, प्रतीक आदि एकदम अलग, नवीन और कल्पनात्मक छवियों से ओत-प्रोत हैं। अर्थ के विभिन्न स्तरों को यदि इसकी संरचना ठीक-ठीक आकलित कर पाती तो इसकी भव्यता और कलात्मकता अद्वितीय होती।

सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला (१८९९-१९६१ ई०)

छायावादी कवियों में निराला का व्यक्तित्व और काव्य दोनों ही अपनी अन्तर्विरोधी प्रवृत्तियों, संघर्षों और अनघड़पन के कारण काफी दिनों तक विवाद के विषय बने रहे। पर ज्यों-ज्यों समय बीतता गया उनके काव्य के संबंध में लोगों की जानकारी और समझदारी बढ़ती गई। आज तो नया कवि अपने को निराला से जोड़ने में गौरव का अनुभव करता है। इससे भी पता लगता है कि निराला में कुछ ऐसा जरूर है जो आज के लिए भी प्रासंगिक है। संभव है भावी युग की प्रासंगिकता के कारण ही कुछ दिनों तक वे दुर्बोध समझे जाते

रहे हों। इससे यह भी निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि उनके काव्य में कुछ ऐसा भी था जो छायावाद युग को अतिक्रमित करता हुआ भावी युग के साथ जुड़ता था। जो कुछ उनके काव्य में युग के आगे था वही तत्कालीन आलोचकों और पाठकों की बँधी दृष्टि के दायरे में नहीं आ पाता था। किंतु नये य़ुग का कवि उसमें अपनी प्रासंगिकता को पाकर उससे जुड़ता है, सीखता है। इस तरह निराला अन्य छायावादी कवियों से अलग हो जाते हैं।

अलगाव के और भी बहुत से विन्दु हैं किंतु उनमें से मुख्य दो हैं—भाषा और जीवन-दृष्टि। प्रसाद की भाषा का निरंतर संस्कार-परिष्कार होता गया है। वे जिस तरह की भापा में काव्य-रचना का आरंभ करते हैं उसी को निरंतर संस्कृत, परिष्कृत और अभिव्यक्ति-क्षम बनाते चलते हैं। 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' को छोड़कर पंत की भाषा अपने आभिजात्य में एक रूप है। महादेवी तो एक भाषा और एक कविता ही लिखती रही हैं। पर निराला की भाषा में कहीं आभिजात्य का तेवर है तो कहीं उसी का विरोध। कहीं-कहीं एक ही रचना में वे दोनों का एक साथ प्रयोग करते हैं। भाषा के आधार पर ये एक और मुद्दे पर—-अत्यन्त महत्त्वपूर्ण मुद्दे पर अन्य छायावादी कवियों से अलग दिखाई पड़ते हैं। यह मुद्दा है भाषा में विडंवना (आइरनी) का अर्थवान प्रयोग। जहाँ छायावाद के अन्य कवियों में सर्वत्र गंभीरता की एकरसता दिखाई पड़ती है वहाँ निराला अपने व्यंग्यात्मक और विडंबनात्मक भाषाई प्रयोग से उसे तोड़ते चलते हैं। इसके फलस्वरूप वह एक ओर वैयक्तिक हो जाता है तो दूसरी ओर निर्वैयक्तिक। इससे रोमांटिकता और अ-रोमांटिकता टकरा कर बौद्धिकता को जन्म देती हैं।

निराला ने अपने युग और भोग के संदर्भ में अन्तर्दृष्टि की तलाश की है। प्रसाद की अन्तर्दृष्टि शैवागम दर्शन से संचालित है। पंत अनेक दर्शनों को अपनाते और छोड़ते रहे हैं। अंत में अरविन्द दर्शन में कुछ काट-छाँट कर उसी को अपना लिया है। निराला पर भी अद्वैतवादी दर्शन का गहरा प्रभाव है। स्वामी रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द आदि से भी वे काफी प्रभावित हैं। इसमें भी शक नहीं कि उनकी अन्तर्दृष्टि के निर्माण में इसका महत्त्वपूर्ण योगदान है। किन्तु वे जीवन के भीतर पैठ कर अपनी दृष्टि निर्मित करते हैं। जीवन अन्तर्विरोधों से भरा पड़ा है। यह भी कहा जा सकता है कि अन्तर्विरोधों का नाम जिन्दगी है। जीवन का अन्तर्विरोध अन्ततः व्यक्ति और समाज के पारस्परिक तनावों में ही उगता है। निराला अद्वैत वेदान्ती हैं तो भक्त भी हैं। भारतीय परंपरा की गत्यात्मकता के पोषक भी हैं और अत्यधिक आधुनिक भी हैं। एक ओर उनमें गहरा अस्वीकार है तो दूसरी ओर सहज स्वीकार। एक ओर

उनमें विद्रोह का स्वर मुखर है तो दूसरी ओर मानवीय नियति और विवशताओं की करुण रागिनी। इतने सारे अन्तर्विरोध उसी व्यक्ति में दिखाई पड़ सकते हैं जो निरंतर संघर्षों में टूटता और निर्मित होता रहा है। इन विविधताओं, संघर्षों के कारण ही जीवन को पूर्णता मिलती है। कहना न होगा निराला जीवन की पूर्णता के कवि हैं। उनकी अन्तर्दृष्टि का निर्माण इसी के भीतर से होता है। इसी के भीतर वह आत्मान्वेषण करता है। किंतु यह आत्मान्वेषण एक ओर छायावाद के अन्य कवियों के आत्मसाक्षात्कार से भिन्न है तो नए कवियों के रीतिबद्ध आत्मान्वेषण से अलग। निराला का आत्मान्वेषण जीवन की वैयक्तिक सार्थकता को युगीन संदर्भों के साथ भी जोड़ता चलता है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि उसकी अन्तर्दृष्टि तमाम मानवीय स्थितियों को पार करने में निहित है। यही उसकी मुक्ति है। यह मुक्ति छंद के बंधनों, रूढ़ियों, आभिजात्य आदि सभी की मुक्ति है—आगे चलकर मुक्ति से भी मुक्ति।

जीवन के आरंभिक काल से ही—सोलह-सत्रह वर्ष की अल्पवय में ही—उनके ऊपर पारिवारिक विपत्ति का पहाड़ टूट पड़ा। सम्मिलित कुटुंब के पोषण के लिए उन्हें जगह-जगह भटकना पड़ा। रामकृष्ण मिशन (कलकत्ता) के साधुओं के पत्र 'समन्वय' के संपादकीय विभाग में आने पर उनके दार्शनिक विकास के लिए ठोस भूमि मिली। सन् १९२३ में कलकत्ता से सेठ महादेव प्रसाद ने 'मतवाला' साप्ताहिक पत्र निकाला। उसके संपादक-मंडल में निराला भी सम्मिलित हुए। 'मतवाला' के तुक पर उनका नाम निराला रखा गया। 'मतवाला' के मुखपृष्ठ पर एक 'मोटो' छपता था—'अमिय-गरल शशिसीकर रविकर राग विराग भरा प्याला, पीते हैं जो साधक उनका प्यारा है मतवाला।' कहना न होगा कि 'अमिय-गरल' को एक साथ पीने वाला साधक कवि स्वयं है। उसके मुक्त छंद 'मतवाला' में छपने लगे। निराला के साहित्यिक विकास में इस पत्र ने ऐतिहासिक भूमिका अदा की है।

निराला का प्रथम काव्य-संग्रह—अनामिका—का प्रकाशन '२३ में हुआ। इसके पहले पंत के 'ग्रंथि' और 'उच्छ्वास' का प्रकाशन '१८, '१९ और '२२ में क्रमशः हो चुका था। प्रसाद के 'झरना' का द्वितीय संस्करण ही छायावादी दृष्टि से विशिष्ट है। यह संस्करण '२७ में प्रकाशित हुआ। इस तरह प्रायः ये सभी कवि समसामयिक थे। अनामिका ('२३) में निराला की पंचवटी प्रसंग, अधिवास, जुही की कली आदि ऐसी कविताएँ हैं जो उस समय तक प्रकाशित प्रसाद और पंत की प्रकाशित रचनाओं की अपेक्षा अधिक संश्लिष्ट तथा प्रौढ़ हैं। बाद में 'अनामिका' ('३७) का रूप ही बदल गया। '२३ की 'अनामिका' की अधिकांश रचनाएँ 'परिमल' में संगृहीत हो गई हैं।

निराला की कविता का समारंभ मुक्तवृत्त से होता है। 'जुही की कली' उनकी पहली रचना है और यह मुक्तवृत्त में है। 'परिमल' की भूमिका में निराला ने लिखा है—'मनुष्यों की मुक्ति की तरह कविता की भी मुक्ति होती है। मनुष्यों की मुक्ति कर्मों के बंधन से छुटकारा पाना है, और कविता की मुक्ति छंदों के शासन से अलग हो जाना।.....' मुक्ति को उसने मूल्य के रूप में ग्रहण किया है। मुक्त मनुष्य के 'तमाम कार्य औरों को प्रसन्न करने के लिए होते हैं।' मुक्त काव्य से 'स्वाधीन चेतना फैलती' है। मुक्तवृत्त में छन्दोबद्ध रचना के तुक, मात्रा आदि के अवरोधक तत्त्व निःशेष हो जाते हैं। छन्दों का बन्ध तोड़ने का संबंध केवल परंपराभुक्त ढाँचे को तोड़ना नहीं है। इसका संबंध उस ईमानदारी से है जो भावों को किसी पूर्वनिश्चित ढाँचे में न ढाल कर उन्हें अपना रूप स्वयं निर्मित करने में मदद करती है। छन्दों की रीतिबद्धता को तोड़ना एक क्रांतिकारी काम था। भविष्य में कविता ने यही रूप ग्रहण किया। निराला ने लिखा है—

> मुक्त छन्द
> सहज प्रकाशन वह मन का—
> निज भावों का प्रकट अकृत्रिम चित्र।

'जुही की कली' में जिस प्रणय का चित्रण किया गया है वह पंत और प्रसाद के प्रणय-चित्रण की तरह कुंठाग्रस्त नहीं है और न रीतिकालीन कवियों की तरह स्थूल। कविता का आखिरी बन्द है—

> निर्दय उस नायक ने
> निपट निठुराई की
> कि झोंकों की झड़ियों से
> सुन्दर सुकुमार देह सारी झकझोर डाली,
> मसल दिए गोरे कपोल गोल;
> चौंक पड़ी युवती—
> चकित चितवन निज चारों ओर फेर
> हेर प्यारे को सेज पास
> नम्रमुखी हँसी-खिली,
> खेल रंग, प्यारे संग।

इस तरह का दो टूक प्रणय-चित्रण छायावादी काव्य में अन्यत्र नहीं मिलेगा। 'जागो फिर एक बार', 'महाराज शिवाजी का पत्र' और 'पंचवटी प्रसंग' 'परिमल' के तृतीय खंड की लंबी कविताएँ हैं। इस खंड की सभी कविताएँ काल-क्रम की

दृष्टि से पहले आती हैं। अतः उन पर अद्वैत दर्शन और भारतीय संस्कृति की गहरी छाप है। 'महाराज शिवाजी का पत्र' के संबंध में दूधनाथ सिंह ने कहा है कि इसमें बार-बार सनातन धर्म और भारतीय संस्कृति की चर्चा की गई है। उन्होंने जाति या भारतीय का अर्थ हिन्दू से लिया है। उन्होंने यह भी लिखा है कि इस आधार पर कहा जा सकता है कि वे हिन्दुओं के कवि हैं। निराला हिन्दू-मुसलिम एकता की बात कम-से-कम इस कविता में नहीं सोचते। निराला की साहित्य-साधना में रामविलास शर्मा ने उन समस्त परिस्थितियों का उल्लेख किया है जिनमें यह कविता लिखी गई। इसमें कुछ ऐसा अवश्य है जिसे हिन्दू-संगठन के लोगों ने अपने पक्ष में इस्तेमाल किया। पर निराला ने औरंगजेब का संदर्भ लेकर इसे साम्राज्य विरोधी रचना का रूप दे दिया है। 'जागो फिर एक बार' में इतिहास और संस्कृति के उस वर्चस्व का स्मरण किया गया है जो आज भी उद्बोधन का कार्य करता है। 'शिवाजी के पत्र' से यह सर्वथा अलग है। 'पंचवटी प्रसंग' में अद्वैत के साथ ही भक्ति का भी समर्थन है। अद्वैत और भक्ति का यह अन्तर्विरोध उनकी परवर्ती कविताओं में भी मिलेगा।

'परिमल' के शेष दोनों खंडों में से प्रथम में छन्दोबद्ध रचनाएँ हैं तो दूसरे खंड में स्वच्छन्द छन्द। इनमें मुख्यतः प्रेम, प्रकृति, करुणा, क्रांति और अध्यात्म्य संबंधी रचनाएँ संगृहीत हैं। प्रथम खंड में 'मौन', 'प्रिया के प्रति', 'निवेदन' आदि प्रेमगीत हैं; 'माया', 'आध्यात्मफल', 'तुम और हम' अध्यात्म्य संबंधी रचनाएँ हैं और 'तरंगों के प्रति', 'वसंत समीर' आदि में प्रकृति-चित्रण है। 'यमुना के प्रति' अतीतोन्मुखी लंबी कविता है। द्वितीय खंड की अधिकांश कविताएँ कवि का प्रतिनिधित्व ज्यादा करती हैं। 'विधवा', 'भिक्षुक', 'दीन', 'संध्यासुन्दरी', 'धारा', 'बादलराग' आदि प्रसिद्ध रचनाएँ इसी में सन्निविष्ट हैं।

प्रथम खंड की रचनाएँ अध्यात्म और अतीतोन्मुखता के भार से दबी होने के कारण कुछ खास नया नहीं दे पातीं। 'यमुना के प्रति' में मौलिक उद्भावनाओं का अभाव है। यद्यपि मुक्ति का आग्रह इसमें है फिर भी अतीत की स्मृतियों की उद्भावनाहीन बंदिश इसे अलंकरण बना कर छोड़ देती है। लेकिन द्वितीय खंड की रचनाएँ कवि की वैयक्तिकता और युगबोध से संपृक्त होने के कारण प्रभविष्णु हो उठी हैं। वह विघ्नों का स्वागत करता हुआ लिखता है—

> कितने ही विघ्नों का जाल
> जटिल, अगम, विस्तृत पथ पर विकराल;
> कंटक, कर्दम, भय-श्रम मिश्रित शूल;

हिंस्र निशाचर, भूधर, कंदर पशु-संकुल
पथ घन तम, अगम अकूल—
पार—पार करके आए, हे नूतन !

जो लोग निराला की जिन्दगी को जानते हैं वे विघ्नों के जाल से भी परिचित हैं और हिंस्र निशाचरों और पशुओं से भी। 'सिर पर कितना गरजे/वज्र बादल' लेकिन वह इन्हें पार कर जाता है। 'नूतन !' संबोधन पहले आत्म-संबोधन है फिर नवीन युगीन चेतना को भी संबोधित है। 'अभी न होगा मेरा अन्त' में नवयौवनोचित आस्था अभिव्यक्त हुई है। विधवा, दीन, भिक्षुक में करुणा की रागिनी है, सह जाते हो की ध्वनि है। सहने की विवशताएँ जहाँ इन कविताओं को प्रामाणिक बनाती हैं वहाँ उनके माध्यम से विवशताओं को पार करने की आकांक्षाएँ भी जगाती हैं।

इस जागरण का ही फल है कि वह लिखता है—

बहने दो
रोक टोक से कभी नहीं रुकती है
यौवन मद की बाढ़ नदी की
किसे देख झुकती है ?

'झुकती है' शब्द विशेष रूप से द्रष्टव्य है। 'झुकने' शब्द प्रयोग के पीछे उसका संपूर्ण व्यक्तित्व बोल उठता है। इतिहास की धारा अपने अवरोधों और द्वन्द्वों में ही आगे बढ़ती है।

'बादल राग' परिमल की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण और लंबी कविता है—निराला के व्यक्तित्व को रेखांकित करने वाली। यह वातावरण प्रधान रचना है। इसमें मुखयतः ध्वनि, नाद और रूपक के माध्यम से युद्ध और विप्लव का रचनात्मक वातावरण तैयार किया गया है। रचनात्मकता ही उसकी अन्तर्दृष्टि है। विधवा, दीन और भिक्षुक में 'सहने' के माध्यम से जिस करुणा का सृजन किया गया है वह बादल में गर्जन-तर्जन, विप्लव और प्रहार में बदल गई है। विप्लव की परिणति है—

रुद्ध कोष, है क्षुब्ध तोष,
अंगना - अंग से लिपटे भी
आतंक अंक पर काँप रहे हैं
धनी, वज्र-गर्जन से बादल
त्रस्त नयन-मुख ढाँप रहे हैं।
जीर्ण बाहु, है शीर्ण शरीर
तुझे बुलाता कृषक अधीर
ऐ विप्लव के वीर !

'दीन' में एक तोषहै तो 'बादल राग' में वह क्षुब्ध हो उठा है। यह बादल भी कैसा है?—निबंध, स्वच्छन्द, उद्दाम ! यह संबोधन निराला के व्यक्तित्व और काव्य पर भी लागू है। सव्यसाची, भारत और गुडाकेश के पौराणिक प्रतीक अपने स्थान पर ही महत्त्वपूर्ण नहीं हैं बल्कि संपूर्ण कविता में युद्ध का वातावरण तैयार करने में, अन्याय के विरुद्ध लड़ने में अर्थवान् भूमिका अदा करते हैं। एक उदाहरण देखिए—

> रथ का घर्घर नाद
> तुम्हारे आने का संवाद ।
> ऐ त्रिलोकजित् ! इन्द्र धनुर्धर !
> सुरबालाओं के सुख स्वागत !
> विजय ! विश्व में नवजीवन भर,
> उतरो अपने रथ से भारत !

'भारत' महाभारत के युद्ध का स्मरण दिलाता है। किंतु बादल के संदर्भ में नए अर्थ से संपृक्त हो उठा है। इस सिलसिले में पंत का बादल अत्यंत बचकाना, क्रीड़ापरक और अन्तर्दृष्टि हीन लगता है—'सुरपति के हम ही हैं अनुचर/ जगत्प्राण के जलधर।'

सन् १६३६ में 'नवगति, नवलय, ताल छंद नव' से समन्वित 'गीतिका' का प्रकाशन हुआ। इसकी रचना के मूल में रावीन्द्रिक संगीत की प्रेरणा है। भाषा के गीतों की तरह यह राग-रागिनियों में बँधा हुआ नहीं है। ब्रजभाषा का उच्चारण भी बदला हुआ है। उच्चारण का नया आधार लिये हुए सभी गीत अलग भूमि पर खड़े हैं। इसकी स्वरलिपि में अंग्रेज़ी स्वरलिपि को भी ग्रहण किया गया है। अतः इसकी संगीतात्मकता परंपराभुक्त हिन्दी गीतों से भिन्न हो जाती है।

छंद-बंधनों को तोड़ने के पश्चात् यह निराला का दूसरा प्रयोग था। यद्यपि यह प्रयोग मुख्यतः छंद-संबंधी है फिर भी काव्यात्मकता का पूरा ध्यान रखा गया है। पियानो पर गाये जाने वाले ईसाइयों के मार्मिक गीतों की झलक अधिकांश गीतों में मिलती है। ऐसा होने के कारण गायन-पद्धति और भाव-विन्यास में पवित्रता का संकेत मिलता है। प्रणय गीतों का बेलाग वर्णन होने पर भी आज की कविता का भद्दा खुलापन नहीं है। 'नयनों के डोरे लाल गुलाल भरे, खेली होली' में होली का रूपक पूरी कविता को एक ओर खुला वर्णन का अवसर देता है तो दूसरी ओर इसे ठठोली कह कर संयमित भी कर देता है। प्रणय-चित्रण के अतिरिक्त इस संग्रह में ऋतुचित्र और आध्यात्मिक चित्र भी हैं।

सन् '३७ में उनका सर्वश्रेष्ठ काव्य संग्रह 'अनामिका' का प्रकाशन हुआ।

'सरोज स्मृति' और 'राम की शक्ति पूजा' जैसी प्रसिद्ध लंबी कविताएँ इसी संग्रह में हैं। लंबी कविताएँ कई और हैं—वनवेला, रेखा, प्रेयसी। वस्तुतः निराला की श्रेष्ठता उनकी दो तरह की रचनाओं पर निर्भर है—लंबी कविताओं पर या लघुगीतों पर। लंबी कविताओं में अनेक अन्तर्विरोधों का समाहार उन्हें श्रेष्ठता प्रदान करता है तो लघु प्रगीतों में भाव की संहिति। इस संग्रह की रचनाओं में व्यंग्य और विवशताओं का भी सन्निवेश दिखाई पड़ता है। सच पूछिए तो इस संग्रह की रचनाओं में कवि की अन्तर्दृष्टि अधिक व्यापक और गहरी हो गई है।

रेखा, प्रेयसी और सम्राट एडवर्ड अष्टम के प्रति तीन लंबी प्रेम कविताएं हैं। मुक्त प्रेम के हिमायती निराला प्रारंभ से ही रहे हैं। पर 'परिमल' और 'गीतिका' की प्रेम कविताओं में एक प्रकार की स्थूलता है। रेखा, प्रेयसी आदि में मनोवृत्तियों के सूक्ष्म तारों को पकड़ा गया है। जाति, धर्म आदि के आगे चलकर 'अपनाव' ही प्रेम है।

सरोज स्मृति ('३५), राम की शक्ति पूजा ('३६) और तुलसीदास ('३८) निराला की लंबी कविताएँ हैं। क्या इन तीनों रचनाओं में कोई क्रमागत आन्तरिक एकसूत्रता स्थापित की जा सकती है? क्या सरोज स्मृति के पिता, राम की शक्ति पूजा के राम और तुलसीदास के तुलसीदास कहीं-न-कहीं एक-दूसरे से मिलते हैं? क्या कर्म संन्यास, शक्ति की आराधना और सांस्कृतिक चेतना के द्रष्टा कवि तुलसीदास एक ही मनःस्थिति के विकसित रूप नहीं हैं? लगता है 'राम की शक्ति पूजा' दोनों कविताओं की मध्यवर्तिनी है। तीनों ही गहरे अन्तर्द्वंद्व की कविताएँ हैं जो कवि के अपने द्वंद्व को भी समाहित कर लेने के कारण अधिक प्रामाणिक हो गई हैं। युद्ध का वातावरण तीनों में है—

देखता रहा मैं खड़ा अपल
वह शरक्षेप, वह रणकौशल
—सरोज स्मृति

रवि हुआ अस्त : ज्योति के पत्र पर लिखा अमर
रह गया राम रावण का अपराजेय समर
आज का, तीक्ष्ण-शर-विधृत-क्षिप्र-कर, वेग प्रखर,
—राम की शक्ति पूजा

होगा फिर से दुर्धर्ष समर
जड़ से चेतन का निशिवासर
कवि का प्रति छवि से जीवन हर, जीवन भर;
—तुलसीदास

'सरोज स्मृति' में वैयक्तिकता-निर्वैयक्तिकता का गहरा संघर्ष है। उसे अपनी विषम स्थितियों को पार न कर पाने का बेहद दर्द है। व्यंग्य और विडंबना का प्रयोग इस तथ्य का सबूत है कि कवि अपने आत्मसंघर्ष को रचना के स्तर पर प्रतिष्ठित करना चाहता था। रचाव के संदर्भ में वह अपने संघर्ष को दूसरे स्तर पर जीता है। अन्य रचनाओं में संघर्ष-जन्य तनाव की स्थितियों में ऐसी सघनता नहीं है। व्यंग्य और विडंबना वैयक्तिक तनाव को निर्वैयक्तिक बनाकर अधिक काव्योचित बना देती है। 'राम की शक्ति पूजा' में भी व्यक्तित्व की संपूर्णता ही अभिव्यक्त है। लेकिन युद्ध-जन्य संशयग्रस्तता का परिप्रेक्ष्य उसे सीमित कर देता है। 'राम की शक्ति पूजा' और 'तुलसीदास' की रचना-प्रक्रिया में एक प्रकार का साम्य है। हनुमान का ऊर्ध्वगमन तुलसीदास का भी ऊर्ध्वगमन है। शक्ति पूजा में राम कहते हैं—'रावण, अधर्मरत भी, अपना, मैं हुआ अपर।' पर तुलसीदास में विजय के प्रति गहरी आस्था व्यक्त हुई है—

भारती इधर, हैं उधर सकल
जड़ जीवन के संचित कौशल;
जय, इधर ईश, हैं उधर माया-कर।

इन तीनों लंबी कविताओं को एक विकास-क्रम में देखने पर ही इनके साथ न्याय किया जा सकता है। यह कवि की मानसिक स्थितियों का भी विकास-क्रम है। सरोज स्मृति की त्रासद भयावहता से उबर कर वह 'राम की शक्ति पूजा' में शक्ति संग्रह करता हैं। इसके आधार पर 'तुलसीदास' में वह सांस्कृतिक पुर्ननिर्माण से गहरे अर्थ में संपृक्त हो उठता है। इस क्रम से देखने पर जो लोग 'राम की शक्ति पूजा' में हार की ट्रेजिडी देखते हैं उन्हें अपना मत बदलना पड़ेगा।

इनमें कवि आत्म की तलाश करता है, इस माध्यम से वह समाज और संस्कृति की भी तलाश करता है। इसलिए ये आत्म, समाज और संस्कृति के साक्षात्कार की कविताएँ बन जाती हैं। 'लहर' में प्रसाद की एक लंबी कविता संगृहीत है—प्रलय की छाया। इसमें कवि की रोमैंटिक चेतना अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँची हुई है। कवि अपनी सौन्दर्य-चेतना और रोमानी आदर्श के प्रति पूरी ईमानदारी बरतता है। किन्तु यह रचना न तो कवि के भोग को छूती है न सामाजिक-सांस्कृतिक वर्तमानता को, इसलिए मात्र अतीतोन्मुख होकर रह जाती है।

'सरोज स्मृति' निराला की सर्वाधिक व्यक्तिपरक रचना है। इसलिए इसमें उसके आत्मसंघर्ष का अत्यंत सघन रूप दिखाई पड़ता है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि यह आत्मसंघर्ष ही रचना के रूप में बदल गया है।

कविता का समारंभ गीता के रूपक द्वारा होता है और समापन गीता में प्रति-पादित कर्म-संन्यास में। इन दोनों छोरों के बीच उन कर्म-संघर्षों का चित्रण है जो उन्हें कर्म-संन्यास की परिणति तक पहुँचाते हैं। ये सभी संघर्ष निराला के उतने हैं जितने किसी अन्य के हो सकते हैं।

अनुभव की करुण गाथा को विसंगतियों और व्यंग्य-विडंबनाओं के आधार पर और भी करुण बना दिया गया है। यहीं पर करुणा और व्यंग्य-हास्य को परस्पर विरोधी कहने वाली परिपाटी ग्रस्त शास्त्रीय परंपरा ध्वस्त हो जाती है। मैथ्यू आर्नल्ड का यह कथन कि अत्यंत गंभीर काव्य और व्यंग्य दोनों को एक साथ रखना अनौचित्य पूर्ण है, कोई मायने नहीं रखता। एक ओर बेटी की अट्ठारह वर्ष की तरुणाई में करुण मृत्यु का अंकन और दूसरी ओर संपादकों और कनौजियों का मखौल उड़ाना; दोनों एक-दूसरे के विपरीत मालूम पड़ते हैं। पर यह वैप-रीत्य ही इस काव्य का डिक्शन है। और इसी के आधार पर कवि अपनी वैयक्तिकता का परिहार करता हुआ निर्वैयक्तिकता के क्षेत्र में प्रवेश करता है।

कवि जिस मानवीय स्थिति में पड़ा हुआ है, उसे पार करने की बार-बार कोशिश करता है। इस स्थिति के मूल में अर्थाभाव है। उसे 'अर्थागमोपाय' मालूम है। लेकिन 'लखकर अनर्थ आर्थिक पथ पर/हारता रहा मैं स्वार्थ समर।' 'अर्थागम' के लिए तो जनता का शोषण करना पड़ेगा। कवि कहता है—'क्षीण का न छीना कभी अन्न।' पूंजीवादी व्यवस्था में हर ईमानदार आदमी को इसी मजबूरी का बोध होता है। कन्या का उत्तम पोषण न करने की टीस उसे हमेशा सालती रही। 'अर्थाभाव' के अतिरिक्त वह परंपरावादी संपादकों से लड़ता हुआ व्यर्थता का बोध कर रहा था—

'तब भी मैं इसी तरह समस्त
कवि-जीवन में व्यर्थ भी व्यस्त
लिखता अबाधगति मुक्त छन्द
पर संपादकगण निरानन्द
वापस कर देते पढ़ सत्वर
दे एक - पंक्ति - दो में उत्तर।

निराला गैर-मामूली जीवट के व्यक्ति थे—'खंडित करने को भाग्य-अंक/ देखा भविष्य के प्रति अशंक।' लेकिन वह अर्थ-अंक कैसे खंडित करे! विवाह-प्रथा को अर्थ कितना विकृत बना चुका है, यह किसी से छिपा नहीं है। वे कान्य-कुब्जों पर व्यंग्य करते हुए लिखते हैं—

ये कान्यकुब्ज कुल कुलांगार;

खाकर पत्तल में करें छेद,
इनके कर कन्या, अर्थ खेद,

सामाजिक संकीर्णताओं के निर्माण में अर्थ का महत्त्वपूर्ण योग होता है। बाद में ये संकीर्णताएँ रूढ़ियाँ बन जाती हैं। निराला ऐसा क्रांतिकारी कवि इन रूढ़ियों को समर्पित नहीं हो सकता—

वे जो जमुना के-से कछार
पद फटे बिवाई के, उधार
खाये के मुख ज्यों पिये तेल
चमरौधे जूते से सकेल
निकले, जी लेते, घोर गंध
इन चरणों को मैं यथा अंध
कल घ्राण-प्राण से रहित व्यक्ति
हो पूजूँ, ऐसी नहीं शक्ति।

अंत में अपना निर्णय देते हुए वह कहता है—

ऐसे शिव से गिरिजा विवाह
करने की मुझको नहीं चाह।

ऊपर की सभी पंक्तियाँ 'ऐसे शिव' की विशेषण हैं। यह व्यंग्य संपूर्ण कविता को विडंबनात्मक (आइरेनिकल) बना देता है। कवि बुरी तरह स्थितिपरक (सिचुएशनल) हो जाता है। इसकी जिम्मेदारी बहुत कुछ उस विद्रोहात्मक तेवर पर है। वास्तविक संसार अपने ढंग की अपेक्षा करता है। दुनिया की माँग और कवि की माँग में एक टकराहट होती है, एक तनाव आता है। इस व्यंग्य-विधान और विसंगति द्वारा कवि झूठी वास्तविकता की दुनिया को अपनी रचना में और भी दर्दनाक बना देता है।

विद्रोही व्यक्ति समाज को भी तोड़ता है और स्वयं भी टूटता है। यह उसकी नियति होती है। वह कहता है—'तुम करो ब्याह, तोड़ता नियम/मैं सामाजिक योग के प्रथम।' नियम तोड़ने की फलश्रुति है—'दुख ही जीवन की कथा रही/क्या कहूँ आज जो नहीं कही!' यहाँ आकर भाषा मौन हो जाती है। भाषा की अपनी सीमाएँ होती हैं। उससे आगे मौन ही कह सकता है। इसके बाद कर्म-संन्यास। कर्म-संन्यास कविता की स्वाभाविक परिणति है, पंत के 'नौकाविहार' की अंतिम पंक्तियों की तरह चिपकाई हुई नहीं है।

'राम की शक्ति पूजा' निराला के आत्मान्वेषण का दूसरा कदम है। इसका कथानक बंगला के कृत्तिवास रामायण से उठाया गया है। कृत्तिवास की युद्धकथा और राम की शक्ति पूजा का मुख्य अन्तर यह है कि पहला जितना ही स्थूल और

बाह्योन्मुखी है दूसरा उतना ही सूक्ष्म और आन्तरिक। इसलिए 'राम की शक्ति-पूजा' की अपनी मौलिकता है।

'सरोज स्मृति' की तरह इसका कथानक वैयक्तिक नहीं है। किंतु इस कविता को भी निराला की अपनी वैयक्तिकता ही प्राणवान बनाती है। राम किन्हीं अंशों में निराला हैं। उनका युद्ध निराला का भी युद्ध है। राम, रावण और युद्ध तीनों प्रतीक हैं। यह युद्ध भीतर-बाहर निरंतर चलता रहता है। यह युद्ध सामयिक भी है और सनातन भी। परिस्थिति विशेष में इसके रूपाकार में भेद हो सकता है पर मूलभूत तत्त्व युद्ध वही रहता है। रावण हीनतर मनोवृत्तियों का प्रतीक है, राम उच्चतर मनोवृत्तियों के। व्यक्ति और समाज द्वंद्वों से ही गत्यात्मक होते हैं।

इस युद्ध को राम की तरह ही निराला ने भी झेला था। पराजय के फलस्वरूप—'स्थिर राघवेन्द्र को हिला रहा फिर फिर संशय/रह रह उठता जग जीवन में रावण जय भय।' निराला और राम इसी संशय से जूझ रहे थे। उस समय समस्त देश साम्राज्यवादी शक्तियों से जूझ रहा था। अपनी विजय के प्रति वह भी कम संशयग्रस्त नहीं था।

इस संशय के लिए ज्योतिपत्र पर अंकित राम-रावण-युद्ध का जो भयंकर दृश्य प्रस्तुत किया गया है वह इसे यथार्थ की भूमिका देता है। नरेश मेहता के 'संशय की एक रात' की तरह किसी अवधारणा (कान्सेप्ट) को ऊपर से चस्पा नहीं किया गया है। युद्ध के परिवेश में राम को विशिष्ट रूप में स्थापित (सिचुएट) करते हुए कवि इसे संपूर्ण रचना का अनिवार्य अंग बना देता है—

अनिमेष - राम - विश्वजिद्दिव्य - शर - भंग - भाव,—
विद्धांग - बद्ध - कोदंड - मुष्टि - खर - रुधिर - स्राव

'विश्वजिद्दिव्य-शर-भंग-भाव' ही राम को शंकाकुल बनाता है। 'खर-रुधिर-स्राव' निराला के वैयक्तिक जीवन में भी देखा जा सकता है। 'सरोज स्मृति' इसके अतिरिक्त और क्या है? इस भाव को राम की श्लथ मुद्रा द्वारा और भी प्रामाणिक बना दिया जाता है—'श्लथ धनुगुण है, कटिबंध स्रस्त-तूणीर-धरण', इसके आगे पृष्ठभूमि है—'है अमानिशा; उगलता गगन घन अंधकार।' यह केवल किसी अन्य घटना की पृष्ठभूमि नहीं है बलिक राम की मानसिकता से जुड़ कर पूरी कविता की संरचना से जुड़ जाती है। टेक्श्चर और स्ट्रक्चर का ऐसा सामंजस्य शायद ही कहीं मिले।

ऐसे ही निराशा के क्षणों में विदेह के उपवन की सीता-छबि राम के मन में विद्युत् की तरह कौंध उठी। यह कौंध अतीत और वर्तमान की स्थितियों में चामत्कारिक विसंगति के लिए नहीं ले आया गया है। जैसा, प्रसाद की 'प्रलय

की छाया' में है। और न अज्ञेय की असाध्यवीणा के 'मुझे स्मरण है' की तरह वातावरण को अलंकरण पूर्ण बनाने के लिए ही ले आया गया है। नारी का सौन्दर्य, स्नेह राम को थोड़ी देर के लिए क्रियमाण और गत्यात्मक बना देता है। इसके तुरन्त बाद एक निरावलंब प्रत्यक्ष——हैलुसेनेशन !——महाशक्ति की भीमा मूर्ति। और 'लख शंकाकुल हो गए अतुल-बल शेष-शयन ।'

हनुमान के प्रसंग को लेकर आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने इसे गाथा काव्य कहा है। उनके मतानुसार निराला ने इसे गाथा की भूमि से उठाकर महाकाव्योचित गांभीर्य देने की चेष्टा की है। गाथा काव्य में लोक विश्वासों की प्रचुरता, अतिरंजना के चमत्कार और अलौकिकता की योजना रहा करती है। ये सभी योजनाएँ 'राम की शक्ति पूजा' में भी हैं। पूछा जा सकता है कि क्या ये अतिरंजनाएँ 'कामायनी' में विशेष रूप से उसके अंतिम तीन सर्गों में नहीं हैं? हनुमान का ऊर्ध्वगमन योगमार्ग की एक प्रचलित प्रणाली है। ऊर्ध्वगमन और समस्त ब्रह्मांड को लील जाने की गाथा मिथकीय होने पर ही प्रासंगिकता पाते हैं। पौराणिक गाथाओं में मिथकीयता होती है न कि गाथा काव्य (बैलेड) की अतिरंजनाएँ——जादू-टोना आदि। इस प्रसंग को ले आने का एक प्रयोजन यह भी है कि बाहर की बड़ी-से-बड़ी जादुई शक्ति श्रद्धा-भक्ति तक ही सीमित होकर रह जाती है। आन्तरिक शक्ति के साथ मिलने पर ही बाहरी शक्ति फलप्रद हो सकती है।

राम की समस्या है——'अन्याय जिधर, हैं उधर शक्ति'। यह समस्या जितनी राम की है उतनी ही किसी अन्य व्यक्ति की हो सकती है। प्रायः शक्ति का संग्रह अन्याय द्वारा होता है। उसे संतुलित करने के लिए बड़ी शक्ति की जरूरत पड़ती है। निराला शक्तियों के संघर्ष में ही मानवीय नियति का उज्ज्वल भविष्य देखते हैं। इसी लिए जांबवान ने उन्हें समझाते हुए कहा——'आराधन का दृढ़ आराधन से दो उत्तर ।"

साधनागत विघ्न के कारण राम पुनः निराश होते हैं——

> धिक् जीवन को जो पाता ही आया विरोध,
> धिक् साधन जिसके लिए सदा ही किया शोध !
> जानकी ! हाय, उद्धार प्रिया का न हो सका

उपर्युक्त पंक्तियों में सरोज स्मृति की 'दुख ही जीवन की कथा रही' की प्रतिध्वनि सुनी जा सकती है। लेकिन 'एक और मन रहा राम का जो न थका।' यह दूसरा मन निराला के जीवन में भी था जो विक्षेप-काल में भी उनकी सर्जनात्मक क्षमता को गतिशील करता रहा।

अंत में महाशक्ति राम के भीतर लीन हो गई। इस आन्तरिक शक्ति के

अभाव में राम सब कुछ रहते हुए भी हार का अनुभव करते थे। वस्तुतः 'राम की शक्ति पूजा' अपनी संभावनाओं के साक्षात्कार की प्रक्रिया है। अन्य छायावादियों में आत्माभिव्यक्ति मिलती है तो निराला की लंबी कविताओं में आत्मान्वेषण या साक्षात्कार। इसलिए नई कविता का मूल निराला की कविता में खोजा जाता है।

'राम की शक्ति पूजा' की फलश्रुति 'तुलसीदास' है। 'तुलसीदास' में भी निराला सम्मिलित हैं। उसे अपनी शक्ति का एहसास हो गया है। स्मरण रखना चाहिए कि 'तुलसीदास' निराला के अत्यंत प्रिय कवि थे। निराला की सांस्कृतिक सचेतनता (अवेरनेस) पर तुलसी का विशेष प्रभाव है। अपने समय में तुलसीदास को न तो ब्रह्म को ढूँढ़ने वाले संत अच्छे लगे और न 'मुरली तऊ गोपालहि भावति' लिखने वाले सूरदास तथा कृष्णभक्ति शाखा के अन्य कवि। उन्होंने जीवन के अनेकानेक आयामों को चित्रित किया। वर्णाश्रम धर्म का समर्थन निश्चय ही एक प्रतिक्रियावादी प्रवृत्ति थी। लेकिन सब मिलाकर वे भारतीय संस्कृति के ही कवि थे। निराला ने उन्हें अपने ढंग से देखा है। उन्हें लगा कि उस समय भी नए संदर्भ के अनुरूप नए तुलसी की अवतारणा आवश्यक थी।

निराला के तुलसी वैयक्तिक परिस्थितियों के साथ-साथ सामाजिक-सांस्कृतिक समस्याओं के शर से भी बिंधे हुए थे—

देशकाल के शर से बिंध कर
यह जागा कवि अशेष छविधर
इसका स्वर भर भारती मुखर होएँगी

स्वयं निराला का काव्य छायावादी कवियों में सबसे अधिक देशकाल के शर से बिंधा हुआ है। समसामयिकता के प्रति उसमें गहरी चेतना है। 'तुलसीदास' का कथानक तीन भागों में बँटा है। प्रथम भाग में सांस्कृतिक ह्रास का चित्रण है, द्वितीय भाग में चित्रकूट पर्यटन और नवजीवन के संदेश का। तृतीय भाग में रत्नावली का प्रसंग और नवीन चेतना का उदय चित्रित है।

मध्यकाल में विदेशी आक्रमणकारियों की संस्कृति इस तरह छा गई थी कि भारतीय संस्कृति अपना मूल भी खोती जा रही थी। निराला संस्कृति के नाम पर रूढ़ियों के विरोधी थे पर अपनी संस्कृति की मूलवर्ती धारा को बनाए रखने के पक्ष में थे। निराला के तुलसीदास बहुत कुछ बदल गए हैं। 'मानस' के रचयिता 'बंदौ प्रथम महीसुर चरना' लिखते हैं और वर्णाश्रम धर्म के कट्टर समर्थक हैं। पर नए तुलसीदास वर्णाश्रम का विरोध करते हैं—

चलते फिरते, पर निःसहाय
वे दीन क्षीण, कंकाल काय,

\+ \+ \+

वे शेष श्वास, पशु, मूक भाव
पाते प्रहार अब हताश्वास;
सोचते कभी आजन्म ग्रास द्विजगण के
होना ही उनका धर्म परम
वे वर्णाधम, रे द्विज उत्तम ।
वे चरण चरण बस, वर्णाश्रम रक्षण के ।

वे अब भी पशुओं की तरह ही जीते हैं। स्थान-स्थान पर अब भी उन पर अनेक प्रकार के हमले किए जाते हैं। उपर्युक्त पंक्तियाँ 'मानस' के तुलसी पर व्यंग्य करती हुई प्रतीत होती हैं।

'मानस' प्रकारान्तर से सामंतीय समाज का समर्थन करता है। पर निराला के तुलसीदास---

वह रंक, यहाँ जो हुआ भूप, निश्चय रे
चाहिए उसे और भी और,
फिर साधारण को कहाँ ठौर ।
जीवन के, जग के, यही तौर है जय के ।

पूंजीवादी समाज में, रंक भी भूप हो जाते हैं और उनकी आकांक्षाएँ बढ़ती जाती हैं, वे अधिकाधिक प्राप्त करने के लिए सचेष्ट रहते हैं। जीवन में विजयी होने की यही प्रक्रिया है। निराला ने इस प्रक्रिया का बार-बार विरोध किया है। वे खुद ही इसके शिकार नहीं थे बल्कि उनके समान अनगिनत व्यक्ति इसमें पिस रहे थे। संस्कृति को उन्होंने नए संदर्भ में लिया है और फलस्वरूप तुलसीदास की पूरी 'मेटामारफोसिस' हो जाती है।

इस पर 'राम की शक्ति पूजा' का स्पष्ट प्रभाव है। मन के ऊर्ध्वगमन का चित्र इसमें भी है। घटनाएँ पूजा की अपेक्षा और कम हो गई हैं। भाषा की क्लिष्टता इसमें भी है। भाषा में निराला ने सर्वत्र नया अर्थ भरने का प्रयास किया है। किंतु मानसिक द्वंद्व की जो जटिलता 'सरोज स्मृति' और 'शक्ति पूजा' में दिखाई देती है वह यहाँ नहीं मिलेगी। लगता है अपने द्वंद्वों और संघर्षों के समाधान के लिए ही उन्होंने इसे लिखा है। इसका समापन रोमैंटिक आशावादिता के साथ होता है। उपर्युक्त दोनों रचनाओं की अपेक्षा इसका सुथरापन इसे उनकी समकक्षता नहीं दे पाता।

इन प्रौढ़तर कृतियों के अनन्तर निराला की काव्यधारा पलट जाती है। इसी समय कवि के जीवन में भी विश्रांति और विक्षेप की शुरुआत होती है। फिर भी काव्य और जीवन में एक तरह की संगति दिखाई पड़ती है। पांडित्य, प्रौढ़ता, आभिजात्य, यथार्थ एक सीमा के बाद---संघर्षों के बाद---टूट जाता है।

इसकी प्रतिक्रिया दो रूपों में दिखाई देती है—व्यंग्य-विडंबना और अवसाद में। अपनी परंपरा वे खुद तोड़ देते हैं। उनकी रचनाएँ रोमांस विरोधी हो उठती हैं।

छायावादी कवियों में निराला में पुरुषोचित गुण सबसे अधिक था। ऐसा व्यक्ति सौन्दर्यवाद (aestheticism) की ओर नहीं जाता। निराला जैसे लोगों में मूर्तिभंजक (iconoclast) का तेवर होता है। वे दूसरों की प्रतिमाएँ भी तोड़ते हैं और अपनी भी। कुकुरमुत्ता संग्रह की कविताओं में उन्होंने एक ओर छायावादी चेतना को तोड़ा है तो दूसरी ओर अभिजातीय और वर्गसंघर्ष की चेतना को। एक स्वतंत्र चेतना को न ढूंढ़ने के कारण कोई इसे मार्क्सवादी सिद्धांतों पर खरा उतारता है तो डा० मदान इसमें आधुनिकता खोज निकालते हैं। 'कुकुरमुत्ता' पर कविता लिखने का निर्णय छायावादी रहस्य-वादी विषयों के विपरीत है। भाषा में गहरा बदलाव है। छायावाद की संस्कृत-निष्ठ अलंकृत शब्दावली के स्थान पर भाषा सपाट किंतु व्यंग्यात्मक हो गई है।

इसमें संदेह नहीं कि यह मार्क्सवादी दृष्टिकोण से प्रभावित है। गुलाब पूँजीवादी संस्कृति का प्रतीक है तो कुकुरमुत्ता सर्वहारा संस्कृति का। नवाब अंत में कहता है—"बोले, 'चल गुलाब जहाँ थे, उगा/हम भी सबके साथ चाहते हैं अब कुकुरमुत्ता/बोला माली, फर्मायें मुआफ खता/कुकुरमुत्ता उगाये नहीं उगता।" किन्तु गुलाबी संस्कृति का पोषक नवाब कुकुरमुत्ता संस्कृति को अपने वर्गीय संस्कारों के कारण अपना नहीं सकता। किंतु गोली और बहार, एक नवाब की लड़की है दूसरी माली की, अपने वर्गीय संस्कारों से मुक्त एक-दूसरे को अपना लेती हैं। संभवतः निराला का यह विचार है कि बाल्यकाल में नए संस्कारों को डाला जा सकता है लेकिन जब व्यक्ति वर्गबद्ध हो जाता है तब उसे बदला नहीं जा सकता। पूँजीवादी व्यवस्था पर कड़ा प्रहार करता हुआ कुकुरमुत्ता कहता है—

> शाहों, राजों, अमीरों का रहा प्यारा
> इसी लिए साधारणों से रहा न्यारा
> वरना क्या हस्ती है तेरी, पोच तू
> कली जो चटकी अभी
> सूख कर काँटा हुई होती कभी
> रोज पड़ता रहा पानी
> तू हरामी खानदानी।

निराला की परवर्ती रचनाओं—अणिमा, बेला, नये पत्ते, अर्चना, आराधना,

गीतगुंज और सांध्यकाकली में मुख्यतः दो प्रवृत्तियाँ परिलक्षित होतीं हैं—विषाद की गहरी छाया और गहरा राजनीतिक-सामाजिक व्यंग्य । ये दोनों प्रवृत्तियाँ उनमें पहले से ही पाई जाती हैं। इस विषाद में आदर्श और आभिजात्य नहीं है—शुद्ध अनुभूति है। अणिमा का एक गीत देखिए—'स्नेह निर्झर बह गया है/रेत ज्यों तन रह गया है/आम की यह डाल जो सूखी दिखी/कह रही है—'अब यहाँ पिक या शिखी/नहीं आते, पंक्ति मैं वह हूँ लिखी/नहीं जिसका अर्थ/जीवन बह गया है।' निरर्थकता का जो बोध नई कविता में आया उसका उद्‌गम स्रोत निराला की रचनाएँ ही हैं। विषादात्मक रचनाओं में भी चिनगारी जल उठती है—'चोट खाकर राह चलते/होश के भी होश छूटे/हाथ जो पाथेय थे ठग/ठाकुरों ने रात लूटे/कंठ रुकता जा रहा है,/आ रहा है काल देखो/......बुझ गई है लौ पृथा की/जल उठो फिर सींचने को।'

व्यंग्यात्मक कविताएँ निराला के लिए नई नहीं हैं। पर पहले की तरह सामासिक पद बंध के स्थान पर ठेठ देशज शब्दों का प्रयोग अपने व्यंग्य में अधिक मारक बन पड़ा है। एक ही व्यक्ति के प्रति लिखी गई रचनाओं की भाषा और कथ्य का तेवर देखना हो तो बनवेला और 'आजकल पंडित जी देश में विराजते हैं' को एक साथ पढ़कर देखा जा सकता है। 'काले काले बादल छाये' में तत्कालीन नेतृत्व पर हीं प्रहार नहीं हैं बल्कि निराला की अपनी मान्यताओं का भी इजहार है—

> कैसे हम बच पायें निहत्थे, बहते गये हमारे जत्थे
> राह देखते हैं भरमाये, न आये वीर जवाहर लाल

निराला न तो जीवन में समझौतावादी थे, न साहित्य में न राजनीति में। आश्चर्य है कि स्वच्छन्दतावादी कवियों में ये अकेले कवि हैं जिन्हें गाँधीवादी राजनीति कभी भायी नहीं। सन् '४६ में छात्र-विद्रोह पर भी उन्होंने कविता लिखी—समर्थन में। जिस व्यवस्था का विरोध इधर किया जा रहा है वह निराला की अनेक रचनाओं में देखा जा सकता है। 'राजे ने रखवाली की' इसी तरह की रचना है।

भाषाई संरचना की दृष्टि से भी परवर्ती कवि उनसे प्रभावित हैं। पर लोकभाषा के जितने निकट निराला की शब्दावली, पद विन्यास और मुहावरे हैं उतने निकट नए कवियों की भाषा नहीं जा सकी है। उर्दू के प्रभाव से निराला ने गद्य की लय भी स्वीकार कर ली है। 'न्यू लेफ्ट' की प्रवृत्ति वाले लोगों ने निराला के परवर्ती व्यंग्य की अत्युक्तिमूलक प्रशंसा की है। किन्तु उन्होंने यह नहीं देखा कि कुछ रचनाओं को छोड़कर अधिकांश रचनाओं को रचनात्मकता नहीं मिल पाई है। पर इतना अवश्य है कि भावी पीढ़ी को उन्होंने

नया मार्ग दिखलाया। इस दृष्टि से इन परवर्ती रचनाओं का महत्त्व अवश्य है।

सुमित्रानन्दन पंत

सुमित्रानन्दन पंत का काव्य-विकास अन्तर्मुखता से निरन्तर बहिर्मुख होने का इतिहास है। जिस प्राकृतिक परिवेश में उनका जन्म और पालन-पोषण हुआ वह स्वयं कविता से कम आकर्षक और लुभावना नहीं है। उनकी जन्मभूमि कौसानी ने उनके मन में सौन्दर्य और प्रेम का जो बीज वपन किया वह समय पाकर 'पल्लव' के रूप में पल्लवित हुआ। इस प्रभाव के कम होते ही उनपर मार्क्स और गाँधी का प्रभाव पड़ता है और उसके फलस्वरूप उनकी कविता भी दूसरी दिशा की ओर मुड़ जाती है। उनके जीवन को तीसरा मोड़ देता है अरविन्द दर्शन। 'स्वर्ण किरण', 'स्वर्ण धूलि' तथा उनके बाद के काव्य इसी दर्शन को प्रतिफलित करते हैं। इन मोड़ों से गुजर कर ही उनकी कविता का समाकलन हो सकता है।

पंत को प्रकृति ने सौकुमार्य, सौन्दर्य तथा परिष्कृति दी है। इनका प्रभाव उनकी सांस्कृतिक अभिरुचियों, रहन-सहन, भाषा-शैली आदि सभी पर पड़ा। उनका व्यक्तित्व अनघड़ न होकर संस्कारित है। जीवन के वैविध्य से होकर उन्हें नहीं गुजरना पड़ा है। इसलिए उनमें अनुभूतिगत वह संपन्नता नहीं है जो निराला में मिलती है। उनकी कल्पना इसी कमी को पूरा करती है। उनके आभिजात्य और कल्पना का पूरा तालमेल अरविन्द की अधिमानसी दुनिया से बैठ जाता है।

पंत 'उच्छ्वास' के प्रकाशन (१९२२) के साथ ही काव्यक्षेत्र में प्रवेश करते हैं। इसके बाद वीणा, ग्रंथि, पल्लव और गुंजन तक वे एक विशेष भावधारा यानी सौन्दर्य चेतना का अनुसंधान करते हुए प्रतीत होते हैं। इस चेतना के तीन आयाम हैं—प्रेम, प्रकृति और जिज्ञासा-रहस्य। 'उच्छ्वास' में कैशोर प्रेम और यौवनोचित भावनाएँ अभिव्यक्त हुई हैं। इसके अनन्तर प्रकाशित कविता 'आँसू', 'उच्छ्वास' का ही उत्तरार्द्ध है। 'पल्लव' में संगृहीत इस कविता का एक उपशीर्षक है—'आँसू की बालिका के प्रति'। दोनों ही कविताएं एक लंबी कविता का रूप धारण कर लेती हैं। इस कविता में कैशोर उच्छ्वास है जिसे अस्पष्ट प्रेमोच्छ्वास कहा जाना चाहिए। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने इसके संबंध में कहा है—'कवि बालिकावत् अपने बाल्य जीवन के वियोग में दुःख प्रकाश कर रहा अथवा वह अपनी किसी बाल्य सहचरी का विरह-वर्णन कर रहा है।' सामान्यतः इसका दूसरा अर्थ ही अधिक संगत प्रतीत होता है। यह अर्थ लेने पर वाजपेयी जी के मतानुसार इसमें 'निराश रोदन की ही प्रमुखता सिद्ध होगी।'

इसके पूर्व निराला की 'जुही की कली' लिखी जा चुकी थी। उसमें एक खुलापन, मुक्ति के प्रति आग्रह है। इसके ठीक विपरीत पंत के उच्छ्वास—आँसू में अस्पष्टता, गोपन और झिझक है।

'वीणा' का प्रकाशन, 'पल्लव' के प्रकाशन के बाद १९२७ में हुआ था, पर इसमें संगृहीत रचनाएं १९१८-२० में लिखी गई थीं। इन रचनाओं पर 'गीतांजलि' का हल्का प्रभाव है। इसलिए अधिकांश गीतों में जिज्ञासा, रहस्य का पुट दिखाई पड़ता है। 'वीणा' संग्रह की रचनाओं को कवि ने अपना, 'दुधमुँहा' प्रयास कहा है। किन्तु जिस सजग शिल्प और कल्पना का विकसित रूप पंत की परवर्ती रचनाओं में दिखाई देता है उसका प्रारंभ 'वीणा' से ही हो जाता है :—

अहो कल्पनामय ! फिर रच दो
वह मेरा निर्भय अज्ञान,
मेरे अधरों पर वह मा के
दूध से धुली मृदु मुसकान।

बालकोचित निश्छलता की माँग पंत की प्रारंभिक कविताओं में बार-बार की जाती है। अतीतोन्मुखता छायावादी काव्य का एक वैशिष्ट्य माना जाता रहा है। बालोचित निश्छलता विज्ञान की बौद्धिकता के विरोध में पड़ती है। 'निर्भय अज्ञान' की पुनर्रचना कल्पना द्वारा ही संभव है। बाद में कल्पना-प्रधान रचना पंतकाव्य की विशेषता बन गई।

'ग्रंथि' एक दीर्घ विरह-गीत है। संपूर्ण विरह-काव्य किशोर भावुकता के धरातल से शुरू होकर उसी धरातल पर समाप्त होता है। आचार्य शुक्ल ने ठीक ही लिखा है—"वीणा के उपरान्त ग्रंथि है—असफल प्रेम की। इसमें एक छोटे-से प्रेम-प्रसंग का आधार लेकर युवक कवि ने प्रेम की आनन्द-भूमि में प्रवेश, फिर चिर विषाद के गर्त में पतन दिखाया है। प्रसंग की कोई नई उद्भावना नहीं है। करुणा और सहानुभूति से प्रेम का स्वाभाविक विकास प्रदर्शित करने के लिए जो वृत्त उपन्यासों और कहानियों में प्रायः पाये जाते हैं—जैसे डूबने से बचाने वाले, अत्याचार से रक्षा करने वाले, बन्दीगृह में पड़ने या रणक्षेत्र में घायल होने पर सेवा-शुश्रूषा करनेवाली के प्रति प्रेम संचार—उन्हीं में से एक चुन कर भावों की व्यंजना के लिए रास्ता निकाला गया है।" यह ग्रंथि किसकी है ? स्वयं पंत की या आलोचकों की, कहना मुश्किल है। दूसरों की ग्रंथियों के चक्कर में न पड़कर स्वयं काव्यगत ग्रंथि को खोलना आलोचक धर्म है। यह ग्रंथि चाहे जिसकी हो पर इसमें पहले की झिझक की ग्रंथि खुली है :—

लाज की मादक सुरा सी लालिमा
फैल गालों में, नवीन गुलाब से

छलकती थी बाढ़ सी सौन्दर्य की
अधखुले सस्मित गढ़ों से, सीप से
(इन गढ़ों में––रूप के आवर्त-से––
घूम फिर कर, नाव से किसके नयन
हैं नहीं डूबे, भटक कर, अटक कर,
भार से दब कर तरुण सौन्दर्य के ?)

'पल्लव' पंत के छायावादी काल का प्रौढ़तम काव्य-संग्रह है। इसमें सन् १९१८ से लेकर '२५ तक की रचनाएँ संगृहीत हैं। 'पल्लव' काव्य की तरह इसकी भूमिका भी अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। यह भूमिका मध्यकालीन रीति कविता की प्रतिक्रिया में लिखी गई है। पंत ने लिखा है––"नवीन युग अपने लिए नवीन वाणी, नवीन जीवन, नवीन रहस्य, नवीन स्पंदन-कंपन तथा नवीन साहित्य ले आता, और पुराना जीर्ण पतझड़ इस नवजात वसंत के लिए बीज तथा खाद रूप बन जाता है। नूतन युग संसार की शब्दतंत्री में नूतन ठाट जमा देता है, उसका विन्यास बदल जाता, नवीन युग की आकांक्षाओं, क्रियाओं, नवीन इच्छाओं के अनुसार उसकी वाणी में नये गीत, नये छंद, नये राग, नई कल्पनाएँ तथा भावनाएँ फूटने लगती हैं।"

प्रश्न उठता है कि नवीन वाणी, नवीन रहस्य, स्पंदन-कंपन आदि क्या हैं? 'पल्लव' की भाषा अपने वक्रोक्ति-वैचित्र्य के कारण द्विवेदी युगीन भाषा से भिन्न थी। इस विधान के कारण ही वे सौन्दर्य की सूक्ष्मतर चेतना का उद्घाटन कर सके हैं। ग्रंथि में सौन्दर्य की जो मांसलता थी वह पल्लव की आन्तरिकता में घुल गई है।

'पल्लव' में कवि की आन्तरिकता और परिवेश में अद्भुत सामंजस्य है, मुख्यत: प्राकृतिक परिवेश से। प्रसाद का परिवेश व्यापक और आत्मनिष्ठ है। निराला अपने बहुआयामी परिवेश से संघर्ष करते हैं। उनके काव्य में इस संघर्ष की परुषता और कर्कशता सर्वत्र प्रतिफलित हुई है।' महादेवी अपनी वेदना में एकतान हैं। पंत में प्रकृति और सौन्दर्य चेतना के प्रति सहज उल्लास है।

वह प्रकृति में रहस्यात्मक जीवन का बोध पाता है, मानवीय जीवन को प्रकृति की संपृक्ति में देखता है। वह पहाड़ियों, निर्झरों, प्राकृतिक दृश्यों, ध्वनियों से रूप, रंग, रस, गंध, शील, शक्ति ग्रहण करता है :––

मेखलाकार पर्वत अपार
अपने सहस्र दृग सुमन फाड़
अवलोक रहा है बार-बार
नीचे जल में महाकार

जिसके चरणों में पला ताल
दर्पण सा फैला है विशाल ।

+ + +

नव वसंत के सरस स्पर्श से
पुलकित वसुधा बारंबार
सिहर उठी स्मित श्यामावलि में
विकसित चिर यौवन के भार
फूट पड़ा कलिका के उर से
सहसा सौरभ का उद्गार
गंध-मुग्ध हो अंध समीरण
लगा थिरकने विविध प्रकार ।

प्रकृति के रूप, रस, गंध के साथ कवि की आन्तरिकता का तादात्म्य हो उठा है। दोनों रूप-चित्र गत्यात्मक और कम मांसल हैं। गति मांसलता को कम कर देती है। इन्हें गत्यात्मक बनाने में विशेषणों का प्रयोग द्रष्टव्य है—मेखलाकार, सहस्र, पुलकित, स्मित आदि। दूसरे रूप-चित्र में क्रिया विशेषण संपूर्ण बिंब को क्रियात्मक (फंक्शनल) बना देते हैं। बिंबों की क्रियात्मकता इन्हें मध्यकालीन और द्विवेदी युगीन स्थिर बिंबों से अलग कर देते हैं। नारी रूप चित्रण के समय भी वह प्राकृतिक उपादानों का ही मुख्य सहारा लेता है :—

मलिन्दों से उलझी गुंजार
मृणालों से मृदु तार;
मेघ से संध्या का संसार
वारि से ऊर्मि उभार ।

+ + +

अकेली सुन्दरता कल्याणि
सकल ऐश्वर्यों की संधान ।

कहना न होगा इसमें मुग्धा नायिका का चित्र है। जिस भोलेपन की याद कवि 'वीणा' की रचनाओं में करता है उससे इसका तालमेल बैठ जाता है।

इसी प्रकार रहस्यपरक रचनाओं में भी प्रतीकवत् उपकरण प्रकृति से ही परिगृहीत हैं :—

तुमुल तम में जब एकाकार
ऊँघता एक साथ संसार,
भीरु झींगुर कुल की झनकार
कँपा देती तन्द्रा के तार,

न जाने, खद्योतों से कौन
मुझे पथ दिखलाता तब मौन !

पंत के काव्य में—छायावादी काव्य में—प्रकृति के रूप और गुण या तो लाक्षणिक ढंग से प्रयोग में ले आये गये हैं या किसी अन्य कार्य के माध्यम के रूप में। पर नई कविता में ये स्वयं प्रतीक बन गए हैं—अज्ञेय की एक कविता है जिसमें अँधरे में जुगुनू का टिमकता व्यक्तित्व अपनी शक्ति और साधना का सूचक है। वह मुकम्मल प्रतीक है न कि मार्गदर्शक या माध्यम।

'पल्लव' संग्रह की एक ही कविता 'परिवर्तन' जीवन के यथार्थबोध को उजागर करती है। किंतु उसका मूल स्वर भी छायावादी नैराश्य के मेल में है।

'पल्लव' संग्रह की रचनाएँ अपने शिल्प और तराश के बावजूद जीवन के गहरे बोध से न कहीं जुड़ पाती हैं और न कैशोर भाव की देहरी लाँघ पातीं हैं। अधिकांश संबोध गीतों पर कल्पना के लदाव के कारण अनुभूति दब जाती है। या यों भी कहा जा सकता है कि अनुभूति की कमी की पूर्ति कल्पना करती है। उदाहरण के लिए छाया और अनंग को लिया जा सकता है। 'छाया' में उपमाओं का अंबार लगा हुआ है—रतिश्रान्ता व्रज वनिता-सी, दमयंती-सी, गूढ़ कल्पना-सी कवियों की, ऋषियों के गंभीर हृदय-सी, बच्चों के तुतले भय-सी आदि-आदि। छाया को इन अप्रस्तुतों ने तमाशा बना दिया है। अनंग पर भी इनका लदाव कम नहीं है। आश्चर्य यह है कि भावना के खिलवाड़ के रूप में लाए गए पंत के चामत्कारिक अप्रस्तुतों पर रूसी आलोचक चेलिशोव छायावादी ढंग से मुग्ध हैं।

आचार्य शुक्ल पंत के काव्य-संदर्भ में लिखते हैं—'यही कारण है कि 'छायावाद' शब्द मुख्यत: शैली के अर्थ में, चित्रभाषा के अर्थ में, उनकी रचनाओं पर घटित होता है।' वस्तुत: पंत को छायावाद का प्रतिनिधि कवि मान लेने के कारण ही शुक्ल जी में यह दृष्टिदोष आया। यह विशेषता स्वयं पंत के छाया-वाद की है न कि पूरे छायावाद की। जाहिर है कि पंत की अनुभूतिगत विरलता को शुक्ल जी ने भी लक्षित किया था।

'गुंजन' में '२६ से '३१ के बीच लिखी गई रचनाएँ संगृहीत हैं। इन रचनाओं में कल्पना का उल्लास न होकर मनन की अभिव्यक्ति है। यह दूसरी बात है कि मनन का दर्जा क्या है? आश्चर्य तो तब होता है जब चोटी के आलोचक इस चिंतन को गूढ़, गंभीर और न मालूम क्या-क्या कहते हैं। गुंजन में एक जगह कहा गया है :—

जग पीड़ित है अति दुःख से
जग पीड़ित रे अति सुख से
मानव जग में बँट जाये
दुःख सुख से औ', सुख दुःख से।

यह एक सामान्य वक्तव्य है, न कि चिंतन। इस प्रकार चिंतन का एक दूसरा नमूना पेश किया जाता है :—

सुन्दर से नित सुन्दरतर
सुन्दरता से सुन्दरतम
सुन्दर जीवन का क्रम से
सुन्दर सुन्दर जग - जीवन

केवल सुन्दर की आवृत्तियों से व्यक्त किया गया विश्वास कितना अविश्वसनीय लगने लगता है। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी का कहना है—"पल्लव की अपेक्षा गुंजन में कल्पना का सहज-सुन्दर उद्रेक उतना नहीं है जितनी उपदेशक प्रवृत्ति और पांडित्य का प्रदर्शन है।"

किंतु इसमें कुछ कविताएँ ऐसी अवश्य हैं जो अपनी सीमा में कल्पना, शिल्प और अनुभूति का सामंजस्यपूर्ण समाहार करती हैं। नौकाविहार, एक तारा और अप्सरा ऐसी ही रचनाएँ हैं :—

साड़ी की सिकुड़न सी जिस पर, शशि की रेशमी विभा से भर
सिमटी हैं वर्तुल, मृदुल, लहर।

\+ \+ \+

चाँदी के साँपों सी रलमल, नाचती रश्मियाँ जल में चल।

—नौकाविहार

पत्रों के आनत अधरों पर खो गया निखिल वन का मर्मर

—एक तारा

रवि-छवि-चुंबित चल जलदों पर,
तुम नभ में उस पार,
लगा अंक से तड़ित्-भीत शशि—
मृग - शिशु को सुकुमार
छोड़ गगन में चंचल उडुगण
चरण - चिह्न लघु-भार,
नाग-दंत-नत इन्द्रधनुष पुल
करतीं तुम नित पार!

—अप्सरा

इन कविताओं में भाषाई वक्रता और संयम दोनों हैं। वर्ण-बिंबों के आधार पर उभारे गये चित्र अधिक विश्वसनीय बन पड़े हैं। पर नौकाविहार और एक तारा के समापन जिस दार्शनिकता से संबद्ध किये गये हैं वे रचना के अनिवार्य अंग नहीं बन पाते। 'अप्सरा' में रवि बाबू की उर्वशी की एकतानता और अखंडता का अभाव है। अप्सरा अपेक्षाकृत अधिक वायवीय है। ज्योत्स्ना में वायवीयता अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँच जाती है।

'युगान्त' का प्रकाशन '३६ में हुआ। '३६ से '३८ तक छायावाद के चरमोत्कर्ष काल था। पंत ने महसूस किया कि इस चरमोत्कर्ष में ही एक युग की समाप्ति और दूसरे युग का समारंभ है। वे युगांत में लिखते हैं—

द्रुत झरो जगत् के जीर्ण पत्र,
हे स्रस्त-ध्वस्त ! हे शुष्क-शीर्ण
हिमताप पीत, मधुवात भीत,
तुम वीतराग, जड़, पुराचीन !

'पल्लव' काल का कल्पना-उल्लास और कलात्मक मोह छोड़कर कवि गुंजन में जीवन और जगत के सुख-दुःख की ओर उन्मुख हो चुका था। युगांत में वह अपनी पिछली सौन्दर्य-चेतना से मुक्त होकर वैचारिक जगत में प्रविष्ट करता है। बापू के प्रति, ताज आदि ऐसी ही रचनाएँ हैं। इन दोनों रचनाओं की पर्याप्त प्रशंसा की गई है। पर वे गद्यात्मक और वैचारिक हैं। 'पल्लव' काल में कल्पना का अतिरेक था तो इनमें कल्पना का अभाव। 'बापू के प्रति' में वे लिखते हैं :—

साम्राज्यवाद था कंस, वंदिनी
मानवता पशु बलाक्रांत,
श्रृंखला दासता, प्रहरी बहु
निर्मम शासन-पद शक्ति भ्रांत,
कारागृह में दे दिव्य जन्म
मानव आत्मा को मुक्त, कांत
जन शोषण की बढ़ती यमुना
तुमने की नत-पद-प्रणत शांत !

यह सही है कि इस कविता में वस्तु और उसके आन्तरिक संबंध बदल गए हैं। पर ये संबंध वैचारिक हैं, काव्य बोधात्मक नहीं, यानी वास्तविक नहीं है। टी० एस० इलिएट का कहना है कि गद्य विचारों (आइडियाज) को अभिव्यक्त करता है, कविता वास्तविकता को।

इलिएट का यह कथन बहुतों को अजीब और विचित्र मालूम पड़ा है। गद्य सामान्यत: तर्कपरक तथा निष्कर्ष पर पहुँचाने वाला होता है पर कविता इससे परे स्थिति को समग्रता में अभिव्यक्त करती है। उपर्युक्त कविता गद्य हो गई है।

इसमें जो रूपक ले आया गया है वह सहज न होकर थोपा हुआ है। साम्राज्यवाद को उसकी विद्रूपता में कंस नहीं उभार पाता। जन शोषण और बढ़ती यमुना में भी कोई रूप-गुणात्मक साम्य स्थापित नहीं हो पाता। इसलिए इन रचनाओं में कलात्मक ह्रास का देखा जाना स्वाभाविक हो जाता है।

'युगवाणी' (१९३७-३८) की रचनाओं पर मार्क्सवाद और गाँधीवाद का स्पष्ट प्रभाव है। इसे कवि ने 'गद्य गीत' कहा है। सामान्यत: इन दोनों दर्शनों में मेल नहीं है। पर पंत का कहना है—'ऐतिहासिक भौतिकवाद और भारतीय अध्यात्म दर्शन में मुझे किसी प्रकार का विरोध नहीं जान पड़ा, क्योंकि मैंने दोनों का लोकोत्तर कल्याणकारी सांस्कृतिक पक्ष ही ग्रहण किया है। मार्क्सवाद के अन्दर श्रमजीवियों के सुसंगठन, वर्गसंघर्ष आदि से संबंध रखने वाले बाह्य दृश्य को, जिसका वास्तविक निर्णय आर्थिक और राजनीतिक क्रांतियाँ ही कर सकती हैं, मैंने अपनी कल्पना का अंग नहीं बनने दिया है। इस दृष्टि से मानवता एवं सर्वभूत हित की जितनी विशद भावना मुझे वेदान्त में मिली, उतनी ही ऐतिहासिक दर्शन में भी। इसके साथ ही वे सत्य-अहिंसा (गाँधीवादी दर्शन के मूल तत्त्व) को सांस्कृतिक संघटन के अनिवार्य उपादान मानते हैं।

भौतिकतावाद को आतमदर्शन का साधन कहते हुए कवि लिखता है—

> भूतवाद उस धरा स्वर्ग के लिए मात्र सोपान
> जहाँ आत्मदर्शन अनादि से/समाधीन अम्लान।

किंतु

> नहीं जानता, युग विवर्त में होगा कितना जनक्षय
> पर मनुष्य को सत्य अहिंसा इष्ट रहेंगे निश्चय

दो विरोधी दर्शनों के समन्वय की आकांक्षा 'युगवाणी' को न तो वैचारिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण होने देती है और न काव्य-दृष्टि से। श्रेणी-विभाजन का विरोध, सामूहिक कृषि का समर्थन, श्रम का समर्थ पक्षधरता आदि के साथ वे कहते हैं—'मानवता की मूर्ति गढ़ोगे तुम सँवार कर चाम।' इससे उनका अन्तर्विरोध जाहिर हो जाता है। अपने समय के मार्क्सवादी आन्दोलन का प्रभाव ग्रहण करके भी वे गाँधीवादी सत्य-अहिंसा को नहीं छोड़ पाते। विचारों को पद्यबद्ध करने से काव्य-पक्ष बुरी तरह दब गया है।

महात्मा गाँधी 'गाँव' को इस देश की आत्मा मानते थे। पंत ने 'ग्राम्या' में गाँव की विविध समस्याओं का आकलन किया है। 'युगवाणी' में मार्क्स और गाँधी के सिद्धांतों को किताब से पढ़कर छन्दोबद्ध किया गया है तो 'ग्राम्या' में गाँव की समस्याओं को दूर से देखकर लिपिबद्ध किया गया है। इस दूरी को कवि ने स्वयं स्वीकार किया है, "इसमें पाठकों को ग्रामीणों के प्रति केवल बौद्धिक सहानुभूति ही मिल सकती है। ग्राम-जीवन में मिलकर, उसके भीतर से, वे अवश्य नहीं लिखी गयी हैं। ग्रामों की वर्तमान दशा में वैसा कहना केवल प्रतिक्रियात्मक साहित्य को जन्म देना होता।"

फिर भी कवि अपने छायावादी संस्कारों से हटने की कोशिश करता हुआ दिखाई पड़ता है :—

> है मांसपेशियों में उसके दृढ़ कोमलता
> संयोग अवयवों में अश्लथ उसके उरोज
> कृत्रिम रति की है नहीं हृदय में आकुलता
> उद्दीप्त न करता उसे भाव कल्पित मनोज !

छायावादी कविताओं में जिस वायवीय रति की कल्पना की गई थी उससे हट कर इसमें मांसलता की ओर बढ़ा जा रहा है। पर यहाँ भी भाषा और विचारों में अन्तर्विरोध आ गया है। उपर्युक्त पंक्तियों की शब्दावली छायावादी है और भाव अ-छायावादी।

यह अन्तर्विरोध अधिकांश कविताओं में मिलता है—

> वह विष्णुपदी, शिव मौलि स्रुता
> वह भीष्म प्रसू औं जह्नु सुता,
> वह देव निम्नगा, स्वर्गंगा
> वह सगर पुत्र तारिणी श्रुता !
>
> —गंगा

\+ + +

> तुम कोटि बाहु, वर हलधर, वृष वाहन बलिष्ठ
> मित असन, निवर्सन, क्षीणोदर, चिर सौम्य, शिष्ट
>
> —ग्राम देवता

> बृहद् जिह्म विश्लथ केंचुल सा
> लगता चितकबरा गंगाजल
>
> —संध्या के बाद

जहाँ पर वह इस अन्तर्विरोध को बचा पाया है वहाँ काव्य की नवीन सर्जना संभव हो सकी है। 'वे आँखें', 'ग्रामबधू', 'वह बुड्ढा' आदि ऐसी ही कविताएँ हैं। कुछ स्थानों पर अपने स्वभाव के विपरीत पंत ने विडंबना का प्रयोग किया है किंतु वह एक प्रकार का सामान्यीकरण (जेनरलाइजेशन) होकर रह गया है।

इसके बाद पंत के काव्य-विकास का तीसरा चरण आरंभ होता है। वे निरंतर लिख रहे हैं, लिखते जा रहे हैं—स्वर्ण किरण, स्वर्णधूलि, युगान्तर, उत्तरा, रजतशिखर, शिल्पी, सौवर्ण, अतिमा, कला और बूढ़ा चाँद, लोकायतन, गीतहंस, स्वर्णिम रथचक्र, समाधिता आदि। इन सारी रचनाओं पर मुख्यत: अरविन्द दर्शन की छाप है। यद्यपि पंत ने अरविंद दर्शन के आधार पर नया दर्शन ढूँढ़ने का प्रयास किया है फिर भी उस पर अरविन्द दर्शन की गहरी छाया है।

पर इन कृतियों को लेकर कहा जाने लगा कि ये पंत के विकास के ह्रासोन्मुखी चिह्न हैं। पंत ने स्वयं कहा है—'कुछ आलोचकों को युगवाणी से उत्तरा तक की मेरी रचनाओं में कलात्मक ह्रास के चिह्न दृष्टिगोचर होते हैं, जिसे मैं दृष्टि-विडंबना कहूँगा।.....' दिनकर ने अपनी पुस्तक 'पंत, प्रसाद और मैथिलीशरण' में लिखा है—'और विचित्रता की बात यह है कि केवल पाठकों ने ही नहीं, पंडितों और आलोचकों ने भी युगान्त के बाद के पंत-काव्य पर बहुत ही कम ध्यान दिया है। अभी भी पंत-काव्य के विशेषज्ञ का लक्षण यह है कि वह पल्लव और गुंजन को भलीभाँति पढ़ा होता है।'

आखिरकार यह स्थिति क्यों हैं? इसके दो ही कारण हो सकते हैं, एक तो यह कि पंत की काव्य-चेतना आज के जीवन के मेल में नहीं है, दूसरा यह कि जान-बूझ कर उनकी उपेक्षा की जा रही है। पंत ऐसे कवि की उपेक्षा नहीं की जा सकती। इसलिए पहला ही कारण सत्य के अधिक निकट मालूम पड़ता है।

पंत के काव्य में अरविंद दर्शन के प्रवेश को किसी अशुभ ग्रह का योग ही समझना चाहिए। अरविन्द दर्शन को अपनाकर पंत छायावाद से निकलने की चेष्टा करते हुए पुन: उसी क्षेत्र में प्रविष्ट हो जाते हैं। अरविन्द दर्शन क्या है? आरोह-अवरोह क्या है? अधिमानस क्या है? अतिमानव क्या है? अतिमन क्या है?

अरविन्द मानते हैं कि पहले द्रव्य था। द्रव्य से प्राणतत्त्व निकला, प्राणतत्त्व से उपचेतन तथा उपचेतन से मानस प्रादुर्भूत हुआ। मनुष्य को इस मानस से ऊपर उठकर अधिमानस के धरातल पर जाना है। मनुष्य की वास्तविक समस्या युद्ध और शोषण नहीं है। यह रोग का बाहरी लक्षण है। मानव को उद्विकास के आधार पर अधिमानस पर पहुँचना है। वहाँ पहुँचने के लिए कुछ मनुष्य को प्रयास करना होगा, कुछ भगवत्कृपा होगी। मनुष्य के ऊपर उठने को वे आरोह और

नीचे आने को अवरोह कहते हैं। यह आरोह-अवरोह द्रव्य और आत्मा के बीच होता रहता है जो महासत्य के दो छोर हैं। द्रव्य में,.मनुष्य में अनन्त संभावनाएँ हैं। मनुष्य का विकास ऊर्ध्व होता है और इस क्रम में वह अतिमानव हो जाता है। मन विकसित होकर जब अतिमन (सुपर माइंड) हो जाता है तो मनुष्य अतिमानवता की उपलब्धि करता है।

पंत अरविन्द दर्शन और अपने दर्शन का अन्तर स्पष्ट करते हुए कहते हैं—'...अरविन्द जीवन को जड़ के ऊपर की एक स्थिति भर मानते हैं। उनके अनुसार जड़ से जीवन, जीवन से मन का विकास हुआ है और मन से अतिमन या ऋतचित् जिसे वे सुपरमाइंड कहते हैं, उसका विकास होगा और तभी व्यक्ति दिव्य या पूर्णतर बन सकेगा, जिसे वह नास्टिक-बीइंग कहते हैं।.....उनका अतिमन कुछ साधकों के समूह में अवतरित होगा, वे विशिष्ट चैतन्य-मुक्त व्यक्ति होंगे जो धीरे-धीरे संसार में, उन लोगों में, उस नयी संबोधि का प्रसार कर सकेंगे जो उसके उपयुक्त पात्र होंगे।.....मैंने अपने मनोविकास को योग-साधना के उपयुक्त नहीं पाया। वैसे भी मैं जगत-जीवन से ईश्वर तत्त्व या परम चैतन्य तत्त्व को विच्छिन्न कर आत्मा की अधिभूमि पर साक्षात्कार से प्राप्त सत्यबोध को अर्ध सत्यबोध ही मानता हूँ और जागतिक जीवन के पूर्ण विकसित रूप में ही ईश्वर दर्शन या साक्षात्कार को क्रमशः संभव मानता हूँ।' पर इस अलगाव से पंत किसी स्वतंत्र दर्शन का निर्माण नहीं कर पाते। इधर के काव्य में प्रायः सर्वत्र अरविन्दीय शब्दावली भरी पड़ी है। जागतिक जीवन के विकास के नाम पर वे फ्रायडीय और मार्क्सीय भोग का पूरा समर्थन करते हैं। इसका फल यह हुआ है कि उनके काव्य में काम-प्रतीकों की बहुलता हो गई है। कुछ उदाहरणों द्वारा उपर्युक्त मत की पुष्टि की जा सकती है :—

स्वर्ण-वाष्प का घन लटका जघनों के माणिक सर में।
स्वर्णिम निर्झर-सी रति-सुख की जंघाओं पर पेशल
लिपटी जीवन की ज्वाला निज दीपन करती शीतल—
—स्वर्णकिरण

\+ \+ \+

अर्ध-विवृत जघनों पर तरुण सत्य के सिर धर
लेटी थी वह दामिनि-सी रुचि - गौर कलेवर
गगन - भंग से लहराये मृदु कच अंगों पर
वक्षोजों के खुले घटों पर लसित सत्य-कर।
—स्वर्णकिरण

\+ \+ \+

मन के समस्त दुर्ग
यम नियम की दीवारें
टूट कर
छिन्न - भिन्न हो गईं !
तुम्हारे उन्मत्त शक्तिपात की
रतिक्रीड़ा के लिए
मेरी कोमल तृणों की देह
लोटपोट हो
बिछ बिछ जाती है !

—कला और बूढ़ा चाँद

पंत की साधना की चरम उपलब्धि है 'लोकायतन' । यह उनकी महत्त्वाकांक्षापूर्ण कृति है—कलेवर में कामायनी से लगभग छह गुना बड़ी। इस महत्काव्य का मूल प्रतिपाद्य सामूहिक मुक्ति है जो गाँधीवाद और अरविंदवाद दोनों से प्रभावित है। पुराने संस्कार, दार्शनिकता, कृच्छ्र-साधना को अधूरा बतला कर कवि ने आत्मवादी ऋषियों का विरोध किया है। इस तरह वह वैयक्तिक मुक्ति के विरोध में सामूहिक मुक्ति का समर्थन करता है। गाँधीवादी जीवन दर्शन से आरंभ होकर यह काव्य चेतना के ऊर्ध्व स्पर्शों से अनुप्राणित अरविन्दीय समाज के चित्रण में समाप्त होता है। कामायनी की भाँति इसका अंत भी हिमालय दर्शन में ही होता है। संयुक्ता हिमालय के सौन्दर्य को देखकर विस्मित-चकित हो जाती है। संसार में एक दिव्य ज्योति फैल जाती है।

सन् '२५ से लेकर '६३ तक बहुत सारी घटनाओं के समावेश से कवि जहाँ इसमें सम-सामयिकता को समेटता है वहाँ इसे बहुत कुछ वर्णनात्मक-व्याख्यात्मक भी बना देता है। फलतः काव्य में एक प्रकार का असंतुलन और अ-गतिमयता आ जाती है। शक्तिपात को भी वह मनोवैज्ञानिक नहीं बना सका है। वैयक्तिकता से पलायित न होने का परिणाम भी शुभ नहीं हुआ है। माधव गुरु और उनके साथियों के साथ वंशी और हरि का संघर्ष काफी स्थूल होने के कारण कथा की गति मंद हो गई है। ठूंस-ठाँस वर्णन-विवरण, पुराने ढंग का ऋतुवर्णन अमनोवैज्ञानिक दार्शनिक संपूर्ण काव्य को भानुमती का कुनबा बना देता है। अतः आज के युग में लोकायतन का राग बेसुरा, असामयिक और कर्कश प्रतीत होता है।

छायावादी संस्कारों से सर्वथा मुक्त होने की कोशिशों के बावजूद पंत कभी भी उससे मुक्त नहीं हो सके। ग्राम्या को छोड़कर जहाँ कहीं वे मुक्त हुए हैं वहाँ भाषा कर्कश हो गई है। जहाँ भाषा रागात्मक हो पाई है वहाँ प्रकृति और रूप-

सौंदर्य के प्रति पुराना शिल्प, तराशे हुए शब्द, नपे-तुले वाक्य विन्यास आदि दिखाई पड़ते हैं। नयी कविता के जमाने में जब साहित्यिक चेतना बदल गई है अरविन्द और पंत दोनों की अधिमानसी दुनिया के प्रति लोगों का उदासीन हो जाना स्वाभाविक है।

महादेवी वर्मा

महादेवी वर्मा छायावाद के अन्तर्गत रहस्यवाद की कवयित्री मानी जाती हैं। अज्ञात प्रियतम की विरहानुभूति में उन्होंने वेदना के गीत लिखे हैं। वेदना ही उनके काव्य की विषय-वस्तु है। उनके विषय का विस्तार सीमित है। उन्होंने जीवन और जगत के विविध क्षेत्रों में हाथ-पाँव मारने की कोशिश नहीं की है क्योंकि वे उनकी अनुभूति के बाहर पड़ते हैं। यह ईमानदारी कम कवियों में मिलती है। महादेवी में अनुभूति का वैविध्य और विस्तार न मिलकर उसकी सघनता मिलती है। सघन से सघनतर होती हुई अनुभूतियों के आधार पर उनका विकास-क्रम देखा जा सकता है।

पर महादेवी की रचनाओं को रहस्यवाद के भीतर डाल कर क्या उनके साथ न्याय किया जा सकता है? क्या वे उसी प्रकार की रहस्यवादी हैं जिस प्रकार के रहस्यवादी कबीर और जायसी माने जाते हैं? क्या जिस परोक्ष सत्ता के प्रति संतों ने आत्म विह्वलता-आकुलता की अभिव्यक्ति की है उसी परोक्ष सत्ता या अज्ञात प्रियतम के प्रति महादेवी की आकुलता नहीं समर्पित है? फिर भी महादेवी पर संतत्व का आरोप नहीं किया जा सकता। वे मुख्यतः कला-चेतना से अनुप्राणित हैं। उन्होंने अपनी सूक्ष्म वेदना को कला-रूप देने की भरसक चेष्टा की है। तो फिर उनकी वेदना का स्वरूप क्या है?

'रश्मि' की भूमिका में महादेवी ने लिखा है—"अपने दुःखवाद के विषय में भी दो शब्द कह देना आवश्यक जान पड़ता है। सुख और दुःख के धूप-छाही डोरों से बुने हुए जीवन में मुझे केवल दुःख ही गिनते रहना क्यों इतना प्रिय है, यह बहुत लोगों के आश्चर्य का कारण है। इस क्यों का उत्तर दे सकना मेरे लिए किसी समस्या के सुलझा डालने से कम नहीं है। संसार साधारणतः जिसे दुःख और अभाव के नाम से जानता है वह मेरे पास नहीं है। जीवन में मुझे बहुत दुलार, बहुत आदर और बहुत मात्रा में सब कुछ मिला है, उस पर पार्थिव दुःख की छाया नहीं पड़ी। कदाचित् यह उसी की प्रतिक्रिया है कि वेदना मुझे इतनी मधुर लगने लगी है।" उनकी वेदना पर बौद्धदर्शन की छाप भी पड़ी है, इसे वे स्वयं स्वीकार करती हैं। वे दुःख के दो रूप मानती हैं, एक मनुष्य के संवेदनशील हृदय को संसार से बाँध देता है और दूसरा काल और सीमा में आबद्ध असीम चेतन का क्रन्दन प्रस्तुत करता है।

किन्तु महादेवी की व्याख्या उनके दुःख का स्वरूप निश्चित नहीं कर पाती। सुख की प्रतिक्रिया में दुःख का होना विश्वसनीय नहीं माना जा सकता। बौद्ध-दर्शन का प्रभाव बौद्धिक ही हो सकता है, अनुभूति-परक नहीं। बौद्धदर्शन में दुःखवाद को जो आध्यात्मिक स्तर मिला है, महादेवी में उसका आभास मिलता है, वह भी आवरण के रूप में। ब्लेक की तरह जो बाइबिल से प्रभावित है, महादेवी रहस्यवादी नहीं बन पातीं। ऐसी स्थिति में उनकी वेदना का स्वरूप अस्पष्ट बना रहता है।

यह वेदना अज्ञात प्रियतम के प्रति प्रणय-निवेदन के रूप में हुई है। छायावादी कवियों ने प्रेम-निवेदन को रहस्य के अनेक पर्तों में लपेट कर उसे दिव्य, पवित्र, अलौकिक जाने क्या-क्या नाम दिया है। इस तरह वे परंपरागत नैतिकता के दबाव में लिख रहे थे। इस दबाव और मुक्ति के आग्रह के बीच जो तनाव आया उससे छायावाद की प्रेम-कविता का जन्म हुआ। स्त्री होने के नाते महादेवी में यह तनाव अधिक घने रूप में उभरा। स्त्री और पुरुष की प्रेम-जन्य वेदना में कोई मौलिक अन्तर नहीं होता है। पर परंपरागत संस्कारों के कारण स्त्री की अनुभूति में तीव्रता अधिक होती है। कहना न होगा कि छायावादी कवियों में महादेवी जैसी वेदना-जनित विह्वलता किसी अन्य में नहीं है। इसे उन्होंने प्रकृति के नाना उपकरणों द्वारा अज्ञात प्रियतम के प्रति आत्मनिवेदन के रूप में अभिव्यक्त किया है।

इसकी शुरुआत 'नीहार' ('२४ से '२८ तक की रचनाएँ) से ही हो जाती है—

> पीड़ा का साम्राज्य बस गया
> उस दिन दूर क्षितिज के पार
> मिटना था निर्वाण जहाँ
> नीरव रोदन था पहरेदार।
>
> कैसे कहती हो सपना है
> अलि उस मूक मिलन की बात?
> भरे हुए अब तक फूलों में
> मेरे आँसू उनके हास!

'नीहार' के गीतों में भावुकता का प्राधान्य है, अनुभूतियों में सघनता की कमी है और कल्पना अभी पंख फैलाना सीख रही है। बहुत से गीतों में मधु-मास का बिखराव, फूलों की पलकों से पंथ देखना, प्राणों की सेज पर पीड़ा का सोना, संसार की अस्थिरता आदि के उल्लेख द्वारा वे अपने को संयमित करना चाहती हैं।

'रश्मि' उनका दूसरा काव्य-संग्रह है। इसमें न तो 'जो तुम आ जाते एक बार' की आकांक्षा है और न उच्छ्वासों की छाया। न छलना का ताप है न घायल मन लेकर सो जाने की चिन्ता और न पागल प्यार की चाह। 'नीहार' का धुंधलका 'रश्मि' में छँट गया है। 'नीहार' की अतृप्ति 'रश्मि' में काम्य बन गई है—

मेरे छोटे जीवन में देना न तृप्ति का कण भर
रहने दो प्यासी आँखें भरतीं आँसू के सागर!

उस अतृप्ति और आँसू के सागर को वह मूल्य भी देती है—

दुःख के पद छू बहते झर झर
कण कण से आँसू के निर्झर
हो उठता जीवन मृदु उर्वर,
लघु मानस में वह असीम जग को आमंत्रित कर लाता!

आँसू के निर्झर से जीवन को उर्वर बनाने की कल्पना महादेवी की विकास-यात्रा की दूसरी मंजिल मानी जा सकती है। इसी विन्दु पर संसार के साथ वह एक-तान दिखाई पड़ती हैं। कभी-कभी वे वेदना के बाहर भी झाँकने की कोशिश करती हैं—

कह दे माँ अब क्या देखूँ
देखूँ खिलती कलियाँ या प्यासे सूखे अधरों को,
तेरी चिर यौवन-सुषमा या जर्जर जीवन देखूँ!
देखूँ हिम-हीरक हँसते हिलते नीले कमलों पर
या मुरझाई पलकों से झरते आँसू कण देखूँ!

पर 'प्यासे सूखे अधरों' को काव्य में वे नहीं देख सकी हैं। ऐसा करने का दावा भी उन्होंने नहीं किया है। उनकी वैविध्य रहित अनुभूतियों में जीवन के कर्कश पक्षों का समावेश नहीं हो सकता था। जहाँ कहीं वे अपनी अनुभूति को लाँघने की कोशिश करती हैं वहाँ उनका वर्णन सपाट हो जाता है।

'नीरजा' महादेवी का तीसरा काव्य संग्रह है। इसमें 'वेदना' काम्य होने से आगे बढ़कर आस्था बन जाती है। आस्था काव्य के रूप में ढल कर सान्द्र हो उठती है और नीरजा का काव्य-रूप अपने स्थापत्य में अप्रतिम बन जाता है: धीरे-धीरे उतर क्षितिज से, विरह का जलजात जीवन, बीन भी हूँ मैं तुम्हारी रागिनी भी हूँ, मधुर-मधुर मेरे दीपक जल, मुखर प्रिय हौले बोल, टूट गया वह दर्पण निर्मम, ओ विभावरी आदि अनेक श्रेष्ठ गीत संगृहीत हैं। कुछ उदाहरण देखिए :—

तुम्हें बाँध पाती सपने में
तो चिर जीवन प्यास बुझा
लेती उस छोटे क्षण अपने में!

पावस घन सी उमड़ बिखरती
शरद-निशा सी नीरव घिरती
धो लेती जग का विषाद
ढुलते लघु आँसू कण अपने में !

+ + +

मुखर प्रिय हौले बोल !
हठीले हौले हौले बोल !
मर्मर की वंशी में गूँजेगा मधुऋतु का प्यार
झर जावेगा कंपित तृण से लघु सपना सुकुमार
एक लघु आँसू बन बे-मोल !

+ + +

मैं मतवाली इधर, उधर प्रिय मेरा अलबेला सा है !
मेरी आँखों में ढलकर छवि उसकी मोती बन आई
उसके घन प्यालों में है विद्युत् सी मेरी परछाईं
नभ में उसके दीप, स्नेह जलता है पर मेरा उनमें
मेरे हैं यह प्राण, कहानी पर उसकी हर कंपन में
यहाँ स्वप्न की हाट वहाँ अलि छाया का मेला सा है।

इन गीतों में अनुभूति की सघनता बढ़ गई है, वे पहले की अपेक्षा अधिक सूक्ष्म और तरल हो उठी है। 'रश्मि' में आँसू के निर्झर और सागर जैसे अविश्वसनीय पद-विन्यास अब 'ढुलते लघु आँसू कण' में बदल गए हैं। अप्रस्तुतों के चुनाव में संयम आ गया है। पहले दो उदाहरणों में रूप और ध्वनि द्वारा बिंबों को आकार दिया गया है तो तीसरे उदाहरण में रूप-रंग द्वारा। 'उसके घन प्यालों में है विद्युत् सी मेरी परछाईं' में घन और विद्युत् द्वारा एक रंगीन चित्र बनने के साथ प्रिय और प्रेम की एकात्मकता भी खिंच उठती है। संगीत का यह माधुर्य जो काव्य की अर्थवत्ता में भी पूरा योग देता है छायावादी काव्य में अन्यत्र नहीं मिलेगा। उनका संगीत छोटी-छोटी लयात्मक लहरों से बुना जाने के कारण अपने टेक्श्चर में अधिक संपन्न है। पंत का लयात्मक ताना-बाना अपनी विस्तृति में सघन नहीं हो पाया है। कविता के संघटन में लघु-लघु लयात्मकता का विशेष महत्त्व होता है, इससे अर्थ में घनात्मक अन्विति और संश्लिष्टता आ जाती है।

'सांध्यगीत' में कवयित्री की आस्था दर्शन का रूप ले लेती है। वह अपना परिचय देती हुई कहती है—

मैं नीरभरी दुख की बदली !
स्पन्दन में चिर निस्पन्द बसा
क्रन्दन में आहत विश्व हँसा
नयनों में दीपक से जलते
पलकों में निर्झरिणी मचली !

+ + +

विस्तृत नभ का कोई कोना
मेरा न कभी अपना होना
परिचय इतना इतिहास यही
उमड़ी कल थी मिट आज चली !

यह उसका अपना संसार है—आँखों में दीप जलने का संसार, क्रन्दन में दुखी विश्व के हँसने का जगत्। यही उसका साध्य है और यही साधन भी है। इसे दूसरे शब्दों में दुःख की साधना भी कहा जा सकता है।

यह साधना भक्त कवियों की साधना से भिन्न है। कबीर, सूर, तुलसी और मीराबाई आदि की साधना भक्ति-परक थी। इसलिए उनका आत्म-निवेदन महादेवी के आत्म-निवेदन से भिन्न हो जाता है। महादेवी ने सांध्यगीत की भूमिका में लिखा है—"वास्तव में गीत के कवि को आर्त क्रन्दन के पीछे दुःखातिरेक को दीर्घ निश्वास में छिपे हुए संयम से बाँधना होगा। तभी उसका गीत दूसरे के हृदय में उसी भाव का उद्रेक करने में सफल हो सकेगा। गीत यदि दूसरे का इतिहास न कह कर वैयक्तिक सुख-दुःख ध्वनित कर सके तो उसकी मार्मिकता विस्मय की वस्तु बन जाती है इसमें सन्देह नहीं।"

उन भक्त कवियों में मीरा का भाव ही वैयक्तिक सुख-दुख बन गया था। वैसी निश्छल भावनामयता महादेवी में नहीं मिलती। भक्त कवि-साधक भगवान् में अपनी लयमानता को चरम सिद्धि मानते थे। पर छायावादी कवि अपने व्यक्तित्व का विसर्जन न कर उसका अलगाव बनाये रखता है—

रंगमय है देव दूरी
छू तुम्हें रह जायगी यह
चित्रमय क्रीड़ा अधूरी !
दूर रह कर खेलना पर मन न मेरा मानता है !

+ + +

नभ डुबा पाया न अपनी बाढ़ में भी क्षुद्र तारे
ढूंढ़ने करुणा मृदुल घन चीर कर तूफान हारे

अन्त के तम में बुझे क्यों
आदि के अरमान मेरे !

इस अलगाव को और भी स्पष्ट रूप से 'रे पपीहे पी कहाँ' में देखा जा सकता है—

हँस डुबा देगा युगों की प्यास का संसार भर तू
कंठगत लघु विन्दु कर तू !
प्यास ही जीवन, सकूँगी
तृप्ति में मैं जी कहाँ ?

गोस्वामी तुलसीदास ने चातक को प्रेम का प्रतीक माना है—उसकी अनन्यता, एकनिष्ठता और ईमानदारी को। पर स्वाती की एक बूंद पाकर वह तृप्त हो जाता है। किंतु महादेवी तो तृप्ति में जी नहीं सकतीं। मध्ययुगीन प्रतीकों को वैयक्तिकता के नए परिप्रेक्ष्य में रखकर नई अर्थवत्ता दी गई है।

वैयक्तिकता के आग्रह को दार्शनिक अनुबंधों में बाँधा गया है। पर ये अनुबंध काव्य की दृष्टि से प्राय: शिथिल पड़ जाते हैं। 'नीरजा' के गीतों पर दार्शनिकता कहीं हावी नहीं हो पाती पर सांध्यगीत उसके बोझ से बोझिल हो गया है। जहाँ दार्शनिकता की पकड़ ढीली हुई है वहाँ नीरजा की तरह आस्था पूर्ण काव्यात्मकता मुखर हो उठी है—

अचल हिमगिरि के हृदय में आज चाहे कंप हो ले
या प्रलय के आँसुओं में व्योम अलसित व्योम रो ले
आज भी आलोक को डोले तिमिर की घोर छाया
जाग या विद्युत्-शिखाओं में निठुर तूफान बोले !
पर तुझे है नाश-पथ पर चिह्न अपने छोड़ आना !

'दीपशिखा' उनका अगला काव्य संग्रह है जिसमें उनकी आस्था और भी दृढ़ हो गई है। दृढ़ता की दृष्टि से ही इस काव्य-संग्रह का महत्त्व है, मौलिकता की दृष्टि से नहीं। 'दीपशिखा' के 'दो शब्द' में उन्होंने लिखा है—"आलोक मुझे प्रिय, पर दिन से अधिक रात का—दिन में तो अन्धकार से उसके संघर्ष का पता ही नहीं चलता परन्तु रात में हर झिलमिलाती लौ योद्धा की भूमिका में अवतरित होती है। इस नाते दीपशिखा मेरे अधिक निकट है।"

'यह मंदिर का दीप अकेला' में वे लिखती हैं—

यह मंदिर का दीप इसे नीरव जलने दो।
झंझा है दिग्भ्रान्त रात की मूर्च्छा गहरी
आज पुजारी बने, ज्योति का यह लघु प्रहरी

जब तक लौटे दिन की हलचल
तब तक यह जागेगा प्रतिपल
रेखाओं में भर आभा-जल
दूत साँझ का इसे प्रभाती तक चलने दो !

मध्यकाल में दीपशिखा सौन्दर्य की प्रतीक थी। पर छायावाद काल में अंधकार से जूझते हुए व्यक्तित्व का प्रतीक बन गई। इसी प्रकार अपनी अडिग आस्था को आँकते हुए वे लिखती हैं—

पंथ रहने दो अपरिचित प्राण रहने दो अकेला
अन्य होंगे चरण हारे
और हैं जो लौटते, दे शूल को संकल्प सारे;
दुख व्रती निर्माण उन्मद
यह अमरता नापते पद
बाँध देंगे अंक संसृति
से तिमिर में स्वर्ण बेला

किंतु दीपशिखा के बहुत से दार्शनिक गीत अन्योक्ति पद्धति पर लिखे जाने के कारण काव्यात्मकता से बहुत कुछ रिक्त हो गए हैं। वस्तुतः महादेवी के गीत अपनी समस्त कलात्मकता के बावजूद ऊब पैदा करते हैं। उनके पास भाव का वैविध्य नहीं है। इसलिए बिंबों में भी आवृत्तियों की इतनी बहुलता हो गई है कि परवर्ती काव्य में उनकी ताजगी खो गई है।

रामकुमार वर्मा, गोपालसिंह नेपाली, बालकृष्ण राव, आरसी, केसरी, प्रभात, बच्चन, अंचल, नरेन्द्र शर्मा, सुधीन्द्र, मिलिन्द, जानकी बल्लभ शास्त्री, दिनकर, सोहनलाल द्विवेदी, सुमित्रा कुमारी सिन्हा, विद्यावती कोकिल, तारा पांडेय, उदयशंकर भट्ट, गुरुभक्त सिंह भक्त आदि में से कुछ छायावाद से अत्यधिक प्रभावित हैं जैसे राम कुमार वर्मा और जानकी बल्लभ, कुछ ने नई जमीन तोड़ने की कोशिश की है जैसे बालकृष्ण राव और केसरी, कुछ द्विवेदी युगीन चेतना के कवि हैं जैसे सोहनलाल द्विवेदी, कुछ ने नया रास्ता बनाया है जैसे बच्चन और दिनकर। वस्तुतः छायावाद के समापन-काल तथा प्रयोगवादी कविता के आरंभ-काल के बीच आने वाले कवियों में पिछले दोनों कवियों का व्यक्तित्व और काव्य सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण कहा जायगा।

नाटक

इस काल की स्वच्छन्दतावादी कविताओं की मूल प्रवृत्तियाँ नाटकों में भी दिखाई पड़ती हैं। कविताओं की तरह ही नाटक भी पूर्ववर्ती उपदेश-मूलक और इतिवृत्तात्मक नाटकों से अलग होकर मानवीय चित्तवृत्तियों के अन्तर्जगत्

में प्रवेश करते हैं। अतीत के प्रति प्रेम, वैयक्तिकता, आवेगमयता, उल्लास, नियतिबद्धता आदि स्वच्छन्दतावादी आन्दोलन की विशेषताएँ थीं। इन समस्त विशेषताओं के साथ नाटककार प्रसाद का आविर्भाव होता है।

सज्जन, कल्याणी परिणय, प्रायश्चित्त, करुणालय, राज्यश्री उनकी प्रारंभिक नाट्यकृतियाँ हैं। इन्हें उनकी नाट्ययात्रा का प्रस्थान विंदु मानना चाहिए। विशाख (१९२१), अजातशत्रु (१९२२), कामना ('२३-'२४), जनमेजय का नागयज्ञ (१९२६) इस यात्रा की दूसरी मंजिल है। तीसरी और आखिरी मंजिल की यात्रा में पड़ने वाले नाटक स्कन्दगुप्त (१९२८), एक घूंट (१९३०), चन्द्रगुप्त (१९३१) और ध्रुवस्वामिनी (१९३१) उनके सर्वश्रेष्ठ नाटक हैं। प्रसाद की काव्य-यात्रा की भाँति नाटक-यात्रा में भी एक स्पष्ट विकास-क्रम दिखाई पड़ता है। इससे सिद्ध होता है कि वे अपने अवरोध और विकास के प्रति पूर्णतः सचेत कलाकार थे।

विशाख और अजातशत्रु दोनों में कैशोर भाव का प्राधान्य है—पहले में अधिक दूसरे में अपेक्षाकृत कम। वस्तुतः अजातशत्रु उनका पहला महत्त्वाकांक्षा-पूर्ण नाटक है, जो गहन अन्तर्द्वंद्वों पर आधारित है। अहं, महत्त्वाकांक्षा, विलास आदि से गुजरते हुए पात्र किसी-न-किसी महनीय पात्र से टकरा कर सामान्य मानवीय धरातल पर उतर आते हैं। बौद्धों की करुणा की छाया में ये नाटक व्यापक आयामों से संपृक्त नहीं हो सके हैं। 'जनमेजय के नागयज्ञ' में 'अजातशत्रु' की मल्लिका की भाँति व्यास का अवतरण होता है और उसी में समस्त समस्याओं की परिणति।

'कामना' अन्यापदेशिक नाटक है। संभवतः विशाख और अजातशत्रु में उठाई गई समस्याओं के समाधान में इसकी परिकल्पना की गई। इसमें उस अराजक स्थिति को चित्रित करने का प्रयास किया गया है जिसमें न राजा होता है और न दंड विधान। प्रजा धर्म से ही अपनी रक्षा करती है। इस राज्य में प्रजा प्राकृतिक जीवन व्यतीत करती हुई आकांक्षा, अभाव और संघर्ष से असं-पृक्त रहती है। सारी बुराइयों के मूल में वासना, विलास, आर्थिक लिप्सा, व्यवस्था आदि को माना गया है। प्रकृति का स्वच्छन्द वातावरण प्रसाद को प्रिय था। स्वच्छन्दतावादियों को नियमानुबंधता प्रिय नहीं थी। कामना में निर्बंधता का समर्थन किया गया है। 'एक घूंट' एकांकी नाटक है।

स्कन्दगुप्त और चन्द्रगुप्त में विदेशी आक्रमणकारियों के विरुद्ध देश की सुरक्षा और एकीकरण के प्रयासों का चित्रण किया गया है। स्कन्दगुप्त को दो मोर्चों पर लड़ना पड़ता है—घरेलू कलह के मोर्चे पर और विदेशी आक्रमण-कारियों के मोर्चे पर। 'चन्द्रगुप्त' में भिन्न-भिन्न स्वतंत्र राज्यों में बँटे हुए देश को

एकतंत्र में बाँध कर यवन आक्रमणकारियों से देश को मुक्त किया जाता है। सैनिक स्तर के अतिरिक्त यह युद्ध सांस्कृतिक स्तर पर भी लड़ा जा रहा था। इस स्तर पर भी इस देश की विजय होती है। 'ध्रुवस्वामिनी' एक समस्या नाटक है। इसकी मूल समस्या यह है कि वह रामगुप्त की पत्नी बनी रहे या शकराज से उसका उद्धार करने वाले चन्द्रगुप्त की परिणीता बने।

स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति के कारण प्रसाद के कुछ नाट्कों की वस्तु-योजना में एक बिखराव आ गया है—विशेष रूप से अजातशत्रु, जनमेजय का नागयज्ञ और चन्द्रगुप्त में। अब नाटक संस्कृत काव्य शास्त्र के रूढ़ नियमों में नहीं बँध सकता था। अतः उसकी नियोजना में बिखराव का आ जाना स्वाभाविक था। शेक्सपियर के स्वच्छन्दतावादी नाटक भी अपनी वस्तु-योजना में स्वच्छन्द हैं। अतः प्रसाद के नाटकों में अर्थ प्रकृतियों और संधियों को खोजना बुद्धि-विलास के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। प्रसाद पहले नाटककार हैं जिन्होंने शास्त्रीय रूढ़ियों को तोड़ा।

'स्कन्दगुप्त' और 'ध्रुवस्वामिनी' की वस्तु-योजना में अधिक कसाव है। इसकी घटना-शृंखलाएँ प्रमुख व्यापार से इस प्रकार संबद्ध हैं कि उनमें साधन-साध्य संबंध स्थापित हो जाता है। कुसुमपुर में चलने वाले समस्त षड्यंत्र स्कन्दगुप्त के राष्ट्रीय और वैयक्तिक जीवन में अनेक प्रकार के आरोह-अवरोह ले आते हैं। स्कन्द और विजया का प्रथम साक्षात्कार भी एक ऐसी घटना है जिससे अन्य बहुत ही घटनाएँ और क्रियाएँ प्रादुर्भूत होती हैं। अन्य नाटकों की भाँति आकस्मिकता इसमें भी महत्त्वपूर्ण योग देती है। नाटकीयता की दृष्टि से विजया की अवतारणा देवसेना की अपेक्षा अधिक सटीक बन पड़ी है।

ध्रुवस्वामिनी तक आते-आते प्रसाद का नाटकीय विधान अधिक सहज और रंगमंचोपयुक्त हो जाता है। इसके तीनों अंक एक दूसरे से अनिवार्यतः संबद्ध हैं। जहाँ प्रसाद के अन्य नाटकों में गीतिमय पात्र नाटकीय वस्तु-स्थिति से थोड़ा-बहुत निःसंग होने के कारण वस्तु-योजना में सहायता नहीं पहुँचाते वहाँ ध्रुवस्वामिनी में कोमा का प्रसंग अनेक स्थितियों पर प्रकाश डालता है।

प्रसाद आधुनिक साहित्य की अप्रतिम सर्जनात्मक प्रतिभा थे। इनकी सर्जना का उत्कृष्टतम रूप चरित्रगत विशेषताओं के उद्घाटन में दिखायी पड़ता है। अभी तक हिन्दी नाटकों के चरित्रों को स्वतंत्र व्यक्तित्व नहीं मिल पाया था। वे नाटककारों के व्यक्तित्वों से चिपटे रह गये थे। प्रसाद ने उन्हें पहली बार व्यक्तित्व प्रदान किया। उन्होंने अपने पात्रों को अधिक-से-अधिक सहानुभूति दी और उनके अन्तर्द्वंद्वों और बाह्य संघर्षों को अत्यन्त मार्मिक ढंग से चित्रित किया। कहीं पर इनके चित्रों की रेखाएँ खूब पुष्ट और उभरी हुई हैं, जो

पात्रों की सूक्ष्मातिसूक्ष्म भंगिमाओं को व्यक्त करने में पूर्ण समर्थ हैं और कहीं रेखाओं के हल्के स्पर्शों से पात्रों की सम्पूर्ण भावुकता को कुशलतापूर्वक अंकित किया गया है।

इनके नाटकों के पात्रों को धीरोदात्त या धीरोद्धत के बँधे-बँधाए स्थूल मापों में नहीं नापा जा सकता और न मानव-दानव आदि के कटघरे में ही डाला जा सकता है। ऊपर-ऊपर से एक विशेष ढंग के दिखाई देने पर भी वे परम्परामुक्त मान्यताओं और नाटकीय सिद्धान्तों का अतिक्रमण कर जाते हैं। अतः उनका उचित स्थान निर्धारित करने के लिए उनकी विविध परिस्थितियों तथा उनके प्रति उनकी मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रियाओं की जाँच करनी पड़ेगी। उनके नाटकीय पात्रों की सामान्य विशेषताओं को देखते हुए सुविधा की दृष्टि से उन्हें कतिपय श्रेणियों में रखा जा सकता है—(१) महत्त्वाकांक्षी पात्र (२) राष्ट्रीय एकता और स्वतंत्रता के लिए सब कुछ उत्सर्ग कर देने वाले स्त्री-पुरुष (३) कूटनीति के आचार्य (४) भारतीय आध्यात्मिकता के प्रतीक महात्मा और ऋषि (५) भारतीय नारीत्व का प्रतिनिधित्व करने वाली करुणा-तितिक्षा की जीवंत मूर्ति नारियाँ (६) अनेक गुण समन्वित अपनी परिस्थितियों में टूटने और निर्मित होने वाली स्त्रियाँ और (७) संगीत की अंतिम लहरदार तान छोड़ जाने वाले गीतिमय नारी पात्र।

प्रसाद के चरित्रों की विशेषता है कि बाह्यतः एक तरह के होते हुए भी वे अपना-अपना व्यक्तित्व रखते हैं। अजातशत्रु, विरुद्धक और भटार्क महत्त्वाकांक्षी पात्र हैं। अजातशत्रु महत्त्वाकांक्षी होते हुए भी आन्तरिक दुर्बलताओं से मुक्त नहीं है। विरुद्धक उसकी भाँति परावलंबी, आत्मकेंद्रित और अहंवादी नहीं है। वह भयानक साहसी, आत्मनिर्भर और अपने भाग्य का अपने आप नियामक है। भटार्क महत्त्वाकांक्षा की पूर्ति में सारे नैतिक मानों को कुचलता चलता है पर बीच-बीच में उसका अन्तःकरण उसे रोकता-टोकता चलता है। छलना, सुरमा, विजया आदि में भी यह अलगाव दिखाई देगा।

मातृभूमि के उद्धारक चरित्रों में स्कन्दगुप्त टिपिकल स्वच्छन्दतावादी पात्र है—अपने अधिकारों के प्रति बेहद उदासीन किन्तु राष्ट्र-रक्षा के प्रति अत्यधिक सतर्क। वह कहता है—'भटार्क, यदि कोई साथी न मिला तो साम्राज्य के लिए नहीं जन्मभूमि के उद्धार के लिए मैं अकेला युद्ध करूँगा।' अकेला ही युद्ध करने की स्पृहा स्वच्छन्दतावादी वैयक्तिकता का आग्रह है। चाणक्य कदाचित् प्रसाद की सर्वश्रेष्ठ चरित्र-सृष्टि है। वह लौहस्तंभ की भाँति अप्रणत, अनबूझ पहेली की भाँति रहस्यमय, आत्मविश्वासी, निर्मम और अद्वितीय कूटनीतिज्ञ है। वह सिद्धि देखता है, साधन चाहे कैसे ही हों। मल्लिका प्रसाद का आदर्श नारी

पात्र है। सृष्टि का अपार सौन्दर्य, गौतम की असीम करुणा, स्त्री की संपूर्ण सरलता और स्निग्धता उसे एक साथ प्राप्त है। देवसेना, मालविका और कोमा के माध्यम से प्रसाद ने अपने व्यक्तित्व की एकांत गीतिमयता को मूर्त किया है। ध्रुवस्वामिनी यथार्थ की भूमिका पर प्रतिष्ठित की गई है जो नई परिस्थितियों में अपने को बदल लेती है।

अभिनेयता की दृष्टि से विचार करने पर प्रसाद के अधिकांश नाटकों के सामने प्रश्नवाचक चिह्न लग जाते हैं। घटना-विस्तार, दृश्यों की बहुलता, लंबे-लंबे दार्शनिक संवाद, भाषा की क्लिष्टता, स्वगत कथन आदि के कारण आधुनिक उपकरणों से सुसज्जित मंचों पर भी उन्हें उतारना कठिन हो जाता है। उपयुक्त निर्देशक मिलने पर भी योग्य अभिनेताओं का मिल पाना संभव नहीं होता। संयोगात् इन दोनों के मिलने पर दर्शकों तक उन्हें प्रेषणीय बना पाना एक समस्या हो जाती है।

किन्तु जहाँ एक ओर उनके नाटक अरंगमंचोपयुक्त माने जाते हैं वहाँ अपने औदात्य के कारण वे बेजोड़ भी हैं। इस असंगति की संगति क्या है? अगर रंगमंच और नाटक की श्रेष्ठता का अनिवार्य संबंध है तो उनके नाटकों को मंचोपयुक्त मानना पड़ेगा अन्यथा दोनों के संबंध का प्रश्न ही बेमाने है।

प्रसाद के नाटकों की भाषा काव्यात्मक है। इसलिए वे बिंबों से भरे पड़े हैं। नाटक है भी तो 'चाक्षुष क्रतु।' किन्तु दृश्य-श्रव्य होने के कारण इसमें भाषेतर बिंबों को भी समाविष्ट किया जाता है—रंगसज्जा, वेषभूषा, चारी, नृत्य, गीत आदि। पीकाक का रूपक को 'एक्सटेंडेड मेटाफर' कहना सर्वथा संगत है। ये बिंब संपूर्ण नाटक को प्रतीकात्मक अर्थ देते हैं और उन्हें चाक्षुष-क्रतु में परिणत करते हैं। स्कन्दगुप्त का कथन है—'उत्सवों में परिचारक और अस्त्रों में ढाल से भी अधिक अधिकार-लोलुप मनुष्य क्या अच्छे हैं? 'परिचारक' और 'ढाल' स्कन्दगुप्त की परिस्थिति और आन्तरिकता को अत्यंत प्रभावी ढंग से अभिव्यक्त करते हैं। गीत नाटकों को 'एक्सटेंडेड मेटाफर' बनाने में सहायता करते हैं।

मूलत: रोमैंटिक होने के कारण वे मूलतः कल्पनाशील नाटककार हैं। पर उनकी कल्पनाएँ अपनी परिधि लाँघकर अतीन्द्रीय लोक में विचरण नहीं करतीं। क्लासिकल कलाकार जहाँ बुद्धि और तर्क का अधिक भरोसा रखता है वहाँ रोमैंटिक साहित्यकार हृदय की पुकार और अन्तर्मन के विश्वासों का। यही कारण है कि पात्रों में अपने देश, जाति, गौरव तथा अतमाभिमान के लिए अपने को लय करने की अद्‌भुत चाह दिखाई पड़ती है।

रोमैंटिकता और भारतीय संस्कृति उन्हें नियतिवादी, दार्शनिक और कर्मयोगी बनाती हैं। अपनी संस्कृति के प्रति अत्यधिक आस्थावान होने पर भी वे किसी अर्थ में पुनरुत्थानवादी नहीं हैं। इसमें सन्देह नहीं कि उन्होंने भारतीय संस्कृति को उसकी जटिलताओं में खूब उभारा है। किन्तु उसकी ह्रासोन्मुखी रूढ़ियों को उभारने का उनका प्रयास भी कम सराहनीय नहीं है। देशभक्ति और राष्ट्रीयता का पूरा समावेश हुआ है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि राष्ट्रीय जागरण तथा उसकी कमजोरियों को अंकित करने के लिए उन्होंने इतिहास का आच्छादन ग्रहण किया है। विभिन्न संस्कृतियों के पारस्परिक संघर्ष तथा अवान्तर संस्कृतियों के वैषम्य को दिखाते हुए भी वे मूलवर्तिनी भारतीय सांस्कृतिक धारा को बनाए रखने में पूर्ण समर्थ हैं। 'स्कन्दगुप्त' और चन्द्रगुप्त में उन्होंने जनबल की वास्तविकता को पहचान कर उसे निर्णयात्मक तत्त्व के रूप में स्वीकार किया है।

इस काल के परवर्ती नाटककारों में हरिकृष्ण प्रेमी और लक्ष्मी नारायण मिश्र के नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं। प्रसाद ने अपने नाटकों के लिए जहाँ भारतीय इतिहास के स्वर्णयुग का इतिवृत्त ग्रहण किया वहाँ प्रेमी ने मध्यकालीन इतिहास का इतिवृत्त। लक्ष्मीनारायण मिश्र प्रसाद से अलग होकर समस्या-नाटकों की सृष्टि करने लगे। किन्तु ये दोनों नाटककार भी मूलतः रोमैंटिक ही हैं।

हरिकृष्ण प्रेमी (१९०८) पर बचपन से ही राष्ट्रीयता का संस्कार था। वे गांधी जी की हिन्दू-मुस्लिम एकता को अपने नाटकों में चित्रित करते रहे। स्वर्ण विहान (१९३०), रक्षा बंधन (१९३४), पातालविजय (१९३६), प्रतिशोध (१९३७), शिवा-साधना (१९३७) आदि नाटकों की विषय-वस्तु हिन्दू-मुस्लिम एकता और राष्ट्रीयता से संबद्ध है।

शिवा-साधना की भूमिका में उन्होंने लिखा है—'पंजाब में ज्ञान-बाँसुरी और कर्म का शंख फूंकनेवाली बहिन कुमारी लज्जावती ने एक बार मुझसे कहा था कि हमारे भारतीय साहित्य में हिन्दुओं और मुसलमानों को एक दूसरे से दूर करने वाली पुस्तकें तो बहुत बढ़ रही हैं, उन्हें मिलाने का प्रयत्न बहुत थोड़े साहित्यकार कर रहे हैं। तुम्हें इस दिशा में प्रत्यत्न करना चाहिए। इसी लक्ष्य को सामने रखकर उन्होंने मुझे ऐतिहासिक नाटक लिखने का आदेश दिया।'

'रक्षाबंधन' में कर्मवती की राख को देखकर हुमायूं कहता है—'....महाराणा! बहन कर्मवती की चिता की यह आग मजहबी तअस्सुब की जलन पैदा न करे। सारे मुसलमान बुरे हैं, यह न समझना....मैं तो हिन्दुओं के कदमों में बैठकर मुहब्बत करना सीखना चाहता हूँ।'

मुसलमानों की राष्ट्रीयता को प्रायः संदिग्ध दृष्टि से देखा जाता रहा है। पर ऐसे मुसलमानों की कमी नहीं थी जो इस देश को अपना देश समझते थे। 'शिवा-साधना' के बाजी और 'प्रतिशोध' के बकी खाँ ऐसे ही पात्र हैं। बकी खाँ कहता है....'बुन्देलखंड क्या सिर्फ बुन्देलों का है? क्या यह जमीन सिर्फ हिन्दुओं को दाना-पानी देती है, हम मुसलमानों को नहीं? मजहब के नाम पर मुल्क के टुकड़े न करो सुजानसिंह। जिस मुल्क में हम पैदा हुए, जिसकी मिट्टी में हम खेले-कूदे, जिसके आबोदाना से हम पले, उसकी आजादी से क्या हमारा कोई ताल्लुक नहीं?'

प्रेमी के नाटकों की वस्तु-योजना प्रसाद की अपेक्षा अधिक ऋजु, शृंखलाबद्ध, गतिशील और रंगमंचोपयुक्त है, संवाद गठे हुए और अनलंकृत हैं। पात्र लेखक के आदर्शों के अनुरूप हैं। किंतु प्रसाद के नाटकों का औदात्य, जीवन की जटिलता, 'एक्सटेंडेड मेटाफर' प्रेमी के नाटकों में नहीं पाये जाते। फलतः प्रेमी के नाटक अपनी सपाटता में जीवंत नहीं बन पाये हैं।

लक्ष्मी नारायण मिश्र (१९०३), डी० एल० राय और प्रसाद की स्वच्छ-न्दतावादिता का विरोध करते हुए नाटक के क्षेत्र में आये। प्रसाद तथा अन्य रोमैंटिक साहित्यकारों ने बुद्धिवाद का विरोध किया था तो मिश्र जी ने अपने को स्पष्ट करते हुए कहा कि 'मैं बुद्धिवादी क्यों हूँ?' इस काल में लिखे प्रायः सभी नाटकों में रोमैंटिक प्रेम के विरोध में भारतीय विवाह-संस्कारों का समर्थन किया गया है। इस समस्या से संबद्ध नाटक हैं—संन्यासी, राक्षस का मंदिर, मुक्ति का रहस्य, राजयोग, सिन्दूर की होली और आधी रात।

बुद्धिवाद का दावा करने के बावजूद मिश्र जी शा और इब्सन के अर्थ में बुद्धिवादी नहीं हैं। शा रूढ़ि विध्वंसक नाटककार है। उसकी प्रसिद्धि इसलिए हुई कि उसने जनता को नैतिकता पर पुनर्विचार करने के लिए बाध्य किया। किन्तु रोमैंटिक प्रेम का विरोध करने पर भी मिश्र जी नैतिकता के संबंध में पुन-र्विचार करने के लिए बाध्य नहीं करते। बल्कि वे रूढ़ियों के समर्थन पर उतर आते हैं।

इब्सन ने एक स्थान पर कहा है कि यदि तुम विवाह करना चाहते हो तो प्रेम में मत पड़ो और यदि प्रेम करते हो तो प्रिय से अलग हो जाओ। मिश्र जी के 'संन्यासी' नाटक की मालती कहती है—'......और फिर विश्वकान्त प्रेम करने की चीज है....विवाह करने की नहीं। प्रेम किसी दिन की....किसी महीने की, किसी साल की घड़ी भर के लिए, जो चाहे जितना दुःख-सुख दे....उसमें जितनी बेचैनी हो....जितनी मस्ती हो....लेकिन वह ठहरता नहीं।' एक दूसरे स्थान पर रोमैंटिक प्रेम की व्याख्या करती हुई वह पुनः कहती है—'जिसे प्रेम करे

उसके सामने झुक जाना—बिलकुल मर जाना—उसकी एक-एक बात पर अपने को न्योछावर कर देना रोमैंटिक प्रेम होता है। हम लोग प्रेम नहीं करेंगे।' 'राक्षस का मंदिर' की ललिता का स्वर भी उससे भिन्न नहीं है। 'मुक्ति का रहस्य' की आशादेवी अंत में रोमांस-विरोधी रुख अपनाती है। 'सिन्दूर की होली' की मनोरमा आद्यन्त रोमांस-विरोधी बनी रहती है।

'सिन्दूर की होली' के दो पात्र मनोरमा और चन्द्रकान्ता एक-दूसरे के विरोधी हैं। मनोरमा वैधव्य का समर्थन करती है और चन्द्रकान्ता रोमैंटिक प्रेम का। मनोरमा का विधवा-विवाह का विरोध स्वयं बुद्धिवाद का विरोध करने लगता है और रोमैंटिक चन्द्रकान्ता का तर्क बुद्धिवादी हो जाता है।

रोमैंटिक भावुकता और यथार्थवादी बुद्धिवाद की टकराहट मिश्र जी के नाटकों में इस ढंग से चित्रित हुई है कि मिश्र जी भावुकता से मुक्त नहीं हो पाते। प्रायः सभी पात्रों में भावुकता लिपटी हुई है। मिश्र जी के व्यक्तित्व में ये दोनों तत्त्व पाये जाते हैं। वे भीतर से भावुक और बाहर से बुद्धिवादी हैं। भारतीयता के प्रति उनकी आस्था में भी विचित्र भावुकता का सन्निवेश हो गया है।

बुद्धिवादी रुख अपनाने के कारण मिश्र जी की भाषा प्रसाद की भाषा से भिन्न है। उसमें तर्क करने की अद्‌भुत क्षमता है। 'मुक्ति का रहस्य' में उन्होंने लिखा है—'शेक्सपियर के नाटकों के साथ जब प्रसाद के नाटक रखे जायँगे तब स्वगत की वही अतिरंजना, वही संवादों की काव्यमयी कृत्रिमता, मनोविज्ञान या लोकवृत्ति के अनुभव का वही अभाव, संघर्ष और द्वंद्व की वही आँधी....' कहना न होगा कि मिश्र जी उनसे बचने का प्रयास किया है। संवादों में स्फूर्ति, लघुता और तीव्रता का विशेष ध्यान रखा गया है। वाग्वैदग्ध्य, हाजिरजवाबी, तर्कपूर्ण उत्तर-प्रत्युत्तर आदि समस्या नाटकों की विशेषताएँ हैं। इसमें संदेह नहीं कि अपनी त्रुटियों के बावजूद मिश्र जी ने हिन्दी नाटकों को रूमानियत से बाहर निकालने का प्रयास किया है।

प्रसाद की 'कामना' के अतिरिक्त सुमित्रानन्दन पंत ने 'ज्योत्स्ना' अन्यापदेशिक नाटक लिखा। पंत की अपनी कविताओं की तरह ज्योत्स्ना भी कल्पना-प्रधान है। इसमें जड़ता से चैतन्य की ओर, शरीर से आत्मा की ओर, रूप से भाव की ओर ले जाने का उपक्रम किया गया है जो बुद्धि विलास बन कर रह जाता है। वस्तुतः कथानक से शून्य, क्रिया से विरहित, वायवीय ताने-बाने से बुना नाटक दार्शनिक उहापोहों में उलझ कर रह जाता है।

इस काल में कुछ गीतिनाट्य भी लिखे गए जिनमें मैथिलीशरण गुप्त का 'अनघ', हरिकृष्ण प्रेमी का 'स्वर्ण विहान', भगवती चरण वर्मा का 'तारा', उदयशंकर भट्ट के 'मत्स्यगंधा' और 'विश्वामित्र' आदि उल्लेखनीय हैं।

'अनघ' का रूप-शिल्प गीतिनाट्य का है, पर आत्मा संवादात्मक काव्य की। 'मुझे है इष्ट जन सेवा' से अनुप्राणित यह गीति नाट्य गाँधीवादी जीवन-दर्शन के स्थूल आदर्शों से आगे बढ़कर आन्तरिक संघर्षों के सूक्ष्म स्तर तक नहीं उतर पाता। भगवती चरण वर्मा के 'तारा' की समस्या उनके 'चित्रलेखा' उपन्यास की ही समस्या है। गीतिनाट्य का मूल प्रेरक तत्त्व अन्तर्द्वंद्व होता है जो इसमें आद्यन्त विद्यमान है। बृहस्पति निवृत्ति मार्गियों की भाँति वैभव, सुख, ऐश्वर्य और भोग को काल्पनिक और अस्थायी तथा वासना को अधःपतन का मूल बतलाते हैं। पर तारा के तर्क को सुनकर वे भी कहते हैं—'पुण्य शुष्क है, रसमय केवल पाप है।'

उदयशंकर भट्ट अपनी मूल्य-दृष्टि, काव्य-सौन्दर्य और नाटकीय तत्त्व के कारण विशिष्ट गीतिनाट्यकार हैं। मत्स्यगंधा, विश्वामित्र और राधा उनके गीतिनाट्य हैं। तीनों में ही यौवन और प्रेम को लेकर कथावस्तु का निर्माण किया गया है। मत्स्यगंधा, विश्वामित्र की मेनका और राधा तीनों पौराणिक सुन्दरियाँ हैं। पर मत्स्यगंधा का साध्य स्वयं यौवन है, मेनका यौवन और प्रेम का समन्वय करती है। किन्तु राधा प्रतिदान शून्य प्रेम की आकांक्षी है। संभवतः इनके माध्यम से नाटककार ने यौवन और प्रेम से संबद्ध एक दृष्टि की तलाश की है।

मत्स्यगंधा प्रकृति के उन्मुक्त प्रांगण में सद्यः आगत यौवन के शीतल स्पर्श से सिहर उठती है। पराशर के समझानें पर भी वह कन्यकात्व और अक्षय यौवन का वरदान प्राप्त कर लेती है। अंत में विधवा सत्यवती के रूप में उसका चिर-यौवन अभिशाप बन जाता है और वह व्यथा से व्याकुल होकर पुकार उठती है—

> डूबो नभ, डूबो रवि, डूबो शशि, तारिकाओ
> डूबो धरे, वेदना में मेरी ही युगान्त की।

'विश्वामित्र' में जीवन के निषेधात्मक और स्वीकृत्यात्मक मूल्यों का संघर्ष है। विश्वामित्र सांसारिक सुखोपभोग से विरक्त, आनन्द से विमुख कठोर तपस्या में संलग्न जीवन के निषेधात्मक मूल्यों के प्रतीक हैं और लौकिक सुख तथा आनन्द में विश्वास करने वाली मेनका जीवन के स्वीकृत्यात्मक मूल्यों की प्रतीक है। विश्वामित्र पुरुष के चरम अहंकार और रुक्ष विवेक-बुद्धि का प्रतिनिधित्व करते हैं और मेनका नारी की स्फूर्ति, ज्योतिर्मयता और कोमलता का।

'राधा' में उपर्युक्त द्वंद्वों का समाधान मिल जाता है। राधा उपचार निरपेक्ष और प्र तिदान शून्य प्रेम की प्रतीक है। उसमें न तो मत्स्यगंधा के अतृप्त यौवन

का संवेग है और न मेनका की अस्थिरता। राधा के गीतिमय व्यक्तित्व में भट्ट जी का कवित्व प्राणमय हो उठा है। उसके माध्यम से प्रेम में एक क्रमिक सघनता ले आने का प्रयास बहुत अच्छा बन पड़ा है। राधा का एक आवेगमय क्षण देखिए :—

> वे यहाँ हैं, वे वहाँ हैं, हृदय में, विश्वास बल में
> कुसुम कलियों में, लता में, वृक्ष में, सरिता लहर में
> गगन में, पाताल में, भूधर-धरा-जीवन-मरण में

मत्स्यगंधा की टेकनीक को कुछ हद तक इसमें भी अपनाया गया है, जैसे प्राकृतिक सेटिंग और कोरस। पर मत्स्यगंधा की अपेक्षा इसमें नाटकीय आरोह-अवरोह के क्षण कम हैं।

अन्य नाट्यकृतियों में अंबिकादत्त त्रिपाठी का 'सीय स्वयंवर नाटक', रामचरित उपाध्याय का 'देवी द्रौपदी', रामनरेश त्रिपाठी का 'सुभद्रा', परिपूर्णानन्द वर्मा का 'वीर अभिमन्यु नाटक', वियोगी हरि का 'प्रबुद्ध यामुन अथवा यामुनाचार्य चरित', जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी का 'तुलसीदास', प्रेमचन्द का 'कर्बला', जगन्नाथ प्रसाद मिलिन्द का 'प्रताप-प्रतिज्ञा', चतुरसेन शास्त्री का 'उत्सर्ग', विश्वंभर नाथ शर्मा कौशिक का 'हिन्दू विधवा नाटक', गोविन्दवल्लभ पंत का 'अंगूर की बेटी', यमुनादास मेहरा का 'हिन्दू कन्या', बेचनशर्मा उग्र का 'चुंबन' आदि उल्लेखनीय हैं।

इस काल के नाटकों का समग्र आकलन करने पर स्पष्ट दिखाई पड़ता है कि ऐतिहासिक-पौराणिक नाटक अधिक लिखे गए। इनके माध्यम से अतीत के गौरव की खोज करने के साथ-साथ राष्ट्रीय आन्दोलन को भी जोड़ा गया। कुछ नाटक ऐसे भी लिखे गए जिनमें स्वच्छन्दता-पूर्व की सुधारवादी प्रवृत्तियाँ मिलती हैं। किंतु अधिकांश नाटकों में वैयक्तिकता, जो इस युग की मुख्य विशेषता थी, चरमोत्कर्ष पर दिखाई पड़ती है।

प्रसाद के नाटकों में पात्रों को व्यक्तित्व मिला है। फिर भी वे नैतिकता की रूढ़िबद्धता को तोड़ नहीं पाते बल्कि रूमानी पवित्रता को उदात्तीकृत (ग्लोरीफाई) कर देते हैं। किंतु भगवती चरण वर्मा और उदयशंकर भट्ट के गीतिनाट्य रोमैंटिक नैतिकता पर चोट पहुँचाने लगते हैं। इसकी प्रतिध्वनि स्वच्छन्दतावादोत्तर कविताओं में मिलती है।

रंगमंच और भाषा की दृष्टि से नाटक क्रमशः यथार्थ की ओर बढ़ने का उपक्रम करते हुए दिखाई देते हैं। प्रसाद की काव्यात्मक भाषा को छोड़ कर प्रेमी और लक्ष्मी नारायण मिश्र ने सरल भाषा का प्रयोग किया। किंतु इनकी भाषा में प्रसाद की भाषा की नाटकीयता नहीं आ पाई।

उपन्यास

प्रेमचन्द (१८८०-१९३६ ई०) के साहित्य-जगत् में प्रवेश करने के साथ ही हिन्दी उपन्यास में एक नया मोड़ आता है। अभी तक हिन्दी उपन्यासों के पाठक तिलस्म, जासूसी और रोमांस की दुनिया की सैर कर रहे थे। यह दुनिया वास्तविक दुनिया से अलग स्वप्नलोक की दुनिया थी। प्रेमचन्द ने स्वयं लिखा है—'इन आख्यानों का उद्देश्य केवल मनोरंजन था और हमारे अद्भुत-रस-प्रेम की तृप्ति; साहित्य का जीवन से कोई लगाव है यह कल्पनातीत था।' उन्होंने अपने उपन्यासों के माध्यम से उस दुनिया का परिचय दिया जो हमारी जानी-पहचानी थी, हमारे जीवन से घनिष्ठ रूप से संबद्ध थी।

वे स्वच्छदन्तावादी युग में लिख रहे थे, पर अपनी साहित्यिक चेतना में सुधारवादी और राजनीतिक चेतना में गाँधीवादी थे। सुधारवादी चेतना के कारण वे सामाजिक सुधार-परिष्कार के पक्षपाती थे तो गाँधीवादी होने के कारण राजनीतिक उथल-पुथल के हिमायती। स्वाभाविक था कि उनके उपन्यासों में सामाजिक परिष्कार और राजनीतिक संघर्ष की स्थितियों का चित्रण होता। सामाजिक-राजनीतिक स्थितियों की एक समानान्तर दुनिया प्रेमचन्द के उपन्यासों में दिखाई देती है। पर बीच-बीच में स्वच्छन्दतावादी चेतना से भी प्रभावित होते रहते थे।

वे मध्यवर्ग में पैदा हुए थे। वे उस वर्ग के दर्द के भोक्ता-द्रष्टा दोनों थे। उनके चारों ओर निम्नवर्ग की गरीबी और उच्चवर्ग के शोषण की सुरंगें थीं। राष्ट्रीय कांग्रेस की तरह ही वे शोषण के खिलाफ थे। किसान-मजदूर शोषित थे तो पटवारी, पुलिस, महाजन, जमींदार आदि शोषक। किन्तु इनके बीच किसी वर्गजन्य संघर्ष की हिमायत उन्होंने नहीं की है। इससे समाज के बुनियादी ढाँचे में फर्क आता। इस परिवर्तन के लिए न गाँधीवादी कांग्रेस तैयार थी और न साहित्यकार और बुद्धिजीवी हृदय-परिवर्तन के आधार पर शोषण से नजात पाना चाहते थे।

प्रेमचन्द के समय में व्यक्ति समाज से जुड़ा हुआ उसका अनिवार्य अंग था। वह समाज की दुनिया में रहता था, उसकी अपनी कोई अलग दुनिया नहीं थी। समाज की व्यवस्था को दृढ़ बनाने के लिए वे उन बुराइयों का परिहार करना चाहते थे जो व्यवस्था को विकृत कर रही थी। उन्होंने अपने जीवन के बारे में लिखा है—'मेरा जीवन सपाट समतल मैदान है, जिसमें कहीं-कहीं गड्ढे तो हैं पर टीलों, पर्वतों, गहरी घाटियों और खंडहरों का स्थान नहीं है।' कहना न होगा कि उनके उपन्यास भी अपने विकास में प्रायः व्यवस्थित, समतल और बद्ध (क्लोज्ड) हैं।

'सेवासदन' (१९१८) उनका पहला हिन्दी उपन्यास है। इसके पहले १९०५ में एक छोटा उपन्यास 'प्रेमा' छप चुका था। पर उसका कथानक कहानी के अधिक निकट है। 'सेवासदन' भी पहले पहल 'बाजारे हुस्न' के नाम से १९१४ में उर्दू में प्रकाशित हो चुका था। उसी का हिन्दी अनुवाद 'सेवासदन' है।

'सेवासदन' की समस्या क्या है? कुछ लोग इसमें दहेज प्रथा का चित्रण देखते हैं तो कुछ लोग वेश्या जीवन की समस्या का। वस्तुतः इसमें मध्यवर्गीय परिवार के विघटन की समस्या है। प्रेमचन्द ने विघटन का निदान किया है। और निदान के अनुसार दवा का समुचित (?) विधान भी किया है।

मध्यवर्ग की वित्तीय स्थिति अत्यन्त डाँवाडोल होती है। यह उसकी आर्थिक समस्या है। कुल-मर्यादा की झूठी शान उसकी नैतिक मर्यादा है। दारोगा कृष्णचन्द के परिवार का विघटन इन दो कारणों से होता है। दहेज न देने के कारण कन्या का विवाह एक अधेड़ दुहाजू से करना पड़ता है। यदि कुल-मर्यादा पर ध्यान न दिया जाता तो संभव है अधेड़ दुहाजू से विवाह करने की नौबत न आती।

किन्तु विघटन की जिम्मेदारियाँ कन्या सुमन और उसके परिवार पर कम नहीं हैं। उसे गृहिणी बनने की शिक्षा नहीं मिली थी। जो शिक्षा मिली थी वह आनन्द-भोग की शिक्षा थी। संतोष देने वाली धर्म-शिक्षा भी वह नहीं प्राप्त कर सकी थी। मध्यवर्गीय स्त्री होने के कारण वह अर्थाभाव से तो पीड़ित थी ही, समाज में भी उसे आदर का स्थान नहीं प्राप्त था। इन स्त्रियों के मुकाबले वेश्या कहीं अधिक संपन्न और आदरणीय थी। सुमन वेश्या हो जाती है।

वेश्यावृत्ति के क्या कारण हैं? इसे वकील पद्मसिंह समझाते हैं—'यह हमारी ही कुवासनाएँ हैं। हमारे ही सामाजिक अत्याचार, हमारी ही कुप्रथाएँ हैं, जिन्होंने वेश्याओं का रूप धारण किया। यह दालमंडी हमारे ही कलुषित जीवन का प्रतिबिंब, हमारे ही पैशाचिक अधर्म का साक्षात् स्वरूप है........' इस प्रथा का दायित्व अनमेल विवाह, दहेज प्रथा, घूस, नजराना आदि सामाजिक बुराइयों पर तो है किन्तु घरेलू वातावरण, धार्मिक शिक्षा की कमी पर भी कम नहीं है।

पारिवारिक विघटन को केन्द्रीय विषय-वस्तु बनाते हुए प्रेमचन्द ने पंडित और मौलवी की दुमुहीं नैतिकता पर कड़ा व्यंग्य किया है, उदारतावादी लोगों की खिल्ली उड़ाई है, हिन्दू-मुस्लिम साम्प्रदायिकता का प्रश्न उठाया है, जाति-धर्म संबंधी भावुकता का उपहास किया है।

'सेवासदन' का प्रारंभिक वाक्य है—'पश्चात्ताप के कड़वे फल कभी न कभी सभी को चखने पड़ते हैं, लेकिन और लोग बुराइयों पर पछताते हैं दारोगा कृष्ण-

चन्द अपनी भलाइयों पर पछता रहे थे।' सेवासदन में पश्चात्ताप की लंबी श्रृंखला है। दारोगा कृष्णचन्द आत्महत्या कर लेते हैं, पद्मसिंह वकील वेश्याओं के उद्धार में लग जाते हैं। सदन सिंह सुमन की बहन शान्ता से विवाह कर लेता है। सुमन का पति गजाधर साधु हो जाता है। सुमन अपने साधु पति की कुटी में जाकर सेवासदन की स्थापना करती है।

सुमन वेश्या होकर भी शारीरिक दृष्टि से पवित्र रहती है। सदन के प्रति उसका प्रेम 'मानस पुण्य होहिं नहीं पापा' का उदाहरण है। यह प्रेमचन्द का आदर्शवाद है। समाज विकृतियों का वे दो समाधान देते हैं—सेवासदन की स्थापना और स्वस्थ विवाह। कहना न होगा कि 'सेवासदन' की समस्याएँ जितनी स्थूल हैं उनका हल उनसे ज्यादा स्थूल है। 'सेवासदन' की समस्याएँ प्रेमचन्द के पूर्ववर्ती उपन्यासों में वर्णित अनमेल विवाह, दहेज प्रथा आदि के ही मेल में हैं। प्रेमचन्द ने इन्हें अधिक विश्वसनीय और तर्कसम्मत बनाया है।

'प्रेमाश्रम' (१९२२) की कथावस्तु 'सेवासदन' से भिन्न है। किन्तु आश्रम की स्थापना दोनों में होती है—एक में 'सेवासदन' है तो दूसरे में 'प्रेमाश्रम'। सेवासदन का कार्य सामाजिक कुप्रथाओं को दूर कर समाज और परिवार को व्यवस्थित करना है तो प्रेमाश्रम में प्रेम के माध्यम से हृदय परिवर्तन द्वारा समाज की आर्थिक विषमताओं को हटाकर रामराज्य की स्थापना करना है। सेवासदन पर आर्यसमाज का प्रभाव है तो प्रेमाश्रम पर गाँधीवाद का।

महात्मा गाँधी की कार्य-प्रणाली, दर्शन और व्यक्तित्व में आज जो भी खामियाँ ढूँढ़ निकाली जायँ पर वे अपने देश की परम्परा को युगानुरूप मोड़ देने वाले सर्वाधिक शक्तिशाली और मान्य व्यक्ति थे। उनका सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य था देश की सामान्य जनता में इस विश्वास को दृढ़ करना कि वह अंग्रेजी साम्राज्यवाद तथा उसके पोषक जमींदारों, देशी राजाओं और पूंजीपतियों के विरुद्ध लड़ सकती है।

'प्रेमाश्रम' के किसान जमींदारों की बेगारी, धौंस, इजाफा, अत्याचार के विरुद्ध तन कर खड़े हैं। 'यहाँ कोई दबैल नहीं है। जब कौड़ी-कौड़ी लगान चुकाते हैं तो धौंस क्यों सहें।' 'एक-एक के सिर तोड़ के रख दूँ।' 'मियाँ हमारी गर्मी पाँच-पाँच रूपल्ली के चपरासियों के मान की नहीं, जाओ अपने साहब बहादुर के जूते सीधे करो, जो तुम्हारा काम है। हमारी गर्मी के फेर में न पड़ो, नहीं तो हाथ जल जायँगे—।' सन् १९२१ के किसान आन्दोलन की प्रतिध्वनियों को उन उद्धरणों में सुना जा सकता है।

इस जाग्रत चेतना को दबाने के लिए जमींदार और पुलिस दोनों एक हो गए। लखनपुर गाँव पर कहर ढाया जाने लगा। मुकदमे चले, लोगों को जेल

भेजा गया, गाँव वालों के बर्तन-भाड़े तक बिक गए। प्रेमचन्द ने इस दमन-चक्र का यथार्थ चित्रण किया है।

किसानों के सामने कोई स्पष्ट लक्ष्य नहीं था। वे अपने किसी बुनियादी अधिकार के लिए नहीं, बल्कि जमींदारों के जुल्म के विरुद्ध लड़ रहे थे। इस लड़ाई को कुछ लोग (तथाकथित नए लोग) भारतीय साम्यवाद की संज्ञा देते हैं। इन प्रबुद्धों (!) को यह भी नहीं मालूम कि साम्यवाद भारतीय-अभारतीय नहीं होता है वह सिर्फ साम्यवाद होता है। वस्तुतः किसान-आन्दोलन की यह लक्ष्य-हीनता १९२१ के किसान-आन्दोलन में ही थी। नेहरू ने 'मेरी कहानी' में लिखा है—'इस तरह हम चलते रहे—अस्पष्टता से, किंतु उत्कटता के साथ, और हम अपने कार्य में सुध-बुध भूले हुए थे। मगर लक्ष्य के बारे में स्पष्ट विचार का बिल्कुल अभाव था।'

किसी निश्चित उद्देश्य के अभाव में किसान-आन्दोलन का धधक कर रह जाना स्वाभाविक था। इस स्थिति से आगे न बढ़ने देने का श्रेय बहुत कुछ गाँधी-वादी जमींदार प्रेमशंकर को है। किन्तु प्रेमशंकर की कल्पना, कल्पना होने के कारण यथार्थ से अलग हो जाती है। किसानों के आन्दोलन में अन्तर्विरोध अपेक्षाकृत कम है। किन्तु जमींदार तबके में अन्तर्विरोध अधिक दिखाई पड़ते हैं। किसान एक ओर अत्याचार का विरोध करता है तो दूसरी ओर भीरु भी है, एक ओर वह भाग्यवादी है तो दूसरी ओर कर्मवादी पर वह अन्याय के विरोध और भाग्यवाद के विरुद्ध कर्मवाद की ओर उन्मुख हो चुका है। जमींदार तबके में सिद्धान्त और व्यवहार का अन्तर्विरोध दिखाई पड़ता है। किन्तु हृदय-परिवर्तन के सिद्धान्त के कारण अन्तर्विरोधों का शमन हो जाता है। प्रेमशंकर के प्रभाव से लोगों में रासायनिक परिवर्तन होने लगता है। प्रेमशंकर स्वयं जमींदारी से अपना हक छोड़ देता है। ज्ञानशंकर जैसे हिंस्र पशु का पुत्र मायाशंकर भी प्रेमशंकर का अनुसरण करता है। खूनी डाक्टर प्रियानाथ, अत्याचारी थानेदार दयाशंकर आदि अपना स्वभाव छोड़कर 'प्रेमाश्रम' में बागवानी करने लगते हैं। कुछ साधु बन जाते हैं और कुछ तीर्थ-यात्री। गाँव में रामराज्य स्थापित हो जाता है। इस कृत्रिम आदर्शवाद के कारण प्रेमाश्रम का पूर्वार्ध एक उपन्यास हो जाता है तो उत्तरार्ध दूसरा। दोनों के बीच कोई संबंध-सूत्र स्थापित नहीं हो पाता।

'रंगभूमि' (१९२४) में सर्वहारा और पूंजीपति के बीच सीधा संघर्ष चित्रित है। पूंजीपति वर्ग के सहायक हैं जमींदार और पुलिस। प्रेमाश्रम में संघर्ष तो था पर उसका कोई केन्द्रीय विन्दु नहीं था। महात्मा गाँधी देश के औद्योगीकरण के विरुद्ध थे। वे इस विशाल जनसंख्या वाले देश के लिए कुटीर उद्योग को

हितकारी समझते थे। इससे बेरोजगारी की समस्या हल होती है और औद्योगीकरण जन्य अमानवीय परिवेश भी नहीं उत्पन्न होता। 'रंगभूमि' की मूलवर्तिनी कथा औद्योगीकरण के विरोध को ही लेकर चलती है।

'गोदान' की अपेक्षा 'रंगभूमि' का फलक अधिक व्यापक और संघर्ष-धर्मी है। इसका कथासूत्र बनारस से लेकर राजस्थान तक व्याप्त है। अपने समय की विविध घटनाओं, धर्मों, जातियों, वर्गों के समावेश के कारण यह युग के अनेक आयामों को सहज में समाविष्ट कर लेता है। सूरदास जैसे निरीह पात्र में आत्मिक बल की ऊर्जा भर कर प्रेमचन्द ने इस उपन्यास को गाँधीवादी जीवन-दर्शन का महाकाव्यात्मक उपन्यास (एपिक नावेल) बना दिया है।

पांडेपुर गाँव में सूरदास के पास दस बीघा जमीन है। उस जमीन पर जान सेवक सिगरेट का कारखाना खोलना चाहता है। वह जानता था कि कारखाना स्थापित हुआ नहीं कि गाँव की सहकारिता, निश्छलता, सादगी आदि समाप्त हो जायगी। उसने जमीन देने से इन्कार कर दिया। किंतु उसकी सारी अडिगता फरियाद के बावजूद निकल गई और कारखाना भी स्थापित हो गया।

किंतु पूँजीवादी व्यवस्था का चक्र पेचीदा होता है। अब पांडेपुर गाँव को खाली कराने की बात आयी। अन्य लोगों ने गाँव खाली कर दिया। पर सूरदास अपनी झोपड़ी छोड़ने को तैयार न था। सशस्त्र पुलिस झोपड़ी गिराने पर अमादा थी। उधर पुलिस का विरोध करने के लिए जनसमुद्र उमड़ रहा था। गोली चली और अनेकानेक लोग हताहत हुए। सिपाहियों ने गोली चलाने से इन्कार कर दिया। गोरखा फौज बुलाई गई। सूरदास डर गया कि कहीं और लोग न मारे जायँ। उसने इस अन्याय के विरुद्ध अकेले ही लड़ने का निश्चय किया। वह भीड़ को संबोधित करते हुए कहता है—'आप लोग मेरी सहायता करने नहीं आये हैं। हाकिमों के मन में, पुलिस के मन में जो दया और धरम का खयाल आता, उसे आप लोगों ने जमा होकर क्रोध बना दिया है। मैं हाकिमों को दिखा देता कि एक दीन अंधा आदमी एक फौज को कैसे पीछे हटा देता है, तोप का मुँह कैसे बन्द कर देता है, तलवार की धार कैसे मोड़ देता है। मैं धरम के बल पर लड़ना चाहता था—' पर सूरदास क्लार्क की गोली से शहीद हो गया। सूरदास के इस निर्णय पर चौराचौरी कांड के कारण के लिए महात्मा गाँधी के उस निर्णय का स्पष्ट प्रभाव है जिससे सामूहिक सत्याग्रह स्थगित कर दिया गया था। फिर भी व्यक्तिगत सत्याग्रह की छूट थी। सूरदास इसी व्यक्तिगत सत्याग्रह का शिकार हुआ।

सूरदास की इस आधिकारिक कथा के साथ-साथ विनय और सोफिया की प्रासंगिक कथा भी चलती है। इसके आधार पर प्रेमचन्द रियासती समस्याओं

का भी समावेश कर लेते हैं। इसके माध्यम से सामंतीय जीवन के अन्तर्विरोधों, अंग्रेजी साम्राज्यवाद की पकड़, विनय के ढुलमुल व्यक्तित्व आदि को एक प्रकार से किसान-मजदूरों के विरोध में खड़ा किया गया है। सोफिया भी यथार्थ न बनकर छायावादी प्रेमिका की तरह भावनालोक में निवास करती है। यह प्रासंगिक कथा आधिकारिक कथा का अनिवार्य अंग नहीं बन पाती।

'रंगभूमि' प्रेमचन्द के औपन्यासिक दृष्टिकोण में एक बदलाव की सूचना देती है। यद्यपि इसमें भी असत् पक्ष को दंड मिलता है फिर भी यह ट्रेजिडी बनी रहती है। सूरदास की प्रतिष्ठित मूर्ति गिरा दी जाती है और इस तरह से एक शहीद का अपमान होता है। मूर्ति के पैरों में घाव के निशान पड़ जाते हैं और चेहरा विकृत हो जाता है। अपने उपन्यासों में प्रेमचन्द ने पहली बार प्रतीक का प्रयोग किया है। गिरी हुई मूर्ति के नीचे दबकर सामंतवादी महेन्द्र कुमार की मृत्यु हो जाती है। पैरों के घाव और विकृत चेहरे का प्रतीकात्मक अर्थ है। सूरदास मानवीय संस्कृति के प्रतीक हैं। पूंजीवाद के रहते पैरों का घाव और चेहरे का विकार दूर नहीं हो सकता। महेन्द्र की मृत्यु का अर्थ भी प्रतीकात्मक है। सूरदास के बलिदान से सामंतवाद की तो मृत्यु हुई पर पूंजीवाद का प्रतीक जान सेवक जीवित था। क्या वह सूरदास की मूर्ति को नहीं गिराएगा? संभव है उसका हृदय परिवर्तित हो जाय।

पर 'कायाकल्प' (१९२६) में महेन्द्रकुमार फिर जिन्दा हो गए हैं। रियासतों का माहौल फिर उभर आया है। किन्तु इस माहौल के बीच देवप्रिया के अलौकिक और अतिरंजनापूर्ण प्रसंग अनावश्यक रूप से विस्तृत और अविश्वसनीय हो गए हैं। हिमालय में रहने वाले महात्मा के चमत्कार अद्भुत हैं। वे पूर्वजन्म की स्मृतियों को ताजा बना देते हैं और वृद्धा को तरुणी में बदल देते हैं, प्रेमीयुगल यान पर बैठकर नक्षत्रलोक की सैर करते हैं। यह सब क्या है? हो सकता है प्रेमचन्द को इन अलौकिकताओं पर विश्वास रहा हो। इन्हीं विश्वासों को उन्होंने 'कायाकल्प' में उतार दिया है। इस उपन्यास को क्या कहा जाय? क्या यह उपन्यास है? संभव है पुनर्जन्म पर कुछ लोगों का विश्वास हो। किन्तु कुछ लोगों के ऐकांतिक विश्वास अधिकांश लोगों के विश्वास नहीं हो सकते। इसलिए मेरे विचार से 'कायाकल्प' प्रेमचन्द के उपन्यासों में क्षेपक प्रकरण है।

देवप्रिया प्रसंग को किसी प्रकार फैंटेसी माना जा सकता है। परन्तु हिन्दू-मुस्लिम समस्याओं और रियासती संघर्षों को फैंटेसी के साथ कैसे जोड़ा जाय? हिमालय की कंदरा में स्थित आश्चर्यचकित करने वाले वैज्ञानिक योग के तिलस्म के साथ उन्हें कैसे समन्वित किया जाय? देवप्रिया-प्रसंग फैंटेसी न होकर 'फैंटास्टिक' है। प्रेमचन्द की प्रकृति के विरुद्ध रियासती संघर्ष अत्यन्त दुर्बल और

क्षीण है। विशालदेव सिंह का राज्य पाकर बदल जाना स्वाभाविक है पर चक्रधर का बदलाव प्रेमचन्द की नीयत पर ही आक्रमण करता है। उसका वैराग्य आश्चर्यचकित कर देता है। उसके वैराग्य से जनता का मनोबल ही विरागी हो उठता है। यथास्थिति का समर्थन क्यों? देवप्रिया यदि मुख्य क्षेपक है तो रियासती प्रसंग द्वितीय क्षेपक। यदि पूरे उपन्यास को प्रेम-दर्शन का विश्लेषण माना जाय तो भी कोई नवीनता नहीं मिलती। प्रेम-प्रसंग में इसी धारणा को पुष्ट किया गया है कि वासनारहित प्रेम ही प्रेम है। क्या इसे रामदास गौड़ के संसर्ग का फल माना जाय या स्वयं प्रेमचन्द का कायाकल्प। लेकिन प्रेमचन्द को तो कोई रियासत नहीं मिली थी। यह भी हो सकता है कि यह पहले लिखा हो और उन्होंने तिलस्म परम्परा को यौगिक-वैज्ञानिक रूप दिया हो। यों यौगिक चमत्कारों को वैज्ञानिक बनाने की कोशिश तो इसमें है ही।

'कायाकल्प' के बाद 'ग़बन' (१९३०) का प्रकाशन प्रेमचन्द की उपन्यास-यात्रा की अगली मंजिल है। इस बीच उन्होंने दो लघु उपन्यास—निर्मला और प्रतिज्ञा—लिखे। ये उपन्यास सेवासदन, प्रतिज्ञा और वरदान की परम्परा में पड़ते हैं। निर्मला में जो लोग 'मानवीय स्वाधीनता' और 'त्रासदी' देखते हैं वे लोग धन्य हैं। उनके पास न तो ऐतिहासिक दृष्टि है और न वे शब्दों का ठीक अर्थ ही समझते हैं। 'मानवीय स्वाधीनता' अस्तित्ववादी यथार्थ के रूप में अभी हाल में प्रयुक्त होने लगा है। नैतिक संघर्ष के अभाव में यह झलक भी नहीं है। यह सीधे अनमेल विवाह की समस्या है जो भारतेंदु के जमाने से शुरू होकर थोड़ा-बहुत छायावाद काल तक चलती रही। त्रास की जगह यह करुणा पैदा करती है। प्रतिज्ञा प्रेम का ही नया रूप है।

'ग़बन' में मध्यवर्गीय कमजोरियों को बुनियादी तौर पर उद्घाटित किया गया है। यों तो प्रेमचन्द के प्रायः सभी उपन्यास मध्यवर्ग की समस्याओं को कमोवेश रूप में चित्रित करते हैं। पर किसी में सामाजिक कुप्रथाओं का प्राधान्य हो गया है तो किसी में आर्थिक-राजनीतिक संकटों का। 'ग़बन' में उन्होंने इस वर्ग की मज्जागत कमजोरियों को सामने लाकर उसे नंगा कर दिया है। यह वर्ग अपने खोखलेपन को बाहरी टीमटाम, प्रदर्शन आदि से आवृत्त करने की चेष्टा करता है। वह जो कुछ नहीं है उसी को सिद्ध करता है कि है। वह जो कुछ है उसे वह कहता है कि नहीं है। रमानाथ इस प्रकार का टिपिकल पात्र है।

रमानाथ खुद में एक स्थिति (सिचुएशन) है और वह बराबर उसी में स्थित है। उसे पार करने की शक्ति उसमें नहीं है। स्थितियों की लंबी शृंखला में बँधा हुआ रमानाथ यथार्थ और विश्वसनीय लगता है। जालपा स्वयं में एक स्थिति है जिसमें रमानाथ तब तक स्थित रहता है जब तक वह स्वयं नहीं बदल

जाती। इस बदलाव के लिए रमानाथ उस स्थिति का हो जाता है। किन्तु वह उसे पार कर जाती है। इसके पहले प्रेमचन्द की नारियाँ अपनी-अपनी स्थितियों में कैद हैं किन्तु जालपा इस कैद को लाँघ जाती है। पर जालपा का बदलना इस तरह का बदलना होता है कि उसे पहचानना किंचित् मुश्किल हो जाता है।

इस उपन्यास में कथानक का संयोजन अन्य उपन्यासों की अपेक्षा अधिक गठा हुआ है क्योंकि इसकी केन्द्रीय विषय-वस्तु एक है—मध्यवर्ग की कमजोरी पर कलकत्ते का कथा-चक्र उतना सहज नहीं लगता। अपने अन्य उपन्यासों की तरह उसे भी प्रेमचन्द आदर्शोन्मुखी बना देते हैं। देवीदीन खटिक के उद्गार उसे भावनापरक (सेंटीमेंटल) तथा जालपा का प्रभाव वहाँ की समस्त घटनाओं को मेलोड्रेमेटिक बना देता है।

'कर्मभूमि' (१९३२) का सीधा संबंध गाँधी-ईर्विन समझौते से है। प्रेमाश्रम, रंगभूमि की तरह कर्मभूमि में भी पराधीनता, दमन, बेदखली, अंग्रेजों के अत्याचार के विरुद्ध जनता का संघर्ष चित्रित किया गया है। पर सारे संघर्षों का अन्त समझौतावाद में हो जाता है। अन्य पात्रों की बात जाने दीजिए। अमरकान्त जो वकील प्रेमचन्द कर्मभूमि का आदर्श पात्र है, काफी ढुलमुल और घोर समझौतावादी है। उसकी दृष्टि में किसानों की समस्या का हल समझौतावाद है। वस्तुतः यह उस समय के नेतृत्व का प्रतिनिधित्व करता है। यह हल न तो राजनीति में ही लोगों को संगत लगा था और न उपन्यास में ही संगत प्रतीत होता है।

इस समझौते का उल्लेख करते हुए जवाहरलाल ने 'मेरी कहानी' में लिखा है—'क्या इसीलिए हमारे लोगों ने एक साल तक अपनी बहादुरी दिखाई। क्या हमारी बड़ी-बड़ी जोरदार बातों और कामों का खात्मा इसी तरह होना था?.... इस तरह के विचारों में डूबा हुआ मैं मार्च की उस रात भर पड़ा रहा और अपने दिल में ऐसी शून्यता महसूस करने लगा कि मानों उसमें से कोई कीमती चीज़ सदा के लिए......'

'गोदान' (१९३६) प्रेमचन्द का अंतिम और सर्वश्रेष्ठ उपन्यास है। इसमें प्रेमचन्द के जीवनानुभव और कलात्मक जगत् का सार है। इसकी देहली पर खड़े होकर प्रेमचन्द ने स्वयं और अपनी रचनाओं तथा उनमें वर्णित संघर्षों तथा आदर्शों को ढहते हुए देखा और अपने को मोहभंग की स्थिति में पाया।

अभी तक प्रेमचन्द पुरानी व्यवस्था में ही सुधार-परिष्कार के पक्ष में थे। छोटे-मोटे आन्दोलन, संस्थाएँ, आदर्शवादी व्यक्ति व्यवस्था में परिवर्तन ले आ सकते थे। इसे अनेक कहानी-उपन्यास में देखा जा सकता है। 'बड़े घर की बेटी' में संयुक्त परिवार की आदर्श गृहस्थी को बेटी टूटने नहीं देती। 'पंच

परमेश्वर' की पंचायत दूध का दूध पानी का पानी करती है। वे इस पंचायत, पारस्परिक संबंध, ग्रामीण संस्कृति की रक्षा रंगभूमि में करते हैं। दहेज प्रथा, महाजनी सभ्यता, अनमेल विवाह, पुलिस-जमींदार के अत्याचार की चर्चा वे प्रायः अपने उपन्यासों में करते रहे हैं। पर उन्हें विश्वास था कि हृदय परिवर्तन या व्यक्ति-बलिदान से व्यवस्था में कोई-न-कोई अच्छा परिवर्तन आयेगा।

'गोदान' में पूर्ववर्ती उपन्यासों और अनेक कहानियों की समस्याएँ ली गई हैं। इसमें पंच परमेश्वर, बड़े घर की बेटी, घासवाली, पूस की रात कहानियाँ हैं। पंच परमेश्वर का पंच है पर वह परमेश्वर नहीं रह गया है। पूस की रात इसमें सुरक्षित है। उपन्यासों के गाँव वही हैं, परिस्थितियाँ ऊपर-ऊपर से वही हैं। किन्तु उन्हें देखने का परिप्रेक्ष्य बदल गया है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि 'गोदान' में प्रेमचन्द ने अपनी कृतियों का पुनरीक्षण और नवीन संयोजन किया है।

अब किसान पहले का किसान नहीं रह गया है और न जमींदार पहले का जमींदार है। दोनों चालाक हो गए हैं। न किसान आन्दोलन करता है और न जमींदार सीधे अत्याचार। दोनों एक व्यवस्था में रह रहे हैं। व्यवस्था का विरोध कोई नहीं करता। फिर भी, ऐतिहासिक कारणों से व्यवस्था ह्रासोन्मुखी है। प्रेमचन्द ने पूर्ववर्ती उपन्यासों की तरह गाँव की रीति-नीति, आचार-विचार को बचाने की कोशिश नहीं की है। होरी भी धरम और मरजाद की रक्षा में अपनी आहुति देता है। लेकिन न धरम बचता है न मरजाद। घर की मर्यादा नष्ट हो जाती है, रूपा को दुहाजू के हाथ बेच देने से धर्म भी खत्म हो जाता है।

जिस महाजनी सभ्यता की प्रेमचन्द ने अपने एक लेख में चर्चा की है वह 'गोदान' में सर्वत्र व्याप्त है। किसान समाज महाजनों से घिरा है। जमींदारों का शोषण उतना भयावह नहीं था जितना महाजनों का जहरीला शोषण। लाला परमेश्वरी और पुरोहित दातादीन के ऋण प्लेग के कीटाणु की तरह घातक थे। दुलारी आना रुपया ब्याज लेती थी। झिंगुरी सिंह एक साल का ब्याज पेशगी काटकर रुपया देते थे। महाजनों के शिकंजे में किसान वर्ग दिन प्रतिदिन कसता जा रहा था। बिरादरी की आचार-संहिता अलग थी। उस संहिता का पालन न करने पर बिरादरी दंड की कठोर व्यवस्था करती थी।

महाजनी सभ्यता का ही दूसरा रूप पूंजीवादी सभ्यता है। प्रजातंत्र भी इसके जाल में फँसा हुआ है। मिर्जा खुर्शेद कहते हैं—'जिसे हम डिमोक्रेसी कहते हैं, वह व्यवहार में बड़े-बड़े जमींदारों और व्यापारियों का राज्य है और कुछ नहीं। चुनाव में वही बाजी ले जाता है, जिसके पास रुपए हैं।' पूंजीवादियों के चक्कर में फँसी काँग्रेस पर फबतियाँ कसते हुए प्रेमचन्द लिखते हैं—'अगर आज सभी अंग्रेज

अफसरों की जगह हिन्दुस्तानी हो जायँ तब भी स्वराज्य उतनी ही दूर रहेंगे, जितने इस वक्त हैं।' स्वराज्य प्राप्त करने के दो दशक बाद क्या हम स्वराज्य के निकट आ पाए हैं ?

गोबर-झुनिया और मतई-सिलिया का विवाह अन्तर्जातीय विवाह की दिशा में एक कदम जरूर है। पर लात खाकर भी झुनिया को गोबर के साथ और अपमानित होकर भी सिलिया का मतई के साथ संबंध निभाना है। यह अपनी भारतीय परंपरा का आदर्श है।

गाँव का मंच यथार्थवादी है। होरी, गोबर, मातादीन, दातादीन, अलगू, मंगरू, धनिया, सिलिया, झुनिया, सहुआइन सभी सही ढंग से अपनी भूमिका अदा करते हैं। महाजनी सभ्यता का दबाव, किसान जीवन का मजदूर जीवन में परिणति, गोबर के रूप में कई पीढ़ी का व्यवस्था-विरोधी अभियान आदि स्मरणीय दृश्य प्रभावी ढंग से उभरते हैं। किंतु गाँव के यथार्थवादी मंच के साथ शहर का भी एक मंच है जो पारसी थिएटर की याद दिलाता है। इन दोनों में कोई तालमेल नहीं बैठ पाता है। इस असंगति की ओर लक्ष्य करके नन्ददुलारे वाजपेयी ने लिखा है—'उपन्यास के नागरिक और ग्रामीण पात्र एक बड़े मकान के दो खंडों में रहने वाले दो परिवारों के समान हैं, जिनका एक-दूसरे के जीवन-क्रम में बहुत कम संपर्क है। वे कभी आते-जाते मिल लेते हैं और कभी-कभी किसी बात पर झगड़ा भी कर लेते हैं, परन्तु न तो उनके मिलने और न झगड़ने में ही कोई ऐसा संबंध स्थापित होता है, जिसे स्थायी कहा जा सके।'

ऊपर कहा गया है कि शहर का मंच पारसी मंच है, जिसपर धमा-चौकड़ी, शोर-शरापा की अतिरंजनाएँ अधिक दिखाई पड़ती हैं। इसका एक परदा सेमरी गाँव में उठता है जहाँ सभी शहरी एकत्र हैं। ओंकार की दुर्गति में अनोखा दृश्य है, प्रो० मेहता का स्वाँग अद्भुत है। फिर तो लाख कोशिश करने पर भी वे फिलासफर की मुद्रा नहीं धारण कर पाते। दूसरा पर्दा नगर में खुलता है—वीमेंस लीग में मेहता का भाषण हो रहा है, कबड्डी हो रही है, मेहता-मालती रोमांस हो रहा है। सब कुछ मेलोड्रामा हो जाता है। फिर भी इन्हीं खोखले बौद्धिकों में प्रेमचन्द विगत गुणों के मूल्य सुरक्षित रखते हैं। शहरी कथा विगत मूल्यों के संरक्षण में झूठी हो जाती है।

प्रश्न उठता है कि तब गोदान में क्या है जो उसे हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ उपन्यासों में परिगणित कराता है ? इसमें भी तो किसान की ही कथा है जो समसामयिक ही कही जायगी। वह कौन-सी वस्तु है जो समसामयिकता को पार कर जाती है। वह है मानवीय संवेदना की तीखी अनुभूति। बीस आने का गोदान

देकर होरी मर जाता है पर अपनी विवशताओं, गरीबी और अकेलेपन में जीवित बच जाता है।

प्रेमचन्द पहले उपन्यासकार हैं जिन्होंने हिन्दी उपन्यासों को साहित्यिक उपन्यासों का दर्जा दिया। फिर भी गोदान के पूर्ववर्ती उपन्यासों का ऐतिहासिक महत्त्व ही शेष रहेगा। अपनी खामियों के बावजूद गोदान भारतीय किसानों के उत्पीड़न का ही दस्तावेज नहीं है बल्कि मानवीय संवेदना को भी वह गहरे और घने अर्थ में उजागर करता है। इसलिए उसका साहित्यिक महत्त्व उतना ही है जितना किसी भी अन्य महत्त्वपूर्ण उपन्यास का हो सकता है।

प्रेमचन्द के पात्र प्रायः चरित्र नहीं बन सके हैं। टाइप होने के कारण उनमें व्यक्तित्व की कमी दिखाई पड़ती है। इसीलिए जब कभी उन्हें मनोगतियों का चित्रण करना पड़ा है वे सतह पर ही ठिठक गए हैं। किन्तु व्यक्तित्व प्रदान करने के प्रारंभिक पुरस्कर्ता वे ही ठहराये जायँगे।

प्रेमचन्द की भाषा कथा के सर्वथा उपयुक्त है। पर वर्णनों-विवरणों के अनावश्यक विस्तार के कारण उनमें मुखरता अधिक आ गई है। सांकेतिकता की कमी भाषा को रचनात्मक नहीं होने देती। फिर भी कथा-कहने की क्षमता उसमें खूब है।

प्रेमचन्द ने अपनी कमजोरियों के बावजूद हिन्दी-साहित्य को बहुत कुछ दिया है। उनका पहला महत्त्वपूर्ण कार्य यह है कि उनके कारण हिन्दी उपन्यासों को साहित्यिक उपन्यासों की श्रेणी प्राप्त हुई। उनके पूर्व के उपन्यासों में पात्र तो होते थे पर वे चरित्र नहीं बन सके थे। प्रेमचन्द ने अपने औपन्यासिक पात्रों को व्यक्तित्व दिया। टाइप होने पर भी पात्रों में व्यक्तित्व दिखाई पड़ता है। यद्यपि प्रेमचन्द अपने उपन्यासों की भाषा को रचनात्मक नहीं बना सके हैं, उनमें फिजूल के वर्णन-विवरण की भरमार है, फिर भी भाषा में कथन या नरेशन की क्षमता भरने का कार्य पहले पहल उन्होंने ही किया।

जयशंकर प्रसाद के 'कंकाल' (१९२९) को प्रेमचन्द के उपन्यासों का प्रतिपक्ष कहा जा सकता है। प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों में समाज के बहिर्जीवन—आन्दोलनों, हलचलों, आर्थिक-नैतिक विकृतियों—को चित्रित किया है। गोदान को छोड़कर अन्य उपन्यासों में समाज सुधार के लिए किसी-न-किसी संस्था की स्थापना कराई गई है। पर प्रसाद का मिजाज प्रेमचन्द से भिन्न था। प्रसाद स्वच्छन्दतावादी होने के कारण व्यक्तिवाद के पक्षधर थे तो प्रेमचन्द समष्टिवाद के। इस बुनियादी अन्तर को 'कंकाल' में देखा जा सकता है।

प्रेमचन्द का सम्बन्ध समाज की दृश्यमान व्यवस्था से था जब कि रोमैंटिक व्यक्तियों का सम्बन्ध उस आन्तरिकता से था जो भीतर की वास्तविकता को

अन्वेक्षित करती है। 'कंकाल' में उस समस्त धार्मिक व्यवस्थाओं, संस्थाओं पर आक्रमण किया गया है जो ऊपर-ऊपर से साफ-सुथरी तथा भीतर-भीतर से सड़ी हुई हैं, जो निहित स्वार्थियों के शोषण में योग देती हैं जो व्यक्ति को उसके सहज धर्म से वंचित कर उसका शिकार करती हैं।

'कंकाल' की कथा के केन्द्र हैं प्रयाग, काशी, हरद्वार, मथुरा, वृन्दावन आदि तीर्थस्थान। धर्म के पर्दे के पीछे स्थिर स्वार्थियों को मनमानी करने की खुली छूट है। मठों, मंदिरों, तीर्थस्थानों के महात्माओं और ईसाई धर्मगुरुओं की पोल खोलकर धार्मिक संस्थानों पर गहरा व्यंग्य करना 'कंकाल' का एक उद्देश्य है। गोस्वामी कृष्णशरण समाज सुधार के लिए किसी संस्थान की स्थापना में रुचि नहीं लेते। समाज कल्याण के लिए स्थापित 'धर्मसंघ' के संबंध में भी निरंजन कहता है—'इसमें मैंने बड़ा ढोंग पाया।'

'कंकाल' के प्रतिपाद्य और जवाहरलाल नेहरू के 'मेरी कहानी' में अभिव्यक्त धर्म संबंधी मत में विचित्र समानता है—'मुझे तो लगभग हमेशा यही मालूम हुआ कि अन्धविश्वास, प्रगतिविरोध, जड़ (प्रमाण रहित) सिद्धान्त और कट्टरपन, अंध श्रद्धा और शोषण नीति और (न्याय अथवा अन्याय से) स्थापित स्वार्थों के संरक्षण का ही नाम 'धर्म' है। मगर यह भी मुझे अच्छी तरह मालूम है कि धर्म में और भी कुछ है, उसमें कुछ ऐसी चीज भी है जो मनुष्यों की गहरी आन्तरिक आकांक्षा भी पूरा करती है......'

वस्तुतः कंकाल में धर्म द्वारा संस्थापित स्वार्थों का पर्दाफाश तथा व्यक्ति की आन्तरिक आकांक्षा की प्रतिष्ठा की गई है। समाज के स्थापित स्वार्थ ने व्यक्ति को स्वतंत्र रूप से जीने के अधिकार से वंचित कर दिया है। प्रसाद को यह मान्य नहीं है। पाप का दायित्व समाज के कठघरे को है। व्यक्ति समाज द्वारा निर्धारित पाप-चक्र-परम्परा से छुटकारा नहीं पाता।

प्रेमचन्द ने बाह्य कुल मर्यादा पर चोट की है तो प्रसाद ने आन्तरिक कुंठाओं पर। कंकाल के सभी पात्र जारज संतानें हैं। घंटी, तारा, विजय जैसे व्यक्तिवादी पात्रों के साथ प्रसाद की पूरी सहानुभूति है। विजय जैसे विद्रोही पात्र के कंकाल की जिम्मेदारी समाज पर है।

प्रसाद का दूसरा उपन्यास 'तितली' (१९३४) सामान्यतः आदर्शवादी और 'कंकाल' यथार्थवादी कहा जाता है। पर दोनों में एकसूत्रता खोजी जा सकती है। 'कंकाल' में धर्म का कंकाल है तो तितली में उसकी आन्तरिकता। इस आन्तरिकता को प्रसाद ने भारतीय परम्परा से जोड़ा है। प्रेमचन्द की भाँति 'तितली' में भी ढहती हुई सामंतवादी, सम्मिलित कौटुंबिक प्रणाली की विकृतियाँ, ग्राम-सुधार आदि के परिवेश में मुख्य पात्रों को रखा गया है। किन्तु ये

समस्याएँ गौण हैं मुख्य हैं भारतीय जीवन-दृष्टि से लेकर चलने वाली तितली और पाश्चात्य जीवन दृष्टि की अनुगामिनी शैला की टकराहट। इस टकराहट में प्रसाद भारतीय नारी के जीवन-दर्शन की विजय दिखलाते हैं।

तितली कामायनी की श्रद्धा है जो शैला से कहती है 'तुम धर्म के बाहरी आवरण में अपने को ढँक कर हिन्दू स्त्री बन गई हो तो सही किन्तु उसकी संस्कृति की मूल शिक्षा भूल रही हो। हिन्दू स्त्री का श्रद्धापूर्ण समर्पण उसकी साधना का प्राण है।' श्रद्धापूर्ण समर्पण हिन्दू नारी की अनिवार्यता है। कम-से-कम छाया-वाद काल तक इस मान्यता के प्रति एक आस्था बनी रही। तितली नए युग के अनुरूप, छायावाद युग के अनुरूप, व्यक्तित्व-प्राण नारी है जो न किसी की दया की आकांक्षिणी है और न सहायता की। किन्तु परम्परा के अनुरूप वह श्रद्धा-पूर्ण आत्मसमर्पण की अनुगत है। आज के बुद्धिवादी युग में इसे अतीत के प्रति रोमैंटिक भावना के अतिरिक्त और क्या कहा जायगा ?

शैला का हठ आधुनिक युग के अधिक अनुकूल है। वह इन्द्रदेव की विवाहिता होकर भी उसे श्रद्धापूर्ण समर्पण नहीं कर पाती। वह वाटसन और इन्द्रदेव के बीच भटकती रहती है। वह जिस रूप में है उस रूप में स्नेह करने के लिए उसे कोई तैयार नहीं है। लोग कुछ-न-कुछ आवरण चाहते हैं। यह भटकाव, अकेलापन इसलिए है कि अद्वैतता स्थापित नहीं कर पाती। आर्थिक, सामाजिक और संस्कार की दृष्टि से वह भिन्न है। इनके न रहने पर भी क्या भटकाव बंद हो जायगा ? क्या वह एक मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया नहीं है ? पर प्रसाद ने श्रद्धा-पूर्ण आत्मसमर्पण के नुस्खे द्वारा शैला को बदल दिया है। शैला का बदलाव बुद्धि-संगत न होकर एक परम्परा के प्रति रोमानी लगाव के कारण ही संगत प्रतीत होता है। इस समाधान से अलग हटकर भी इस समस्या का स्वतंत्र महत्त्व है।

प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों में वर्गगत (टाइप) पात्रों की सृष्टि की तो प्रसाद ने व्यक्ति पात्रों की। कंकाल में उन्होंने वैयक्तिकता का समर्थन किया था। 'तितली' के धामपुर का सुधार समूह द्वारा न होकर अलग-अलग व्यक्तियों द्वारा होता है। इसे कोई छायावादी प्रवृत्ति या भारतीय आत्मवाद चाहे जो नाम दे सकता है।

प्रेमचन्द के बाद इस युग के दूसरे महत्त्वपूर्ण उपन्यासकार हैं जैनेन्द्र (१९०५)। दोनों की अपनी-अपनी दिशाएँ अपनी-अपनी राहें हैं। प्रेमचन्द बाहर के परि-वर्तनों और आन्दोलनों को उपन्यासों में बाँध रहे थे तो जैनेन्द्र भीतर की हलचल और परिवर्तनों को। पहले ने समाज की समस्या ली है तो दूसरे ने व्यक्ति की। सच्चे अर्थ में स्वच्छन्तावादी युग की उपज जैनेन्द्र ही हैं। इसलिए उनके उप-न्यासों में स्थूल सामाजिक नैतिक संघर्ष के स्थान पर सूक्ष्म नैतिक संघर्ष और

जटिल मानसिकता मिलती है। इस तरह की विषय-वस्तु लेकर लघु उपन्यास ही लिखे जा सकते थे और जैनेन्द्र के सभी उपन्यास छोटे हैं।

उन्होंने बहुत से उपन्यासों की रचना की है—परख, सुनीता, त्यागपत्र, कल्याणी, सुखदा, विवर्त, व्यतीत, जयवर्धन, मुक्तिबोध आदि। परख १९२९ में प्रकाशित हुआ। इस समय तक स्वच्छन्दतावाद एक दशक पार कर चुका था। 'सुनीता' १९३५ में और 'त्यागपत्र' १९३७ में प्रकाशित हुए। इसके बाद छायावाद यानी ३७-३८ के बाद स्वच्छन्दतावाद या छायावाद समाप्त हो जाता है। क्या छायावादी कवियों की तरह जैनेन्द्र भी इसी समय समाप्त नहीं हो जाते? क्या परवर्ती उपन्यास पूर्ववर्ती जैनेन्द्र के एक्सटेंशन नहीं हैं?

छायावादी कवियों की तरह जैनेन्द्र का प्रेम भी अशरीरी और प्लेटानिक है। छायावादी काव्य की भाँति जैनेन्द्र के उपन्यासों में भी जिज्ञासा, विस्मय और रहस्य की झिलमिली ज्योति मिलेगी। छायावादी कवियों ने परम्परा-भुक्त छंद के बंध को तोड़ा तो जैनेन्द्र परंपरा-भुक्त औपन्यासिक रूप बंध को। छायावादी लंबी कविताओं और प्रबंधकाव्यों की तरह जैनेन्द्र के उपन्यासों में घटनाओं की कमी है, अन्तर्द्वन्द्व की प्रधानता है।

फ्रायड, गाँधीवाद और छायावादी युग-चेतना की पूरी छाप जैनेन्द्र के उपन्यासों पर है। 'परख' में प्रेम का उन्नयन है। किन्तु यह प्रेम किशोर-भावुकता पर आधारित है। यथार्थ—भौतिक प्रलोभन—के धक्के से उसका टूट जाना स्वाभाविक है। लेकिन एक भावुकता को छोड़कर जैनेन्द्र दूसरी भावुकता पर पहुँच जाते हैं। सत्यधन-गरिमा के मुकाबले जिस बिहारी और कट्टो को रखा गया है वे और भी अधिक रोमानी हैं।

सत्यधन के प्रति कट्टो की निष्ठा को देखकर बिहारी के भीतर कुछ उठा—'इसी क्षण भीतर कुछ उठा और बिहारी के शरीर और आत्मा को एक रंग में रंग गया। परमात्मा ने हम दोनों को साथ ला दिया है—अब दोनों धाराएँ एक होकर बहेंगी, उनका कुछ और काम न होगा।—बिहारी एक क्षण इस लोकोत्तर भावना के प्रबल प्रस्फुटन में आत्मसात् हो गया।' यह गाँधीवादी दर्शन की आत्मा की आवाज है। इस आवाज के आधार पर बिहारी अपने को नई दिशा देता है।

'सुनीता' में रोमैंटिक प्रेम को यथार्थ की भूमिका देने का प्रयत्न किया गया है। कट्टो की अपेक्षा सुनीता कहीं अधिक पढ़ी-लिखी और सुसंस्कृत है। इसमें वास्तविकता और वैलक्षण्य का जो संघर्ष है वह इसे परख से अलग कर देता है। यह संघर्ष इसकी प्रासंगिकता को धार देता है—समसामयिकता की प्रासंगिकता को और कलागत प्रासंगिकता को।

अभी तक संयुक्त परिवार को सुरक्षित रखने पर बल दिया जाता रहा है।

प्रेमचन्द्र ने पुराने मूल्यों के आधार पर पारिवारिक विघटन को रोकने की कोशिश की है। पर पढ़े-लिखे परिवारों की एक और समस्या थी—जड़ता और एकरसता की। यह समस्या बाह्य न होकर आन्तरिक है। मध्यवर्गीय परिवार में यह समस्या आज भी बनी हुई है। पति-पत्नी में संवाद की स्थिति तक नहीं रह जाती। यह संवादहीनता किसी आर्थिक समस्या के कारण नहीं उत्पन्न होती और न किसी नैतिक समस्या के कारण। यह बँधे हुए जीवन की वजह से उत्पन्न होती है, बाहरी जीवन से असंबद्ध होने से उत्पन्न होती है। यह एक मनोवैज्ञानिक समस्या है।

श्रीकांत घर की एकरसता को तोड़ना चाहता है। वह घर में हरिप्रसन्न को ले जाता है। हरिप्रसन्न क्रान्तिकारी है। उसके व्यक्तित्व में अजीब तरह का रहस्य, रोमांच और कुतूहल है। सुनीता और श्रीकान्त दोनों उसके अबूझ व्यक्तित्व से आकृष्ट हैं। हरिप्रसन्न को श्रीकान्त के घर में जो दुनिया मिलती है वह उसे भी आन्दोलित करती है। इस आन्दोलन और हलचल के माध्यम से जैनेन्द्र ने रचनात्मक प्रक्रिया पर भी प्रकाश डाला है। हरिप्रसन्न की बनाई हुई तस्वीर—क्रुसीफिकशन की तस्वीर—उनकी जिन्दगी के साथ-साथ आधुनिक जिन्दगी को भी प्रतीकित करती है। किंतु श्रीकांत का हरिप्रसन्न को, जड़ता तोड़ने के लिए, ले आना, अमनोवैज्ञानिक है। क्या कोई पति इस सीमा तक अपनी पत्नी को छूट दे सकता है? क्या इससे परिवार टूट जाने का खतरा नहीं है?

'त्यागपत्र' जैनेन्द्र का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण उपन्यास है। परख की परिसमाप्ति विवाह में होती है, सुनीता में वैवाहिक जीवन को गत्यात्मक बनाने की समस्या है। पर त्यागपत्र की समस्या विवाह से ही शुरू होती है। अपने रूपविन्यास में भी पूर्ववर्ती उपन्यासों से भिन्न है। यह एक प्रकार का 'मेम्वायर' या 'कान्फेशनल' उपन्यास है। इसकी शुरुआत समस्या से होती है—'नई भाई पाप-पुण्य की समीक्षा मुझसे नहीं होगी।'

स्पष्ट है कि पाप-पुण्य के बीच विभाजक रेखा खींचना कठिन है। छायावाद युग के पूर्व पाप-पुण्य के खाने बने हुऐ थे। समाज के भीतर व्यक्ति का प्रवेश स्थिर मान्यताओं के आगे प्रश्न लगाने लगा।

प्रेमचन्द के उपन्यासों में मध्यवर्गीय प्रतिष्ठा समस्या के रूप में आई, फिर भी उस वर्ग ने उस घेरे में ही रहने का प्रयास किया। त्यागपत्र में भी यह घेरा है। मृणाल को आर्यगृहिणी के ढाँचे में ढालने की कोशिश की गई, कड़े अनुशासन में रखा गया, उसकी स्वतंत्रता पर अंकुश लगाया गया। पर मृणाल की वैयक्तिकता इस घेरे में नहीं रह सकी।

इस घेरे को वह सहसा नहीं तोड़ती। उसे तोड़ने की जटिल मानसिक प्रक्रिया से गुजरना पड़ता है।

'वह मुझे अब उपदेश नहीं देतीं, बल्कि अपनी छाती से लगाकर जाने पार कहाँ देखने लगती है।'

'वे शाम के वक्त छत पर खटोला डाले ऊपर उड़ती हुई चीलों को ही चुपचाप देख रही हैं। कभी पतंग के पेंच देखती है, और कटी हुई पतंग पर, जब तक ओझल न हो जाय, आँख गाड़े रहती हैं। और नहीं तो खटोले पर पेट के बल लेट कर कोयले से धरती पर कीरम काँटे ही खींचती हैं।'

'जाने पार कहाँ देखती हैं'—बदली हुई मनोवृत्ति का सूचक है—इस पार के प्रति उदासी, विक्षोभ, किंकर्त्तव्यविमूढ़ता आदि वृत्तियों का व्यंजक !

दूसरे उद्धरण में चील, पतंग के पेंच, कीरम काँटे आदि उलझनपूर्ण तथा घनीभूत मनःस्थिति के प्रतीक हैं। 'जाह्नवी' कहानी में प्रतीक के साथ जाह्नवी भी मुख्य हो जाती है। किन्तु यहाँ प्रतीक मुखर हैं और वाणी मौन।

प्रमोद से वह इतना ही कहती है—'मैं चिड़िया होना चाहती हूँ।' यह मात्र उन्मुक्त कामना नहीं है बल्कि यह वाक्य उस घेरे को भी उजागर करता है जिसके बाहर जाना कठिन है।

मृणाल अनमेल विवाह की बेड़ी में जकड़ दी जाती है, क्योंकि वह शीला के भाई के घर जाती थी। ससुराल से घर आती है और उसकी बँधी हुई निगाहें उत्तर माँगती हैं—'मैं कुछ चाहती हूँ, पर अरे कोई बतायेगा कि क्या ?' इससे उसका व्यक्तित्व समग्रता में उभर आता है। न तो उसे मालूम पड़ा कि वह क्या चाहती है और न कोई बताने वाला ही मिला। इसलिए वह एक रहस्य से दूसरे रहस्य में भटकती रहती है।

किंतु वह जिस व्यवस्था के पार जाना चाहती है उसे तोड़ने की आकांक्षा उसमें नहीं है। उल्टे वह व्यवस्था का समर्थन करती है जब कि व्यवस्था उसे तोड़ती है। 'मैं समाज को तोड़ना-फोड़ना नहीं चाहती हूँ। समाज टूटी कि हम किसके भीतर बनेंगे ? यह कि किसके भीतर बिगड़ेंगे ? इसलिए इतना ही कह सकती हूँ कि समाज से अलग होकर उसकी मंगलाकांक्षा में खुद ही टूटती रहूँ।' यह विसंगति क्यों ? वह समाज की यथास्थिति क्यों कायम रखना चाहती है ? फिर अपने टूटने का क्या अर्थ है ? क्या अपने टूटकर समाज का हृदय परिवर्तन करना चाहती है ?

कोयले वाले के पास जाकर वह तन की कथित पवित्रता तो खो देती है। तन देना ऐसी वस्तु नहीं है जो मानवीय दृष्टि से मूल्यवान मानी जाय। करुणा, कृतज्ञता बड़े मानवीय मूल्य हैं। इससे वह आभिजात्य को धक्का देती है। आभिजात्यवादी आचारवादियों को यह नहीं सुहाया और इसे लेकर प्रायः मृणाल पर आक्रमण किए गए। स्पष्ट है कि मृणाल ने कुछ तोड़ा जरूर। लेकिन जब मृणाल

अपने दुर्भाग्य को दर्शन बनाकर झेलने लगती है तो वह आत्मनिर्वासन, अकेलापन और निस्सहायता की ओर ले जाता है। वह एक जगह से दूसरी जगह भटकती रहती है। समाज से निर्वासित होकर वह छोटे और असभ्य लोगों में इन्सानियत की तलाश करने लगती है। इस तरह वह सभ्यता के आवरण को हटाकर उसे नंगा करती है।

मृणाल दयाल की बुआ है। दयाल व्यवस्था जीवी प्राणी है। वह बुआ की मौत के बाद बदलने लगता है। बुआ की मौत--मौत नहीं, मौत तक चलने की पूरी प्रक्रिया--से वह आहत होता है। उपन्यास का चौथा और आठवाँ अध्याय जो अंतिम अध्याय भी है, दयाल के उस जीवन-दर्शन की भी अभिव्यक्ति करता है जो उसे प्राप्त हुआ है। ज्यादा अच्छा हो कि कहा जाय कि जिसका उसने साक्षात्कार किया है। चौथा अध्याय सोच-विचार का मध्यान्तर है और आठवाँ पटाक्षेप और परिणति। अंतिम अध्याय के आरम्भ में वे लिखते हैं—'घटनाएँ होती हैं, होकर चली जाती हैं। हम जीते हैं और जीते-जीते एक रोज मर जाते हैं। जीना किस हौसले से आरम्भ करते हैं। पर उस जीवन के इस किनारे आते-आते कैसी ऊब, कैसी उकताहट जी में भर जाती है। मैं इस लीला पर, इस प्रहेलिका पर सोचता रह जाता हूँ। कुछ पार नहीं मिलता, कुछ भेद नहीं पाता।' ये कुछ ऐसे सवाल हैं जो अस्तित्ववादी वास्तविकता को उजागर करते हैं। फिर समुद्र—तरंगायित समुद्र का रूपक—

दयाल किनारे खड़ा है। मृणाल समुद्र में तैर रही है—उसके आगे समुद्र पड़ा है, उसे पार करना है। वह किनारे लौट नहीं सकती। दयाल अथाह समुद्र में कूद नहीं सकता। अन्त में वह संन्यास ले लेता है। दयाल का वैराग्य ले लेना रोमैंटिक मनोवृत्ति है जिसकी चरम परिणति इसी में होती है। किन्तु क्या यह मृणाल के संघर्ष की विफलता नहीं है? इससे एक व्यंजना और होती है। व्यवस्थित मनुष्य व्यवस्था को छोड़ तो सकता है उसे तोड़ नहीं सकता। एक व्यवस्था को छोड़कर दूसरी व्यवस्था की शरण लेना एक ही बात है। किनारे खड़े व्यक्ति से इससे अधिक आशा नहीं की जा सकती। दयाल का संन्यास लेना दूसरी व्यवस्था में जा पहुँचना है।

मृणाल दयाल को इस समुद्र में कूदने से मना करती है। वह कूदती है इसलिए कि अपने को तोड़ सकती है—आत्मपीड़ा के माध्यम से। यह आत्मपीड़ा उसकी अपनी चुनी हुई है। इसलिए उसकी जिम्मेदारी भी उसी की है। इस पर फ्रायड का प्रभाव तो है ही अपनी परंपरा और परिवेश का भी है।

मृणाल भारतीय परम्परा को सुरक्षित भी रखना चाहती है और अपने व्यक्तिगत जीवन में उसे तोड़ती भी है। भारतीय परम्परा में नारी की जो

स्थिति रही है वह प्रसाद के शब्दों में 'श्रद्धापूर्ण आत्मसमर्पण' के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। केवल आत्मसमर्पण एक विवशता है। इसमें भी उसे टूटना है और इसके बाहर भी उसे टूटना है। मृणाल मानती है कि समाज को बदला नहीं जा सकता। उससे समझौता न होने पर टूटना नियति हो जाता है। यह टूटना गाँधीवादी हृदय परिवर्तन के अनुकूल है। मृणाल स्वयं टूट कर क्या समाज की व्यवस्था को अनजाने ही क्षतिग्रस्त नहीं करती ?

कल्याणी (१९४०) में पति-पत्नी के बीच आर्थिक समस्या आ खड़ी होती है। इस समस्या के फलस्वरूप परम्परागत मान्यताओं का एक सीमा तक टूटना स्वाभाविक है। जहाँ बाहरी दबाव हमें बदलने के लिए बाध्य करता है वहाँ हमारे संस्कार बदलाव को रोकते हैं। कल्याणी के पति का यही द्वंद्व है। पर इस द्वंद्व का शिकार होती है कल्याणी। कल्याणी डाक्टरी करके भी कर नहीं पाती क्योंकि पुरुष उसे करने नहीं देता। कल्याणी डाक्टरी छोड़कर भी छोड़ने नहीं पाती क्योंकि पुरुष उसे छोड़ने नहीं देता। कल्याणी मृणाल की तरह चुन नहीं सकती। वह पति से कहती है—'दोनों में एक मुझे चुन कर दे दो। पातिव्रत्य या डाक्टरी।' किंतु अपनी आर्थिक सुरक्षा के लिए पति डाक्टर पत्नी से डाक्टरी कराने के लिए बाध्य है। लेकिन वह पत्नी को पातिव्रत्य की रूढ़ियों से भी ग्रस्त रखना चाहता है। कल्याणी उन्मादग्रस्त और विक्षिप्त हो उठती है। कल्याणी की ट्रेजिडी में प्रसाद की 'तितली' का सा 'जो है उसे स्वीकारो' वाला दर्शन नहीं है। यह प्रसाद और जैनेन्द्र का अपना अन्तर भी है और दो परिवेश का भी है। इन दबावों में कल्याणी आत्मविमुक्त होकर अलगाव का बोध करती है। यह बोध विक्षिप्तता में परिणत हो जाता है। कल्याणी में बदलते हुए समाज के ऐतिहासिक बोध को देखा जा सकता है। व्यक्ति के न चाहते हुए भी ऐतिहासिक विकास की प्रक्रिया बदलाव ले आकर ही रहेगी। उसकी गति को न समझने वाले व्यक्ति को टूटना ही होगा।

वैयक्तिकता के अतिरिक्त छायावादी या स्वच्छन्दतावादी युग की दूसरी प्रमुख विशेषता रही है अतीत के प्रति रागोन्मुखता। प्रसाद के काव्य-नाटक में इसे देखा जा सकता है। इस रागोन्मुखता की अभिव्यक्ति किशोरीलाल गोस्वामी के ऐतिहासिक उपन्यासों में हो चुकी थी। पर उनके उपन्यास कल्पना-विलास अधिक हैं। इस दिशा में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प्रयास वृन्दावनलाल वर्मा का है।

वृन्दावनलाल वर्मा (१८८९-१९७१) ने अपने ऐतिहासिक उपन्यासों की विषय-वस्तु का चुनाव मध्यकाल से किया। प्रसाद की 'इरावती' की भाँति उन्होंने प्राचीन भारत से कथावस्तु नहीं ग्रहण की। इसके दो मुख्य कारण प्रतीत

होते हैं—एक तो यह कि मध्यकाल की रूमानियत वर्मा जी की मानसिक वृत्ति के अधिक अनुकूल पड़ी, दूसरा यह कि वे जिस क्षेत्र (बुंदेलखण्ड) में रहते थे वह क्षेत्र मध्यकालीन शौर्य के कारण ही विख्यात है। इस क्षेत्र और उसके इतिहास से उनका अधिक लगाव होना स्वाभाविक था।

बुंदेलखंड के नदी-नाले, छोटे-बड़े दुर्ग और उनके भग्नावशेष, हरी-भरी तथा खल्वाट पहाड़ियाँ, ऊँची-नीची असम जमीन, भव्य वीरानगी अपने आप में रोमैंटिक हैं। वर्मा जी ने उन्हें निकट से देखा है, उनसे संबद्ध वृत्तों का आधिकारिक अध्ययन किया है, लोक-प्रचलित अनुश्रुतियों और किंवदन्तियों का जीवंत परिचय प्राप्त किया है। इस परिवेश से जिस एक रोमानी चेतना का प्रादुर्भाव हुआ उसे वर्मा जी ने अपने उपन्यासों में पुनर्जीवित करने का प्रयास किया है।

कुंडलीचक्र, अमरबेल और अचल मेरा कोई जैसे कुछेक सामाजिक उपन्यासों को छोड़कर गढ़कुंडार, विराटा की पद्मिनी, झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई, मुसाहिबजू, कचनार, मृगनयनी, भुवन विक्रम, माधव जी सिंधिया आदि ऐतिहासिक उपन्यास हैं। गढ़कुंडार, विराटा की पद्मिनी आदि उपन्यास ऐतिहासिक रोमांस हैं—प्रेम रोमांस कहना अधिक संगत है। बुंदेलों की आन-बान, शौर्य-पराक्रम आदि के बारे में भी रोमैंटिक दृष्टिकोण ही अपनाया गया है। 'झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई' के परिवेश निर्माण तथा वर्णन में सजीवता होने पर भी यह बहुत कुछ ऐतिहासिक डाकुमेंट्री हो गया है। मृगनयनी उनका सर्वश्रेष्ठ ऐतिहासिक उपन्यास है। इसमें न तो गढ़कुंडार की तरह मात्र रोमांचकता (थ्रिल) है और न विराटा की पद्मिनी की तरह भावुकतापूर्ण और रहस्यमयी प्रेमगाथा। 'झाँसी की रानी' की तरह इसे इतिवृत्तात्मक भी नहीं बनाया गया है। इसका रोमांस अपेक्षाकृत अधिक संयमपूर्ण और नैतिक है।

ऐतिहासिक वृत्त के अलावा इस उपन्यास में जनश्रुतियों, किंवदन्तियों तथा कल्पना का ऐसा मिश्रण किया गया है कि इसमें अपेक्षित संतुलन आ गया है। इस सन्तुलन का केन्द्रवर्ती पात्र मृगनयनी है। वह लोक जीवन और सामंतीय जीवन को मिलाती है, और साहित्य, संगीत और कला का प्रवर्धन और उन्नयन करती है, मानसिंह को शृंगार और वीरता में प्रशिक्षित करती है। देशप्रेम का स्वर भी इसमें कम मुखर नहीं है।

मानसिंह तोमर के समस्त क्रिया-कलापों की मूल प्रेरक शक्ति मृगनयनी ही है। यों वह स्वयं में वीर, कलाप्रिय और प्रजावत्सल है। फिर भी मानसिंह की समस्त योजनाओं पर मृगनयनी के सौन्दर्य और संयम की छाप है। वर्मा जी के अन्य उपन्यासों में रोमांस की प्रधानता है तो इसमें उसके साथ सांस्कृतिक जीवन की झाँकियाँ भी सन्निविष्ट हो गई हैं।

इस स्वच्छन्दतावादी युग में मध्यकालीन ऐतिहासिक वृत्त को लेकर भी जड़-रूढ़ियों को तोड़ा गया है। मृगनयनी और मानसिंह का विवाह स्वयं में ही जड़ता पर प्रहार और प्रगतिशीलता का सूचक है। पुजारी की अनुमति न मिलने पर भी लाखी-अटल का अन्तर्जातीय विवाह हो जाता है। प्रेमचन्द वैवाहिक जीवन के सुधारवादी पक्ष तक ही सीमित थे। प्रसाद ने इन्द्रदेव और शैला का विवाह कराया है। किंतु उसमें भी धार्मिकता को अजीब प्रश्रय दिया गया है। लेकिन यहाँ पर पुरोहित की अनुज्ञा के विरुद्ध प्रेम-विवाह होता है इसे रोमैंटिसिज्म का अगला कदम कहा जा सकता है।

मृगनयनी के चरित्रों में व्यक्तित्व की अद्‌भुत गरिमा है। अपने कर्तव्य, प्रेम, पारिवारिक संबंधों के प्रति अचूक निष्ठा है। मृगनयनी की अपेक्षा लाखी अधिक रोमैंटिक है। पर मृगनयनी अधिक महत्त्वाकांक्षिणी तथा स्वप्नदर्शी है। वह सोचती है—'जहाँ भी रहें इस प्यारी नदी की दमकती सी कल्लोलिनी धारा को अपने पास में रखूं। बाहर जाऊँ तो क्या इसको बाँधकर समेटकर नहीं ले जाया जा सकता......पहाड़ों की ऊँचाइयाँ एक स्थल पर क्यों न इकट्ठा कर लूं? बड़े-बड़े पेड़ों के बन्दनवार वना लिए जायँ और डालियों पत्रों के साजों के झरोखे....'

अंग्रेजी के प्रसिद्ध उपन्यासकार स्काट की तरह वर्मा जी के उपन्यासों में अतीत को स्वच्छन्दतावादी कल्पना द्वारा पुनः सर्जित किया गया है। उनमें मानवीय संवेगों के विविध रूपों, करुणा, दया, साहस आदि के जीवंत चित्र मिलेंगे। मध्यकालीन जीवन मूल्यों के प्रति जगह-जगह जो झुकाव दिखाई पड़ता है वह स्वच्छन्दतावादी युग के सर्वथा अनुरूप है। उपन्यासों के विन्यास में नियति, साहस, आश्चर्य आदि का पर्याप्त योग है। वर्मा जी के औपन्यासिक विन्यास में कल्पना का समुचित योग है। उन्होंने नए पात्र और नई स्थितियों को अन्वेषित किया है। इतिहास की परिकल्पना नई न होते हुए भी गत्यात्मक है और उपन्यास की परिकल्पना नाटकीय। उनके पात्रों, बदलते हुए दृश्यों में गति है, दृश्यमानता है। उनके पात्र अपनी भूमिका का उचित निर्वाह करते हैं पर वर्मा जी उनकी गहरी मनोवैज्ञानिकता में नहीं उतर सके हैं। यहाँ पर वे परवर्ती ऐतिहासिक उपन्यासकारों से अलग हो जाते हैं। अपनी सारी ऐतिहासिकता के बावजूद वे वास्तविक इतिहास के निर्माता सामान्य मनुष्यों को नहीं विस्मृत कर सके हैं।

वृन्दावनलाल वर्मा की तरह चतुरसेन शास्त्री (१८८८-१९६०) मुख्यतः स्वच्छन्दतावाद काल के ही उपन्यासकार हैं, यद्यपि वे भी वर्मा जी की तरह ही २०वीं शताब्दी के ५वें दशक तक लिखते रहे हैं। व्यभिचार, हृदय की प्यास, अमर अभिलाषा, आत्मदाह आदि प्रारंभिक उपन्यासों में विकृत प्रेम और विधवा-

विवाह की समस्या को ही चित्रित किया गया है। पर उनकी कीर्ति का आधार 'वैशाली की नगरवधू' (१९४८) है। इसके बाद भी उनके अनेक उपन्यास प्रकाशित हुए—पूर्णाहुति, रक्त की प्यास, अपराजिता, वयं रक्षामः (दो भाग), सोमनाथ, आलमगीर आदि।

'वैशाली की नगरवधू' की आत्मा रोमैंटिक है। नगरवधू अंबपाली की वैयक्तिकता के विरोध में पड़ने वाले गणतंत्र के विधि-नियम के बीच चलने वाले संघर्ष को लेकर ही इस उपन्यास को बुना गया है। इस महत्त्वाकांक्षापूर्ण उपन्यास में गांधार से लेकर मगध अंग तक के सामाजिक-सांस्कृतिक-राजनीतिक आन्दोलनों, स्थितियों, पर्यावरणों आदि को समाविष्ट करने के कारण बुनावट में त्रुटियाँ आई हैं। पर गणतंत्रों की विलास-लीला तथा अनैतिकता को उभाड़ पाने में इसे सफलता मिली है।

स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति अपनी स्वतंत्रता के खिलाफ किसी भी बंधन को, वह बंधन चाहे कितना भी ऐश्वर्यपूर्ण, संवृद्ध और सम्मानपूर्ण क्यों न हो, स्वीकार करने में असमर्थ है। स्वतंत्रता को अस्तित्ववादियों ने अत्यन्त मूल्यवान माना है, पर स्वच्छन्दतावादियों ने भी इसे मूल्य के रूप में ही स्वीकार किया था। अंबपाली भौतिक सुख-सुविधा और ऐश्वर्य में ही पल रही थी। पर अपनी आन्तरिकता के विरुद्ध, गणतंत्रीय नियम के अनुसार उसे नगरवधू होने के लिए बाध्य होना पड़ा। उसने गणतंत्र को ही ध्वस्त करने का संकल्प कर लिया और वैशाली का गणतंत्र ध्वस्त हो गया। अगर चतुरसेन शास्त्री ने इस मनोवैज्ञानिक तथ्य को कुछ गहरे पैठकर चित्रित किया होता और तत्कालीन परिवेश के विविध आयामों के प्रति मोहग्रस्त न हुए होते तो उपन्यास अपने गठन और प्रभावान्विति में अधिक सफल होता।

पांडेय बेचनशर्मा 'उग्र' (१९०१-१९६१) को वाद-विशेषज्ञ विद्वानों ने जोला के प्रकृतवादी-यथार्थवादी प्रवृत्ति का उपन्यासकार कहते हुए उनकी रचनाओं पर अश्लीलता का आरोप लगाया है। किन्तु जोला का नग्न यथार्थवाद उग्र में नहीं है। उग्र ने समाज के उन गलीज फोड़ों पर नश्तर लगाया है जिनसे समाज के सारे शरीर में विष व्याप्त होने का खतरा था। अपने युग के अन्य साहित्यकारों की तरह वे सुधारवादी ही थे और भारतीय परंपरा में उनकी अटूट निष्ठा थी। अपनी सुधारवादी परिणतियों के कारण उनकी क्रान्तिकारिता में कमी आ जाती है। चन्द हसीनों के खुतूत, दिल्ली का दलाल, बुधुवा की बेटी, शराबी, घंटा, सरकार तुम्हारी आँखों में, कढ़ी में कोयला, जी जी जी, फागुन के दिन चार और जूह उनके उपन्यास हैं।

स्वच्छन्दतावाद काल में कविता और उपन्यास दोनों में मुक्त प्रेम की कल्पना

की गई। कविता में भाव के स्तर तक ही सीमित होने के कारण इसके मूल में छिपी अन्य प्रवृत्तियाँ अलक्षित रह जाती हैं। पर उपन्यास में ब्योरों का भी महत्त्व होता है। औपन्यासिक ब्योरों से जाहिर है कि प्रेम को केवल मानवीय स्तर पर ही स्वीकार करने का समय अभी नहीं आया था। चंद हसीनों के खुतूत में नर्गिस ने यह सवाल उठाया है—'औरत का दिल ऐसी चीज नहीं जिसे आज हिन्दू कल मुसलमान कह दिया जाय।' फिर भी वैवाहिक बँधन में बँधने के लिए प्रसाद की शैला की भाँति नर्गिस को भी हिन्दू होना पड़ता है। 'दिल्ली का दलाल' में स्त्रियों का व्यापार करने वाले समाज की पोल खोली गई है और उसकी गिरफ्त में पड़ी हुई औरतों का दो आर्यसमाजी युवकों द्वारा उद्धार कराया गया है।

उपर्युक्त दोनों उपन्यासों की तरह बुधुवा की बेटी (मनुष्यानन्द) पर भी आर्यसमाज का प्रभाव है। अछूतों और दलितों को तब तक सवर्णों का शिकार होना पड़ेगा जब तक उन्हें बराबरी का सामाजिक स्तर नहीं मिलता। इसमें रधिया का पुरुष मात्र के प्रति बदला लेने की भावना को मनोवैज्ञानिक स्तर पर उभारा गया है।

'शराबी' उनका सबसे उत्तम उपन्यास है, किन्तु सुधारवाद इस पर भी हावी है। वेश्या-जीवन के चटकीले वर्णनों के बावजूद इसके सुधारवाद और हिन्दी के पहले उपन्यास 'परीक्षागुरु' के सुधारवाद में अनेक समानताएँ मिलती हैं। वेश्या जवाहर हिन्दी उपन्यास में चित्रित प्राय: सभी वेश्याओं की तरह अपना सतीत्व सुरक्षित रखती है और आवारा मानिक उससे विवाह करने के बाद शरीफ हो जाता है।

'घंटा' उपन्यास शिल्प की दृष्टि से एक नया प्रयोग है। इसे फैंटेसी कहा जा सकता है। घंटा भारतीय संस्कृति का प्रतीक है जो अन्याय और अनैतिकता पर कहर ढाता है। इसके माध्यम से वह अशोक गाँधी की शांति के सामने कैसर के युद्धोन्माद को हेठी दिखाता है। स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति के अनुरूप इसमें भारतीय संस्कृति, जातीयता, त्याग, संतोष, दया आदि को उभारने की कोशिश की गई है। उनके अन्य उपन्यासों में भी सुधारवाद ही सर्वोपरि है।

'उग्र' पर अश्लीलता का आरोप लागू नहीं होता। पर सुधारवादी होने का आरोप लगाया जा सकता है। उग्र के उपन्यासों में प्रयोग है, विषय-वस्तु के नए आयाम हैं, भाषा की नवीनता और ताजगी है। यदि नहीं है तो जीवन के प्रति गंभीर दृष्टि। इसलिए नए आयामों वाले उपन्यास सतह पर ही ठिठके दिखाई पड़ते हैं। गंभीरता के अभाव में प्रसंग आने पर भी वे मानसिक जटिलता को बचा जाते हैं।

भगवतीप्रसाद वाजपेयी (१८९९—) सामाजिक समस्याओं को ग्रहण करते

हुए व्यक्ति को भी चित्रित करने का प्रयास करते हैं। उन्होंने दर्जनों उपन्यास लिखे हैं––मीठी चुटकी, पिपासा, दो बहनें, त्यागमयी, निमंत्रण, उनसे कहना, दरार और धुआँ, टूटा टी सेट आदि। सुधारवादी मनोवृत्ति का आश्रय लेकर उन्होंने भावुकतापूर्ण सस्ती काव्यात्मकता का परिचय दिया है। भिन्न-भिन्न संदर्भों में उन्होंने काम, प्रेम और विवाह की कहानियाँ लिखी हैं।

प्रतापनारायण श्रीवास्तव (१९०४) सन् १९२७ से लिखते चले आ रहे हैं। विदा, विजय, विकास, बयालीस, विसर्जन, बेकसी का मजार आदि उनके उपन्यास हैं। उनके 'विदा' उपन्यास को आचार्य शुक्ल 'मिस्टर, मिसेज, मिस, ड्राइंग-रूमस्, टेनिस, मोटर पर हवाखोरी, सिनेमा' आदि का उपन्यास मानते हैं। किंतु यह तो पर्यावरण है। इसके भीतर भारतीय परम्परा की रक्षा का ही प्रयास दिखाई पड़ता है।

पाश्चात्य शिक्षा के कारण स्त्रियों में अपने अधिकार की भावना जागरित हो रही थी। वे परतंत्रता से मुक्ति की ओर प्रयाण कर रही थीं। लेखक स्वयं कहता है––'स्त्रियाँ इतनी स्वतंत्र हों कि वे हर एक से मिल सकें, अपनी रक्षा कर सकें। समय पड़े तो अपनी रक्षा का प्रबंध कर सकें। वे इतनी स्वतंत्र हों कि अगर पुरुष उनपर अत्याचार करें तो वे उनका प्रतिकार भी कर सकें।' लेकिन इस उपन्यास के प्रमुख नारी पात्र––कुमुद आदि––यह सब कुछ नहीं करते। पति से अलग होकर भी कुमुद परम्परागत भारतीय कुलवधू की भाँति फिर वहीं लौट आती है। अपने अत्याचारी पति के प्रति प्रतिशोध की भावना से भरी होने पर भी उसके नाम पर आजीवन संन्यासिनी होने का व्रत ले लेती है।

वस्तुत: यह अन्तर्विरोध समाज का ही है। उस समय नई शिक्षा के कारण नारी के प्रति उदार दृष्टिकोण का विकास तो हुआ था, किंतु वह लगभग सैद्धांतिक ही बना रहा। जीवन में लोग रूढ़िवादी संस्कारों से मुक्त नहीं हो सके थे। इस अन्तर्विरोध का प्रारम्भ भारतीय पुनर्जागरण के समय से ही हो चुका था। श्रीवास्तव जी के दूसरे उपन्यास 'विजय' में उनकी सनातन-धर्मिता और भी अच्छी तरह प्रकट हो जाती है। इसमें विधवा को विधवा बना रहना ही श्रेयस्कर माना गया है। उसकी तपस्या 'निर्गुण उपासना' है। यह आकस्मिक नहीं है कि लक्ष्मी नारायण मिश्र ने अपने नाटक 'सिन्दूर की होली' (१९३४) में वैधव्य की पवित्रता का ही समर्थन किया है। उनके अन्य उपन्यासों में भी इन्हीं आदर्शों की प्रतिष्ठा की गई है।

छायावादी कवियों में प्रसाद के अतिरिक्त निराला ने भी कई उपन्यास लिखे––अप्सरा, अलका, निरुपमा, प्रभावती, चोटी की पकड़। अप्सरा में वेश्या की कन्या कनक और उसके उद्धारकर्ता और प्रेमी से विवाह की सामान्य कथा

है। अलका में वियुक्त पति-पत्नी का पुनर्मिलन चित्रित किया गया है। 'निरुपमा' की प्रेम-कहानी पर बंगाली भावुकता की छाप होते हुए भी प्रेम के मानवीय पक्ष को उजागर किया गया है। प्रारंभ में भाषा काव्यात्मक और अलंकृत दिखाई देती है किंतु क्रमशः वह सहजता की ओर बढ़ती गई है।

कुल्लीभाट और बिल्लेसुरबकरिहा की गणना भी संस्मरणात्मक उपन्यासों में की जानी चाहिए। सामाजिक व्यंग्य की दृष्टि से दोनों बेजोड़ हैं।

सियारामशरण गुप्त (१८९५—) ने तीन उपन्यास लिखे हैं—गोद, अंतिम आकांक्षा और नारी। इसमें नारी का सात्त्विक स्नेह, वेदना, करुणा आदि का भावुकतापूर्ण चित्रण हुआ है जो भारतीय परम्परा के सात्त्विक पक्ष को प्रस्तुत करते हैं।

राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह (१८९०-१९७१) की गणना सुप्रसिद्ध उपन्यासकार और गद्यशैलीकार के रूप में की जाती है। राम-रहीम, पुरुष और नारी, टूटा हीरा, सूरदास, संस्कार, माया मिली न राम, अपनी-अपनी नजर अपनी-अपनी डगर इनके उपन्यास हैं। इनमें 'राम-रहीम' सबसे अधिक प्रसिद्ध है।

इस काल के अन्य उपन्यासकारों में श्रीनाथसिंह, अवधनारायण, धनीराम प्रेम, विश्वम्भरनाथ जिज्जा, प्रफुल्लचन्द्र ओझा, जहूरबख्श आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

कहानियाँ

इस युग में कहानियों को भी जीवन की नई समस्याओं से जोड़ने का प्रयास पहले पहल प्रेमचन्द ने ही किया। उनके उपन्यासों और कहानियों के विकास में एक समानान्तरता मिलती है। दोनों ही विधाओं में वे आदर्श से यथार्थ की ओर अग्रसर हुए हैं। इसे उनकी पहली कहानी 'पंच परमेश्वर' (१९१६) से आखिरी कहानी 'कफ़न' (१९३६) तक की विकास-यात्रा में देखा जा सकता है।

(१९१६-२०) तक के समय को उनकी कहानियों का उन्मेष काल माना जा सकता है। पंच परमेश्वर, नमक का दारोगा, बड़े घर की बेटी, रानी सारन्धा आदि इसी कालावधि में लिखी गई हैं। जैसा उनके उपन्यासों के प्रसंग में कहा गया है, उन्होंने बहुत समय तक पुराने आदर्शों को पुनः प्रतिष्ठित करने की चेष्टा की। 'पंच परमेश्वर' में ग्राम-पंचायत के अपने आदर्श को ही उभारा गया है, 'नमक का दारोगा' में नौकरी की ईमानदारी और 'बड़े घर की बेटी' में संयुक्त परिवार की मर्यादा प्रतिष्ठित की गयी है। ये कहानियाँ आदर्शात्मक, इतिवृत्तात्मक और घटनाबहुल हैं।

किंतु प्रेमचन्द की कहानियों के विकास का दूसरा चरण १९२० के बाद आरम्भ होता है। विकास की यह स्थिति सन् १९३० तक मानी जा सकती है।

इस दशक में लिखी गई कहानियों को देखने से पता लगता है कि उनके रचनात्मक दृष्टिकोण में पर्याप्त परिवर्तन हुआ। अब आदर्श की नियमानुवर्तिता के चक्कर से उबर कर वे यथार्थ का साक्षात्कार करते हुए प्रतीत होते हैं। वे स्थूल इतिवृत्तात्मकता को पीछे छोड़कर संवेदना को छूते हुए नजर आते हैं। चरित्रों के चित्रण में मनोवैज्ञानिक सूक्ष्मताओं का समावेश भी उनमें आ गया है। नाटकीयता तथा व्यंग्य के पैनेपन के कारण उनमें जीवन्तमयता और प्रभावान्विति की घनता आ गई है।

माता का हृदय, मैकू, शंखनाद, बूढ़ी काकी, आत्माराम, गरीब की हाय, दुर्गा का मंदिर, वज्रपात, सेवामार्ग, आभूषण, शतरंज के खिलाड़ी आदि कहानियाँ इसी समय लिखी गईं।

उनकी कहानियों के विकास के तीसरे चरण में (१९३०–३६) नशा, मिस पद्मा, पूस की रात, कफ़न आदि कहानियाँ आती हैं। इन कहानियों में वे सामान्यतः यथार्थवादी हो गए हैं। संवेदना की पकड़ और गहरी हो गई है, मनोवैज्ञानिकता सूक्ष्मतर हो उठी है। इस कालावधि के आखिर में आदर्श से उनका पूर्ण मोहभंग हो चुका था। 'पूस की रात' में किसान जीवन से चिपके रहने का स्वप्न टूट जाता है। कहानी का नायक 'गोदान' के गोबर की भाँति मजदूरी की ओर बढ़ता है।

'कफ़न' तो अत्याधुनिक कहानी है। इसमें तो सभी पुराने संस्कार, धार्मिक रूढ़ियाँ, संवेदना का बना-बनाया ढाँचा सभी टूट कर चकनाचूर हो जाते हैं। जिस मूल्यहीनता, अलगाव और आधुनिकता की आज चर्चा की जाती है क्या वह 'कफ़न' में नहीं है? गैसेट ने कला के जिस अमानवीकरण (डीह्यूमनाइजेशन) का उल्लेख किया है वह यहाँ पर भी है। पूँजीवादी व्यवस्था में गरीब तबके के मजदूर अपने उत्पादन तथा उत्पादन के साधनों से अलग होकर अपने संबंधों और समाज से अलग हो जाते हैं। इसके फलस्वरूप उनकी मानवीय संवेदनाएँ भी समाप्त हो जाती हैं। घीसू और माधव ऐसे ही संवेदनाशून्य पात्र हैं। जो लोग कफ़न में अस्वाभाविकता देखते हैं वे यथार्थ का अर्थ नहीं समझ पाते। 'कफ़न' में अलगाव की स्थिति अनजाने और ऐतिहासिक माँग के फलस्वरूप आई है। 'मानसरोवर' के आठ भागों में उनकी कहानियाँ संगृहीत हैं।

विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक', विश्वम्भरनाथ जिज्जा, सुदर्शन, ज्वालादत्त शर्मा आदि प्रारंभिक लेखक प्रेमचन्द के ढंग पर आदर्शोन्मुखी यथार्थवादी कहानियाँ लिख रहे थे। उनकी कहानियाँ घटनाप्रधान और इतिवृत्तात्मक हैं। भाषा के स्तर पर भी उनमें सपाटता और साफगोई है। चित्रशाला, मणिमाला, कल्लोल 'कौशिक' के कहानी संग्रह हैं। जिज्जा की कहानियों का संग्रह 'घूंघट वाली' नाम

से प्रकाशित हुआ है। सुदर्शन-सुधा, तीर्थयात्रा, पुष्पलता, गल्पमंजरी, सुप्रभात आदि पुस्तकों में सुदर्शन की कहानियाँ संगृहीत हैं।

जिस समय प्रेमचन्द आदर्शोन्मुखी कहानियाँ लिख रहे थे, उसी समय बहुत से कहानीकार स्वच्छन्दतावादी या रोमैंटिक कहानियों का सृजन कर रहे थे। प्रसाद, जैनेन्द्र, उग्र, निराला, सियारामशरण गुप्त, हृदयेश तो मुख्य रोमैंटिक कहानीकार हैं ही। शेष वे लोग भी जिन्हें प्रेमचन्द संस्थान का कहानीकार कहा जाता है वे भी रोमैंटिक ही हैं। चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह, भगवतीप्रसाद वाजपेयी, चतुरसेन शास्त्री, विनोदशंकर व्यास, वाचस्पति पाठक आदि की कहानियाँ मूलतः रोमैंटिक हैं।

आश्चर्य तब होता है जब चन्द्रधर शर्मा गुलेरी (१८८३-१९२२) को शोध-ग्रन्थों तक में प्रेमचन्द संस्थान का कहानीकार घोषित कर दिया जाता है। संस्थानवादी आलोचक कहानीकार गुलेरी को प्रेमचंद संस्थान का मानते हैं तो निबंधकार गुलेरी को व्यक्तित्व-व्यंजक निबंधकार कहते हैं। इतिहास-दृष्टि का अभाव इसी प्रकार का अन्तर्विरोध पैदा करता है। गुलेरी जी जो निबंधों में थे वही कहानी में भी थे यानी वे रोमैंटिक कहानीकार थे। उनकी प्रसिद्ध कहानी 'उसने कहा था' का परिवेश, स्थानीय रंग, चारित्रिक आदर्श, प्रेम के लिए सब कुछ उत्सर्ग कर देने का उत्साह आदि स्वच्छन्दतावाद के मेल में है। 'गुलेरी जी की अमर कहानियाँ' में उनकी तीन कहानियाँ संगृहीत हैं। उन्होंने कुल तीन ही कहानियाँ लिखीं। पर उनकी कीर्ति का आधार 'उसने कहा था' ही है।

प्रसाद समग्रतः रोमैंटिक कलाकार हैं। उनकी कहानियों में स्वच्छन्दतावादी तत्त्व उसी सघनता में मिलते हैं जिस सघनता में उनके काव्य में दिखाई पड़ते हैं। कहानी और कविता एक दूसरे के काफी निकट पड़ने वाली विधाएँ हैं। कविता की तरह उनकी कहानियाँ भी प्रगीतात्मक हैं। प्रसाद के प्रगीतों की मुख्य विषय-वस्तु प्रेम और सौन्दर्य है। उनकी कहानियों में इन्हीं की प्रमुखता है। अतीत के प्रति आसक्ति होने के कारण कुछ कहानियों में उसकी चेतना भी बद्ध है।

प्रसाद के कहानीकार के विकास की भी तीन मंजिलें हैं :—प्रारंभिक, विकासात्मक और प्रौढ़। प्रथम मंजिल को १९११ से १९२६ तक, द्वितीय को १९२६ से १९३२ तक और तृतीय को १९३१ से १९३६ तक माना जा सकता है। उनकी पहली कहानी 'ग्राम' १९११ में 'इंदु' में छपी। प्रारंभिक काल में उनके दो कहानी संग्रह छपे—छाया और प्रतिध्वनि। 'छाया' की कहानियाँ प्रेमवृत्त पर आधारित हैं, उनमें कथातत्त्व अत्यन्त झीना है। उनमें प्रायः प्रकृति के काव्यपरक चित्रणों का समावेश किया गया है। 'प्रतिध्वनि' में भावात्मकता और भी गहरी हो गई है।

भाव-विवृति के साथ कुछ अतीतोन्मुखता और छायावादी रहस्योन्मुखता भी है। 'छाया' नाम छायावाद युग का भी द्योतक हो सकता है।

सन् १९२६ से १९३३ के बीच भी उनके दो कहानी संग्रह प्रकाशित हुए— आकाशदीप और आँधी। 'आकाशदीप' में संगृहीत अधिकांश कहानियाँ मानसिक अन्तर्द्वन्द्व की कहानियाँ हैं। विकास की इस मंजिल पर कहानियों को कथानक मिल गया है। उनमें नाटकीयता का भी समावेश हो गया है। संवेदना की दृष्टि से इनमें अजीब करुण अवसाद की अभिव्यक्ति हुई है। 'आकाशदीप' कहानी में प्रेम और घृणा की गहन आवेगमयता की गहरी टकराहट है। 'विसाती' और 'सुमन्द संतरण' में कहानी के रूप में लिखे गए प्रगीत की पूर्णता है। 'आँधी' में प्रसाद यथार्थवादी समस्याओं से टकराते हैं। इसी कारण ये कहानियाँ विफल भी हुई हैं।

'इन्द्रजाल' (१९३६) में उनकी तृतीय मंजिल की कहानियाँ सम्मिलित की गई हैं। 'आँधी' का गर्दोगुबार प्रसाद को प्रिय नहीं है। इसलिए वे 'इन्द्रजाल' की ओर लौट आते हैं। इन कहानियों के फलक पर व्यक्ति मन की रहस्यमयी उलझनों को अधिक संयमित ढंग से आँकने का प्रयास किया गया है। इसलिए इनमें भावों का बहाव उतना नहीं है जितना उनका विश्लेषण। 'सालवती' और 'गुंडा' इस संग्रह की श्रेष्ठ कहानियाँ हैं।

प्रसाद की कहानियाँ अपने ढंग की अद्वितीय हैं। इसलिए उनके ढंग पर लिखी गई कहानियाँ समादृत नहीं हो सकीं। प्रेमचन्द की कहानियों में जीवन की जो विविधताएँ दिखाई देती हैं वे प्रसाद की कहानियों में नहीं मिलेंगी, पर मनोजगत् की गहराइयों में उनकी अद्भुत पैठ है। वह मनोजगत् यथार्थ से दूर कल्पना के निकट है, रम्य है, विस्मयावह है, रहस्यात्मक है।

प्रेमचन्द की बहुत सारी कहानियों में घटनाओं का अतिरेक है तो प्रसाद में भावों का। भावों को वहन करने के लिए उन्होंने काव्यमयी भाषा का प्रयोग किया है। अमूर्त भावों का अमूर्तन बिम्बों, प्रतीकों के साथ-साथ लगता है जगह-जगह छायावादी काव्य की पंक्तियाँ रख दी गई हैं। कहानियों में जहाँ कहीं रूप-चित्रण आया है वह अतिशय काव्यमय हो उठा है। वातावरण निर्माण की कला में भी वे बेजोड़ हैं।

निबंध

पुनर्जागरण युग में निबंध-लेखन का सूत्रपात हुआ। पूर्व-स्वच्छन्दतावादी युग में वह किंचित् वैचारिक हो चला। बालकृष्ण भट्ट, महावीरप्रसाद द्विवेदी, श्यामसुन्दरदास की निबंध-परंपरा रामचन्द्र शुक्ल में अपनी पराकाष्ठा पर जा पहुँची। वस्तुतः शुक्ल जी इस काल के सर्वश्रेष्ठ निबंधकार हैं।

इनके निबंधों को दो श्रेणियों में बाँटा जा सकता है––मनोविकार संबंधी निबंधों की श्रेणी और आलोचनात्मक निबंधों की श्रेणी। शुद्ध निबंध विधा के रूप में पहली कोटि के निबंधों की गणना होगी। इस तरह के निबंध चिंतामणि भाग १ में संगृहीत हैं। चिंतामणि भाग २ में आलोचनात्मक निबंध संकलित हैं।

मनोविकार संबंधी निबंधों को लेकर कुछ लोग यह कहते हुए पाये गए कि ये साहित्यिक निबंध नहीं हैं। पर इन निबंधों में केवल शुक्ल जी के विचार ही नहीं अभिव्यक्त हुए हैं बल्कि उनका अपना व्यक्तित्व भी प्रकाशित हुआ है। पुस्तक के निवेदन में उन्होंने लिखा है––'इस पुस्तक में मेरी अन्तर्यात्रा में पड़ने वाले कुछ प्रदेश हैं। यात्रा के लिए निकलती रही है बुद्धि पर हृदय को भी साथ लेकर। अपना रास्ता निकालती रही है बुद्धि, जहाँ कहीं मार्मिक या भावाकर्षक स्थलों पर पहुँची है, वहाँ हृदय थोड़ा बहुत रमता अपनी प्रवृत्ति के अनुसार कुछ कहता गया है।' जाहिर है निबंधों में बुद्धि के साथ हृदय का भी यथोचित योग है।

मनोविकार संबंधी निबंध हैं––भाव या मनोविकार, उत्साह, श्रद्धा-भक्ति, करुणा, लज्जा और ग्लानि, लोभ और प्रीति, घृणा, ईर्ष्या, भय और क्रोध। शुक्ल जी के पहले बालकृष्ण भट्ट, प्रताप नारायण मिश्र और माधव प्रसाद मिश्र इस दिशा में पहल कर चुके थे। इस संदर्भ में भट्ट जी के 'आत्मनिर्भरता', मिश्र जी के 'मनोयोग' और माधव प्रसाद के 'धृति और क्षमा' निबंध उल्लेख्य हैं।

यह पूरा युग ही मुख्यतः अन्तर्यात्रा का युग है। इसलिए शुक्ल जी ने मनोविकारों को अपने निबंधों का विषय बनाया। इन निबंधों पर शैंड के 'फाउन्डेशन आफ कैरेक्टर' का पूरा प्रभाव है जिसे शुक्ल जी ने अपने ढंग से ग्रहण किया है। किंतु इन निबंधों में उनकी भारतीय सांस्कृतिक सामाजिक दृष्टि कहीं लुप्त नहीं हुई है। अधिकांश निबंधों के बीच-बीच गोस्वामी जी की रचनाओं के अंश उद्धृत हैं। इससे स्पष्ट है कि गोस्वामी जी की कृतियों द्वारा रचा गया उनका मानस उनके निबंधों में भी साथ था।

यह आकस्मिक नहीं है कि जिस समय ये निबंध लिखे जा रहे थे उसी समय प्रसाद की कामायनी भी लिखी जा रही थी। कामायनी के सर्ग हैं––चिन्ता, श्रद्धा, काम, लज्जा, कर्म, ईर्ष्या, इड़ा आदि। शुक्ल जी इनमें से अधिकांश को निबंध का विषय बनाया। इसलिए उनमें गुणात्मक अन्तर आ गया। पर श्रद्धा दोनों को काम्य थी। एक ऐतिहासिक प्रक्रिया में दोनों एक ही विषय के संबंध में सोच रहे थे।

इन निबंधों को लिखते समय वे 'रसमीमांसा' की भी तैयारी करते हुए प्रतीत

होते हैं। लोभ और प्रीति के अंत में वे शृंगार रस के दो पक्षों---संयोग और वियोग---का भी उल्लेख करते हैं। करुणा के प्रसंग में भी वे वियोग का उल्लेख करते हैं। श्रद्धा और भक्ति में तो स्पष्टतः भक्तिरस है ही।

इनके निबंधों का उल्लेख करते हुए प्रायः दो बातें विस्मृत कर दी जाती हैं---एक मनोविकार का दूसरे से स्पष्ट अलगाव और मनोविकारों का सामाजिक अनुषंग। जैसे, 'श्रद्धा का व्यापार स्थल विस्तृत है, प्रेम का एकांत। प्रेम में घनत्व अधिक है, श्रद्धा में विस्तार।' 'लोभ सामान्योन्मुख होता है, प्रेम विशेषोन्मुख।' 'श्रद्धा और प्रेम के योग का नाम भक्ति है।'

वे प्रत्येक विषय को कर्म से जोड़ देते हैं---'हमारे अन्तःकरण में प्रिय के आदर्श रूप का संघटन उसके शरीर या व्यक्ति मात्र के आश्रय से हो सकता है पर श्रद्धेय के आदर्श रूप का संघटन उसके फैलाये हुए कर्म-तंतु के उपादान से हो सकता है।' भक्ति का उल्लेख करते हुए वे कहते हैं कि राम और कृष्ण मानव जीवन में पूर्ण रूप से सम्मिलित थे। करुणा के संबंध में भी उनका कहना है---'सामाजिक जीवन की स्थिति और पुष्टि के लिए करुणा का प्रसार आवश्यक है।' इस तरह की मानवीय प्रवृत्तियाँ मरती जा रही हैं। इनको जिन्दा रख करके ही मनुष्य को सजीव बनाया जा सकता है।

वे सामाजिक जीवन के लिए क्रोध की आवश्यकता महसूस करते हैं। 'क्रोध के निरोध का उपदेश अर्थ-परायण और धर्म-परायण दोनों देते हैं। पर दोनों में जिसे अति से अधिक सावधान रहना चाहिए वही कुछ भी नहीं रहता। बाकी रुपया वसूल करने का ढंग बताने वाला चाहे कड़े पड़ने की शिक्षा दे भी दे, पर धज के साथ धर्म की ध्वजा लेकर चलने वाला धोखे में भी क्रोध को पाप का बाप ही कहेगा। क्रोध रोकने का अभ्यास ठगों और स्वार्थियों को सिद्धों और साधकों से कम नहीं होता।'

प्रश्न होता है कि उनके निबंधों की रचनात्मकता कहाँ है? कहा जाता है कि वे पहले सूत्रभाषा का प्रयोग करते हैं, फिर उसकी व्याख्या करते हैं और पुनः उसे सोदाहरण स्पष्ट करते हैं। यह तो उनकी शैली हुई। निबंधों के लिए जिस कसी हुई विचार-परंपरा का शुक्ल जी ने उल्लेख किया है वह भी निबंध की संरचना का अनिवार्य अंग नहीं है। उससे तो निबंध का व्यक्तित्व स्खलित होता है।

शुक्ल जी के निबंधों की रचनात्मकता उनके स्वानुभूत प्रसंगों में निहित है, व्यंग्य-विनोद, छेड़-छाड़ में समाहित है। 'क्रोध' निबंध में वे संतों-महात्माओं, गाँधीवादियों से अलग हट कर अपने ढंग से सोच रहे थे। यही उनकी प्रामाणिकता है। ऊपर का उदाहरण इसका प्रमाण है। शुक्ल जी की अपनी सीमाएँ भी थीं।

उनका मर्यादावाद उन्हें उतना उन्मुक्त नहीं कर पाता कि निबंधों को निबंधता तक ले जा सके।

गुलाबराय (१८८८-१९६३) मुख्यत: व्यक्तित्व-व्यंजक निबंधकार हैं। ठलुआ क्लब, फिर निराशा क्यों, मेरी असफलताएँ, कुछ उथले कुछ गहरे आदि उनके निबंध-संग्रह हैं। अपनी वैयक्तिकता के बावजूद उनके निबंधों में उपदेशपरकता की प्रवृत्ति है जो निबंधों का स्वरूप विकृत कर देती है। वाक्य छोटे-छोटे हैं और शब्दावली सरल है। पर दृष्टि के अभाव में निबंधों में सपाटता आ गई है।

रघुवीरसिंह (१९०८—) 'अत्यंत मार्मिक और चित्रमयी भावना लेकर' आये। 'शेष स्मृतियाँ' संग्रह में मुगलों के वैभव-पराभव को गद्य-काव्य के रूप में सहृदयता पूर्वक चित्रित किया गया है। ताजमहल, दिल्ली का लाल किला आदि के संबंध में लिखे गए निबंध भावात्मक शैली के उत्कृष्ट नमूने हैं।

शिवपूजन सहाय (१८९३-१९६३), पांडेय बेचन शर्मा उग्र (१९००-) और निराला तीनों 'मतवाला-मंडल' के लेखक थे। सहाय जी भाषा के जादूगर माने जाते हैं। उनके निबंधों का एक संग्रह 'कुछ' नाम से प्रकाशित हो चुका है। उनकी भाषा में एक प्रकार का आभिजात्य मिलता है जब कि उग्र और निराला की भाषा में उच्छृंखलता। पर इन दोनों में सहाय जी की भाषा की अलंकृति और सानुप्रासिक पदावली की कृत्रिमता नहीं है। उग्र ने स्वच्छन्दतावादी आदर्श और आभिजात्य को तोड़ा। इसलिए उनकी भाषा में गहरा पैनापन आ गया है।

इस काल में विषय-प्रधान निबंध प्रौढ़ता के शिखर पर जा पहुँचे। फलत: वैसे निबंधों का लिखा जाना बंद हो गया। व्यक्तित्व-व्यंजक निबंधों की संख्या कम है। कविता के क्षेत्र में जो वैयक्तिकता इस काल में आई निबंध के क्षेत्र में वह बाद में पैदा हुई। कविता सबसे अधिक संवेदनात्मक विधा है। इसका पैना लेंस परिवर्तन को सबसे पहले पकड़ता है। निबंध में इसका प्रतिफलन बाद में होता है।

समालोचना

इस काल की आलोचना और काव्यमीमांसा का उल्लेख करते हुए रामचन्द्र शुक्ल ने 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में लिखा है—'इस तृतीय उत्थान में समालोचना का आदर्श भी बदला। गुणदोष के कथन के आगे बढ़कर कवियों की विशेषताओं और उनकी अन्त:प्रवृत्ति की छानबीन की ओर भी ध्यान दिया गया।' इसके पूर्व आलोचक या तो संस्कृत काव्यशास्त्र की उद्धरणी प्रस्तुत कर रहे थे या कवियों की भावात्मक भाषा में निन्दा-स्तुति कर रहे थे। भाषा की कोई पहचान नहीं बन पाई थी। जीवन और जगत् के साथ काव्य के मेल दूर की बात थी।

काव्य के संबंध में लिखे गए अनेक निबंधों का उल्लेख करते हुए अपने इतिहास में उन्होंने लिखा है—"काव्य पर जाने कितने ऐसे निबंध लिखे गए जिनमें सिवा इसके कि 'कविता अमरावती से गिरती हुई अमृत की धारा है', 'कविता हृदय कानन में खिली हुई कुसुम माला है', 'कविता देवलोक के मधुर संगीत की गूँज है' और कुछ नहीं मिलेगा। यह कविता का ठीक-ठीक स्वरूप बतलाना है कि उसकी विरुदावली बखानना।" ज़ाहिर है कि इस अर्थहीन आलोचनात्मक शब्दावली से हटकर वे आलोचना की नई भाषा भी तलाश रहे थे।

सन् १९०८ में 'सरस्वती' में उनका एक लेख 'कविता क्या है?' प्रकाशित हुआ। इस लेख का ही परिवर्धित रूप चिंतामणि में संगृहीत है। उससे काव्य संबंधी मान्यताओं का पता लग जाता है। इस निबंध में वे लिखते हैं—'इस अनेक भावों का व्यायाम और परिष्कार तभी समझा जा सकता है जब कि इन सबका प्रकृत सामंजस्य जगत् के भिन्न-भिन्न रूपों, व्यापारों या तथ्यों के साथ हो जाय। इन्हीं भावों के सूत्र से मनुष्य-जाति जगत् के साथ तादात्म्य का अनुभव चिरकाल से करती चली आई है।' कविता मनुष्य के हृदय को स्वार्थ-संबंधों के संकुचित बन्धनों से मुक्त कर लोक-सामान्य भावभूमि पर ले जाती है। कवि अपनी सत्ता को लोक-सत्ता में विलीन कर देता है। उसकी अनुभूति सबकी अनुभूति होती है। इन अनुभूतियों से हमारे हृदय का परिष्कार तथा शेष सृष्टि के साथ हमारे रागात्मक संबंध की रक्षा और निर्वाह होता है। स्पष्ट है कि शुक्ल जी काव्य का प्रयोजन ही बदल देते हैं। उनका प्रयोजन मैथ्यू आर्नल्ड के 'काव्य जीवन के लिए' और आई० ए० रिचर्ड्स के 'मूल्य सिद्धान्त' के समकक्ष पहुँच जाता है। पर जब वे कविता को पुलिस कर्मचारी की क्रूरता दूर करने की दवा बतलाने लगते हैं तो आर्नल्ड की तरह उसके प्रति उनका अतिरिक्त मोह सूचित होता है।

वे गहरे अर्थ में रसवादी आलोचक हैं। इसके संबंध में उनकी विवेचनाएँ रसमीमांसा में संगृहीत हैं। पर काव्य का प्रयोजन बदल जाने से मीमांसा की पद्धति भी बदल गई है। अभिनवगुप्त तथा संस्कृत के अन्य बहुत से आचार्यों ने रस को आनन्द स्वरूप कहा है। शुक्ल जी 'आनन्द' शब्द पर ही प्रहार करते हैं—"मेरी समझ में रसास्वाद का प्रकृत स्वरूप 'आनन्द' शब्द से व्यक्त नहीं होता। लोकोत्तर, अनिर्वचनीय आदि विशेषणों से न तो उसके वाचकत्व का परिहार होता है और न प्रयोग का प्रायश्चित्त।....चित्त का द्रुत होना क्या आनन्दगत है? इस आनन्द शब्द ने काव्य के महत्त्व को बहुत कुछ कम कर दिया है—उसे नाच-तमाशे की तरह बना दिया है।"

वे काव्यानुभूति को प्रत्यक्षानुभूति से जोड़ते चलते हैं। लोकोत्तर और

अनिर्वचनीय विशेषण रसानुभूति को जीवन-जगत् से काट देते हैं। वे काव्य को सुख-दुख दोनों से अधिक उदात और अवदात्त कहते हैं। संभवतः उदात्त से उनका अभिप्राय 'हाइटेंड' और अवदात से 'प्योर' है। प्रतीत होता है कि इन्हीं को लक्ष्य करके उन्होंने काव्य की दो कोटियाँ मानी हैं :—

१—आनन्द की साधनावस्था या प्रयत्न पक्ष को लेकर चलने वाले।

२—आनन्द की सिद्धावस्था या उपभोग पक्ष को लेकर चलने वाले।

आनन्द की साधनावस्था या प्रयत्न पक्ष के अन्तर्गत पीड़ा, बाधा, अन्याय, अत्याचार आदि के दमन में तत्पर शक्ति आती है। इस संबंध में उत्साह, क्रोध, भय, घृणा आदि में रमणीयता देखी जाती है। गोस्वामी तुलसीदास प्रयत्न पक्ष को लेकर चलने वाले उनके आदर्श कवि हैं। सौन्दर्य, शील और शक्ति के विग्रह रामचन्द्र अत्याचार के दमन में संलग्न हैं। इसी लिए उनका काव्य उदात्त काव्य की श्रेणी में आयेगा। सिद्धावस्था के अन्तर्गत सुख, सौन्दर्य, सुषमा, उल्लास, प्रेम-व्यापार आदि का समावेश होता है। सूरदास, बिहारी, घनानन्द सिद्धावस्था के कवि हैं। उनकी रचनाओं को 'शुद्ध कविता' की संज्ञा दी जा सकती है।

शुद्ध कविता के लिए एक खतरा यह रहता है कि वह कलावाद के घेरे में न चली जाय। उन्होंने जीवन और जगत् से असंपृक्त कलावादी आन्दोलनों का गहरा विरोध किया है। क्रोचे के अभिव्यंजनावाद का खंडन करते हुए उन्होंने आस्कर वाइल्ड और स्पिगार्न के मतों की भी धज्जियाँ उड़ाई हैं। काव्य को जीवन से दूर ले जाने वाले रहस्यवाद के प्रतिपक्ष में भी उन्हें बहुत दूर तक खड्ग-हस्त होना पड़ा।

जीवन और जगत् के प्रति गहरी प्रतिबद्धता के कारण वे विशेष दशाओं में प्रत्यक्ष रूप-विधान और स्मृत रूप-विधान को भी रसानुभूति की कोटि में रखते हैं। संस्कृत आचार्यों के मतानुसार केवल कल्पित रूप-विधान से ही रसानुभूति हो सकती है।

उनकी व्यावहारिक आलोचनाएँ सूर, तुलसी और जायसी की भूमिकाओं के रूप में मिलती हैं। 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में उसे देखा जा सकता है। आश्चर्य की बात है कि तुलसीदास पर लिखी गई उनकी आलोचना सबसे ज्यादा कमजोर है। जायसी में पांडित्य का प्राधान्य दिखाई पड़ता है। 'भ्रमरगीत सार की भूमिका' में आलोचनात्मक परिपक्वता सबसे अधिक है। तुलसीदास में वे शील, सौन्दर्य और वर्णाश्रमधर्मी मर्यादाओं की तलाश करते रहे। तुलसी के कला-पक्ष पर बहुत ध्यान नहीं दिया गया। इसलिए तुलसी की आलोचना में रोमैंटिक भावुकता का समावेश उसे कमजोर बना देता है।

सूरदास उनके लिए चुनौती थे। उनकी मान्यताओं के अनुरूप उनमें कुछ

नहीं मिला। न प्रबंध-विधान न लौकिक मर्यादाएँ। बल्कि वे जिस बल्लभमत में दीक्षित थे वह लौकिक मर्यादाओं के विपरीत पड़ता था। अतः शुक्ल जी की दृष्टि सूरदास की संवेदना और भाषायी वैशिष्ट्य पर केन्द्रित हुई। जायसी में जिस तरह अलंकारों की गणना की गई है उस तरह की गणना सूरदास में नहीं मिलेगी। यहाँ अलंकार्य और अलंकार अलग नहीं हैं।

पर अपनी सीमाओं के कारण वे छायावादी काव्य के साथ न्याय नहीं कर सके। शुक्ल जी की नैतिकता और मर्यादावाद बहुत दूर तक मध्यकालीन था। वे पूर्व-स्वच्छन्दतावाद-युग की उपज थे। अतः छायावाद का नवीन काव्योन्मेष उन्हें प्रीतिकर नहीं लगा। इसमें उन्हें केवल शैली की नवीनता दिखाई पड़ी, विषय-वस्तु की नहीं। यह अन्तर्विरोध शुक्ल जी की आलोचना-पद्धति का अन्तर्विरोध है। वे अपनी आलोचना में भावपक्ष और कलापक्ष को अलग-अलग विवेचित करते हैं। मध्यकालीन प्रबंधों के आलोचक कवि को स्वच्छन्दतावादी काव्य में नवीनता का न दिखाई पड़ना स्वाभाविक था। सूरदास को प्रयत्न पक्ष के अभाव में वे तुलसी की समकक्षता नहीं देते। छायावादी प्रगीतों में प्रबंधत्व कहाँ मिलता ! छायावादी कवियों ने मध्यकालीन मर्यादावाद और मूल्यों को अस्वीकार ही नहीं किया बल्कि तोड़ा भी। ऐसी स्थिति में वे शुक्ल जी को नहीं भाये। किन्तु शुक्ल जी ने जहाँ उनकी कमजोरियों का उद्घाटन किया है वहाँ वे आज भी अकाट्य हैं। उदाहरणार्थ उनका 'कामायनी' का विवेचन देखा जा सकता है। पर इस काव्य के क्रांतिकारी पक्ष को वे सामने नहीं ला सके।

जब उन्होंने इसे शैली की वस्तु मान ली तो स्वाभाविक था कि वे इसकी भाषा-शैली की विवेचना करते। शुक्ल जी पहले व्यक्ति थे जिन्होंने छायावादी काव्य की लाक्षणिकता, प्रतीक, अन्योक्ति-पद्धति, नाद-योजना, पद-बंध आदि पर विचार किया। इससे स्पष्ट है कि उनमें भाषा-विश्लेषण की अद्भुत क्षमता थी।

शुक्ल जी ने सबसे बड़ा काम यह किया कि हिन्दी आलोचना को सही भाषा दी। इसी काल में प्रेमचन्द ने कथा-साहित्य की भाषा का निर्माण किया। इसी काल में प्रसाद-निराला-पंत ने नए काव्य के लिए नई भाषा अन्वेषित की। आलोचक का कार्य विश्लेषण होता है—बौद्धिक विश्लेषण। शुक्ल जी की भाषा में यह बौद्धिकता सर्वत्र मिलेगी। यद्यपि उन्होंने अपनी समीक्षात्मक शब्दावली मुख्यतः संस्कृत काव्यशास्त्र से ही ग्रहण की पर उसमें नई अर्थवत्ता भर कर उसे आधुनिक युग की मनोवैज्ञानिकता और बौद्धिकता के योग्य बनाया। स्थान-स्थान पर वे पाश्चात्य शब्दावली भी ग्रहण की है।

शुक्ल जी का दूसरा महत्त्वपूर्ण कार्य है आलोचना के क्षेत्र में स्वतंत्र चिन्तन

का प्रवेश। संस्कृत के आचार्यों का रचनात्मक खंडन कोई समकक्ष आचार्य ही कर सकता था। इसका फल यह हुआ कि संस्कृत के आचार्यों के आतंक से मुक्त होकर स्वतंत्र चिंतन की प्रणाली चल पड़ी। शुक्ल जी ने केवल उनका ही खंडन नहीं किया बल्कि क्रोचे के अभिव्यंजनावाद को भी त्रुटिपूर्ण ठहराया—क्रोचे के उस अभिव्यंजनावाद को जिसके आतंक से हिन्दीवाले अब भी मुक्त नहीं हुए हैं। रवि बाबू के रहस्यवाद के विरुद्ध सबसे पहले उन्होंने ही आवाज उठाई।

पर अपने समय का अन्तर्विरोध उनकी समीक्षाओं में भी पाया जाता है। आई० ए० रिचर्ड्स की भाँति वे भी छायावाद का विरोध करते हुए दिखाई पड़ते हैं। उसी की भाँति अपनी आलोचना-पद्धति को मनोवैज्ञानिक भूमिका पर प्रतिष्ठित करने का प्रयास भी उन्होंने किया। फर्क यह है कि रिचर्ड्स का मनोविज्ञान सूडो मनोविज्ञान था जब कि शुक्ल जी का परिनिष्ठित। रिचर्ड्स रोमैंटिसिज्म का विरोध करते हुए भी उसकी लपेट से बच नहीं पाया। शुक्ल जी के संबंध में यह सच है। 'दिव्यशक्ति,' 'दिव्य संगीत,' 'दिव्य सौन्दर्य,' 'मर्मस्पर्शी', 'अनूठापन' आदि शब्द उनकी रूमानियत के सूचक हैं। शुक्ल जी का रस-सिद्धांत रिचर्ड्स के रागात्मक सिद्धांत (अफेक्टिव थ्योरी आफ क्रिटिसिज्म) ही है। फिर भी उसे संपूर्ण आलोचना की ही संज्ञा दी जायगी।

विश्वनाथ प्रसाद मिश्र (१९०६—) शुक्ल संस्थान के प्रमुख लेखक हैं। शुक्ल जी ने अपनी आलोचना के लिए सगुणोपासक भक्त कवियों को चुना तो मिश्र जी ने रीतिकालीन कवियों को। बिहारी और घनआनंद उनके प्रिय कवि हैं। इन कवियों ने उनकी काव्य-दृष्टि का भी निर्माण किया। इस चुनाव में लाला भगवान दीन की भी प्रेरणा रही होगी। शुक्ल-पद्धति पर ही उन्होंने भाव, भाषा, अलंकार, छंद, रस, ध्वनि आदि को अपनी आलोचना का प्रतिमान बनाया है। 'बिहारी की वाग्विभूति', 'वाङ्मय विमर्श', 'हिन्दी का समसामयिक साहित्य', 'हिन्दी नाट्य साहित्य का विकास' और 'हिन्दी साहित्य का अतीत' उनके आलोचनात्मक ग्रंथ हैं। 'घनानन्द ग्रंथावली' 'पद्माकर ग्रंथावली', 'रसिकप्रिया', 'भिखारी दास ग्रंथावली', 'रामचरित मानस' (काशिराज संस्करण) आदि ग्रंथों का विद्वत्तापूर्ण संपादन भी किया है। उनकी आलोचना की प्रमुख विशेषता है उनकी अनाविल दृष्टि और निर्मल विवेचन। वे रूढ़ियों को कभी नहीं स्वीकारते किंतु स्वस्थ परंपरा में उनका अटूट विश्वास है।

कृष्णशंकर शुक्ल भी इसी संस्थान के आलोचक हैं। 'केशव की काव्य-कला' (१९३४) और कविवर रत्नाकर (१९३५) की आलोचना में इन्होंने शुक्ल-पद्धति को ही अपनाया है। इन्होंने 'आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास' भी लिखा है।

इस काल में संस्कृत काव्यशास्त्र का परिचय देने वाले सिद्धांत ग्रंथ भी लिखे गए। इनके लेखकों में जगन्नाथ प्रसाद भानु (रसरत्नाकर), गुलाबराय (नवरस), भगवान दीन (व्यंग्यार्थ मंजूषा), रामशंकर शुक्ल रसाल (अलंकार पीयूष), अर्जुनदास केडिया (भारतीभूषण), कन्हैयालाल पोद्दार (रसमंजरी), श्यामसुन्दरदास (रूपक रहस्य), हरिऔध (रसकलश), विनोदशंकर व्यास (कहानी-कला) आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। पर ये ग्रंथ संस्कृत की उद्धरणी मात्र हैं। व्यास जी की कहानी कला एक सामान्य पुस्तक है।

पाश्चात्य प्रभाव को लेकर श्यामसुन्दरदास ने 'साहित्यालोचन' लिखा। इसमें पूर्वीय और पश्चिमी काव्यशास्त्रों को एकत्र किया गया है। छात्रोपयोगी होते हुए भी आलोचना शास्त्र की यह पहली ठीक-ठेकाने की पुस्तक है।

इस काल के अन्य आलोचकों में रामकृष्ण शुक्ल शिलीमुख (प्रसाद की नाट्य-कला), ब्रजरत्नदास (हिन्दी नाट्य साहित्य), रामकुमार वर्मा (कबीर का रहस्यवाद), जनार्दन मिश्र (विद्यापति), कृष्णानन्दगुप्त (प्रसाद जी के दो नाटक), अखौरी गंगाप्रसाद (पद्माकर की काव्यसाधना), भुवनेश्वर मिश्र माधव (मीरां की प्रेमसाधना), गिरिजादत्त शुक्ल गिरीश (महाकवि हरिऔध), रामनाथ सुमन (प्रसाद की काव्यकला) उल्लेखनीय हैं।

उत्तर-स्वच्छन्दतावाद-युग (१९४०-१९७०)

अध्याय सात

उत्तर-स्वच्छन्दतावाद

उत्तर-स्वच्छन्दतावादी साहित्य की मुख्य प्रवृत्तियों का बीज स्वच्छन्दतावादी साहित्य में ही निहित था। उसका अन्तर्विरोध आगे के साहित्य में, विशेष रूप से कविता में दिखाई पड़ा। नव-स्वच्छन्दतावादी काव्य में पूर्ववर्ती काव्य की वैयक्तिकता का 'क्षयी रोमांस' अभिव्यक्त हुआ तो प्रगतिवादी काव्य-कथा-साहित्य में उसका यथार्थ। कहना न होगा कि स्वच्छन्दतावादी काव्य में दोनों प्रवृत्तियों का सम्मिश्रण था। प्रयोग पूर्ववर्ती कवियों ने कम नहीं किया था। नई कविता और नई कहानी में स्वच्छन्दतावादी मूल्यों का विघटन दिखाई पड़ने लगता है। सातवें दशक में काव्य-उपन्यास कहानी की थीम में अद्‌भुत एकरूपता परिलक्षित होती है। इस दशक को मोहभंग का काल भी कहा जा सकता है। किंतु जिस अकेलेपन, अलगाव, संत्रास आदि की अभिव्यक्ति इसमें हुई है उसकी शुरुआत स्वच्छन्दतावादी साहित्य में ही दिखाई पड़ने लगती है—विशेष रूप से निराला के काव्य, प्रसाद के कहानी-नाटक और प्रेमचन्द के अंतिम उपन्यास-कहानियों में। ये विशेषताएँ जो स्वच्छन्दतावादी साहित्य में दबी पड़ी थीं वे नवीन ऐतिहासिक शक्तियों के कारण उभर कर सामने आईं। इन प्रवृत्तियों को 'ऐंटीथीसिस' भी कहना असंगत नहीं है।

'३५ से '३८ तक के समय को स्वच्छन्दतावादी (छायावादी) काव्य का चरमोत्कर्ष माना जाना चाहिए। '३५ में 'कामायनी' का प्रकाशन हुआ। इसी वर्ष निराला की 'सरोज स्मृति' भी छपी। '३६ में 'राम की शक्ति पूजा' प्रकाशित हुई तो '३८ में 'तुलसीदास'। इसके बाद निराला ने स्वयं अपनी काव्य-दिशा बदल दी। लगता है इन दो वर्षों में स्वच्छन्दतावाद अपने उच्चतम शिखर को छूने में प्रयत्नशील था। आगे की रचनाओं में 'सरोज स्मृति' का टूटा हुआ कवि, 'राम की शक्ति पूजा' के अन्याय के विरुद्ध संघर्षरत राम; 'तुलसीदास' का सांस्कृतिक कवि, 'कामायनी' के मनु और इड़ा दिखाई देंगे।

सन् '३५ में बच्चन का 'मधुशाला' और '३८ में 'निशा निमंत्रण' प्रकाशित हो चुके थे। '३६ में पंत का 'युगान्त' प्रकाशित हुआ। सन् '३६ में पंत के युगान्त ने एक युग के अंत की घोषणा कर दी। इसी वर्ष प्रगतिशील लेखक संघ का अधिवेशन भी हुआ। '३५ में दिनकर ने नया 'हुंकार' किया। ये काव्य-संग्रह

स्पष्टतः एक अलगाव की सूचना देते हैं। नव-स्वच्छन्दतावाद और प्रगतिवाद का एक साथ प्रादुर्भाव एक प्रकार का अन्तर्विरोध ही है।

स्वच्छन्दतावाद काल से '४३ तक जो साहित्यिक अन्तर्विरोध दिखाई पड़ता है उसकी समानन्तरता राजनीति के क्षेत्र में भी परिलक्षित होती है। कांग्रेस के भीतर सत्याग्रह आन्दोलन की विफलताओं ने एक ओर निराशा पैदा की तो दूसरी ओर '३४ में जयप्रकाश नारायण के नेतृत्व में समाजवादी दल की स्थापना भी की। जवाहरलाल नेहरू इसके प्रबल समर्थक थे, यद्यपि वे इस दल के सदस्य नहीं बने। '३६ में लखनऊ कांग्रेस में अध्यक्ष पद से बोलते हुए उन्होंने समाजवाद का खुला समर्थन किया।

जवाहरलाल नेहरू के व्यक्तित्व की समीक्षा करते हुए आक्टो पाज ने उनके अन्तर्विरोधों का संक्षिप्त किंतु सारवान् विवेचन किया है। 'विज्ञान और टेक्नोलाजी में एक ओर उनकी गहरी आस्था थी तो प्रगति की फैंटेसी से उनका लगाव नहीं था। एक ओर वे समाजवाद के समर्थक थे तो दूसरी ओर उसके अधूरेपन और रूढ़िवादिता के विरोधी। उनके विद्रोही कवि-कलाकार ने आध्यात्मिकता से रिक्त एफ्लुएंट समाज का बराबर विरोध किया।' पाज आगे लिखता है कि उनके भाषणों में एक मार्मिक प्रसंग है। नेहरू ने लिखा है—'भीड़ को मैंने आकृष्ट किया और भीड़ ने मुझे, किंतु मैं उसमें खो नहीं सका; मैंने अपने को बराबर अलग पाया।' इसके आधार पर पाज कहता है कि इस घोषणा में न तो अहंकार की गंध है और न विनम्रता की। इसमें उनका अन्य आदमियों की तरह एक आदमी होने तथा उनसे अलग अपना विशिष्ट व्यक्तित्व बनाए रखने की सचेतनता है। यह अन्तर्विरोध उनकी अन्य विशेषताओं में भी पाया जाता है। कहना न होगा कि नेहरू के इस व्यक्तित्व में छायावादी काव्य के सभी अन्तर्विरोध मिल जाते हैं। जिस प्रयोगवादी साहित्य में, नए साहित्य में व्यक्ति ने भीड़ से अलग अकेलेपन का एहसास किया वह भी यहाँ मौजूद है। नेहरू जी भीड़ से जुड़े भी थे और अलग भी। पर कालान्तर में कॉन्शस कर्मी भी भीड़ से अलग होता गया और साहित्यकार भी।

स्वच्छन्दतावादी काव्य के अन्तर्विरोध के फलस्वरूप जो प्रवृत्तियाँ आईं उन्हें निम्नलिखित कोटियों में बाँटा जा सकता है—

१—नव्य स्वच्छन्दतावादी काव्य

२—प्रगतिवादी काव्य

३—राष्ट्रीय सांस्कृतिक काव्य

४—प्रयोगवादी काव्य

५—नई कविता

६—मोहभंग या आधुनिकतावादी काव्य

नव्य स्वच्छन्दतावाद

नव्य स्वच्छन्दतावाद का उदय उस समय हुआ जिस समय स्वच्छन्दतावादी काव्य अपने चरम उत्कर्ष पर था। स्वच्छन्दतावाद के दर्शन से मुक्त होकर इसने नई राह पकड़ी। किंतु यह राह भी पूर्ववर्ती काव्यधारा से ही होकर आई थी। यह राह है नियतिवादिता की, लाचारी की।

स्वच्छन्दतावादी कवियों के पास कोई-न-कोई दर्शन था—शैवागम, अद्वैत-वाद या बौद्धों का दुःखवाद। नव्य स्वच्छन्दतावाद ने इससे अपने को मुक्त तो किया पर कोई नया दर्शन नहीं अपनाया। उसके पास अतीत की क्रोड थी तो वर्तमान का संघर्ष और भविष्य का सपना भी था। किंतु नव-स्वच्छन्दतावादियों के पास वर्तमान की लाचारी थी।

डा० नगेन्द्र ने इस प्रवृत्ति को वैयक्तिक कविता की संज्ञा दी है। पर कविता वैयक्तिक हो ही नहीं सकती। कविता में वैयक्तिकता का होना एक बात है और उसका स्वयं का वैयक्तिक होना दूसरी बात। वैयक्तिक होकर कविता साधारणीकृत कैसे होगी? इसमें भी वैयक्तिकता है पर स्वच्छन्दता-वादी आदर्शों के प्रभामंडल से मुक्त। भोगे हुए यथार्थ की निर्व्याज शुरुआत यहीं से होती है, यद्यपि निराला में यह कम नहीं है।

स्वच्छन्दतावाद में नैराश्य और लाचारी थी। पर वह प्रायः इसे अतिक्रमित कर जाता है। प्रसाद के नाटकों में नियतिवाद को सर्वत्र देखा जा सकता है। किंतु अतिक्रमण की कोशिश वहाँ भी है। किन्तु नव-स्वच्छन्दतावाद में मनुष्य बुरी तरह नियतिबद्ध है। बच्चन ने लिखा है—

मनुज के अधिकार ऐसे
हम यहाँ लाचार ऐसे
कर नहीं इन्कार सकते
कर नहीं सकते वरण भी
स्वप्न भी छल, जागरण भी।

प्रेम के संबंध में स्वच्छन्दतावादी कुंठा या अशरीरी प्रेम यहाँ नहीं। कवि शरीर के प्रति आकृष्ट है। या तो वह निराश, उदास है या लाचारी की डोर में बँधा हुआ तृषित और प्यासा।

भाषा के क्षेत्र में इस काव्य-प्रवृत्ति की विशेष देन है। स्वच्छन्दतावाद तत्सम-बहुल शब्दावली में जकड़ कर जड़ हो चला था। राम की शक्ति पूजा, तुलसीदास इसके प्रमाण हैं। भाषा में अलंकृति की बारीकी अपनी सीमा पर पहुँच चुकी थी। उदाहरण के लिए महादेवी वर्मा के गीत। पंत अपनी कल्पना में प्रायः धरती छोड़

देते थे। कामायनी में बिंबवाद अपनी अतिशयता में निःशेष हो चला था। नव्य स्वच्छन्दतावादी कवियों ने—विशेष रूप से बच्चन ने—स्वच्छन्दतावादी भाषाई आडंबर और अलंकृति को तोड़कर काव्यभाषा को स्वच्छ, सपाट और जनभाषा के निकट ले आने की कोशिश की। बिंबवाद के विरुद्ध सपाट बयानी का समारंभ यहीं से होता है। बच्चन, अचंल और नरेन्द्र शर्मा इसी धारा के कवि हैं।

हरिवंशराय बच्चन (१९०७–) की मधुशाला (१९३५) पहली कृति है जिससे उन्हें लोकप्रियता मिली। प्रकाशन के पूर्व ही कवि-सम्मेलनों में लोग इससे प्रभावित हो चुके थे। '३३ में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के एक कवि-सम्मेलन में उन्होंने पूरी मधुशाला सुनाई थी।

मधुशाला की लोकप्रियता के कारण लोग बच्चन को हालावादी कविता का प्रवर्तक मानने लगे। किन्तु हिन्दी में इस प्रकार का कोई वाद नहीं चला। यदि 'हालावाद' नाम देना ही हो तो इसके प्रवर्तन का श्रेय बालकृष्ण शर्मा नवीन और भगवती चरण वर्मा को देना चाहिए। इसके पहले नवीन 'साकी भर भर ला तू अपनी हाला' और भगवती चरण वर्मा 'बस मत कह देना अरे पिलाने वाले, हम नहीं विमुख हो जाने वाले' लिख रहे थे।

वस्तुतः मधुशाला परंपरा को फारसी कवि उमर खैयाम से प्रेरणा मिली। उसकी रूबाइयों को अनेक लोगों ने अनूदित किया। मैथिलीशरण गुप्त (१९३१), केशव प्रसाद पाठक (१९३२), गिरिधर शर्मा नवरत्न (१९३१) आदि के अनुवाद मधुशाला के पहिले ही प्रकाशित हो चुके थे। बच्चन का अपना अनुवाद भी '३५ में प्रकाशित हुआ।

बच्चन के साहित्यिक विकास को पाँच चरणों में देखा जा सकता है। '३३ से '३७ तक प्रथम, '३७ से '४३ तक द्वितीय, '४३ से '४८ तक तृतीय, '४८ से '५८ तक चतुर्थ और '५८ से अब तक पाँचवाँ चरण माना जा सकता है। पहले चरण में मधुशाला ('३५), मधुबाला ('३६) और मधुकलश आते हैं। द्वितीय में निशा निमंत्रण ('३८), एकांत संगीत ('३९) और आकुल अंतर ('४३) की गणना की जायगी। तृतीय चरण में सतरंगिनी ('४५), बंगाल का काल, सूत की माला और खादी के फूल आते हैं। चौथे चरण में मिलन-यामिनी ('५०) और प्रणय पत्रिका ('५५) को रखा जा सकता है। पाँचवें में धार के इधर-उधर ('५७), आरती और अंगारे, बुद्ध और नाचघर, त्रिभंगिमा, दो चट्टानें आदि रचनाएँ आयेंगी।

मधुशाला की लोकप्रियता के तीन कारण हैं—भाषा की सादगी, बच्चन का गला और छायावादी आदर्शों का विरोध। यों गम गलत करने का यह तरीका

थकान की सूचना देता है। 'बैर बढ़ाते मन्दिर-मस्जिद/मेल कराती मधुशाला' में हिन्दू-मुस्लिम बैर-भाव को मिटाने की जो बात उठाई गई है वह बेहोशी का मेल है।

मधुशाला के बाद मधुबाला। इसमें उनके पन्द्रह गीत संकलित हैं— मधुबाला, मधुपायी, बुलबुल, इसपार उसपार, पगध्वनि, आत्मपरिचय आदि। मधुकलश मधुशाला-शृंखला की ही अगली कड़ी है। इन दोनों संग्रहों में कवि जीवन और जगत् से जूझने को प्रस्तुत दिखाई पड़ता है—

इस पार प्रिये, मधु है, तुम हो
उस पार न जाने क्या होगा।

—मधुबाला

\+ + +

राग के पीछे छिपा
चीत्कार कह देगा किसी दिन
हैं लिखे मधुगीत मैंने
हो खड़े जीवन समर में।

\+ + +

तीर पर कैसे रुकूँ मैं
आज लहरों में निमंत्रण !

'निशा निमंत्रण', 'एकांत संगीत' और 'आकुल अंतर' काव्य की दृष्टि से उनकी सर्वोत्तम रचनाएँ कही जाती हैं। पत्नी की मृत्यु का जो आघात बच्चन को लगा उसका फल है 'निशा निमंत्रण' और 'एकांत संगीत'। 'निशा निमंत्रण' में वह अपने आन्तरिक तूफान, भूली-बिसरी यादों, पपीहे की रटन आदि का चित्रण करता है। अकेलेपन की इतनी गहरी अनुभूति अन्यत्र मिलना कठिन है—

अंतरिक्ष में आकुल-आतुर
कभी इधर उड़, कभी उधर उड़
पंथ नीड़ का खोज रहा है पिछड़ा पंछी एक—अकेला

पंछी पिछड़ा है यानी दल से छूटा हुआ है। 'अकेला' पंछी के संपूर्ण परिवेश को भयावह बनाता हुआ भी उसके मार्गान्वेषण को महत्त्वपूर्ण बनाता है। किंतु अधिकांश गीतों में हार और लाचारी के ही स्वर हैं।

'एकांत संगीत' में वह अपने व्यक्तित्व और अस्तित्व के प्रति जगह-जगह सजग हो उठता है—

कहने की सीमा होती है
सहने की सीमा होती है;

कुछ मेरे भी वश में, मेरा कुछ सोच-समझ अपमान करो !
अब मत मेरा निर्माण करो !

यद्यपि इसका मूल स्वर अकेलेपन का है– 'कितना अकेला आज मैं।' फिर भी अस्तित्व-बोध और मनुष्य के स्वाभिमान को वह याद करता रहता है—

अग्निपथ ! अग्निपथ ! अग्निपथ !
वृक्ष हों भले खड़े
हों घने, हों बड़े,
एक पत्र-छाँह भी माँग मत, माँग मत, माँग मत !

+ + +

प्रार्थना मत कर, मत कर, मत कर
झुकी हुई अभिमानी गर्दन
बँधे हाथ, नत निष्प्रभ लोचन !
यह मनुष्य का चित्र नहीं है; पशु का है रे कायर !

'आकुल अंतर' में कवि 'जग-जीवन का नया ज्ञान' खोजने लगा है। 'क्या करूँ संवेदना लेकर तुम्हारी' इसका केन्द्रीय गीत है।

'सतरंगिनी' में उसके जीवन का नया मोड़ आता है और वह नए निर्माण की ओर उन्मुख होता है—

है अँधेरी रात पर
दीवा जलाना कब मना है
+ + +
जो बीत गई वह बात गई
+ + +
नीड़ का निर्माण फिर फिर
नेह का आह्वान फिर फिर

'बंगाल का काल', 'हलाहल', 'सूत की माला', 'खादी के फूल' में बच्चन की सामाजिक-राजनीतिक रचनाएँ हैं जो अनुभूति के स्पर्श से रिक्त होने के कारण कोरी बौद्धिक (सपाट बौद्धिक) होकर रह गई हैं। मिलनयामिनी और प्रणयपत्रिका में वे प्रणयमिलन के गीत गाते हैं। पर इन गीतों में वह कशिश नहीं है जो निशा निमंत्रण और एकांत संगीत में है। 'त्रिभंगिमा' और 'दो चट्टानें' में कुछ व्यंग्य काफी सटीक बन पड़े हैं। 'दो चट्टानें' अथवा 'सिसिफस बरक्स हनुमान' लंबी कविता है। इसमें तीन मिथकों का प्रयोग किया गया है—प्रोमिथियस, सिसिफस और हनुमान का। प्रोमिथियस और सिसिफस पाश्चात्य मिथक हैं किंतु हनुमान का मिथक कल्पित है। पूरी कविता को मिथकीय बनाने में कवि को सफलता मिली है।

हिन्दी कविता के क्षेत्र में भाषा-संबंधी बच्चन की देन अभूतपूर्व है। भाषा को उन्होंने छायावादी अलंकृति से मुक्त ही नहीं किया बल्कि काव्यभाषा और लोकभाषा की दूरी को भी पाटा। अपने सामर्थ्य के अनुसार सीधी-सादी भाषा को नई अभिव्यंजना से युक्त किया। पर किसी जीवन-दर्शन के अभाव में उनका काव्य सामान्य स्तर से ऊपर नहीं उठ पाता।

रामेश्वर शुक्ल अंचल इस धारा के दूसरे प्रमुख कवि हैं। मधूलिका, अपराजिता, करील, लालचूनर, विरामचिह्न, किरण बेला, वर्षांत के बादल आदि उनके काव्य-संग्रह हैं।

अंचल के काव्य का मूल स्वर है उद्दाम रूपासक्ति और मांसल सौन्दर्य के प्रति सतृष्ण उद्‌गार। छायावादी काव्य में अशरीरी सौन्दर्य और सूक्ष्म प्रेम की जो अभिव्यक्ति हुई थी अंचल के काव्य में उसके विरुद्ध प्रतिक्रिया दिखाई पड़ती है। अतिशय आत्यंतिक और व्यक्तिपरक होने के कारण उनके काव्यात्मक आवेग अपने अंधड़ में रचनात्मक नहीं बन पाते।

अंचल भोग के कवि हैं। उनके उद्‌गारों में भोगाभाव की अतृप्ति, तृष्णा और लिप्सा है। भोग की आकांक्षा अनुभूति में नहीं बदल पाती। रीतिकालीन कवियों की भाँति नारी उनके लिए भोग्या है—सिर्फ भोग्या, और इस भोग के प्रति उनमें भयंकर आसक्ति है—

एक पल की ही निकटता, लालसा उमड़ी प्रलय सी
एक सूनी सी नजर उफना उठी ज्वाला हृदय की
एक पगध्वनि ने मुझे, उन्मत्त रूपाकुल बनाया
स्पर्श के लघु गीत ने कितना अनल-मंडल सजाया
प्यास का सागर तुम्हारा, स्वप्न सा मधु-स्पर्श नारी
जल रहा परितृप्त अंगों में पिपासाकुल पुजारी
है तृषा इतनी विपुल, कितना बनूँगा अब विकल मैं
एक पल के ही दरस में, जल उठी तृष्णा अतल में।

आश्चर्य है कि वाजपेयी जी जैसे उच्चकोटि के आलोचक ने अंचल को विद्रोही कवि कहा है। यदि अंचल विद्रोही हैं तो प्रतिक्रियावादी कौन होगा? इसे हम सेक्स के प्रति भी विद्रोह नहीं कहेंगे क्योंकि कवि कहीं पर भी प्रतिबंधों को नहीं नकारता। वह तो नारी-सौन्दर्य को समूचा-का-समूचा निगल जाना चाहता है। मानसिकता का कहीं भी स्पर्श न होने के कारण उसमें सामान्यतः गदह पचीसी के उद्‌गार ही मिलेंगे—वह भी वासनात्मक धरातल पर।

प्रगतिशील कविताओं में भी अनुभूति शून्यता का वही वीरानापन है। अंचल को न तो बुद्धिजीवी कहा जा सकता है और न आस्थावान। समाजवाद को भी

उन्होंने भावना के स्तर पर ही ग्रहण किया है। वस्तुतः अंचल का सारा काव्य-विकास इस तथ्य का सूचक है कि उन्होंने अपनी उम्र का पचीसवाँ वर्ष कभी पार नहीं किया।

नरेन्द्र शर्मा (१९१३–) क्षयोन्मुख रोमांस के कवि माने जाते हैं। इनका पहला काव्य-संग्रह प्रभात फेरी १९३४ में प्रकाशित हुआ। प्रेम इसका मुख्य कथ्य है। यों असंतोष, आध्यात्मिकता, प्रकृति आदि से भी संबद्ध रचनाएँ हैं। 'प्रवासी के गीत' यौवनाकांक्षाओं से भरे हुए विरह-गीतों का संग्रह है, उनकी सभी रचनाओं में सर्वाधिक लोकप्रिय। पलाशवन, कामिनी, हंसमाला, रक्त-चन्दन, अग्निशस्य, कदलीवन, द्रौपदी और उत्तरजय उनकी अन्य रचनाएँ हैं। द्रौपदी और उत्तरजय खंडकाव्य हैं और शेष स्फुट रचनाओं के संग्रह।

'प्रवासी के गीत' की विरहानुभूति विशुद्ध लौकिक भूमिका पर विचरण करती है। यह प्रसाद के 'आँसू' और पंत के 'उच्छ्वास' की विरहानुभूति नहीं है। प्रसाद और पंत की विरहानुभूतियाँ आध्यात्मिकता से असंपृक्त नहीं रह पातीं। बच्चन के विरह में नैराश्य की तल्खी है जो बहुत कुछ करुणा की सीमा-रेखा को छूती रहती है। अंचल में विरह अनुभूति के स्तर पर न आकर भोग के स्तर पर ही रह जाता है। अंचल में वासना की तात्कालिकता है, स्मृतिजन्य कसक नहीं। नरेन्द्र शर्मा में विह्वल स्मृतियाँ काव्य रूप ग्रहण करती हैं :

> आह अंतिम रात वह बैठी रहीं तुम पास मेरे
> शीश कंधे पर धरे घन कुंतलों से गात घेरे
> क्षीण स्वर में कहा था, "अब कब मिलोगे ?"

पलाशवन, मिट्टी और फूल में भी उद्वेगपूर्ण संयोग-वियोग-श्रृंगार की अभिव्यक्ति है। इसमें उद्वेग तो है किंतु लार टपकती हुई लालसा नहीं है। मिट्टी और फूल, हंसमाला, अग्निशस्य आदि में कवि ने अपने क्षयी रोमांस से मुक्त होने का प्रयास किया। रक्त-चंदन में बापू की मृत्यु के बाद श्रद्धांजलि अर्पित की गई है।

'द्रौपदी' खंडकाव्य है। इसमें नारी को शक्ति का प्रतीक मान कर कवि ने उसे नमन किया है। नारी के विविध रूपों में एक तथ्य सर्वत्र दिखाई देगा कि वह शक्ति स्वरूपा है; शक्ति की साकार प्रतिमा। यह परिकल्पना पारंपरिक भी है और छायावादी भी। नारी के प्रति उत्कट प्रेमासक्ति की चरम परिणति यही है।

सब मिलाकर नरेन्द्र शर्मा में प्रेमानुभूति का ही प्राधान्य है, गाँधीवाद, समाजवाद के प्रति बौद्धिक सहानुभूति ही है। इसलिए प्रेम-परक कविताओं की भाषा में व्यंजकता और सामाजिक कविताओं की भाषा में इतिवृत्तात्मकता दिखाई देती है।

नव्य स्वच्छन्दतावादी धारा अल्पजीवी ही रही। बच्चन, अंचल और नरेन्द्र तीनों ने ह्रासोन्मुखी रोमांस से छूट कर समाजवादी विचारधारा से ताल-मेल बैठाना शुरू किया। पर उनकी अपनी धारा तो छूट ही गई, नई धारा भी नहीं मिल पाई। भाषा, अनुभूति और प्रयोग की दृष्टि से बच्चन का ऐतिहासिक महत्त्व है जब कि शेष दोनों कवि इस धारा के प्रवाह में हैं।

प्रगतिवाद

सन् '३६ के आसपास जिस साहित्य का उदय हुआ उसे प्रगतिवाद की संज्ञा दी गई। कुछ लोग इसे प्रगतिशील साहित्य कहना अधिक संगत समझते हैं। प्रगतिशील शब्द अंग्रेजी के 'प्रोग्रेसिव' का अनुवाद है। सन् '३५ में ई० एम० फार्स्टर के सभापतित्व में पेरिस में 'प्रोग्रेसिव राइटर्स एसोसिएशन' का अधिवेशन हुआ। उससे प्रेरणा लेकर भारत में भी '३६ में 'प्रगतिशील लेखक संघ' का एक अधिवेशन प्रेमचन्द के सभापतित्व में लखनऊ में हुआ। व्यापक अर्थ में दलित मानव का पक्ष लेने वाले सभी साहित्य को प्रगतिशील कहा गया। किंतु जब मार्क्सवादी सिद्धांतों के अनुसार साहित्य को साम्यवादी मूल्यों की स्थापना का माध्यम मान लिया गया तो इसे प्रगतिवादी साहित्य कहा जाने लगा। मार्क्सवादी विचारकों ने बराबर इस बात पर जोर दिया कि यह कोई 'कल्ट' या संकीर्ण संप्रदाय नहीं है। गहरी सामाजिक संपृक्ति ही प्रगतिवाद है। पर इसमें संदेह नहीं कि यह मार्क्सवाद के द्वंद्वात्मक भौतिकवाद से प्रभावित ही नहीं, बल्कि उस पर आधारित भी है।

डा० नगेन्द्र ने 'आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ' में लिखा है— 'प्रगतिवाद छायावाद की भस्म से नहीं पैदा हुआ, वह उसके यौवन का गला घोंट कर ही उठ खड़ा हुआ। कामायनी, तुलसीदास और अनामिका—उधर युगवाणी के रचना-काल में कोई विशेष अन्तर नहीं है।' डा० नगेन्द्र की क्षोभपूर्ण शब्दावली छायावाद के प्रति उनके अतिरिक्त मोह की सूचक है। वस्तुतः '३५–'३८ तक छायावाद अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँच कर अपनी संपूर्ण संभावनाएँ समाप्त कर चुका था। पहले पहल ये छायावादी ही प्रगतिवादी हुए। नगेन्द्र जी ने स्वयं ही कहा है, 'आज के अधिकांश प्रगतिवादी कल के छायावादी हैं। स्पष्ट है कि एक विशिष्ट सामाजिक संदर्भ में ही छायावादियों को बदलाव का निर्णय लेना पड़ा।

जिस समय छायावाद अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँच रहा था, उसी समय लोग उसके प्रेम, वेदना, आँसू, मधुचर्या से ऊबने लगे थे। प्रेमचन्द ने अपने '३६ के भाषण में साहित्य को उपयोगितावाद से जोड़ा—'कवि या कथाकार फूलों को देखकर इसलिए आनन्द का अनुभव करता है कि उनसे फलों की आशा होती है।'

'३६ में ही सुमित्रानन्दन पंत ने 'युगान्त' लिख कर उस युग के अंत की ही घोषणा कर दी। 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' में प्रगतिवादी युग को वाणी दी गई है। '३८ में उन्होंने 'रूपाभ' मासिक पत्र निकाल कर अपनी घोषणा को पुष्ट किया। उस पत्र के पहले अंक का संपादकीय प्रगतिवाद का घोषणा-पत्र समझा जाना चाहिए। '४१ में 'हंस' के सम्पादक के रूप में शिवदान सिंह चौहान ने प्रगतिवाद के समर्थन में धारावाहिक लिखना आरंभ किया। 'नया साहित्य' पत्र के प्रकाशन द्वारा भी इसकी अभ्यर्थना की जाने लगी। प्रसाद के साहित्य में सांस्कृतिक-राष्ट्रीय आकांक्षाओं की उत्थानमूलक अभिव्यक्तियाँ तो प्रचुर मात्रा में मिलेंगी, पर प्रगतिवाद के सामाजिक यथार्थवाद के प्रति उनकी रुझान कभी नहीं रही। महादेवी वर्मा के परवर्ती काव्य पर भी इस आन्दोलन का प्रभाव पड़ा। निराला प्रारंभ से ही प्रगतिशील दृष्टिकोण लेकर काव्य में अवतरित हुए। भिक्षुक, दीन, बादलराग, वनवेला अनेक ऐसी कविताएँ हैं जिनमें स्पष्ट रूप से पीड़ित, शोषित मानव का पक्ष लेकर क्रांति का आवाहन किया गया है। पर आलोचकों की दृष्टि इस वास्तविक प्रगतिवादी कवि की ओर नहीं गई। उन लोगों ने मार्क्सवादी सिद्धांतों पर आधारित घटिया काव्यों की प्रशंसा की। मार्क्सवादी नुस्खों पर आधारित पंत के परवर्ती काव्य की प्रशंसा अतिरिक्त उत्साह से की गई। जाहिर है कि प्रगतिवाद पहले सिद्धांत का जामा पहन कर आया। अगर आलोचक अपनी हद से बाहर जाकर इसका समर्थन न किये होते तो प्रगतिवादी काव्य अपनी रचनात्मक भूमिका पर खड़ा होकर कुछ टिकाऊ होता।

नव्य छायावादी या क्षयी रोमांस के कवियों ने भी प्रेम-संगीत से उपराम लेकर प्रगतिवादी रचनाओं का सृजन प्रारंभ किया। भगवती चरण वर्मा की प्रसिद्ध कविता 'चरमर चरमर-चूँ-चरर-मरर, जा रही चली भैंसागाड़ी' काफी लोकप्रिय हुई। बच्चन के बंगाल का काल, सूत की माला, आरती और अंगारे, बुद्ध और नाचघर आदि में प्रगतिवादी रचनाएँ संगृहीत हैं। अंचल 'मधूलिका' और 'अपराजिता' का रोमैंटिक आँचल छोड़कर 'किरण-वेला' और 'करील' तक जा पहुँचे। नरेन्द्र शर्मा 'हंसमाला,' 'अग्निशस्य', 'रक्तचन्दन' आदि में व्यक्तिवादी भूमिका से समाजवादी भूमिका में प्रवेश करते हैं।

सन् १९४३ में अज्ञेय के संपादकत्व में प्रयोगवादी कविताओं का एक संकलन 'तार सप्तक' के नाम से प्रकाशित हुआ। इस संग्रह में जिन सात कवियों की रचनाएँ संगृहीत हुई हैं उनमें से मुक्तिबोध, नेमिचन्द्र जैन, भारतभूषण अग्रवाल, प्रभाकर माचवे, रामविलास शर्मा स्पष्टतः मार्क्सवादी हैं। अज्ञेय की जो कविताएँ इस संग्रह में हैं वे भी प्रगतिवाद से प्रभावित हैं। नागार्जुन,

केदारनाथ अग्रवाल, त्रिलोचन शास्त्री, शिवमंगल सिंह सुमन आदि प्रगतिवादी कवि माने जाते हैं।

नागार्जुन (१९११—) मिथिला के रहने वाले हैं और उनकी रचनाओं में प्रगतिवादी सामाजिक चेतना के अतिरिक्त मिथिला की धरती की अपनी गंध भी मिलती है। 'युग की गंगा' (१९५६) और 'सतरंगे पंखों वाली' (१९५९) उनके काव्य-संग्रह हैं।

समाजवादी यथार्थ के प्रति वे बौद्धिक दृष्टि से ही आकृष्ट नहीं हैं बल्कि उनके जीवन का परिवेश ही इस तरह का है कि वे उसके लिए बाध्य हैं। गरीब परिवार में पैदा होकर उन्होंने अपने चारों ओर उसका दबाव अनुभव किया। बहुसंख्य लोगों के चेहरों की झुर्रियाँ उन चन्द चेहरों की ललाई पर है जो उनके लिए जिम्मेदार हैं। यह वैषम्य उनकी कविता में तीखेपन के साथ अभिव्यक्त हुआ है। वह लिखता है—

> कैसे लिखूँ शांति की कविता,
> अमन चैन को कैसे कड़ियों से बाँधूँ।
> मैं दरिद्र हूँ पुश्त पुश्त की यह दरिद्रता
> कटहल के छिलके जैसी खुरदरी जीभ से
> मेरा लहू चाटती आई
> मैं न अकेला............................
> मुझ जैसे तो लाख-लाख हैं, कोटि-कोटि हैं

अपनी इस लाचारी के कारण वह सामाजिक-राजनीतिक विसंगतियों पर व्यंग्य करता है, व्यंग्य उनकी अपनी शैली है। पंचवर्षीय योजनाओं को लक्ष्य कर लिखी गई ये पंक्तियाँ सामयिक हैं—

> आजादी की कलियाँ फूटीं, पाँच साल में होंगे फूल
> पाँच साल में फल निकलेंगे, रहे पंत जी झूला झूल

गाँव के रहने वाले कवि की दृष्टि गाँव की ओर गई—उसके शोषित स्वरूप पर और उसके सहज सौन्दर्य पर—

> घुन खाए शहतीरों पर की बारह खड़ी विधाता बाँचे
> फटी भीत है, छत चूती है, आले पर बिसतुइया नाचे
> बरसा कर बेबस बच्चों पर मिनट मिनट में पाँच तमाचे
> इसी तरह दुखरन मास्टर गढ़ता है आदम के साँचे।

उसकी ग्रामश्री पंत की ग्रामश्री से भिन्न और वैयक्तिक है—

> याद आता मुझे अपना वह 'तरउनी' ग्राम
> याद आती लीचियाँ औ' आम

+ + +

याद आते कमल, कुमुदिनी और तालमखान
याद आते शस्य श्यामल जनपदों के
रूप गुण अनुसार ही रक्खे गए वे नाम ।

इन व्यंग्यात्मक रचनाओं के अतिरिक्त नागार्जुन ने सौन्दर्य के काव्यात्मक चित्र भी खींचे हैं—

मृगछालों पर पल्थी मारे, मदिरारुण आँखों वाले उन
उन्मद किन्नर-किन्नरियों की, मृदुल मनोरम अंगुलियों को
वंशी पर फिरते देखा है, बादल को घिरते देखा है ।

केदारनाथ अग्रवाल (१९११) इस धारा के सबसे अधिक सशक्त कवि हैं। इसका कारण यह है कि वे कविता को वस्तुसत्ता की आत्मपरक अभिव्यक्ति मानते हैं। नागार्जुन में यह व्यक्तिपरकता कम मिलती है । नव्य छायावादी कवियों की तरह प्रगतिवादी कवि भी आलंकारिक स्तर पर छायावादी कवियों से अपने को अलगा रहे थे । केदारनाथ लिखते हैं—

कविता यों ही बन जाती है, बिना बनाए
क्योंकि हृदय में, तड़प रही है याद तुम्हारी ।

यह पंत की उस कविता से जिसमें उन्होंने लिखा है—'वियोगी होगा पहला कवि, आह से निकला होगा गान' से मिलती-जुलती होकर भी भिन्न है । यहाँ कविता उछ्वसित आह से नहीं, बल्कि तड़प से बनती है । फिर भी केदारनाथ की प्रारंभिक कविताएँ छायावादी प्रभाव से मुक्त नहीं हैं। किंतु क्रमशः छायावादी काव्य-परिपाटी से मुक्त होकर वे निजी शैली बना लेते हैं। युग की गंगा (१९४७), नींद के बादल (१९४७), फूल नहीं रंग बोलते हैं (१९६५), आग का आईना (१९७०), समय-समय पर (१९७०) उनके काव्य-संग्रह हैं।

'युग की गंगा' की भूमिका में कवि ने लिखा है—"इसमें ईश्वर का मखौल है; इसमें समाज की अर्थनीति के विरुद्ध प्रहार है; इसमें कटु जीवन का व्यंग्य है; साथ-ही-साथ प्रकृति का किसानी चित्रण भी है; और देश की जागृत शक्ति का उबाल है ।....'जिन्दगी की भीड़' की इन कविताओं में जनता के मोर्चे की प्रति-ध्वनि है ।"

इस संग्रह में 'प्रकृति का किसानी चित्रण' सबसे अधिक सजीव है। इस चित्रण में प्रकृति छायावादी सुन्दरी अथवा ऐन्द्रजालिक के रूप में नहीं ग्रहण की गई है बल्कि किसानी मस्ती और स्वच्छन्दता के रूप में ग्रहण करने के कारण अधिक जीवंत और टटकी बन पड़ी है—'चन्द्रगहना से लौटती बेर' और 'बसन्ती हवा' ऐसी ही कविताएँ हैं—

एक बीते के बराबर
यह हरा ठिगना चना,
बाँधे मुरैठा शीश पर
छोटे गुलाबी फूल का
सज कर खड़ा है।

\+ \+ \+

चढ़ी पेड़ महुवा
थपाथप मचाया
गिरी धम्म से फिर
चढ़ी आम ऊपर
उसे भी झकोरा
किया कान में कूँ
उतर कर भगी मैं
हरे खेत पहुँची—
वहाँ, गेहुओं में
लहर खूब मारी;

'नींद के बादल' की कविताओं पर छायावादी रंग अधिक चटकीला है, पर इसमें किसानपन की पूरी झलक है। 'फूल नहीं रंग बोलते हैं' में वह किसानी गीत की धुनों को पकड़ता है—

माँझा न बजाओ वंशी मेरा प्रन टूटता
मेरा प्रन टूटता है जैसे तृन टूटता
तृन का निवास जैसे बन-बन टूटता
माँझा न बजाओ वंशी मेरा तन झूमता
मेरा तन तेरा तन एक बन झूमता।

केदारनाथ की ख्याति उनकी प्रकृति संबंधी कविताओं पर ही आधारित है। इसीलिए प्रायः उनकी प्रकृति संबंधी कविताएँ ही उद्धृत की जाती हैं। अर्थ-वैषम्य पर रची कविताएँ सामान्यतः या तो प्रचारात्मक हो गई हैं या वक्तव्य-प्रधान। आग का आईना, उत्तरी वियतनाम, मोरचे पर, लौह का घन गल रहा है, नागार्जुन के बाँदा आने पर आदि ऐसी ही कविताएँ हैं।

केवल त्रिलोचन शास्त्री ऐसे कवि हैं जिनकी कविता अपने औसत धरातल से कहीं भी नीचे नहीं उतरती। इनकी भाषा की पारदर्शिता अर्थ में कहीं भी उलझाव नहीं आने देती। शमशेर बहादुर सिंह त्रिलोचन की भाषा की सरलता और व्यंजकता पर मुग्ध हैं। अन्य प्रगतिवादी कवियों की तरह

इन्होंने भी लोकभाषा के मुहावरों से अपनी भाषा को अभिव्यंजना-क्षम बनाया है।

त्रिलोचन ने सतर्कतापूर्वक अपने को प्रगतिवादी नारों से बचाया है। फिर भी कुछ कविताओं में इनका समावेश हो ही गया है, जैसे, सोच समझ कर चलना होगा, तुम बढ़ो विजय के पथ पर, चीन महान चीन, इन दिनों मनुष्य का महत्त्व कोई नहीं है आदि।

त्रिलोचन का प्रगतिवाद त्रासदीय जीवन बोध (ट्रेजिक सेंस आफ लाइफ) में है। यह बोध उसे सैद्धांतिक स्तर पर नहीं मिला है बल्कि जीवन के लघु-लघु प्रसंगों से प्राप्त हुआ है।

मैं जब कभी अकेला बिलकुल हो जाता हूँ, गोविन्द आज तुम नहीं हो, जीवन का निश्चय क्या, जीवन का एक लघु प्रसंग आदि ऐसी कविताएँ हैं। 'मैं जब कभी अकेला बिलकुल हो जाता हूँ' की कुछ पंक्तियाँ हैं--

> दृश्य बदलता है
> कि देखता हूँ फिर
> मैं बीमार खाट पर लेटा हूँ मनमारे
> सिरहाने बैठी हो तुम माथे पर अपना हाथ पसारे
> पूछ रही हो
> [दृग में चिंता वाणी में विश्वास अटल है]
> अब कैसी तबियत है !

यह बोध उसके प्रकृति-चित्रों में भी मिलता है--दो दिन पाहुन जैसे रह कर बादल चले गये वे, सघन पीली उर्मियों में बोर, हंस के समान दिन उड़कर चला गया आदि।

त्रिलोचन की कविता में व्यंग्य-विनोद का अभाव है। पर जहाँ है वहाँ धार-दार है। 'चंपा काले-काले अक्षर नहीं चीन्हती' देखी जा सकती है—

> चंपा, पढ़ लेना अच्छा है
> चंपा बोली--- तुम कितने झूठे हो
> राम, राम, तुम-पढ़ लिखकर इतने झूठे हो
> मैं तो ब्याह कभी न करूँगी
> और कहीं जो ब्याह हो गया
> तो मैं अपने बालम को संग-साथ रखूँगी
> कलकत्ता मैं कभी न जाने दूँगी
> कलकत्ते पर वज्र गिरे।

पढ़े-लिखे लोगों पर तो व्यंग्य है ही, पर क्या इस पूँजीवादी व्यवस्था में

चंपा अपने बालम को कलकत्ता जाने से रोक सकेगी? यह व्यंग्य पूरी कविता को पुनः ट्रैजिक बना देता है।

धरती, गुलाब और बुलबुल और दिगंत उसके काव्य-संग्रह हैं।

शिवमंगलसिंह सुमन (१९१६—) स्वभाव से ही भावुक कवि हैं। उनकी भावुकता को बुद्धि का अंकुश अपने वश में नहीं कर पाता। उनका मन सहज होकर विरह-गीत लिखता है और बुद्धि के वश में होकर मार्क्सवादी सिद्धांतों के आधार पर कविता गढ़ता है। सुमन का द्विधा-विभक्त व्यक्तित्व कहीं पर ठहराव नहीं पाता। संभव है अपनी विरहाकुलता को कम करने के लिए ही उन्होंने अपना रास्ता बदला हो।

उनका विरह न तो छायावादियों की तरह उदात्त है और न अंचल-नरेन्द्र शर्मा की तरह मांसल और क्षयग्रस्त। बच्चन की तरह ऐकान्तिक भी नहीं है। पुरवैया की लहरदार गंगा में पड़ी हुई छोटी नौका की तरह चंचल है :—

है सारा संसार सुखी क्या केवल मैं एक दुखी क्या
यही समझ धीरज धर लेता, यह निष्फल सा जीवन मेरा

'हिल्लोल' और 'पर आँखें नहीं भरीं' इसी ढंग के काव्य-संग्रह हैं। 'नवयुग के गान' और 'प्रलय सृजन' में कवि समाजवादी भूमिका पर प्रतिष्ठित दिखाई देता है। इनमें शोषित वर्ग की हिमायत और पूँजीवादी वर्ग की खिलाफत अभिव्यक्त हुई है। 'गुनिया का यौवन', 'कलकत्ते का अकाल' और 'चल रही कुदाली' आदि लोकप्रिय रचनाएँ हैं। अन्य प्रगतिवादियों की तरह रूस के प्रशस्तिगान भी इनमें समाविष्ट हैं। प्रगतिवादी कविता के दो उदाहरण निम्नलिखित हैं—

हाय, यहाँ मानव-मानव में समता का व्यवहार नहीं है,
हाहाकारों की दुनिया में सपनों का संसार नहीं है
इसीलिए अपने सपनों को मुट्ठी में मलता जाता हूँ।

\+ + +

जगे वीर, जागी वसुन्धरा, जागी युग की ज्वाला
यहाँ लुटेरे फ़ासिस्तों को पड़ा मौत से पाला
जन-जन जागे, कण-कण जागा, जागा लाल सितारा
चली लाल सेना लहराती लाल रक्त की धारा
कौन लड़ेगा? कौन बढ़ेगा? कौन साहसी शूर है
दस हफ्ते दस साल बन गए, मास्को अब भी दूर है।

सुमन की प्रगतिवादी रचनाओं में ओज है—पर यह ओज निराला के काव्य का ओज न होकर रेहटारिक का ओज है। रामविलास शर्मा और रांगेय राघव

भी प्रगतिवादी शिविर के कवि हैं। पर एक ने आलोचना का क्षेत्र अपना लिया है तो दूसरे ने कथा-साहित्य का।

प्रगतिवादी कवियों की अवधारणाओं से किसी को शिकायत नहीं होनी चाहिए। पर प्रगतिवादी कविताओं से शिकायत न होना आश्चर्यजनक होगा। इस धारा का कोई कवि नहीं है जो प्रगतिवाद के प्रत्यय (कांसेप्ट) बोध कराते हुए राग बोध भी कराता हो। आर्थिक वैषम्य पर आधारित कविताएँ इतनी सतही, सपाट और उथली हैं कि वे कविताएँ नहीं बन पातीं। माना कि कविता राग बोध न कराकर बौद्धिक भी होती है। किंतु इन रचनाओं में बौद्धिक जटिलता भी नहीं है। मार्क्स ने स्वयं कला और आर्थिक विषमताओं की जटिलता की ओर ध्यान आकृष्ट किया है। लेकिन हिन्दी के प्रगतिवादी कवियों के लिए इस जटिलता को समझ पाना कठिन था क्योंकि वे बुद्धि के स्तर पर ही मार्क्स-वादी थे, संवेदना के स्तर पर नहीं। फलस्वरूप यह आन्दोलन अत्यल्प समय में ही निःशेष हो गया।

भाषा की दृष्टि से इनके अवदान को नकारा नहीं जा सकता। छायावादी काव्यभाषा की अलंकृति, अस्पष्टता और धुँधलके से हटकर इन कवियों ने भाषा को लोक से जोड़ा या लोकभाषा को अपनाया। इससे अभिव्यक्ति में सपाट बयानी आई। सपाट बयानी कविता नहीं हो सकती क्योंकि जटिल भावों की अभिव्यक्ति में यह सर्वथा असमर्थ है। किंतु आगे के कवियों ने, मुख्यतः नए कवियों ने इसमें नया अर्थ भर कर इसे जटिल भावाभिव्यक्ति के योग्य बनाया।

रांगेय राघव ऐसे कवि और कथाकार हैं जो साहित्य और समाज के प्रति पूर्णतः समर्पित हैं। शायद ही कोई प्रगतिवादी कवि हो जो अपने मार्क्सवादी सिद्धांत और काव्यगत ईमानदारी के प्रति इतना अधिक निष्ठा-वान हो। 'अजेय खंडहर' (१९४४), 'मेधावी' (१९४७) और 'पांचाली' (१९५५) कवि के आख्यानात्मक काव्य हैं।

'अजेय खंडहर' में तीन शीर्षकों—झंकार, ललकार, हुंकार—से स्तालिनग्राद युद्ध के कतिपय स्थलों का वर्णन किया गया है। इसके माध्यम से उसने अन्त-र्राष्ट्रीय चेतना और भारतीय स्वातंत्र्य संग्राम को एकसूत्र में बाँधने की कोशिश की है—

जागो याद कर गतमान, मेरे प्राण हिन्दुस्तान
स्तालिनग्राद हिन्दुस्तान।

अपनी इतिवृत्तात्मकता के बावजूद इसमें जगह-जगह काव्यात्मक प्रौढ़ता के दर्शन होते हैं। अन्य कवियों की तरह उसने केवल समसामयिकता तक ही अपने को सीमित नहीं किया है बल्कि उसके पार जाकर स्थायित्व की तलाश भी की है।

'मेधावी' चिन्तन-प्रधान काव्य है। इसमें 'दर्शन, भूगोल, इतिहास, काव्य, समाजशास्त्र' आदि का समावेश है। इतिहास के नाना प्रसंगों को चिंतन की कड़ियों में गूँथने के कारण इसमें एक तरह का बिखराव आ गया है। पर बीच-बीच में लाए हुए गीत अधिक काव्यमय बन पड़े हैं।

'पांचाली' में धर्मराज युधिष्ठिर और पांचाली के चरित्रों के माध्यम से नारी, समाज, राष्ट्र, वर्ण, राज्यतंत्र, प्रेम, अहिंसा आदि से संबद्ध महत्त्वपूर्ण समस्याओं पर विचार व्यक्त किए गए हैं। 'मेधावी' की अपेक्षा 'पांचाली' की वस्तुसंघटना अधिक कलात्मक बन पड़ी है। जहाँ तक शिल्प का संबंध है रांगेय राघव ने पर्याप्त सजगता का परिचय दिया है, यद्यपि उसमें भी वस्तु तत्त्व की ही प्रधानता है।

राष्ट्रीय सांस्कृतिक काव्य

माखनलाल चतुर्वेदी, बालकृष्ण शर्मा नवीन, भगवतीचरण वर्मा और रामधारी सिंह दिनकर इस धारा के प्रमुख कवि हैं। सभी के व्यक्तित्वों में एक तरह की फक्कड़ाना मस्ती, लापरवाही और बलिवेदी पर चढ़ने की ललक मिलती है। चारों कवियों में ओज और विप्लव का भावनात्मक स्वर मिलता है। प्रेम-क्षोभ में भी सभी की समान दिलचस्पी है। पर अपनी साधना के फलस्वरूप दिनकर ने अपना विशिष्ट व्यक्तित्व बना लिया है।

माखनलाल चतुर्वेदी 'एक भारतीय आत्मा' (१८८८–१९६८) ने स्वच्छन्दतावादी काल में ही लिखना आरंभ कर दिया था। पर वे अपने राष्ट्रीय काव्य के लिए ही प्रसिद्ध हैं। 'पुष्प की अभिलाषा' नामक कविता अपने जमाने में काफी लोकप्रिय हुई थी—

> मुझे तोड़ लेना, वनमाली !
> उस पथ में देना तुम फेंक,
> मातृभूमि पर शीश चढ़ाने
> जिस पथ जावें वीर अनेक।

'हिम किरीटिनी', 'हिम तरंगिणी', 'वेणु लो गूंजे धरा' आदि इनके काव्य-संग्रह हैं।

बालकृष्ण शर्मा नवीन (१८९७–१९६०) कांग्रेस के सक्रिय कार्यकर्ता, पत्रकार और साहित्यकार थे। राष्ट्रीय आन्दोलन में सक्रिय भाग लेने के कारण उनकी कविताओं में राष्ट्रीय आन्दोलनों और देशभक्ति की भावना का स्वर मुखर है। पर लगता है वास्तविकता से टकरा कर वह शृंगारिकता के बीच बार-बार लौट आता है। उसका सारा व्यक्तित्व क्षोभ और विश्रान्ति के ताने-बाने से बुना हुआ है। कवि स्वयं कहता है—

हम विषपायी जनम के सहे बोल कुबोल

\+ + +

ठाठ फ़कीराना है अपना, बाघंबर सोहे तन

\+ + +

यों शूलयुक्त, यों अहि आलिंगित जीवन

क्षोभ से आविष्ट होकर वह एक ओर कहता है—

कवि कुछ ऐसी तान सुनाओ
जिससे उथल-पुथल मच जाये
एक हिलोर इधर से आये
एक हिलोर उधर से आये

किंतु दूसरे क्षण में वह थकान का गीत लिखने लगता है—

नीरस, अति निष्फल यह जीवन, हृदय रिक्त, मन निपट अशांत
केवल व्यर्थ प्रयोगों में ही बीते जीवन क्षण सुनसान,
अब तो बहुत थक गये, प्राण;

केवल भावना पर आश्रित होने के कारण 'नवीन' काव्य ललकार या हार का काव्य बन कर रह जाता है। कुंकुम (१९३६), रश्मिरेखा और अपलक (१९५१), क्वासि (१९५२), विनोबास्तवन (१९५५), उर्मिला (खंडकाव्य) (१९५७) और 'हम विषपायी जनम के' (१९६४) उनके काव्य, संग्रह हैं।

भगवती चरण वर्मा (१९०३) भी भावनात्मकता के कवि हैं। ललकार और लाचारी उनकी कविता के मुख्य स्वर हैं। 'नवीन' और वर्मा जी दोनों की ललकारों में अराजकता सर्वत्र दिखाई देती है। पर इसके बाद कवि प्रणय-भावना अथवा लाचारी के गीत गाने लगता है। 'नवीन' की तरह इनमें एक तरह की दीवानगी है—

हम दीवानों की क्या हस्ती
हैं आज यहाँ कल वहाँ चले
मस्ती का आलम साथ चला
हम धूल उड़ाते जहाँ चले।

दीवानगी, मस्ती का आलम, प्रणय-गीत संबंधी रचनाएँ 'मधुकण' और 'प्रेम संगीत' में संगृहीत हैं। 'मानव' की रचनाएँ 'प्रगतिवाद' से प्रभावित हैं। 'चली आ रही भैंसागाड़ी, चूँ चरर मरर चूँ चरर मरर' जैसी प्रसिद्ध कविता इसी दृष्टिकोण का परिचायक है।

यद्यपि वर्मा जी काव्य के क्षेत्र में बहुत दिनों तक नहीं रह सके फिर भी उनकी भाषा, संगीत, खैय्यामी अन्दाज, प्रणयगत नैराश्य आदि का प्रभाव परवर्ती कवियों पर पड़ा—मुख्य रूप से बच्चन और नरेन्द्र शर्मा पर। इस दृष्टि

से इनका ऐतिहासिक महत्त्व है। 'मधुकण', 'प्रेम संगीत' और 'मानव' इनके काव्य संग्रह हैं।

रामधारी सिंह दिनकर (१९०८) में एक भारतीय आत्मा, नवीन और भगवती चरण वर्मा को एक साथ समन्वित, परिष्कृत और संयमित रूप में देखा जा सकता है। उनसे मिलती-जुलती राष्ट्रीयता और शृंगारिकता किंतु अधिक रचनात्मक, बौद्धिक और मर्यादित। एक भारतीय आत्मा के काव्य में भावाकुल उच्छ्वास अंत तक बना रहा। नवीन के लिए कवि-जीवन राजनीतिक जीवन का 'बाई प्रोडक्ट' बन गया। दिनकर का पूरा जीवन साहित्य को समर्पित है। उन्होंने अपने साहित्य का रह-रह कर निरीक्षण-परीक्षण भी किया है। उसके प्रकाश में अपनी साहित्यिक यात्रा के पड़ावों को बदला भी है। '२० से '४० के बीच अपनी समसामयिकता के प्रति जितने सजग और ईमानदार दिनकर रहे हैं उतना सजग कोई दूसरा कवि नहीं दिखाई देता। इन दो दशकों के इतिहास के लिए दिनकर की रचनाएँ सर्वाधिक प्रामाणिक हैं।

दिनकर न तो बच्चन, अंचल आदि नव्य छायावादियों (व्यक्तिवादी) से जुड़ पाते हैं और न प्रगतिवादियों से। उनका अपना अलग रास्ता है। वे कहीं दोनों धाराओं के बीच में पड़ते हैं। इसलिए कहीं वे गांधीवाद का समर्थन करते हैं तो कहीं सशस्त्र क्रांति का, कहीं प्रकृति और नारी-प्रेम की आकांक्षा व्यक्त करते हैं तो कहीं सर्वहारा के उदय की। कवि के इस अन्तर्विरोध को किस रूप में लिया जाय ? इन अन्तर्विरोधों को राष्ट्रीयता की व्याप्ति में समेटा जा सकता है। समय की माँग के फलस्वरूप जहाँ-जहाँ उनके मन का मेल बैठता गया वहाँ-वहाँ उनकी कविता भी अपना विशिष्ट रूप लेती गई। किंतु इसका अभिप्राय यह नहीं है कि उन्होंने समसामयिक कविताएँ लिखी हैं। समसामयिक होकर भी अनेक रचनाएँ समसामयिकता को पार कर जाती हैं। वस्तुतः ये ही उनकी उपलब्धियाँ हैं।

रेणुका (१९३५) दिनकर का प्रथम काव्य-संग्रह है। इस संग्रह ने कवि को लोकप्रिय बनाया। इसमें जो कविताएँ संगृहीत हैं वे कवि की द्विधाग्रस्त चित्तवृत्ति की सूचक हैं। इसमें कहीं क्रांति का उद्घोष है तो कहीं अमिताभ की दया, माया, ममता और अहिंसा की शीतल छाया की माँग। कहीं छायावादी रूमानियत है तो कहीं शोषकों के प्रति विक्षोभ जन्य स्वर।

'ओ द्विधाग्रस्त शार्दूल बोल' में वह हिंसा का समर्थन करता है किंतु 'संजीवन धन दो' में वह दूसरा स्वर निकालते हुए लिखता है—

तप कर शील मनुज का साधे
सबके प्राण कुसुम से बाँधे

सत्य हेतु निष्ठा अशोक की, गौतम का प्रण दो।
मन-मन मिलते जहाँ देवता ! वह विशाल मन दो।

यह वैचारिक अन्तर्विरोध कवि का अपना भी है और युगीन अस्थिरता का भी।

'हुंकार' को कवि ने राष्ट्रीय कविताओं का संग्रह कहा है। इसे वैतालिक का जागरण गान भी कहा जा सकता है—'तिमिर-ज्योति की समरभूमि का मैं चारण, मैं वैताली।' 'हाहाकार' जैसी लोकप्रिय रचना इसी संग्रह में है—

हटो व्योम के मेघ, पंथ से, स्वर्ग लूटने हम आते हैं,
'दूध, दूध' ओ वत्स ! तुम्हारा दूध खोजने हम जाते हैं !

कहीं-कहीं भगवती चरण वर्मा की मस्ती भी इसमें मिलेगी—'उन मौजों पर चली जा रही किश्ती कुछ दीवानों की।' वह बार-बार रुद्र, प्रलय नृत्य आदि का आह्वान करता है। इससे उसकी युद्ध-प्रियता का पता चलता है। हिमालय में वह लिखता है—

रे ! रोक युधिष्ठिर को न यहाँ
जाने दे उनको स्वर्ग धीर !
पर फिरा हमें गांडीव गदा,
लौटा दे अर्जुन भीम वीर
कह दे शंकर से आज करें
वे प्रलय नृत्य फिर एक बार
सारे भारत में गूँज उठे,
'हर हर बम' का महोच्चार।

वस्तुतः देश की तत्कालीन राजनीति से ऊब कर वह विप्लव के गीत गाता है। वह खुद लिखता है—'ऊब गया हूँ देख चतुर्दिक अपने/अजा-धर्म का ग्लानि-विहीन प्रवर्तन।

'सामधेनी' में कवि की दृष्टि अपेक्षाकृत व्यापक हो गई है। '४१ से '४६ के बीच घटी हुई राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय घटनाएँ काव्य का वर्ण्य विषय हैं फिर भी मुख्य विषय राष्ट्रीयता है। वह अब भी गाता है—

व' देख लो, खड़ी है कौन तोप के निशान पर;
व' देख लो, अड़ी है कौन जिन्दगी की आन पर;
व' कौन थी जो कूद के अभी गिरी है आग में ?
लहू बहा ? कि तेल आ गिरा नया चिराग में ?
अहा, व' अश्रु था कि प्रेम का दबा उफान था ?
हँसी थी या कि चित्र में सजीव, मौन गान था ?
अलभ्य भेंट काल को चढ़ा रहीं जवानियाँ।

'कलिंगविजय' तथा 'मेरे स्वदेश' में उनका दृष्टिकोण बदला हुआ लगता है। जिसे वह 'अजाधर्म' के नाम से पुकारता था उसे ही वह दूसरे कोण से देखता हुआ प्रतीत होता है।

इन संग्रहों को दिनकर का प्रारंभिक प्रयास कहा जायगा। भाषा पर मैथिलीशरण गुप्त का स्पष्ट प्रभाव है। किन्तु इसमें गुप्त जी की सहज वर्णनात्मकता नहीं है। छायावादी ढंग के संवेग के कारण भाषा अधिक गत्यात्मक हो गई है। पर गति में कसाव की जगह उछल-कूद है, आडंबर है। अनुभूति के स्थान जब भावनामयता (सेंटीमेंटैलिटी) ले लेती है तो रेहटारिक का प्राधान्य हो उठता है।

'रसवंती' में शृंगारिक रचनाएँ संगृहीत हैं। किंतु इसमें अभिव्यक्त शृंगारिक चेतना भी द्विवेदी युगीन है। वही सात्त्विक भाव और वही स्थूल नैतिक प्रतिबंध। प्रेम को अर्चना और साधना कह कर दिनकर ने मध्यकालीन मनोवृत्ति का परिचय दिया है। संपूर्ण संग्रह में कहीं पर न तो प्रेम की व्याकुलता है और न उसकी उष्णता। अनुभूति की कमी इसे बहुत कुछ नीरस बना देती है। भाषा पंत का प्रभाव लिये हुए है किंतु अपनी वर्णनात्मकता में वह उसे विकृत कर देती है।

'द्वंद्वगीत' में जीवन और जगत् संबंधी रहस्यों को उभारा गया है—भेजा किसने ? क्यों ? कहाँ ?/भेद अब तक न क्षुद्र यह जान सका।/युग युग का मैं यह पथिक श्रांत/अपने को अब तक पा न सका।

वस्तुत: 'कुरुक्षेत्र' (१९४६) के प्रकाशन के बाद ही दिनकर गंभीर कवि के रूप में स्थापित हुए। पूर्ववर्ती रचनाओं को 'कुरुक्षेत्र' तक पहुँचने का सोपान समझना चाहिए। पहले की भावनामयता बौद्धिकता से संपृक्त होकर 'कुरुक्षेत्र' को बौद्धिक स्तर पर विचारणीय बना देती है। दो महायुद्धों की लपेट में आकर तथा भावी महायुद्ध की त्रासद आशंका से भयग्रस्त होकर दुनिया के बुद्धिजीवी युद्ध और शांति के संबंध में गंभीरतापूर्वक विचार करने लगे थे। रसेल जैसे उच्चकोटि के दार्शनिक ने इस संबंध में काफी लिखा है। दिनकर रसेल से भी प्रभावित हैं। 'सामधेनी' में संगृहीत 'कलिंगविजय' में वे युद्ध और शांति की समस्या को ही विश्लेषित करते हैं।

'कुरुक्षेत्र' के 'निवेदन' में दिनकर ने लिखा है—'कुरुक्षेत्र की रचना भगवान् व्यास के अनुकरण पर नहीं हुई है और न महाभारत को दुहराना ही मेरा उद्देश्य था। मुझे जो कुछ कहना था, वह युधिष्ठिर और भीष्म का प्रसंग उठाए बिना भी कहा जा सकता था। किन्तु तब यह रचना, शायद, प्रबंध के रूप में न उतर कर मुक्तक बन कर रह गई होती। तो भी यह सच है कि इसे प्रबंध के रूप में लाने की मेरी कोई निश्चित योजना नहीं थी।'

इससे दो बातें स्पष्ट हैं, एक तो यह कि वे महाभारत के शांति-अनुशासन पर्व का आधार ग्रहण कर कुछ नया कहना चाहते हैं और दूसरी यह कि वे इसे प्रबंध का आकार देना चाहते हैं। मतलब यह है कि वे इसे युगानुरूप प्रासंगिकता देना चाहते हैं और साकेत तथा कामायनी की परंपरा को आगे बढ़ाना चाहते हैं।

इसमें युधिष्ठिर और भीष्म के संवाद के माध्यम से अन्याय के विरुद्ध युद्ध का समर्थन किया गया है। शांति सत्ताधारियों का हथियार है, जिसके आधार पर वह अपनी सत्ता को अक्षुण्ण रखता है। न्यायोचित अधिकार माँगने से नहीं मिलता उसे लड़ कर लेना पड़ता है। सहिष्णुता, क्षमा आदि विजेता की शोभा हैं। हारी हुई जाति के लिए सहिष्णुता अभिशाप है। देहबल के आगे आत्मबल की नहीं चलती। अतः अन्याय के प्रतिरोध में युद्ध की अनिवार्यता स्वतः सिद्ध है। लेकिन युद्ध का परिणाम ? चारों ओर उजड़ा हुआ क्षत-विक्षत प्रदेश—भयावह बियाबान। महाभारत युद्ध के पश्चात् इस स्थिति को देखकर युधिष्ठिर का मन खिन्न हो उठता है और वे पश्चात्ताप से भर उठते हैं। वे भीष्म पितामह के पास जाते हैं और समस्या का समाधान चाहते हैं। भीष्म कहते हैं कि युद्ध प्रकृति जन्य है। जिस तरह तूफान प्रकृति के विकारों का परिणाम है उसी प्रकार युद्ध मानवीय विकारों का। युद्ध रोका नहीं जा सकता, उसका दायित्व किसी एक व्यक्ति पर नहीं है। यह तभी रुक सकता है जब मानव मन स्वार्थों से निर्लिप्त हो जाय, सुख में सबका सम भाग हो।

प्रश्न होता है कि जब युद्ध मानवीय प्रकृति के विकारों से संबद्ध है तो प्रकृति को बदला कैसे जा सकता है ? जब सत्ताधारियों के अन्याय के विरुद्ध युद्ध छेड़ा जायगा तो क्या दूसरी सत्ता स्थापित नहीं होगी ? कौन जानता है यह दूसरी सत्ता पहली से कम क्रूर होगी ! कैसे कहा जाय कि पांडवों का राज्य कौरवों से अच्छा होता !

'कुरुक्षेत्र' में अन्याय का स्वरूप नहीं विवेचित किया गया है। अतः वह अस्पष्ट होकर रह गया है। प्रत्येक युग में अन्याय का स्वरूप बदलता रहा है और उसके विरुद्ध अपने-अपने ढंग के युद्ध होते रहे हैं। इसमें संदेह नहीं कि दिनकर ने शोषण के विरुद्ध दलित-शोषित वर्गों को रण के लिए आहूत किया है। इस तरह प्रकारान्तर से वे वर्ग-संघर्ष की आवाज उठाते हैं। लेकिन यह सपाट बन करके रह जाता है। यानी यह उपरले स्तर के स्थूल समाजवाद का स्पर्श करके रह जाता है।

युद्ध की अनिवार्यता आज के संदर्भ से पूरे तौर पर नहीं जुड़ पाती। यदि आज विश्वयुद्ध छिड़ जाय तो उसका परिणाम क्या होगा ? शांति की समस्या आज की प्रमुख समस्या हो गई है। युधिष्ठिर की विकलता, मनस्ताप और

विक्षोभ इस समस्या को लेकर ही तो है। किंतु वह वैयक्तिक बन कर रह जाती है और एक प्रकार से 'रोमैंटिक एगोनी' का रूप ले लेती है।

कवि युद्ध की परिसमाप्ति का भी संकेत करता है—

श्रेय होगा सुष्ठु-विकसित मनुज का वह काल
जब नहीं होगी धरा नर के रुधिर से लाल।
श्रेय होगा धर्म का आलोक वह निर्बंध।
मनुज जोड़ेगा मनुज से जब उचित संबंध।

इस तरह की यूटोपिया रसेल ने भी प्रस्तुत किया है—युद्ध का निराकरण तभी संभव है जब मनुष्य की दुष्ट प्रवृत्तियों का निराकरण हो जाय। प्रकृति-परिवर्तन का उल्लेख मारकुस भी करता है। किंतु प्रकृति के बदलने की आकांक्षा आकाश-कुसुम है। हाँ, मूल्य-पद्धति में आमूल परिवर्तन संभव है। जिस समाज में प्रतिदिन उत्पादन बढ़ता जा रहा है उस समाज में, इसके आधार पर मूल्य-परिवर्तन की कल्पना की जा सकती है। हो सकता है भावी पीढ़ी के सामाजिक मूल्यों में परिवर्तन आवे। इस परिवर्तन में ही युद्ध-समाप्ति की संभावनाएँ निहित हैं।

अब यह निश्चित करना है कि साकेत और कामायनी की परंपरा को यह प्रबंध काव्य कितना आगे बढ़ाता है। पर स्मरण रखना है कि न तो यह साकेत की तरह भावनामूलक काव्य है और न कामायनी की तरह अन्तर्वृत्ति निरूपक। उन दोनों से अलग यह बौद्धिक प्रबंध है। इसके साथ ही यह देखना होगा कि अपने प्रबंध-विधान में यह किस सीमा तक बौद्धिक समस्याओं को रचनात्मक स्तर दे सका है।

साकेत और कामायनी की तरह इसकी कथावस्तु भी पौराणिक है। उन दोनों की तरह कथावस्तु की क्षीणता इसमें भी है। पर भाषाई स्तर पर यह कामायनी की अपेक्षा साकेत के निकट है। फिर भी विचार-प्रधान काव्य होने के कारण भाषा में सटीकता अधिक है। नलिनविलोचन शर्मा रसात्मकता का प्रश्न उठाते हुए इसकी काव्यात्मकता के प्रति संदेह प्रकट करते हैं। किंतु 'कुरुक्षेत्र' काव्य को रस की दृष्टि से देखना इस पर एक रूढ़ शास्त्रीय मान को थोपना है। इसकी भाषा में दिनकर की सहज ऊर्जा है, साफगोई है। पिछली रचनाओं की तरह इसमें अतिरिक्त शब्दों का प्रयोग नहीं हुआ है।

पर साफगोई और अभिधात्मक शब्दों का प्रयोग इसकी विशेषता भी है, इसकी कमजोरी भी। यह कमजोरी और वैशिष्ट इसके कथ्य में भी है। कामायनी की भाषाई जटिलता उसके कथ्य की भी जटिलता है। इस दृष्टि से 'कुरुक्षेत्र' 'कामायनी' के स्तर तक नहीं पहुँच पाता।

'उर्वशी' उनका दूसरा विशिष्ट प्रबंध है, जिसे गीतिनाट्य भी कहा गया है। कथा का पाँच अंकों में विभाजन और कथोपकथन की पद्धति के कारण इसे नाट्य की स्थूल संज्ञा दी जा सकती है, पर इसमें नाटकीयता का अभाव है। मूलत: यह प्रबंध काव्य है---आधुनिक प्रबंध परंपरा का काव्य। इसमें घटनात्मक तत्त्व अत्यधिक क्षीण है, पात्रों की संख्या बहुत कम है। प्रतीकों के माध्यम से संपूर्ण कथ्य को भौतिकता से आध्यात्मिकता की ओर ले जाने का प्रयास किया गया है।

दिनकर ने कहीं कहा है कि उनका मन 'रसवन्ती' में वसता है यद्यपि लोकप्रियता उन्हें 'हुंकार' से मिली। 'उर्वशी' उन्हीं दोनों के तनाव की सृष्टि है। इसमें उर्वशी और पुरूरवा की प्रणय-कथा को वैदिक तथा कालिदासीय स्रोतों से ग्रहण किया गया है। नाट्य प्रबंध के प्रथम अंक में पुरूरवा की राजधानी प्रतिष्ठानपुर के नन्दन कानन में अप्सराओं का अवतरण और उर्वशी-पुरूरवा में प्रेम का सूत्रपात होता है। द्वितीय अंक में पुरूरवा की राजमहिषी औशीनरी को पुरूरवा की प्रणय-कथा का समाचार मिलता है और वह उद्विग्न हो उठती है। इस नाट्य प्रबंध कल्पना का सबसे महत्त्वपूर्ण अंश तीसरा अंक है। इसमें प्रणय लीलाओं की उन्मुक्त विवृति के साथ उससे पार जाने का, जीवन की चरम उपलब्धि का, समारोहपूर्ण चित्रण किया गया है। चौथे अंक में उर्वशी अपने नवजात शिशु को च्यवन ऋषि की पत्नी सुकन्या को पालनार्थ सौंप देती है। पाँचवें अंक में सुकन्या उर्वशी-पुरूरवा के पुत्र 'आयु' को लेकर प्रतिष्ठानपुर आती है और भरतमुनि के शाप के फलस्वरूप उर्वशी अदृश्य हो जाती है तथा पुरूरवा संन्यास ले लेता है।

पुरूरवा और उर्वशी के माध्यम से कवि एक कामाध्यात्म की दुनिया सिरजता है जिसे लेकर आलोचकों में काफी मतभेद है, विशेष रूप से उसकी आधुनिक प्रासंगिकता को लेकर। पुरूरवा मन का प्रतीक है जो काम-पीड़ा से अत्यधिक व्याकुल है। वह औशीनरी से तृप्त न होकर उर्वशी के साथ निर्बाध विलास में डूब जाता है।

पर इस निर्बाध विलास में पृच्छाएँ उसका साथ नहीं छोड़तीं---'रूप की आराधना का मार्ग आलिंगन नहीं है।'

\+ + +

रूप की आराधना का मार्ग
आलिंगन नहीं तो और क्या है ?
स्नेह का सौन्दर्य को उपहार
रस चुंबन नहीं तो और क्या है ?

\+ + +

'पर जहाँ तक भी उड़ूँ, इस प्रश्न का उत्तर नहीं है।'

ये सारी पृच्छाएँ उस समय जगती हैं जब उर्वशी पुरूरवा के गाढ़ालिंगन में बँधी है। इस स्थिति पर आपत्ति उठाते हुए मुक्तिबोध ने ठीक ही लिखा है—'वैसे तो मैं कल्पना भी नहीं कर सकता कि रति-सुख की विविध संवेदनाओं की बारीकियाँ और गहराइयाँ नर और नारी के बीच चर्चा का विषय हो सकती हैं। यही क्या, नर भी संभवतः उसे भूल जाता होगा। फिर भी अगर यह मान भी लें कि रति-सुख के स्मरण-चित्र उसके मन में उपस्थित होते हैं तो उसके साथ यह भी जोड़ना होगा कि उन स्मरण-चित्रों में उसे अतीन्द्रीय सत्ता की प्रतीति नहीं हो सकती। वह उन स्मरण-क्षणों में रत रहते हुए विरत नहीं हो सकता कि ऐन्द्रिय सुख के चरम क्षणों के चित्र उपस्थित होते ही उसे अतीन्द्रीय सत्ता की उपलब्धि का मार्ग दिखाई दे। संक्षेप में, न वास्तविक कामोत्कर्ष के क्षणों में न रति-सुख के स्मरण-चित्रों में डूबे होने की अवस्था में, अतीन्द्रीय सत्ता परम तत्त्व का बोध हो सकता है। यह कहना कि कुछ प्रज्ञावान योगियों के लिए ऐसा होता है या हो सकता है, कोई मतलब नहीं रखता, क्योंकि सामान्य मनुष्य के लिए आज जो स्थिति अप्राकृतिक है वह संभवतः अस्वस्थ मनोदशा वालों के लिए ही प्राकृतिक हो सकती है।'

कृत्रिम मनोविज्ञान पर आधारित होने के कारण उर्वशी का तृतीय सर्ग, अपने समारोह के बावजूद, एकतान नहीं हो पाता। उर्वशी के कथन अधिक सु-संबद्ध, भावोत्कर्षपूर्ण और अर्थवान बिंबों से संपृक्त हैं। पुरूरवा का अन्तर्द्वन्द्व अपने आपमें काफी सशक्त होते हुए भी पूरी स्थितियों से जुड़ जाने पर अपने प्रभाव को कम कर देता है। फिर भी उर्वशी का यह अंक संपूर्ण ग्रंथ में अत्यधिक महत्त्व-पूर्ण बन पड़ा है। पुरूरवा द्वंद्वमय सनातन पुरुष और उर्वशी सनातन नारी के प्रतीक भी हैं। पर पुरूरवा का द्वन्द्व काम और मोक्ष के द्वन्द्व तक सीमित होने के कारण 'कामायनी' के 'मनु' के द्वन्द्व की तरह व्यापक और सामयिक नहीं बन पाता है। पुरूरवा अपनी सामंतीय तथा मध्ययुगीन सीमाओं का कहीं अतिक्रमण नहीं कर सका है। यह प्रेम न तो सहज है और न सिद्धों-योगियों का युगनद्ध प्रेम। यह एक सशक्त ऐश्वर्य संपन्न सामंत का प्रेम है जो एक ही राग में भैरवी और विहाग गा लेता है।

चौथे अंक में च्यवन और सुकन्या का गार्हस्थ्य प्रेम चित्रित किया गया है। वह अपनी उद्वेगहीनता में समतल और प्रशांत है। पाँचवें अंक में औशीनरी के निष्काम प्रेम की परिणति है—बिना प्रतिदान के संपूर्ण समर्पण। तृतीय अंक के ऐश्वर्यपूर्ण शृंगार चेतना के आगे च्यवन-सुकन्या का गार्हस्थ्य प्रेम निष्पन्द लगता है। द्वंद्व से उतर कर जैसे कवि की लेखनी भी केन्द्रच्युत हो गई है। च्यवन-

सुकन्या का प्रेम यदि पुरूरवा-उर्वशी के विरोध में खड़ा किया गया है तो यह विरोध बहुत ही कमजोर है। अगर इसे शक्तिशाली ढंग से प्रस्तुत किया गया होता तो उर्वशी-पुरूरवा का द्वन्द्व और भी उत्कर्षपूर्ण बन जाता। औशीनरी भारतीय नारीत्व की प्रतारणा को व्यक्त करती हुई फिर उसी से समझौता कर लेती है। औशीनरी का पछतावा यह है कि अपने भीतर बसी हुई उर्वशी को वह व्रीडा के आच्छादन में क्यों लपेटे रही? किन्तु उसे उजागर करके भी क्या वह उर्वशी का मुकाबला कर सकती थी? यदि मुकाबला भी कर लेती तो क्या वह सामंतीय अभिरुचि को बदल सकती थी? अंत में सुकन्या उसे मध्यकालीन तर्कों से समझा लेती है—'और त्रिया जो अबल, मात्र आँसू, केवल करुणा है'; 'नारी क्रिया नहीं, वह केवल क्षमा, क्षान्ति, करुणा है।' विश्वमना के अनुसार महाराज के केन्द्र में प्रव्रज्या-योग पड़ा हुआ था, प्राण दशा में शनि का प्रवेश हो चुका था, सूक्ष्म में मंगल थे। अतः कुंडली चक्र के अनुसार पुरूरवा को उसी दिन संन्यस्त होना नियत था। यह मध्यकालीन मनोवृत्तियों को ही पुष्ट करता है।

इस तरह के कर्महीन चिंतन की परिणति संन्यास में नहीं होगी तो कहाँ होगी? वस्तुतः उर्वशी आई० ए० रिचर्ड्स के शब्दों में अपवर्जन (पोइट्री आफ एक्स्लूजन) का काव्य है, अन्तर्वेशन (इन्क्लूजन) का नहीं। तथाकथित कामाध्यात्म्य के अतिरिक्त जीवन के जटिल आयामों के स्पर्श से विरहित यह काव्य न तो दिनकर की प्रकृति के अनुकूल है और न आज के जीवन संदर्भों के।

'रश्मिरथी' और 'परशुराम की प्रतीक्षा' उनके अन्य प्रबंध काव्य हैं। पहले में कर्ण को आधुनिक संदर्भ में रखा गया है और 'परशुराम की प्रतीक्षा' को चीन-भारत के युद्ध-संदर्भ में। 'इतिहास के आँसू', 'धूप और धुआँ', 'दिल्ली', 'नीम के पत्ते', 'नील कुसुम', 'हारे के हरिराम' उनके काव्य-संग्रह हैं।

वास्तव में दिनकर की कृति का मुख्य केन्द्रविन्दु 'कुरुक्षेत्र' है। उसमें दिनकर की प्रकृति और प्रवृत्ति दोनों को आकार मिल गया है। उर्वशी की तरह न उसमें वाग्विस्तार है और न अतिरिक्त अलंकरण और न सांस्कृतिक प्रतिध्वनियाँ। युधिष्ठिर का द्वंद्व आधुनिक मनुष्य का द्वंद है जब कि पुरूरवा का द्वंद्व मध्यकालीन सामंत का द्वंद्व है।

प्रयोगवाद और नई कविता

प्रयोगवादी कविता का समारंभ अज्ञेय के संपादकत्व में प्रकाशित 'तार सप्तक' के प्रकाशन काल (१९४३) से माना जाता है। पर प्रगतिवादी काव्यधारा की भाँति प्रयोगवादी काव्य का स्रोत भी छायावाद ही है। निराला के समस्त काव्य को प्रयोग का अलबम कहा जा सकता है। प्रगतिवादी-प्रयोगवादी दोनों निराला की अगुआई स्वीकार करते हैं। अपने एक निबंध 'तार सप्तक प्रसंग' में नेमि-

चन्द्र जैन ने लिखा है—"जिस बदलती हुई काव्य-चेतना की एक अभिव्यक्ति तार सप्तक के कवियों में मिलती है वह उस दौर के अन्य बहुत से तरुण कवियों में थी जिनमें निराला के अतिरिक्त शमशेर बहादुर सिंह, त्रिलोचन, भवानी प्रसाद मिश्र, राजेश्वर गुरु, केदारनाथ अग्रवाल और नरेन्द्र शर्मा तक का उल्लेख किया जा सकता है।"

इससे दो बातें जाहिर हैं, एक तो यह कि '४३ के पहले से ही प्रयोग हो रहा था, दूसरी यह कि अनेक कवि जिन्हें प्रगतिवाद के खाते में डाल दिया गया है, प्रयोग को लेकर ही काव्य-क्षेत्र में अवतरित हुए। इससे यह तथ्य भी पुष्ट होता है कि प्रगतिवाद-प्रयोगवाद कुछ समय तक एक साथ, एक में घुलमिल कर चलते रहे। लेकिन प्रगतिवाद ज्यों-ज्यों कुत्सित समाजवादियों के सिद्धांतों में जकड़ता गया त्यों-त्यों प्रयोगवाद उससे अलग होता गया। 'तार सप्तक' में ही, जैसा प्रगतिवाद के प्रसंग में कहा जा चुका है, कम-से-कम पाँच कवि ऐसे हैं जो मार्क्सवादी होने का दावा करते हैं। बाद में दोनों के अलग-अलग शिविर हो गए और एक का शिविर दूसरे के लिए निषिद्ध हो गया। समय-समय पर एक शिविर के लोग दूसरे शिविर पर हमला करते रहे। प्रगतिवादी काव्य-आन्दोलन थोड़े ही समय में समाप्त हो गया। किंतु प्रयोगवादी काव्य 'नई कविता' का रूप ले कर अब भी क्रियाशील है।

'प्रयोगवाद' शब्द का प्रयोग सबसे पहले नन्ददुलारे वाजपेयी ने अपने एक निबंध 'प्रयोगवादी रचनाएँ' में किया। इस निबंध में मुख्यतः 'तार सप्तक' की समीक्षा की गई है। उन्होंने लिखा है—'पिछले कुछ समय से ही हिन्दी काव्य क्षेत्र में कुछ रचनाएँ हो रही हैं, जिन्हें किसी सुलभ शब्द के अभाव में, प्रयोगवादी रचना कहा जा सकता है।' 'दूसरा सप्तक' की भूमिका में अज्ञेय ने वाजपेयी जी का उत्तर देते हुए 'तार सप्तक' की रचनाओं को प्रयोगवादी कहना स्वीकार नहीं किया है। पर तार सप्तकीय कवियों के वक्तव्यों में प्रयोग शब्द बार-बार प्रयुक्त हुआ है। ऐसी स्थिति में इस शब्द का चलन हो जाना स्वाभाविक था।

इस प्रसंग में नकेन के प्रपद्यवाद का उल्लेख प्रासंगिक है। इस काव्य-संग्रह में नलिनविलोचन शर्मा, केसरी और नरेश की कविताएँ संगृहीत हैं। इस संग्रह के आरंभ में 'प्रपद्यवाद के घोषणापत्र का प्रारूप' भी दिया गया है। इसमें तार सप्तकीय कवियों को प्रयोगशील और नकेनवादियों को प्रयोगवादी कहा गया है। प्रयोगशीलों के लिए प्रयोग साधन है जब कि नकेनवादियों के लिए साध्य। प्रयोगशील और प्रयोगवाद का भेद वैसे ही बेमानी है जैसे प्रगतिशील और प्रगतिवाद का। दोनों में कोई फर्क नहीं है। प्रपद्यवाद का प्रकाशन १९५६ में हुआ था।

'५० के आसपास प्रयोगवादी काव्य नया मोड़ लेकर नई कविता का नाम ले चुका था। ऐसी स्थिति में प्रपद्यवाद को असली प्रयोगवाद की संज्ञा देना बेसुरा राग अलापने के अतिरिक्त और क्या है ?

जहाँ तक छायावाद की अपनी वायवीयता, आदर्शवादिता, अलंकरण, कल्पना-बाहुल्य आदि का संबंध है प्रगतिवाद-प्रयोगवाद दोनों ने अपने को उससे अलगाने का प्रयास किया। दोनों ने अपने-अपने ढंग के यथार्थ का अनुसरण किया—प्रगतिवाद ने समाजवादी यथार्थवाद का और प्रयोगवादी ने अस्तित्वमूलक यथार्थवाद का। प्रश्न उठाया जा सकता है कि अस्तित्वमूलक यथार्थ का स्वरूप क्या था ? और नए काव्य-आन्दोलन के रूप में अपने विरोधों के बावजूद, इसी का स्वागत क्यों हुआ ?

पश्चिम में जो नया काव्यान्दोलन हुआ उसके परिप्रेक्ष्य में देखने से हिन्दी के प्रयोगवादी आन्दोलन की प्रकृति को समझने में सहायता मिलेगी। प्रथम महायुद्ध ने योरप के स्थिर आदर्शों को बहुत कुछ तोड़ दिया। धर्म और अध्यात्म के मूल्य विघटित हो गए और आर्थिक समता यानी साम्यवाद की ओर लोगों की दृष्टि गई। १९३० के आसपास साम्यवाद आधुनिकता का मानदंड था। किन्तु योरोपीय मानस उसे आयत्त नहीं कर सका। साम्यवाद को स्टेफेंट, स्पेंडर आदि ने 'गाड दैट फेल्ड' कहा। ब्रिटेन के कुछ कवियों ने 'न्यू सिग्नेचर' नाम से सन् १९३२ में एक काव्य-संग्रह प्रकाशित किया। इसमें आडेन, एम्पसन, जान लेहमन, स्पेंडर आदि की रचनाएँ संगृहीत थीं। इन कवियों ने परंपरागत काव्य-पद्धतियों को अधूरा समझ कर नई दिशाओं की खोज की। पुराने के प्रति असंतोष तथा नए के अन्वेषण में सभी समान थे। अज्ञेय की तारसप्तकीय भूमिका में 'न्यू सिग्नेचर' की प्रतिध्वनि का सुनाई पड़ना अस्वाभाविक नहीं है। १९४६ में अज्ञेय द्वारा प्रकाशित 'प्रतीक' पत्र इस काव्यान्दोलन को पुष्ट करता है।

'दूसरा सप्तक' १९५१ में प्रकाशित हुआ। इस समय तक कविता को नई कविता कहा जाने लगा। प्रयोगवादी कविता और नई कविता के पारस्परिक संबंधों को लेकर विवाद खड़ा हुआ। कुछ लोगों ने कहा कि नई कविता प्रयोगवादी कविता का परिष्कृत रूप है। कुछ के विचार से नई कविता अज्ञेय के प्रयोगवाद से मुक्ति का प्रयास है। वस्तुतः तीनों सप्तक एक ही काव्यान्दोलन के तीन सोपान हैं। 'तीसरा सप्तक' १९५९ में प्रकाशित हुआ। '६० के बाद कविता दूसरी दिशा की ओर मुड़ी। यह दूसरी दिशा अ-स्वच्छन्दतावादी दिशा थी।

नई कविता नाम देने का मुख्य कारण यह है कि कवि अपने को किसी वाद-ग्रस्त शिविर में बन्द नहीं रखना चाहते थे। यों इस नाम के पीछे अंग्रेजी के 'न्यू पोइट्री' काव्यान्दोलन का भी प्रभाव है। 'न्यू पोइट्री' के वजन पर ही प्रयाग

से नई कविता का प्रकाशन भी हुआ। जैसा पहले कहा जा चुका है, नई कविता प्रयोगवादी कविता का नया संस्कार है। प्रयोग के प्रति प्रत्येक सप्तक का कवि आग्रही है। क्रमशः प्रयोग और प्रयोग द्वारा प्राप्त मन्तव्य के बीच की दूरियाँ कम होती गईं।

तार सप्तक की निषेधात्मक प्रवृत्ति है छायावाद से मुक्ति पाने का प्रयास और प्रयोगों के द्वारा नए राग सत्य की अभिव्यक्ति। यह प्रवृत्ति तीनों सप्तकों में पाई जाती है। छायावाद से छुटकारा किसी सप्तक को नहीं मिल पाया है। दूसरे सप्तक में 'ढली कोमल कली पाटल की', 'अमराई में दमयंती सी पीली पूनम काँप रही है', 'इन फिरोजी ओठों पर बरबाद मेरी जिन्दगी' का फिजाँ बना हुआ है। दूसरी ओर इसमें मार्क्सवादी दर्शन से प्रभावित रचनाएँ भी हैं। एक ओर आत्यंतिक आत्मनिष्ठता और दूसरी ओर वस्तुनिष्ठता (आत्यंतिक नहीं)। तीसरे सप्तक में दोनों का अलगाव कम हो गया है। मतलब यह कि नई कविता प्रयोगवादी कविता का ही क्रमिक विकास है।

प्रयोगवाद या नई कविता की प्रवृत्तियाँ निर्धारित करने के लिए केवल सप्तकों पर निर्भर नहीं करना होगा। सप्तक तो केवल उन पथ-चिह्नों को संकेतित करते हैं जो काव्य-विकास के नए दौर में बने हैं। इनके आधार पर न तो कवियों की अपनी क्षमताओं और कृतित्व पर प्रकाश डाला जा सकता है और न उन युगीन संवेदनाओं पर जो इसके लिए उत्तरदायी हैं। इस काव्यान्दोलन को समग्रतः आकलित करने के लिए सप्तकेतर कवियों के कृतित्व और सप्तकों में संगृहीत कवियों के काव्य-संकलनों का ध्यान रखना होगा।

नई कविता की निम्नलिखित प्रवृत्तियाँ हैं—

१—भाषा का नया प्रयोग—प्रतीक, बिंब, फांतेसी, नए अप्रस्तुत, विसंगति, व्यंग्य।

२—अथवा वैयक्तिकता : आत्मकेंद्रित और खंडित।

३—परंपरा-मुक्ति का आग्रह।

४—यथार्थवादी नवीन मानवीय मूल्य—इहलौकिता, जिजीविषा और क्षणवाद।

५—बौद्धिकता का आग्रह।

६—आधुनिक संवेदना : अकेलेपन की नियति।

एक काव्य-प्रवृत्ति का दूसरी काव्य-प्रवृत्ति से अलगाव भाषा के अलगाव से ही देखा जा सकता है। आरंभ में प्रयोगवादी काव्य छायावादी अलंकरण और तत्समता से मुक्त नहीं हो सका था। पर धीरे-धीरे उसकी भाषा आमफहम होती गई। इसके आदि पुरस्कर्ता भी निराला ही हैं। यों नए कवियों को एहसास

हो गया था कि छायावादी शब्दावली, मुहावरे, अप्रस्तुत आदि घिस-घिसा कर पुराने पड़ चुके हैं, उनकी अर्थवत्ता समाप्त हो गई है। 'अज्ञेय' ने 'हरी घास पर क्षण भर' काव्य-संग्रह की कविता 'कलँगी बाजरे की' में लिखा है—

अगर मैं तुमको
ललाती साँझ के नभ की अकेली तारिका
अब नहीं कहता,
या शरद के भोर की नीहार-न्हायी कुँई
टटकी कली चंपे की
वगैरह, तो
नहीं कारण कि मेरा हृदय उथला या कि सूना है
या कि मेरा प्यार मैला है।
बल्कि केवल यही :
ये उपमान मैले हो गये हैं।
देवता इन प्रतीकों के कर गये हैं कूच।
कभी बासन अधिक घिसने से मुलम्मा छूट जाता है।

प्रतीकों का प्रयोग छायावादी काव्य में प्रायः नहीं हुआ है। आचार्य शुक्ल ने इसी लिए उन्हें प्रतीक न कह कर प्रतीकवत् कहा है। बिंबों और अप्रस्तुतों में प्रस्तुत से समानन्तरता और तुलना होती है जबकि प्रतीक समीकरणात्मक होता है। जीवन की जटिलता को संश्लिष्ट रूप में चित्रित करने के लिए प्रतीक से अधिक शक्तिशाली माध्यम और कोई नहीं है। अज्ञेय की रचनाओं में प्रतीकों का प्रयोग सर्वाधिक हुआ है—सागर, मछली, बूँद, साँप, नदी के द्वीप आदि उनके प्रतीक हैं। मुक्तिबोध के ब्रह्मराक्षस, ओरांग उटाँव, कुँवर नारायण का चक्रव्यूह आदि प्रतीक ही हैं।

प्रतीक का मूलाधार बुद्धि होती है और बिंब का संवेदना। प्रतीक के लिए मूर्तिमत्ता अनिवार्य नहीं है जब कि यह बिंब का अनिवार्य धर्म है। मुख्य प्रतीक काव्यगत लघु-लघु प्रतीकों से पुष्ट होकर अधिक जटिल और संश्लिष्ट बन जाता है। बिंब अमूर्त विचार या भावना का वह संवेदनात्मक शब्द-चित्र है जो अपनी निर्मिति में पुनः रचित हो जाता है।

छायावादी काव्य-बिंब और प्रयोगवादी काव्य-बिंबों का मुख्य अन्तर एक के भावपरक, तरल, अस्पष्ट, विराट आदि होने में है तो दूसरे के वैयक्तिक और वस्तुपरक, ठोस अनुभव पर आधारित और बौद्धिक होने में है। छायावादी बिंब आवेग को घनीभूत, विराट, विस्फारित और आदर्शमूलक बनाने में मदद करते हैं। प्रभाकर माचवे ने लिखा है—"इस सहस्मृत और परंपरागत बिंबों के

वजाय इसे राग और ज्ञान से पूरित, ऐन्द्रेयिक, आवेगाश्रित और अभिजात 'इमेजेज' की सृष्टि करना है।" छायावादी बिंब, निराला के बिंबों को छोड़कर, मूलत: रागात्मक ही बना रहा। किंतु प्रयोगवादी बिंबों में बौद्धिकता की अन्तश्चेतना का भी समावेश हुआ। मशीनी यांत्रिकता के फलस्वरूप मनुष्य का व्यक्तित्व खंडित और अनेकधा विभक्त हो गया। मुक्त आसंग के आधार पर खंडित बिंबों की समायोजना की गई। कुछ उदाहरण लीजिए : तलुए—मकई से लाल, विज्ञान--धुएँ का अजगर, नवंबर की दुपहर--जार्जेट का पीला पल्ला, दूज का चाँद—कटी रोटी का सूखा हुआ हासिया,--हँसी, सीलन के विवर्ण दीवार पर लगा किसी पुराने कौतुक नाटक का फटियल-सा इश्तहार आदि। जाहिर है कि ये अप्रस्तुत रागात्मक से अधिक बौद्धिक हैं। यह हँसी प्रसाद की 'रक्त किसलय पर ले विश्राम/अरुण की एक किरण अम्लान/अधिक अलसाई हो अभिराम' की तरह कोमल, रमणीय और नयनाभिराम नहीं है। बल्कि वह एक ओर छायावादी रूमानियत के विरोध में पड़ती है, तो दूसरी ओर मनुष्य को उसके यथार्थ में उजागर करती हुई उसकी विषण्ण वेदना का इजहार करती है। खंडित बिंबों का सर्वाधिक प्रयोग अज्ञेय ने किया है। शमशेर बहादुर सिंह में भी इस तरह पर्याप्त बिंब मिलेंगे। इसके अतिरिक्त जगह-जगह फांतेसी भी मिलेगी। मुक्तिबोध की रचनाएँ फांतेसी से बुरी तरह आवृत हैं।

भाषा में व्यंग्य और विडंबना की प्रवृत्ति भी बढ़ी। यह प्रवृत्ति निराला की रचनाओं में प्रारंभ से ही मिलती है। 'वनवेला' और 'सरोज स्मृति' में इसे देखा जा सकता है। '४० के बाद तो उनमें यह प्रवृत्ति और भी मुखर हो गई। आश्चर्य है कि छायावाद के अन्य कवि व्यंग्य-विद्रूप से लगभग शून्य हैं। इसका मुख्य कारण यह था कि अन्य कवियों का ध्यान हृदय पक्ष पर ही ज्यादा टिका हुआ था जब कि निराला हृदय को इतिहास के परिप्रेक्ष्य में देखते थे। प्रगतिशील कवियों में नागार्जुन और नये कवियों में रघुवीर सहाय में भाषा का विडंबनात्मक प्रयोग ज्यादा हुआ है। एक उदाहरण लीजिए :—

पढ़िए गीता
बनिए सीता
फिर इन सब में लगा पलीता
किसी मूर्ख की हो परिणीता
निज घरबार बसाइए।
होंय कटीली
आँखें गीली

लकड़ी सीली, तबियत ढीली
घर की सबसे बड़ी पतीली
भर कर भात पसाइए ।
(रघुवीर सहाय)

मेलार्मे का कहना है कि कविता की निर्मिति शब्दों द्वारा होती है। अर्थात् कविता में सही और अर्थवान् शब्दों के प्रयोग पर अधिक बल दिया जाता है। गद्य में शब्दों का नहीं, समूची भाषा का महत्त्व होता है। अज्ञेय का कहना है—"मेरी खोज भाषा की खोज नहीं है, केवल शब्दों की खोज है। भाषा का उपयोग मैं करता हूँ, निस्संदेह; लेकिन कवि के नाते जो मैं कहता हूँ वह भाषा के द्वारा नहीं, केवल शब्दों के द्वारा। मेरे लिए यह भेद गहरा महत्त्व रखता है।"

नई कविता की दूसरी प्रवृत्ति है आत्मकेन्द्रीयता। यह छायावादी वैयक्तिकता से भिन्न है। छायावादी वैयक्तिकता अन्तर्मुखी होकर भी आत्मविस्तार—यह विस्तार समूची सृष्टि से लेकर ब्रह्म तक हो सकता है—में विश्वास करती है। महादेवी वर्मा ने लिखा है—'तोड़ दो वह क्षितिज मैं भी देख लूँ उस पार क्या है।' इसमें आत्म का अति विस्तार चित्रित किया गया है। किंतु प्रयोगवादी या नई कविता में कहा गया है—

जितना तुम्हारा सच है
उतना ही कहो।
\+ \+ \+
तुम नहीं व्याप सकते; तुमने जो व्यापा है
उसी को निबाहो।

छायावादी काव्य के 'तुम' में व्याप्ति की असीम संभावनाएँ हैं पर नया कवि अपने में व्याप्त को ही निबाहने पर बल देता है। नई समीक्षात्मक शब्दावली में यही अनुभूति की प्रामाणिकता है।

पूँजीवादी अर्थव्यवस्था और यांत्रिकता के दबाव के कारण ज्यों-ज्यों आदमी की अपनी पहचान खोती गई त्यों-त्यों वह उसकी रक्षा के लिए, स्वातंत्र्य के लिए जागरूक हो उठा। किंतु व्यक्तित्व का यह एहसास उसे समाज से काट देता है। छायावादी युग में व्यक्ति और समाज के बीच यह कटाव नहीं था। लेकिन इस युग में व्यक्ति अपने भीतर ही विभक्त होकर अपने से जूझने लगा। वह नदी का द्वीप, चक्रव्यूह में फँसा अभिमन्यु, या रथ का टूटा पहिया हो गया। व्यक्तित्व का यह विभाजन छठें दशक के अंत में दिखाई पड़ने लगता है। सातवें दशक का तो मुख्य स्वर यही है।

ज्ञान-विज्ञान और प्रविधि के विकासात्मक दबाव के कारण धर्म, ईश्वर संबंधी मूल्य, पुराने ढंग के परंपरायुक्त नैतिकताएँ, विधि-निषेध आदि खंडित हो गए। उनके स्थान पर मानव को केन्द्र में मानकर नए मूल्यों की तलाश की जाने लगी। नए मूल्यों की तलाश में अस्तित्ववादी दर्शन ने भी योग दिया। मनुष्य होने का बोध महत्त्वपूर्ण हो उठा। क्षणवाद इसी मनोवृत्ति का फल है—

'एक क्षण, क्षण में प्रवहमान व्याप्त संपूर्णता,
इससे कदापि बड़ा नहीं था महाम्बुधि जो पिया अगस्त्य ने,
एक क्षण, होने का, अस्तित्व का अजस्र द्वितीय क्षण
होने के सत्य का, सत्य के साक्षात् का, साक्षात् के क्षण का
आज हम आचमन करते हैं।'

क्षणवाद एक ओर व्यक्ति सत्य की ओर ले जाता है तो दूसरी ओर भोगवाद या हिडोनिज्म की ओर। 'क्षण में प्रवहमान व्याप्त संपूर्णता' तो नहीं दिखाई पड़ी, उलटे क्षण भूत-भविष्य से कट कर निरपेक्ष हो गया। इस निरपेक्षता के फलस्वरूप भोगवादी या हिडोनिस्टिक प्रवृत्ति बढ़ी। आधुनिक संवेदना, सामाजिक कटाव के कारण व्यक्ति अकेलेपन की नियति से बँध गया।

अज्ञेय (१९११) हिन्दी की प्रयोगवादी धारा के एक प्रवर्तक माने जाते हैं। 'तार सप्तक' की योजना और प्रकाशन के संबंध में विभिन्न कवियों के अपने-अपने दावे हैं। लेकिन इसमें कोई सन्देह नहीं कि 'तार सप्तक' के प्रकाशन के साथ ही नई काव्य-धारा में नवोन्मेष आया। अज्ञेय ने इस धारा को अन्वेषित नहीं किया किन्तु उसके संयोजन का श्रेय उन्हें अवश्य है। कवि के रूप में उन्हें 'तार सप्तक' द्वारा ही प्रतिष्ठा मिली। किंतु उनका काव्य उतना निर्विवाद नहीं है जितना कथा-साहित्य।

छायावादी काव्य धारा में प्रगति और प्रयोग दोनों मिलते हैं। प्रगति का संबंध सामाजिक विषमताओं के उद्घाटन और उन पर प्रहार से है तथा प्रयोग का संबंध बहुत कुछ वैयक्तिक जीवनानुभव से है। प्रयोग अनिवार्यतः कला से संबद्ध होकर ही अस्तित्व में आ सकता है। पहले ही कहा जा चुका है कि आरंभ में प्रगति-प्रयोग एक साथ चलते रहे। किन्तु मार्क्स और फ्रायड के प्रभाव के कारण दोनों धाराएँ अलग हो गईं। अज्ञेय पर मुख्यतः फ्रायड का ही प्रभाव है; क्योंकि वे व्यक्तिवादी हैं।

वस्तुतः अज्ञेय का कवि छायावादी काव्य धारा से ही जनमा है। उसके प्रारंभिक काव्य-संकलन भग्नदूत (१९३३), चिन्ता (१९४२) और इत्यलम् (१९४६) को इसके प्रमाण में पेश किया जा सकता है। 'इत्यलम्' में 'भग्नदूत' भी संगृहीत है। इसके अतिरिक्त उसके चार खंड और हैं—'बन्दी स्वप्न', 'हिय-हारिल',

'वंचना के दुर्ग' और 'मिट्टी की ईहा' । 'तार सप्तक' में अज्ञेय की संगृहीत कविताओं का अधिकांश 'वंचना के दुर्ग' और 'मिट्टी की ईहा' से लिया गया है। इन रचनाओं का 'तार सप्तक' में संगृहीत होने का यह अर्थ लिया जा सकता है कि इस समय तक उनकी रचनाओं में एक नया मोड़ आ चुका था । फिर भी 'इत्यलम्' शीर्षक इसका प्रमाण है कि वे ऐसी रचनाओं को पीछे छोड़कर आगे जाना चाहते थे ।

'भग्नदूत' में मुख्यतः गदहपचीसी का प्रणय निवेदन है। मधु की मोहक छलना में उलझा हुआ कवि कहीं दया की भीख माँगता है तो कहीं करुणा की। कहीं प्रसाद के आँसू का प्रभाव है तो कहीं निराला के गीतों का । पर सब मिलाकर वह महादेवी वर्मा के गीतों की वेदना और विन्यास से प्रभावित है। छायावादी ढंग से वह कहता है—'एक तीक्ष्ण अपांग से कविता उत्पन्न हो जाती है/ एक चुंबन में प्रणय फलीभूत हो जाता है / पर मैं अखिल विश्व का प्रेम खोजता फिरता हूँ / क्योंकि मैं उसके असंख्य हृदयों का गाथाकार हूँ ।'

'चिन्ता' में भग्नदूत की प्रणयानुभूति को दार्शनिक आधार देने की चेष्टा की गई है। इसमें स्त्री को चिरंतन नारी और पुरुष को चिरंतन पुरुष के रूप में प्रस्तुत किया गया है। दोनों के संघर्ष और संतुलन को लेकर इसका कथा-बंध निर्मित हुआ है ।

इसके दो खंड हैं—विश्वप्रिया और एकायन । विश्वप्रिया में पुरुष के उद्गार हैं और एकायन में नारी के। इस काव्य लेखन के मूल में कवि की शांति प्राप्ति की आकांक्षा है जिसमें फ्रायड की दमित वासना की अभिव्यक्ति-सिद्धांत की गंध आती है। विश्वप्रिया को लेकर पुरुष के इच्छित विश्वास और विवेक में गहरा द्वंद्व होता है। अज्ञेय ने लिखा है—'कभी-कभी शायद सदी में एक बार एक व्यक्ति ऐसा उत्पन्न हो जाता है जिसकी कामना की अपेक्षा उसका विवेक अधिक क्रियाशील होता है। ऐसा व्यक्ति संसार में तहलका मचा देता है, किन्तु सुखी नहीं हो पाता.......' पर अपने इस कथन के बावजूद वह ऐसा नहीं बन पाता। वह नारी की हृदयहीनता की भर्त्सना करता है। अन्त में संसार से विरक्त होते-होते परिणय-सूत्र में बँध जाता है।

'एकायन' में नारी पुरुष का प्रत्युत्तर देती है। विश्वप्रिया कहती है—'वह आत्मदमन है, घोर यातना है, किन्तु वह मेरे स्त्रीत्व का अभिमान भी है, मेरे प्राणों की अभिन्नतम पीड़ा—जिसके बिना मैं रह नहीं सकती।' वह समर्पण है, देवता का निर्माल्य। फिर भी वह चाहती है कि यदि प्रिय को जाना ही है तो अकस्मात् चला जाय जिससे अन्तिम क्षण तक वे एक-दूसरे के प्रति आकृष्ट बने रहें। द्वैत की यह भावना महादेवी में भी है। समर्पण, पीड़ा, आत्मदमन को नारी

के मत्थे मढ़ कर अज्ञेय ने मध्यकालीन बोध का समर्थन किया है। वह पुरुष के अहं को इसी माध्यम से सफल देखता है—उसमें असाधारणता तलाशता है।

'इत्यलम्' के चार खंड हैं—बंदी का स्वप्न, हिय-हारिल, वंचना के दुर्ग और मिट्टी की ईहा। प्रथम खंड में सामान्य स्तर की राष्ट्र-भावना की कविताएँ हैं। इस पर हालावाद का भी प्रभाव दिखाई पड़ता है। 'हिय-हारिल' प्रणय का प्रतीक है और अधिकांश कविताएँ इसी भावना को रोमैंटिक ढंग से अभिव्यक्त करती हैं। इसमें उनके वैयक्तिक रहस्यवाद का भी उल्लेख है—

मैं भी एक प्रवाह में हूँ—
लेकिन मेरा रहस्यवाद ईश्वर की ओर उन्मुख नहीं है,
मैं उस असीम शक्ति से
संबंध जोड़ना चाहता हूँ—
अभिभूत होना चाहता हूँ—
जो मेरे भीतर है।

असीम शक्ति का दावा रोमैंटिक का है और उससे अभिभूत होने का वैयक्तिक रहस्यवाद का। इस रहस्यवाद का विकास आगे की रचनाओं में मिलता है—यहाँ तक कि उपन्यास 'अपने-अपने अजनबी' में भी।

प्रणय गीतों के संबंध में डा० मदान ने ठीक ही लिखा है—'अज्ञेय महादेवी की वीणा उधार माँग कर इस पर इन गीतों को गाया है।' एक उदाहरण देखिए—

और होगा मूर्ख जिसने चिर मिलन की आस पाली—
'पा चुका—अपना चुका'—है कौन ऐसा भाग्यशाली ?
इस तड़ित को बाँध लेना दैव से मैंने न माँगा—
मूर्ख उतना हूँ नहीं, इतना नहीं है भाग्य मेरा !
पूछ लूँ मैं नाम तेरा !

डा० मदान के कथन में पूरा सत्य नहीं है। महादेवी के वीणा के तारों में नरेन्द्र शर्मा के 'प्रवासी के गीत' के कुछ तार भी मिल गए हैं।

'वंचना के दुर्ग' खंड में वह अपने से ही मुक्त होने के लिए ऐंटी-रोमैंटिक रुख अपनाता है। सावन मेघ, शिशिर की राका निशा आदि ऐसी ही रचनाएँ हैं—

आह, मेरा श्वास है उत्तप्त—
धमनियों में उमड़ आयी है लहू की धार—
प्यार है अभिशप्त—
तुम कहाँ हो नारि ?

\+ \+ \+

वंचना है चाँदनी सित,
झूठ यह आकाश का निरवधि गगन-विस्तार--
शिशिर की राका-निशा की शांति है निस्सार।
निरन्तर धँसती हुई छत, आड़ में निर्वेद
मूत्र सिंचित भृत्तिका के वृत्त में
तीन टाँगों पर खड़ा, नतग्रीव
धैर्यधन, गदहा।

'सावन मेघ' में यौन-प्रतीकों की संख्या अधिक है। किन्तु वह इनके प्रयोग द्वारा कुंठा मुक्त होने का उपक्रम करता है। 'तार सप्तक के वक्तव्य में वह कहता है--'आधुनिक युग का साधारण व्यक्ति यौन-वर्जनाओं का पुंज है।' 'तुम कहाँ हो नारि ?' वर्जनाओं की प्रतिक्रिया है। 'वंचना है चाँदनी' में वह जानबूझ कर रोमानी दृष्टि का विरोधी और प्रतिक्रियात्मक पक्ष उपस्थित करता है। छायावादी काव्य में भव्यता और सौन्दर्य को ही गृहीत किया गया है। प्रयोगवादी कविताओं में कुरूपता और नगण्य वस्तुओं को प्रभूत रूप में लिया गया। 'उषः काल की भव्य शांति' में भी इस तथ्य को देखा जा सकता है। पर इस प्रवृत्ति को प्रयोगवादी कविता का उपहार नहीं समझना चाहिए। निराला के परवर्ती काव्य में--कुकुरमुत्ता, बेला; नए पत्ते आदि में--इस प्रवृत्ति को देखा जा सकता है। फर्क यह है कि निराला ने जिन कुरूपताओं को लिया है उनके पीछे कोई-न-कोई मूल्य-दृष्टि है पर अज्ञेय की ये रचनाएँ शुद्ध प्रतिक्रियात्मक हैं।

कुछ प्रकृत्ति-संबंधी ऐसी रचनाएँ भी इसमें संगृहीत हैं जो भाषाई और वस्तुपरक दृष्टि से ताजा हैं।

फूल कांचनार के
प्रतीक मेरे प्यार के
प्रार्थना सी अर्धस्फुट काँपती रहे कली
पंक्तियों का संपुट, निवेदिता ज्यों अंजली।
आए फिर दिन मनुहार के, दुलार के
फूल कांचनार के।

अज्ञेय की अन्तःयात्रा का वास्तविक समारंभ 'हरी घास पर क्षणभर' से होता है। मुक्तिबोध की यात्रा बाहर से भीतर और भीतर से बाहर होती है। इसलिए उसे खौफनाक स्थितियों और विषम चुनौतियों का सामना करना पड़ता है। अज्ञेय की अन्तःयात्रा में पड़ने वाले प्रदेश विचित्र, अजनबी और किंचित् रहस्यमय होते हैं। इसी को वह आत्मान्वेषण, व्यक्तित्व की खोज आदि का नाम देता है। इस संग्रह की पहली कविता में ही इसे देखा जा सकता है। 'कितनी

शान्ति ! कितनी शान्ति ! / समाहित क्यों नहीं होती यहाँ भी मेरे हृदय की क्रान्ति ? / क्यों नहीं अन्तरगुहा का अशृंखल दुर्बाध्य वासी / अथिर यायावर, अचिर में चिर-प्रवासी / नहीं रुकता, चाहकर—स्वीकार कर—विश्रान्ति ? / (मान कर भी, सभी ईप्सा, सभी कांक्षा, जगत् की उपलब्धियाँ / सब हैं लुभानी भ्रान्ति/' इस अपार शांति में, यह मान कर भी कि सभी उपलब्धियाँ भ्रांतिमूलक हैं वह रुकता नहीं, गतिहीन नहीं होता। जिस तुमको वह याद करता है वह उसका निजी प्रश्न है। संभवतः यही उसका इच्छित विश्वास है जिससे उसके विवेक का द्वंद्व चलता रहता है—

अहं ! अन्तर्गुहावासी ! स्व-रति ! क्या मैं चीन्हता
कोई न दूजी राह ?
जानता क्या नहीं, निज में बद्ध होकर है नहीं निर्वाह ?
क्षुद्र नलकी में समाता है कहीं बेथाह
मुक्त जीवन की सक्रिय अभिव्यंजना का तेज-दीप्त प्रवाह
जानता हूँ। नहीं सकुचा हूँ कभी समवाय को देने स्वयं का दान,
विश्व-जन की अर्चना में नहीं बाधक था कभी इस व्यष्टि का अभिमान !

'मुक्त जीवन की सक्रिय अभिव्यंजना का तेज-दीप्त प्रवाह' को स्व-रति से बाहर आना है। किन्तु यह बाहर आना अपने भीतर प्रवेश करना है। वह बाहर के देवता की चिन्ता नहीं करता क्योंकि वह स्वयं सिद्धि है। वह प्यार और आशा को संघर्ष का सहायक मानता है। किन्तु उनके अभाव में भी उसके पास आस्था है जो नगण्य नहीं है।

'नदी के द्वीप' शीर्षक कविता इसी संग्रह में है। इसे अज्ञेय के जीवन का मूल दर्शन कहा जा सकता है—

किन्तु हम हैं द्वीप।
हम धारा नहीं हैं।
स्थिर समर्पण है हमारा। हम सदा के द्वीप हैं स्रोतस्विनी के
किन्तु हम बहते नहीं हैं। क्योंकि बहना रेत होना है।
हम बहेंगे तो रहेंगे ही नहीं।
+ + +
तुम बढ़ो प्लावन तुम्हारा घरघरा उठे—
तुम बढ़ो प्लावन तुम्हारा घरघरा उठे—
+ + +
तो हमें स्वीकार है वह भी। उसी में रेत होकर
फिर छनेंगे हार। जमेंगे हम। कहीं फिर पैर टेकेंगे,
कहीं फिर खड़ा होगा नए व्यक्तित्व का आकार।

समष्टि की धारा से घिर कर भी वह उससे अलग है, उससे मिलकर भी न मिलना उसकी नियति है। अज्ञेय का संपूर्ण काव्य इस नियति से अभिशप्त है।

'सो रहा है झोंप', क्वाँर की बयार, शरद्, कतकी पूनों आदि प्रकृति-चित्रण की कविताएँ हैं। 'सो रहा है झोंप' का दूसरा बन्द, है—

प्रस्फुटन के दो क्षणों का मोल
शेफाली
विजन की धूल पर चुप-चाप
अपने मुग्ध प्राणों से अजाने
आँक जाती है।

'प्रस्फुटन के दो क्षणों' का मोल आँक शेफाली क्षण के महत्त्व को सूचित करती है।

'जब पपीहे ने पुकारा', सागर के किनारे, मुझे सब कुछ याद है, माहीवाल आदि प्रेम कविताएँ हैं। इनमें मुख्यत: क्षण का महत्त्व, प्रेम की नश्वरता, व्यथा को दिखाया गया है। कुछ व्यंग्य कविताएँ भी इसमें संगृहीत हैं।

कवि, हुआ क्या फिर क्या, नयी व्यंजना, कँलगी बाजरे की, बने मंजूषा यह अन्तर, कवि की काव्य-मान्यताओं को उजागर करती हैं। उनमें कहीं-कहीं लोक-कल्याण को भी पैबंद की तरह जोड़ दिया गया है। जैसे 'कवि, हुआ फिर क्या' में—'भावनाएँ तभी फलती हैं कि उनसे लोक के / कल्याण का अंकुर कहीं फूटे।' 'कँलगी बाजरे की' में नए उपमानों पर जोर दिया गया है—

नहीं कारण कि मेरा हृदय उथला या कि सूना है
या कि मेरा प्यार मैला है।
बल्कि केवल यही—
ये उपमान मैले हो गये हैं
देवता इन प्रतीकों के कर गये हैं कूच।
कभी बासन अधिक घिसने से मुलम्मा छूट जाता है।

'नई घास पर क्षण भर' में अज्ञेय प्रणय निवेदन, प्रकृति चित्रण और जीवन दर्शन की नई भूमि पर आ गए हैं। पूर्ववर्ती काव्य में वह छायावादी अभिव्यक्तियों से मुक्ति पाने का प्रयास करता हुआ, वैयक्तिकता और निर्वैयक्तिकता के द्वंद्व से जूझता रहा है। 'हरी घास पर क्षण भर' में जैसे उसके व्यक्तित्व को आकार मिल गया है। इसे उसने अपने आस्था, जीवन-दर्शन, नई सहज भाषा, अछूते बिंबों द्वारा गढ़ा या पाया है। भाषाई अलंकृति और आत्मान्वेषण के भटकाव से छुट्टी मिल गई है। अपनी पिछली चारदीवारी को तोड़कर वह सीमित-विस्तृत संवेदना को पाता है।

इसके बाद 'बावरा अहेरी'। संभवत: अज्ञेय का सर्वश्रेष्ठ काव्य यह संकलन है। इसमें कवि का मुख्य दृष्टिकोण अपने को विराट को समर्पित कर देने में है। पहले बल अपने पर था अब विराट पर है। इस विराट में वह छोटे-छोटे क्षण, छोटी-छोटी वस्तुओं का भी चुनाव करता है। 'हरी घास पर क्षण भर' के पहले की रचनाओं में लघुता-विराटता का स्रोत वह स्वयं था। है तो अब भी वही। किंतु इसके लिए उसे 'आबजेक्टिव कोरिलेटिव' मिल गया है। प्रणयानुभूति में भी उसे निस्संगता प्राप्त हो गई है।

'बावरा अहेरी' सूर्य का प्रतीक है। यह वह विराट है जो अपने जाल में सबको समेट लेता है—मझोले परेवे, छोटी-छोटी चिड़ियाँ, बड़े-बड़े पंखी, बेडौल उड़ने जहाज, कलस-तिसूलवाले मन्दिर, मोटरों के धुवें आदि। वह उद्विग्न होकर पूछता है—'एक बस मेरे मन-विवर में दुबकी कलौंस को / दुबकी ही छोड़कर क्या तू चला जायगा ?' वह विराट के पास जाने का, उसके साक्षात्कार का आकांक्षी है। वह वही नहीं होना चाहता। किन्तु ज्योति-किरण पहनना उसका लक्ष्य है।

'दीप अकेला' में वह समर्पण के बहाने अपनी आन्तरिकता को—व्यक्तित्व की अद्वितीयता को—व्यक्त करता है—

> यह मधु है : स्वयं काल की मौना का युग संचय
> यह गोरस : जीवन कामधेनु का अमृत मंत्र-पूत पय
> यह अंकुर : फोड़ धरा को रवि को तकता निर्भय
> यह प्रकृत, स्वयंभू, ब्रह्म, अयुत :
> इसको भी शक्ति को दे दो।

इसी अद्वितीयता को वह 'जो कहा नहीं गया' में दूसरे ढंग से कहता है—

> निर्विकार मरु-तक को सींचा है
> तो क्या ? नदी-नाले ताल-कुएँ से पानी उलीचा है।
> तो क्या ? उड़ा हूँ, दौड़ा हूँ, तैरा हूँ, पारंगत हूँ।
> इसी अहंकार के मारे
> अन्धकार में सागर के किनारे
> ठिठक गया : नत हूँ
> उस विशाल में मुझसे
> बहा नहीं गया।

अब उसके प्रेम में पहले की तरह कैशोर आसक्ति नहीं है। मनोविज्ञान की शब्दावली प्रयुक्त की जाय तो उसकी आसक्ति उन्नीत होकर उदात्त हो गई है। प्रेम अब सर्जनात्मक स्थिति में पहुँच गया है। निःसंगता उसका जीवन-दर्शन हो गई है—

फूल को प्यार करो
पर झरे तो झर जाने दो
जीवन का रस लो, देह-मन-आत्मा की रसना से
पर जो मरे उसे मर जाने दो

निस्संगता की यह स्थिति उसकी प्रकृति तथा प्रणय-संबंधी रचनाओं में भी देखी जा सकती है—

झर—
अन्तरिक्ष की कौली भर
मटियाता सा भूरा पानी
थिगलिया भरे छीजे आँचल सी
ज्यों-ज्यों बिछी धरा धानी

हम कुंज-कुंज यमुना तीरे
कर गूँथ-गूँथ धीरे-धीरे
बढ़ चले अटपटे पैरों से
छिन लता-गुल्म, छिन वानीरे ।

'हरी घास पर क्षण भर' और 'बावरा अहेरी' अज्ञेय के विकासमान व्यक्तित्व के मध्यवर्ती विन्दु हैं जहाँ उसकी अन्तर्वृत्तियों को सामंजस्य प्राप्त हो गया है—वस्तु की दृष्टि से भी और भाषा की दृष्टि से भी। पूर्ववर्ती काव्य में भाषा बहुत कुछ ऊबड़-खाबड़, संस्कृतनिष्ठ और बिखरी हुई है क्योंकि उसके भावों में भी एक प्रकार का कैशोर अतिरेक है। आत्मान्वेषण की प्रक्रिया का जो समारंभ शुरू में दिखाई देता है उसे यहाँ आते-आते आकार मिल गया है। आस्था, समर्पण, दुःख, निःसंगता आदि से मँज कर वह मुक्त है। शब्द, मुहावरे, बिंब और लोक से गृहीत प्रतीक अपेक्षित और ताजा अर्थ सृष्टि करते हैं।

आगे की रचनाओं में कवि का अन्तःप्रयाण और गहरा होता जाता है। इन्द्रधनु रौंदे हुए ये, अरी ओ करुणा प्रभामय, आँगन के पार द्वार, कितनी नावों में कितनी बार और सागर मुद्रा में मुख्यतः अन्तर्लोक की यात्रा और रहस्य-दर्शन मिलेंगे।

'इन्द्रधनु रौंदे हुए ये' की रचनाओं को दो कोटियों में विभाजित किया जा सकता है।—अनुभव सत्य से संबद्ध वैचारिक कविताएँ और व्यंग्य काव्य। 'जितना तुम्हारा सच है, सत्य तो बहुत मिले, हवाई यात्रा: ऊँची उड़ान, आखेटक आदि पहली कोटि में रखी जायँगी तो साँप, नयी कविता : एक संभाव्य भूमिका, इतिहास की हवा आदि दूसरी कोटि में। जितना तुम्हारा सच है में वह कहता है—

मौन भी अभिव्यंजना है :
जितना तुम्हारा सच है
उतना ही कहो

+ + +

आकांक्षा इतनी है, साधना भी लाये हो
तुम नहीं व्याप सकते; तुम में जो व्यापा है
उसी को निबाहो।

मौन, साधना, भीतर जो व्यापा है उसे निबाहना आदि रहस्योन्मुख होने का प्रमाण है। इस संग्रह में उनकी एक कविता 'मैं वहाँ हूँ' में उसने अपने को सेतु माना है, जिसके नीचे जन-जीवन की अजस्र प्रवाहमयी नदी बहती है। वह मानव का प्रतिनिधि है, स्वयं भीड़ से अलग। पर बीच-बीच में वह 'हवाई यात्रा : ऊँची उड़ान' से भूमि पर उतर कर उस 'नर' से मिलने की कल्पना करता है 'जिसकी अनझिप आँखों में नारायण की व्यथा भरी है।' पर उसे अपनी व्यथा से कहाँ फ़ुरसत है कि दूसरों की व्यथा देखे। इस तरह जन-जीवन से जहाँ कहीं भी वह अपने को जोड़ने की कोशिश करता है कविता अप्रामाणिक हो उठती है। 'इतिहास की हवा' आज की विसंगतियों को अनेक अर्थयुक्त प्रतीकों में अभिव्यक्त करती है।

'अरी ओ करुणा प्रभामय' में जैन-बुद्धिज्म के प्रभाव से वह औपनिषदिक ऋषि की वाणी में बोलने लगता है—

तू उसे देखे न देखे
झर रहा जो अन्तहीन प्रकाश—
उसे माथा झुका कर पी :

'आँगन के पार द्वार' में पूर्ववर्ती काव्य-संग्रह की धार्मिकता और रहस्य को सिद्धि मिल गई है। 'अरी ओ करुणा प्रभामय' में वह लिखता है—

द्वार के आगे
और द्वार;
यह नहीं कि कुछ अवश्य
है उनके पार—
किन्तु हर बार
मिलेगा आलोक
झरेगी रसधार।

जैन प्रज्ञा द्वारा द्वार के बाद द्वार खोलते हैं, इसलिए नहीं कि वहाँ उनको कुछ मिलेगा, बल्कि 'न मिलने को' को उपलब्ध करने के लिए करते हैं। यही रसधार है। 'आँगन के पार द्वार' के तीनों खंडों में—अन्तः सलिला, चक्रान्तशिला और असाध्य वीणा में—जैन बौद्ध दर्शन का गहरा प्रभाव है। वस्तुतः यह दर्शन ध्यान, प्रज्ञा, शून्यता, अशब्द, मौन, समर्पण आदि पर ऐकांतिक बल देता है, तर्क, बौद्धिकता आदि पर नहीं। इसके अनुसार प्रज्ञा (इन्ट्यूशन) द्वारा संपूर्ण को जाना जा सकता है जबकि विज्ञान द्वारा सीमित भौतिक खंड सत्य को। संपूर्ण की उपलब्धि शब्दों द्वारा नहीं हो सकती क्योंकि वह शब्देतर है। 'सरस्वती पुत्र' कविता में मंदिर के भीतर लोग अत्यंत मुखर होकर रामनाम गते जाते थे पर वे अन्दर से गूँगे बहरे थे। किन्तु रूप की पहचान करने वाला—

पा रहा वाणी और बूझता शब्द
पर दिन दिन अधिकाधिक हकलाता था,
दिन-दिन पर उसकी घिग्घी बँधती जाती थी।

'चक्रान्तशिला' एक मिथक से आरंभ होकर मौन और सन्नाटे के रहस्य में परिणत हो जाती है। कभी-कभी वह कबीर की उलटबाँसी बोलने लगता है—'हाँ : / या कि नहीं क्यों ?/मिट्टी के भीतर / पत्थर था / पत्थर के भीतर / पानी था / पानी के भीतर / मेढक था / मेढक के भीतर / अस्थियाँ थीं यानी मिट्टी पत्थर था।......'

जैन बौद्ध दर्शन का चरमोत्कर्ष 'असाध्य वीणा'—अज्ञेय की सबसे लंबी कविता—में मिलता है। एक राजा के पास एक प्राचीन वीणा थी जिसे वज्रकीर्ति ने पुरातन किरीटी तरु से गढ़ा था। राजा ने अनेक कलावन्तों को आमंत्रित किया किन्तु इसे कोई बजा न सका, क्योंकि वे अपने कलाकार के प्रति जागरूक थे। लेकिन प्रियंवद, केशकंबली, गुफागेह साधक ने अपने मौन, समर्पण तथा तरु, वन, हिमशिखर आदि से एकतान होकर अपनी उँगलियाँ उठाई ही थीं कि वीणा स्वयं ही बज उठी। उसके मोहन वाद्य संगीत से लोगों को अलग-अलग अर्थ बोध हुआ और सभी को अपनी संपूर्णता उपलब्ध हो गई—

इसे गमक न हिन के एँड़ी के घुँघुरू की—
उसे युद्ध का ढोल :
उसे झंझा—गोधूली की लघु टुन-टुन—
उसे प्रलय का डमरू-नाद।
उसके जीवन की पहली अंगड़ाई
पर उसको महाजृंभ विकराल काल।
सब डूबे, तिरे, झिपे, जागे—

हो रहे वशंवद, स्तब्ध :
संधीत हुई, इयत्ता सबकी अलग-अलग जागी,
पा गई विलय ।

इस रचना में 'सटोरी' की उपलब्धि का चित्रण है। 'सटोरी' समाधि के आगे की अवस्था है। यह विशिष्ट अनुभव नहीं है बल्कि यह सभी अनुभवों में प्रवहमान रहती है। विभिन्न स्वरों में एक ही 'सटोरी' है। 'सटोरी' के बारे में सचेत न होने पर ही इसकी प्राप्ति होती है। किन्तु इसे सर्वथा छोड़ा भी नहीं जा सकता। लेकिन विशिष्ट प्रयत्न द्वारा इसे नहीं पाया जा सकता। कलावन्तों और साधक में यही भेद है। सधी हुई भाषा, अर्थपूर्ण प्रतीक, अपेक्षित ध्वन्यात्मकता, टटकी बिंबावलियों द्वारा कवि शुद्ध कविता की खोज करता है। 'सटोरी' इस जीवन और जगत् के परे अन्तस् की वस्तु है। इसमें संदेह नहीं कि कला की दृष्टि से, भाषाई संरचना की दृष्टि से यह एक श्रेष्ठ रचना है। पर जीवन की व्यापक समस्याओं से सर्वथा अछूती रह कर, यह रहस्य-रीति में बद्ध हो जाती है। उधार लिया हुआ दर्शन अपना दर्शन नहीं होता। महादेवी वर्मा के रहस्यवाद और अज्ञेय के रहस्यवाद में क्या अन्तर है ? यही न कि महादेवी किसी मिथक का निर्माण नहीं करतीं जब कि अज्ञेय मिथक बनाते हैं। महादेवी को अपनी सूक्ष्मतर कल्पनाओं के लिए अपेक्षित बिंब नहीं मिल पाये हैं और अज्ञेय को अपनी साधना के फलस्वरूप मिल गये हैं।

'कितनी नावों में कितनी बार' और 'सागर मुद्रा' की मूल संवेदना भी पिछली रचनाओं से अलग नहीं है। सागर मुद्रा की एक रचना है 'कन्हाई ने प्यार किया'—

कन्हाई ने प्यार किया कितनी गोपियों को कितनी बार ।
पर उड़ेलते रहे अपना सारा दुलार
उस एक रूप पर जिसे कभी पाया नहीं—
जो कभी हाथ आया नहीं ।
कभी किसी प्रेयसी में उसी को पा लिया होता—
तो दुबारा किसी को प्यार क्यों किया होता ?
कवि ने गीत लिखे नये-नये बार-बार
पर उसी एक विषय को देता रहा विस्तार
जिसे कभी पूरा पकड़ पाया नहीं—
जो कभी किसी गीत में समाया नहीं
किसी एक गीत में वह अँट गया दिखता
तो कवि दूसरा गीत ही क्यों लिखता ?

वस्तुतः जैसा इस कविता में लिखा गया है 'उसी एक विषय को देता रहा विस्तार' अज्ञेय ने एक ही विषय को विस्तार दिया है। डा० मदान अज्ञेय की कविता को चक्रान्त कविता कहते हैं। इत्यलम् तक उनके काव्य-विकास का प्रारंभ है। 'हरी घास पर क्षण भर' और 'बावरा अहेरी' में वह आगे बढ़कर रुक जाता है। 'आँगन के पार द्वार' तक विकास अपनी संपूर्ण परिपक्वता प्राप्त कर लेता है किन्तु इसके आगे वह चुक जाता है।

अज्ञेय का आभिजात्य उन्हें अत्यंत सजग बनाये रखता है। किन्तु सजगता केवल कला तक ही सीमित है। उनकी शब्दावली, चाहे संस्कृत से ली गई हो या लोकभाषा से, कटी-छँटी और तराशी हुई होती है। इससे जो रूपाकार बनता है वह उसकी वैयक्तिकता को झंकृत करके रह जाता है। वे व्यक्तिवादी कलाकार हैं जो आत्मसाक्षात्कार या आत्मान्वेषण में विश्वास रखते हैं। उनका मनो-प्राणिशास्त्रीय निर्माण ही ऐसी धातुओं से हुआ है कि वे इसके बाहर नहीं जा सकते। आत्मसाक्षात्कार की सीमाएँ होती हैं। इसलिए उन्हें 'अपना सच' कम ही मिल पाता है। किसी स्रष्टा के लिए आत्मसाक्षात्कार ही पर्याप्त नहीं है। जब तक उसे क्रियात्मकता (एक्शन) से नहीं जोड़ा जायगा यानी जब तक 'सेल्फ रिअलाइजेशन' को 'सेल्फ ऐक्चुअलाइजेशन' में नहीं बदला जायगा तब तक उसमें अपेक्षित प्राणवत्ता नहीं आ सकती।

आत्मसाक्षात्कार की ऐकांतिकता व्यक्ति को स्वतंत्र सत्ता प्रदान करती है। वह उच्चतर सामाजिक नैतिक आदर्शों से मुक्त होकर आत्म की गहराई में घुसता है। इस तरह संपूर्णता से कट कर उसका व्यक्तित्व खंडित हो जाता है। अपने से ही उसका अलगाव हो जाता है। फलतः साक्षात्कर्त्ता आत्मरक्षा की ओर प्रवृत्त होता है। अज्ञेय की परवर्ती रचनाओं में जो रहस्यवाद मिलता है वह आत्मरक्षार्थ ले आया गया है। इसी को 'फिलिस्टाइन प्रतिष्ठा' कहा जाता है।

प्रभाकर माचवे की विचारधारा और कविता को लेकर कभी उन्हें प्रगतिवादी, कभी प्रयोगवादी, कभी नई कविता का कवि कहा गया है। अपने 'मेपल' काव्य-संग्रह की भूमिका में उन्होंने स्वयं यह स्वीकार किया है। किंतु माचवे की कविता को किसी वाद विशेष में नहीं बाँधा जाना चाहिए। वस्तुतः तार सप्तक के अधिकांश कवि प्रगतिवादी दृष्टिकोण लेकर आए। लेकिन इसके साथ व्यक्ति-स्वातंत्र्य पर जोर देने के कारण वे प्रयोग की भूमिका में भी उतरे। उन्होंने तार सप्तक के वक्तव्य में लिखा है—"युग की वाणी जैसे गरीबों पर निरे निष्क्रिय आँसू बहाकर या बुर्जुआ को दस-पाँच गाली देकर समाप्त नहीं होती..... चूँकि मैं विशेष को साधारण से अविच्छिन्न और अविभाज्य मानता हूँ। एक ओर

जहाँ 'स्वांत: सुखाय' को स्व-रति कहने में नहीं हिचकता, दूसरी ओर ट्राटस्की के 'कला हथौड़ा है' वाले नारे से भी सहमत नहीं होना चाहता।"

ज़ाहिर कि वह रूढ़ अर्थ में प्रगतिवादी नहीं है। किन्तु मेपल (१९६५) तक आते-आते वह कवि को सूफी, भविष्यवक्ता, अराजक, 'एकला चलो' का व्रती कह कर प्रयोगवादियों की बोली बोलने लगता है। कवि 'एकला चलो' का तथ्य प्रमाणित करता है मुख्यत: अपने संदर्भों और व्यंग्यों से। पर वे सतह पर ही रह जाते हैं। भाषा में वह अलंकरण के विरुद्ध है पर इसका निर्वाह नहीं हो पाया है ––

जागो। जागो।
नाइट क्लब में नंगी भद्दी टाँगों के, जाज के अखंड घोर रागों के
कांगों में रक्त भरे दाग़ों के, ठंडे बे-असर दिमागों के
+ + +
पोइट्री के संपादक मिल गये हेनरी रागो।
शिकागो––

अपने तुकों के कारण कविता अपने आप पर व्यंग्य हो गई है। मेपल के बाद उनके दो काव्य-संग्रह 'स्वप्नभंग' और 'अनुक्षण' प्रकाशित हो चुके हैं।

तार सप्तक के शेष कवियों में रामविलास शर्मा की कविताएँ साफ-सुथरी और संबद्ध है। पर शर्मा जी ने अपने को कवि-मार्ग से अलग कर लिया। नेमचन्द्र जैन ने छायावादी काव्य-चेतना से अपने कवि जीवन की शुरुआत की और मार्क्सवादी चेतना को भी उसी रोमैंटिक दृष्टि से देखा। भारतभूषण अग्रवाल के काव्य-संग्रह हैं–– 'मुक्तिमार्ग', 'ओ अप्रस्तुत मन', 'अनुपस्थित लोग', 'कागज के फूल' आदि। बच्चन, नरेन्द्र शर्मा, अंचल से प्रभाव ग्रहण करते हुए ये साम्यवाद की ओर उन्मुख हुए। फिर उससे विमुख हो गए। यदि उनकी समग्र रचनात्मक कृतियों को 'कागज के फूल' शीर्षक के अर्न्तगत रख दिया जाय तो ज्यादा सही होगा।

गिरिजाकुमार माथुर (१९११–) तार सप्तक के एक कवि हैं। 'तार सप्तक' का प्रकाशन चाहे कोई घटना न हो पर गिरिजाकुमार माथुर का उसमें संकलित होना एक घटना अवश्य है। जिन उपकरणों के आधार पर कवियों का संकलन उस सप्तक में किया गया है वे माथुर पर लागू नहीं होते। यहीं संकलन-कर्त्ता की समझदारी भी संदिग्ध हो उठती है।

माथुर न तो प्रयोगवादी कवि हैं, न प्रगतिवादी और न यथार्थवादी। वे बच्चन, नरेन्द्र शर्मा, अंचल की परंपरा के कवि हैं––उन्हीं की तरह शरीरी और मांसल। उनका पहला काव्य-संग्रह 'मंजीर' '४१ में प्रकाशित हो चुका था जो कैशोर प्रणय-भावुकता की अभिव्यक्ति है––

रूठ गये वरदान सभी फिर भी मैं मीठे गान लिये हूँ
टूट गया मंदिर तो क्या पूजन के तो अरमान लिये हूँ
राजमहल तो उजड़ गया
पर खँङहर में सपने बाकी हैं
फूल वहाँ के नहीं किन्तु फूलों जैसे पाषाण लिये हूँ ।

बच्चन की काव्य छाया में यह अभिव्यक्ति भी बौनी होकर रह गयी है ।

दूसरा काव्य-संग्रह 'नाश और निर्माण' '४६ में प्रकाशित हुआ। संग्रह के नामकरण से स्पष्ट है कि कवि अपने भीतर रोमांस का क्षय और निर्माण की कल्पना लिये हुए है। किन्तु वास्तविकता यह है कि इसमें न तो किसी वस्तु का नाश होता है और न किसी का निर्माण। वह लिखता तो है 'बीत गया संगीत प्यार का' पर 'कसे हुए बंधन में चूड़ी का झर जाना' उसे कभी विस्मृत नहीं होता। और जब वह संघर्ष की कविता लिखता है तो भी संघर्ष के स्थान पर प्यार ही उभरता है—

हमको भी है ज्ञान विरह का
और मिलन का
यह मत समझो बरफ बन गया हृदय हमारा
या कालान्तर में पथराये भाव हमारे
या हमको है नहीं किसी की याद सताती
पर वह तुमसे बहुत भिन्न है
हम मन में सुधि रखकर भी
हैं कर्मशील
हैं संघर्षों में डूबे-भूले
हम डटकर जीवन में युद्ध कर रहे प्रतिपल

'धूप के धान', 'शिला पंख चमकीले' और 'अभी कुछ और' में अपने को दुहराया गया है। छायावादोत्तर रूमानी कवियों की भाषा की तरह उनकी भाषा में भी सादगी है पर रंग उनके अपने हैं।

शमशेर बहादुर सिंह (१९११–) अपनी काव्यगत अनोखी विशिष्टताओं के कारण इतिहासकार के सम्मुख अनेक प्रश्न खड़ा कर देते हैं। शमशेर को कहाँ 'सिचुएट' किया जाय ? क्या उसे दूसरे सप्तक का कवि मान कर 'नई कविता' का कवि मान लिया जाय ? लेकिन प्रयोगवादी कवियों ने जिस तरह अपने को छायावादी चेतना से अलगाने तथा प्रगतिवाद की प्रचारवादी भाषण-शैली से हटाने की चेष्टा की है उससे शमशेर मुक्त हैं। नई कविता के कवियों में वे लगभग अकेले, प्रचार से पृथक्, आत्मस्थ और मौन हैं। वे न अज्ञेय की तरह कला के

प्रति अत्यधिक सचेत हैं और न मुक्तिबोध की तरह प्रतिबद्ध। वे रोमैंटिक होकर भी रोमैंटिक नहीं हैं, प्रगतिवादी होकर भी प्रगतिवादी नहीं हैं, प्रयोगवादी होकर भी प्रयोगवादी नहीं हैं। शमशेर पर कोई लेबुल नहीं लगाया जा सकता। यदि कोई लेबुल लगाया जा सकता है तो कवि का लेबुल। सही अर्थ में वे कवियों के कवि हैं।

कदाचित् शमशेर पहले नए कवि हैं, यदि अनुभूति की प्रामाणिकता नई कविता की अनिवार्य शर्त है। यों उन्हें निराला और मुक्तिबोध की परंपरा से जोड़ा जा सकता है—वह भी आत्मसंघर्ष के आधार पर। निराला ने अपने आत्मसंघर्ष के लिए नई भाषा अन्वेषित की और मुक्तिबोध ने भी। ये दोनों कवि निरंतर आत्मसंघर्ष करते रहे। 'राम की शक्ति पूजा' 'सरोज स्मृति' से अधिक घनत्वपूर्ण आत्मसंघर्ष और कहाँ मिलेगा? 'ब्रह्मराक्षस का शिष्य', 'अँधेरे में' जैसा कटु-तिक्त आत्मसंघर्ष कहाँ दिखाई देगा! शमशेर 'निराला के प्रति' लिखते हैं—

छू, किया करते
आधुनिकतम दाह मानव का
साधना-स्वर में
शांति-शीतलतम

इसमें 'साधना-स्वर' और 'आधुनिकतम दाह' पर बल दिया गया है। किंतु 'शांति-शीतलतम' शमशेर की अपनी प्रणाली है। निराला का संदर्भ अधिक व्यापक, जटिल और दाहक है, शमशेर का निजी, निहायत प्राइवेट।

मुक्तिबोध के प्रति लिखे गए 'किता' के वे अधिक निकट हैं—'चमन खिलता था, तू खिलता था; और वह खिलना कैसा था /—कि जैसे हर कली से दर्द का याराना हो जाये!' ये दोनों कवि वस्तुबिंब को आत्मबिंब और आत्मबिंब को पुनः वस्तुबिंब बना लेते थे। किन्तु शमशेर का वस्तुबिंब आत्मबिंब में घुलमिल जाता था। शमशेर आत्मबिंब को वस्तुबिंब नहीं बना पाते। यही कारण है कि उनकी कविता अधिक निजी और दुरूह हो गई है। इसी में वह अपने को पाता है।

शमशेर ने अपने को पाने का उल्लेख बार-बार किया है। छायावादी काव्य में आत्मविस्तार है यानी अपने में जो नहीं है उसे भी समाविष्ट कर लेने की प्रवृत्ति। प्रयोगवादी काव्य में जो कुछ अपने में व्याप्त है उसी को खोजने की स्पृहा है और शमशेर में अपने को पाने का प्रयास है। अपने को पाने को कवि ने स्पष्ट नहीं किया है। छायावादी कवि अपने आत्मविस्तार में कुछ अतिरिक्त भी पाता है और प्रयोगवादी आत्मान्वेषण में कुछ अधिक का अन्वेषण कर लेता है। पर अपने को पाने का मतलब है कि वह वस्तुतः जो कुछ है—उससे न अधिक

और न कम–पाता है। ऐसा शुद्ध संवेदना के स्तर पर ही संभव है। यह संवेदना गलदश्रु भावुकता पर निर्भर नहीं है बल्कि आन्तरिक तनावों पर आश्रित है। एट्स का कहना है कि दूसरों से संघर्ष करने वाला कवि रेहटारिक लिखता है और अपने से संघर्ष करने वाला व्यक्ति कविता।

अपनी अभिव्यक्ति में अपने को पा लेने के पश्चात् वह रचनाओं के प्रकाशन में भी दिलचस्पी नहीं लेता। 'पा लेना' प्रकाशन की पूर्ति करता है। फलस्वरूप उसकी कविताओं के कुल दो ही संग्रह प्रकाशित हो सके हैं—'कुछ कविताएँ' तथा 'कुछ और कविताएँ'।

अपने को पाना निजीपन का ही दूसरा नाम है। उसका कहना है—'कला कैलेन्डर की चीज नहीं है। वह कलाकार की अपनी बहुत निजी चीज है। जितनी ही अधिक वह उसकी अपनी निजी है, उतनी ही कालान्तर में वह औरों की भी हो सकती है—अगर वह सच्ची है, कलापक्ष और भावपक्ष दोनों ओर से। वह अपने आप प्रकाशित होगी। और कवि के लिए वह सदैव कहीं-न-कहीं प्रकाशित। अगर सच्ची कला है, पुष्ट कला है।'

कवि की अपनी कला पर कई व्यक्तियों और कला आन्दोलनों का प्रभाव देखा जा सकता है—एजरा पाउंड, डायलन टामस, फ्रांसीसी प्रतीकवाद और अति यथार्थवाद का। पाउंड के बारे में उसने खुद लिखा है—'टेकनीक में एजरा पाउंड शायद मेरा सबसे बड़ा आदर्श बन गया है।' पाउंड का 'आइडोग्राम' तो इसमें दिखाई पड़ता है, आभिजात्य नहीं। वस्तुतः शमशेर अति यथार्थवादी काव्यान्दोलन से अधिक प्रभावित ज्ञात होते हैं। इस कला आन्दोलन का सीधा संबंध शुद्ध कविता से है। यह अ-तार्किक (ऐंटी-रैशनल) है। इसका मूल आधार स्वतः संचालनवाद (आटोमैटिज्म) है। इसका उद्देश्य कला को उच्च धरातल पर स्थापित करना है। यह कला आन्दोलन द्वंद्वात्मक भौतिकवाद में अपनी आस्था व्यक्त करता है पर कला संबंधी समाजवादी यथार्थवाद को अस्वीकार करता है। शमशेर बौद्धिक स्तर पर द्वंद्वात्मक भौतिकवाद को स्वीकार करते हैं पर उनकी कविता इसे स्वीकार नहीं करती।

शमशेर अन्तर्दृष्टि संपन्न कल्पना के कवि हैं, वे खूबसूरत लयात्मक सृष्टि करते हैं। किंतु उनकी रचना बहुत कुछ गड्डमड्ड, अमूर्त और अस्पष्ट होकर रह जाती है। उदाहरण के लिए 'चित्तप्रसाद की बहार शीर्षक कविता सुनकर' उद्धृत की जा सकती है। उनकी एक अति यथार्थवादी (सुररियलिस्ट) रचना देखिए :—

> सींग और नाखून
> लोहे के बख्तर कंधों पर।

सीने में सूराख हड्डी का ।
आँखों में : घास-काई की नमी।
एक मुर्दा हाथ
पाँव पर टिका
उलटी कलम थामे।
तीन तसलों में कमर का घाव सड़ चुका है।
जड़ों का भी कड़ा जाल
हो चुका पत्थर ।

इसमें शब्द स्वयं वस्तु हैं—सींग, नाखून आदि : आदिम हिंस्र प्रवृत्तियों के प्रतीक हैं। लोहे के बख्तर प्रतिरक्षा को प्रतीकित करते हैं। युद्ध का अंजाम : सीने में सूराख हड्डी का। उलटी कलम थामे लेखकीय विडंबना है। प्रत्येक प्रतीक अपना अलग अस्तित्व रखते हैं। यह एक अति यथार्थवादी चित्र का नमूना है। सारी चीजें एक साथ एकत्र हैं—यह कविता से अधिक चित्र अधिक है : संभवतः युद्ध-चित्र का बिखराव। यह अवचेतन मन की सृष्टि है।

अवचेतन मनःसृष्टि का एक दूसरा नमूना लीजिए :—

नीबू का नमकीन सा शरबत, शाम
(गहरा, नमकीन)
प्राचीन ईसाई चीजों-सी कुछ
राजपूताने की-सी बहुत कुछ
गहरी सोन-चंपई
सोन-गोरिया शाम ।
..........शान्त ।
तुम्हारी साड़ी की सी शाम
बहुत परिचित ।
मेरे दिल के अजीब फैलाव की
लातीनी पीतल-काँसे के घंटों की-सी
क्लासिक शाम
बहुत दूर तक बजती हुई शाम ।

शाम का यह बिंब बिलकुल निजी है, किंतु पिछले चित्र की तरह दुरूह नहीं। इसके माध्यम से कवि अपने अन्तर्लोक की यात्रा करता है और पाता है। स्वाद, स्पर्श, वर्ण, ध्वनि बिंबों के लिए जो अप्रस्तुत ले आये गये हैं वे केवल नये नहीं हैं बल्कि कवि की निजी अनुभूतियों को इस तरह लपेटे हुए हैं कि वे प्रथम पाठ में विचित्र—से लगते हैं। किन्तु सारे बिंब शाम के विभिन्न आयामों को

प्रस्तुत करते हुए उस उदास रोमैंटिक शाम को—बहुत दूर तक बजने वाली शाम को—क्लासिक बना देते हैं।

कवि का अवचेतन मन प्रकृति-चित्रण और प्रणयगाथा में अधिक रमता हुआ प्रतीत होता है जो एक नया रोमान लिये हुए है। इसमें भाषातीत गहन आकुलता को बाँधने का प्रयास है। पर इसे बाँधने में शमशेर के भाषाई पाश छोटे पड़ जाते हैं। शमशेर ने प्रतीकों, अछूते बिंबों, अति यथार्थवादी चित्रों, कोष्ठकों, डैशों आदि से उस अन्तराल को भरने का प्रयास किया है। यह अन्तराल भरा नहीं जा सका है। और शायद इस अन्तराल के भर जाने पर शमशेर का कवि छोटा पड़ जाता।

गजानन माधव मुक्तिबोध (१९१७-१९६४) स्वच्छन्दतावादोत्तर कवियों में सर्वाधिक विशिष्ट कवि हैं। छायावाद की रूमानियत, प्रगतिशीलता, रहस्यवादिता और प्रयोगधर्मिता का जो नया सामंजस्य मुक्तिबोध में मिलता है वह किसी अन्य कवि में नहीं। छायावाद की परंपरा को पूर्णतः आत्मसात् करते हुए अपने कथन में एक नई भंगिमा जोड़ कर उसने निजी पहचान बनाई है।

अज्ञेय और मुक्तिबोध 'तार सप्तक' में एक साथ संगृहीत होकर भी दो विपरीत दिशाओं के कवि हैं। अज्ञेय कविता को आत्मपरक प्रक्रिया मानते हैं तो मुक्तिबोध सांस्कृतिक प्रक्रिया। वे लिखते हैं—'काव्य रचना केवल व्यक्तिगत मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया नहीं, वह एक सांस्कृतिक प्रक्रिया है और फिर भी वह एक आत्मिक प्रयास है। उनमें जो सांस्कृतिक मूल्य परिलक्षित होते हैं वे व्यक्ति की देन नहीं, समाज की या वर्ग की देन है।'

कलाकार पहले बाह्य जीवन-जगत् का आभ्यन्तरीकरण करता है और फिर उसका बाह्यीकरण। बाह्य के आन्तरीकरण और आभ्यन्तर के बाह्यीकरण का व्यापार अनवरत चलता रहता है। कलाकार के आभ्यन्तरीकरण की प्रक्रिया में उसका अपना जिया और भोगा जाने वाला जीवन तो समाहित रहता ही है दूसरों द्वारा जिया और भोगा जाने वाला जीवन भी समीकृत होता है। इसी को वह पुनः रचता है।

अज्ञेय अपनी रचना-प्रक्रिया में आन्तरिक दबावों या संघर्षों को ही महत्त्व देते हैं जब कि मुक्तिबोध रचयिता के लिए बाह्य के आभ्यन्तरीकरण को जरूरी समझते हैं। बाह्य जीवन-जगत् के परिदृश्य में ही आन्तरिक तनावों का महत्त्व है। मुक्तिबोध की रचनाओं में अभिव्यक्त आन्तरिक तनावों को इस संदर्भ में ही देखा जा सकता है। यह तनाव 'तार सप्तक' में संगृहीत कविताओं में भी है और 'चाँद का मुँह टेढ़ा है' में भी।

बाह्यीकरण का अर्थ है युगीन विसंगतियों का गहरा दबाव। लोगों ने इसका तालमेल मार्क्सवाद से बैठाया है। आभ्यन्तरीकरण की संगति अस्तित्ववाद से बैठ जाती है। लेकिन उनमें रहस्य का कुहासा भी है। इसलिए मुक्तिबोध को किसी वाद विशेष में बाँधना उचित नहीं है। किन्तु सब मिलाकर वे मार्क्सवाद के प्रति ही प्रतिबद्ध हैं। मार्क्सवाद के प्रति प्रतिबद्ध होने का अर्थ अस्तित्व-वाद और आधुनिकता से अप्रतिबद्ध होना नहीं है। सार्त्र ने जिस ढंग से दोनों को मिश्रित करने का प्रयास किया है उसकी झलक मुक्तिबोध में देखी जा सकती है।

वे अपनी कविताओं में कथा कहते हैं। उसका ताना-बाना अपनी स्मृतियों, अचेतन के प्रभावों, राजनीतिक-सामाजिक विषाक्त अनुभवों, आस-पास होने वाली तात्कालिक घटनाओं, अतिप्राकृत तत्त्वों आदि से बुनते हैं। इसी को वे फैन्टेसी कहते हैं। फैंटेसी साहित्यिक शब्द भी है और मनोवैज्ञानिक भी। साहि-त्यिक अर्थ में फैंटेसी एक तरह की कथा (नरेटिव) है जो असंभव प्रतीतियों और अतिप्राकृतिक वस्तुओं से संबंधित है। मनोवैज्ञानिक अर्थ में यह वह काल्पनिक रचना होती है जो रोगी को प्रसन्न करती है और वह इसे सच मान लेता है। फैंटेसी का चुनाव किये बिना वह जितनी प्रामाणिकता और विश्वसनीयता के साथ रचनात्मक और क्रियात्मक यथार्थ की सृष्टि कर सका है यह दूसरी पद्धति द्वारा संभव नहीं था।

मुक्तिबोध की रचनाओं को तीन विन्दुओं द्वारा समझा जा सकता है। ये तीन विन्दु हैं—अँधेरा, टेरर और प्रकाश। मुक्तिबोध की यात्रा का प्रस्थान विंदु है— अँधेरा। उसके आसपास अँधेरा है, वह स्वयं अँधेरे में है। अँधेरे की अरक्षात्मक भयावह स्थितियाँ उसे 'टेरर' या दहशत की ओर ले जाती हैं। आज की स्थिति में 'टेरर' के बोध के बिना प्रकाश को नहीं खोजा जा सकता। अँधेरे को प्रकाश में बदलने की प्रेरणा टेरर से मिलती है। टेरर यात्रा का दूसरा मोड़ है। प्रकाश तक पहुँचने के लिए इस दुस्तर से गुजरना ही होगा।

'अँधेरे में' कविता के संबंध में शमशेर ने लिखा है—'यह कविता देश के आधु-निक जन इतिहास का स्वतंत्रता पूर्व और पश्चात् का एक दहकता दस्तावेज है। इसमें अजब और अद्भुत रूप से व्यक्ति और जन का एकीकरण है—' यह कविता जैन दर्शन के 'स्यातवाद' का अच्छा खासा उदाहरण बन गई। रामविलास शर्मा इसमें अपराध भावना देखते हैं, इन्द्रनाथ मदान अत्मसंशोधन और नामवर सिंह अस्मिता की खोज (आइडेंटिटी की खोज)। इस तरह के प्रक्षेपण द्वारा समग्र कविता का अर्थोद्घाटन संभव नहीं है।

मुक्तिबोध की रचनाओं का परिप्रेक्ष्य वह समूचा देश-काल है जिसमें वे रहते हैं, जहाँ अँधेरा है, लुटेरे हैं, ब्रह्मराक्षस हैं। पृष्ठभूमि में अँधेरा ही अँधेरा है। लुटेरे और ब्रह्मराक्षस इसी परिवेश में क्रियाशील होते हैं। 'अँधेरे में' को समग्रत: नहीं समझने के कारण धोखा होना स्वाभाविक है।

वस्तुत: मुक्तिबोध अपनी रचनाओं को मिथक बनाते हैं। फैंटेसी मिथक का साधन है। मिथकीय रचनाएँ फैंटेस्टिक होती ही हैं। वे पौराणिक मिथकों से काम न लेकर स्वयं ही मिथकों की सृष्टि करते हैं। परम अविश्वसनीय, अति-प्राकृतिक, असंभाव्य प्रतीकों के माध्यम से ही मिथकों की सृष्टि होती है।

जिन्दगी के..../कमरों में अँधेरे/लगाता है चक्कर/कोई एक लगातार/ के बुनियादी बिन्दु से ही 'मैं' की यात्रा शुरू होती है। फिर अनेक प्रतीकों—घोड़ों के रंग, संगीनें, कर्फ्यू, गाँधी, तालस्ताय, सूरजमुखी का फूल, राइफिल—आदि द्वारा अजीब सा टेरर साकार होता है—

> नगर में भयानक धुँवा उठ रहा है,
> कहीं आग लग गई, कहीं गोली चल गई
> सड़कों पर मरा हुआ फैला सुनसान
> हवाओं में अदृश्य ज्वाला की गरमी
> गरमी का आवेग।

रक्तालोक-स्नात पुरुष, अरुण कमल आदि प्रकाश बिंब-प्रतीक हैं। इस तरह अपने मिथक को, जो विशिष्ट स्थितियों में निर्मित है, वह तोड़ता है।

'ब्रह्मराक्षस' में भी इसी पद्धति से मिथकीय सृष्टि की गई है—'पागल प्रतीकों में निरंतर कह रहा था।' अँधेरा यहाँ भी है—

> शहर के उस ओर खंडहर की तरफ
> परित्यक्त सूनी बावड़ी
> के भीतर
> ठंडे अँधेरे में
> बसी गहराइयाँ जल की.....
> सीढ़ियाँ डूबीं अनेकों
> उस पुराने घिरे पानी में....
> समझ में आ न सकता हो
> कि जैसे बात का आधार
> लेकिन बात गहरी हो।

वीरान टावर, चक्करदार जीना, समुन्दर की दहशत को पार करता हुआ वह अभिशप्त ब्रह्मराक्षस का 'सजल-उर शिष्य' होकर किसी संगत निष्कर्ष तक

पहुँचना चाहता है। यहाँ पहुँच कर प्रतीकों के जादुई तिलस्म टूट जाते हैं और उन्हें संगत अर्थ मिल जाता है।

'दिमागी गुहान्धकार का ओरांग उटाँग' में दिमाग के अँधेरे में बैठे ओराँग उटांग के हुंकार से वह विचित्र दहशत में आ जाता है—

स्वयं की ग्रीवा पर
फेरता हूँ हाथ कि
करता हूँ महसूस
एकाएक गरदन पर उगी हुई
सघन अयाल और
शब्दों पर उगे हुए बाल तथा
वाक्यों में ओराँग उटांग के
बढ़े हुए नाखून

'चंबल घाटी' एक लंबी कविता है। इस कविता का समारंभ निरन्ध्र अँधेरे के गहराने और उमड़ने से होता है। इसे बीच-बीच ठहाके काट जाते हैं और सूनापन भंग होकर और भी अभंग हो उठता है। हवा की बदमस्ती, भयानक चोरों की गश्त आदि 'टेरर' का माहौल पैदा करते हैं। तेजी से बदलते नाटकीय क्रियात्मक दृश्य पूरे ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य को अपने में समेट लेते हैं। इस भयानक पहाड़ी इलाके में वह टूट कर भी सब कुछ को बदल देने वाला विस्फोट पैदा करना चाहता है—

अपने ही दर्रा के
लुटेरे इलाकों में जोरदार
आज जो गिरोह हैं
पीड़ित जनों को
जन साधारण को उनकी ही टोह है।
पूर्ण विनाश अनस्तित्व उनका
तुम्हारे निजत्व का चरम विकास है।
इसलिए, ओ अदृश्य-आत्मन्
कट जाओ, टूट जाओ।
टूटने से विस्फोट-शब्द जो होगा
गूँजेगा जग-भर
किन्तु अकेले की, तुम्हारी ही वह सिर्फ
नहीं होगी कहानी।

इस कविता में 'लुटेरे', 'चोर' आदि के प्रयोग देखकर कुछ तथाकथित प्रगति-

वादियों ने इन्हें उन लोगों की आवाज बताया जो गुरिल्लों को चोर, लुटेरे आदि कहते हैं। संदर्भ से काटकर ऐसे अर्थापन न तो कवि के साथ न्याय करते हैं न ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य के साथ। जन साधारण तो इन्हीं लुटेरों की खोज में हैं। व्यक्ति के चरम निजत्व का विकास उनके विनाश और अनस्तित्व में है। किन्तु टूट कर विनाशकारी शब्द सृष्टि एक व्यक्ति के बूते की बात नहीं है वह तो समूह द्वारा ही संपन्न की जा सकती है।

मुक्तिबोध जिस छायावादी, प्रगतिवादी और प्रयोगवादी काव्यधारा से सटे हुए थे उसमें कुछ ऐसे कवि भी थे जो व्यक्ति-सत्य के नाम पर अपने अहं को स्थापित करना चाहते थे। इसके विरुद्ध व्यक्तित्व का अन्तरण उनका लक्ष्य था। अहं के विसर्जन का दावा करने वाले कवियों का लक्ष्य करके उसने कहा है—

सत्य के बहाने
स्वयं को चाहते हैं प्रस्थापित करना
अहं को तथ्य के बहाने ।

अपने लिए वह लिखता है—

कि मैं अपनी अधूरी दीर्घ कविता में,
उमग कर,
जन्म लेना चाहता फिर से
कि व्यक्तित्वान्तरित होकर
नये सिरे से समझना और जीना
चाहता हूँ, सच।

व्यक्तित्वान्तरण हवा में नहीं होता—समूह से संबद्ध होकर ही हो सकता है। नए सिरे से जीने के लिए नए सिरे से समझना आवश्यक है, किन्तु यह व्यक्तित्वान्तरण द्वारा ही संभव है।

इस व्यक्तित्वान्तरण के लिए वह नई भाषा तलाशता है। इस भाषा को प्रतीकों की फैंटेसी नाम दिया जाना चाहिए। इसके फलस्वरूप इनकी कविताओं का वक्तव्य वैज्ञानिक अथवा गद्य-वक्तव्य से बहुत दूर हट कर भाव की दृष्टि से अधिक प्रामाणिक हो जाते हैं। आई० ए० रिचर्ड्‌स इसी को विज्ञान और साहित्य का अलगाव कहता है।

डरावने घाट, अंधे तिलस्मी खोह, मृतात्माओं का जुलूस, आतंककारी देव मूर्तियाँ, ब्रह्मराक्षस, चकमक पत्थर, शिखर-कगार, मोरियाँ, मीनारें आदि प्रतीक क्या हैं? इनके माध्यम से कवि बाह्य का आभ्यन्तरीकरण और आभ्यन्तर का बाह्यीकरण करता है। उसकी भाषा में कहीं प्रतीकों की सांगोपांग शृंखला

मिलेगी तो कहीं विशृंखलित प्रतीक। प्रथम कोटि के प्रतीक आभ्यन्तरीकरण की प्रक्रिया के अंग हैं तो दूसरी कोटि के प्रतीक बाह्यीकरण की प्रक्रिया के। दूसरी कोटि के प्रतीकों द्वारा वह इतिहास की अनिवार्यताओं को नए संदर्भ में प्रस्तुत करता है। इन सारी स्थितियों को स्वीकार करते हुए अस्वीकार करता है। यदि हम इलियट की शब्दावली का प्रयोग करना चाहें तो कह सकते हैं कि मुक्तिबोध प्रतीकात्मक संदर्भों की पद्धति बनाते थे और इसके आधार पर वे अपने बिखरे हुए बोध को समन्वित करते थे। फलतः बौद्धिकता को दृष्टि मिलती थी और संवेगों को निर्णयात्मक स्थिति। दृष्टि और निर्णयात्मक स्थितियों की एकान्विति मिथकों को प्रत्यय (कांसेप्ट) में बदल देते हैं।

मिथकीय रहस्यों में दो रंग मिलते हैं—श्याम और श्वेत—अँधेरा और प्रकाश। बावड़ी, नदी, समुद्र सभी का जल स्याह है। किन्तु अँधेरे की गहराइयों में कहीं लाल मणि है तो कहीं मशाल, कहीं अंगारे हैं तो कहीं विद्युत् की चकाचौंध। जगह-जगह ज्योतिपुरुष भी मौजूद हैं। विरोधी रंगों और प्रतीकों की टकराहट संपूर्ण कविता को पहले फैंटेसी बनाती है और फिर मिथक। इस तरह प्रतीकगत बिखराव को एक तारतम्यता मिल जाती है। क्रियात्मकता के कारण कविता नाटकीय तत्त्वों से समन्वित हो उठती है।

मुक्तिबोध की सबसे बड़ी कमजोरी है कि उसने एक ही कविता को बार-बार दुहराया है—एक ही तरह की भाषा और एक ही तरह के प्रतीकों में। निराला का वैविध्य यहाँ नहीं मिलेगा। ये एक ही आयाम के कवि हैं। निराला की भाषाई विविधता का भी यहाँ अभाव है। वातावरण निर्माण में उनका रेहटारिक कहीं-कहीं अनावश्यक रूप से लंबा हो जाता है।

हरिनारायण व्यास काव्य में सामाजिकता का सन्निवेश अनिवार्य मानते हैं। वैयक्तिकता उसे भी स्वीकार्य है किन्तु उसी सीमा तक जिस सीमा तक वह सामाजिकता को अपने में समाहित कर ले। वे व्यक्तित्व को कटाव में, अलगाव में न देखकर सामाजिक संदर्भों में निर्मित मानते हैं। इसलिए उनकी कविता में संघर्ष का वर्चस्व मिलता है।

भवानीप्रसाद मिश्र दर्शन में अद्वैतवादी, राजनीति में गाँधीवादी और टेकनीक में सहजता को स्वीकार करने वाले कवि हैं। जाहिर है वे मनोवृत्ति से स्वच्छन्दतावादी हैं। भाषा पर लोक गीतों और मुहावरों का विशेष प्रभाव है। 'सतपुड़ा के जंगल', 'गीत फरोश', 'कमल के फूल' आदि कविताएँ अपनी सहज अभिव्यक्ति और गेयता के कारण लोकप्रिय रही हैं।

नरेश मेहता (१९२१—) के रहन-सहन और काव्य दोनों में सुरुचिपूर्ण आभिजात्य दिखाई पड़ता है। मालवा और काशी की सांस्कृतिक छाप के कारण

उनके काव्य में सांस्कृतिक राग की हल्की-गहरी अनुगूंज सुनाई पड़ती है। नरेश के प्रारंभिक गीतों पर ऋग्वैदिक ऋचाओं के बिंबों का गहरा प्रभाव है—विशेष रूप से उषस् का। ये बिंब नए संदर्भ में अद्‌भुत आकर्षण और टटकापन लेकर आए। वनपाखी सुनो, बोलने दो चीड़ को और मेरा समर्पित एकांत उनके काव्य-संग्रह हैं। 'संशय की एक रात' नाट्य शैली में लिखी गयी लंबी कविता है।

नरेश की वेषभूषा और प्रारंभिक काव्य पर सुमित्रानन्दन पंत का स्पष्ट प्रभाव देखा जा सकता है। किंतु नरेश में कल्पना के विस्तार के स्थान पर संवेदना अधिक है। पंत के प्रभाव से छूट कर कवि अज्ञेय के प्रभाव में आया प्रतीत होता है मुख्यत: 'मेरा समर्पित एकान्त' की कुछ रचनाओं में। इस संग्रह की महत्त्वपूर्ण लंबी कविता है—समय-देवता। इसे नरेश ने नई कविता की पहली लंबी कविता कहा है। संभवत: मुक्तिबोध की लंबी कविताओं का रचना-काल इसके पहले का है। 'समय देवता' में धरती के विभिन्न भागों की सांस्कृतिक राजनीतिक स्थितियों का 'सीनिरियो' प्रस्तुत किया गया है।

'संशय की एक रात' में युद्ध को लेकर राम के मन में उठने वाले गहन द्वंद्व का चित्रण है। राम का संशय अर्जुन के संशय से मिलता-जुलता है। फर्क यह है कि गीता के अर्जुन दार्शनिक आधार पर युद्ध के लिए प्रस्तुत होते हैं और 'संशय की एक रात' के राम लोकमत के निश्चय के आधार पर—'अब मैं निर्णय हूँ/सब का/अपना नहीं।' पर राम का द्वंद्व स्थूल नैतिकता को पार कर आन्तरिकता का स्पर्श नहीं कर पाता। स्थूल नैतिकता की परिणति भी स्थूल बन कर रह गई है।

दूसरे सप्तक में ही शकुंतला माथुर की रचनाएँ भी संगृहीत हैं।

रघुवीर सहाय (१९२९–) दूसरे सप्तक के कवि हैं। उनके दो काव्य-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं—'सीढ़ियों पर धूप में' और 'आत्महत्या के विरुद्ध'। पहले काव्य-संग्रह 'सीढ़ियों पर धूप' में उसने जिस सहज भाषा, नवीन वस्तु और जिजीविषा का विनियोग किया है वह उसे अन्य कवियों से अलग कर देता है। मुक्तिबोध अपनी फैंटेसी, शमशेर अपनी शैली और सहाय अपनी सामान्य भाषा और व्यंग्यात्मकता के कारण विशिष्ट पहचान बना लेते हैं। भाषाई रोमांस से इतना अलग कोई कवि नहीं हो पाया है। बाद के कवियों में भी रूमानी स्पर्श का एकान्त अभाव नहीं है। रघुवीर सहाय अकेले कवि हैं जिन्हें इससे अछूता कहा जा सकता है।

आधुनिकता के नाम पर उनमें निर्वासन, अकेलापन, अलगाव, पुरानी पीढ़ी के प्रति आक्रोश नहीं मिलेगा। उनके स्थान पर मिलेंगी— अनाहत जिजीविषा, मध्यवर्गीय जीवन का दबाव और लोकतांत्रिक जीवन की विडंबनाएँ। इसका आभास प्रथम संग्रह में ही मिलने लगता है—

दुखी मन में उतर आती है पिता की छवि
अभी तक जिन्हें कष्टों से नहीं निष्कृति
उन्हीं अपने पिता की मैं अनुकृति हूँ
यही मैं हूँ।

\+ \+ \+

तुमने जो दी है अनाहत जिजीविषा
उसे क्या करें?
कहो, अपने पुत्रों मेरे छोटे भाइयों के लिए यही कहो।

ये दोनों रचनाएँ 'सीढ़ियों पर धूप' की प्रारंभिक दो कविताओं के अंश हैं। यह सपाट बयानी नहीं है। सपाट बयानी और कविता का चिरंतन विरोध है। बोलचाल की भाषा को और भी साफ-सुथरा बनाकर उसे व्यंग्यपूर्ण बना दिया गया है। पहली कविता में 'उन्हीं' और 'यही मैं हूँ' द्वारा समूची कविता को आज की यथार्थता दे दी गई है। यहाँ पिता को कोसा नहीं गया है वरन् उस मैनरिज्म से हट कर उसके द्वारा प्राप्त जिजीविषा को वह अपने छोटे भाइयों तक विस्तारित करना चाहता है।

किसी भी कविता को उठा लीजिए। उसकी सादगी के पीछे आधुनिकता की नियति को पार कर जाने की यथार्थ जिजीविषा है—

बन्धु हम दोनों थके हैं
और थकते ही रहें तो साथ चलते भी रहेंगे
वह नहीं है साथ जिसमें तुम थको तो हम तुम्हें लादे फिरें
औ' हम थकें तो दम तुम्हारा फूल जाये हाय।

\+ \+ \+

यदि आप प्यार कर सकते हैं तो आप बाकी सब कुछ कर
सकते हैं
यदि आप नहीं कर सकते हैं तो आप ख़ुश रहिए, आप खुशी
से मर सकते हैं।

हमने यह देखा, दुनिया, पढ़िए गीता, नारी आदि में रुंधे हुए रचनात्मक व्यंग्य हैं। किंतु इन रचनाओं में उसे अभी तक कोई निश्चित दृष्टि नहीं मिल सकी है।

'आत्महत्या के विरुद्ध' में वह प्रतिपक्ष का कवि हो जाता है। प्रतिपक्ष में न शामिल होकर वह आत्महत्या के पक्ष में चला जाता है। प्रतिपक्ष में सम्मिलित होने का कारण है। वह लिखता है—"पहले हम उस दुनिया को देखें जिसमें हमें पहले से ज्यादा रहना पड़ रहा है लेकिन जिससे हम न लगाव साध पा रहे हैं न अलगाव। लोकतन्त्र—मोटे, बहुत मोटे तौर पर लोकतंत्र ने हमें इंसान की

शानदार जिन्दगी और कुत्ते की मौत के बीच चाँप लिया है। इस स्थिति में सबसे आसान यह पड़ता है कि व्यक्ति-स्वातन्त्र्य की अभी तक बची सुविधा का फायदा उठाकर मैं अपने लिए बचे रहने की निजी, बिलकुल अहस्तान्तरणीय रियायत ले लूँ। उससे कुछ मुश्किल यह है कि मैं यह रियायत अस्वीकार करूँ और उसके आसरे जिन्दा रहूँ जो इन्सान के लिए दूसरे हथियारों से लड़ते हैं—साहित्येतर हथियारों से। सबसे मुश्किल और एक ही सही रास्ता है कि मैं सब सेनाओं से लड़ूँ—किसी एक में ढाल सहित, किसी में निष्कवच होकर—मगर अपने को अन्त में मरने सिर्फ अपने मोर्चे पर दूँ—अपने भाषा के, शिल्प के और उस दो-तरफा जिम्मेदारी के मोर्चों पर जिसे साहित्य कहते हैं।" इस उद्धरण से स्पष्ट है कि उसका पक्ष लोकतंत्र का प्रतिपक्ष है और वह अपने ही मोर्चे पर यानी साहित्य के मोर्चे पर मरना चाहता है—जिसकी जिम्मेदारी दोहरी है। अर्थात् वह साहित्य के अपने निजी मोर्चे को भी सँभालता है और उसके माध्यम से लड़ाई के मोर्चे को भी। किंतु दो मोर्चों पर एक साथ लड़ना किंचित् कठिन है।

लोकतंत्र के भ्रष्टाचार से सभी लोग परिचित हैं। उसके प्रतिनिधि हैं मंत्री मुसद्दी लाल। संपूर्ण संग्रह में मुसद्दी लाल छाये हुए हैं और उनकी छाया में लोकतंत्र का ठीक ढंग से उग पाना संभव नहीं है। मुसद्दी लाल ने नेहरू युग के औजारों में पेंचभरी चूड़ियों का इजाफा किया है। कोई इसलिए बीमार होता है कि उसने मुसद्दी को खुश नहीं किया—

> दर्द, खैराती अस्पताल में डाक्टर ने कहा वह मेरा काम नहीं
> वह मुसद्दी का है
> वही भेजता है मुझे लिख कर इसे अच्छा करो
> जो तुम बीमार हो तो उसे खुश करो
> कुछ करो

'आत्महत्या के विरुद्ध' तभी हुआ जा सकता है जब कुछ किया जाय। 'भीड़ में मैकू और मैं', अधिनायक, फिल्म के बाद चीख, एक अधेड़ भारतीय आत्मा इस तरह की ही कविताएँ हैं।

नेता, मंत्री, लोकतंत्र, राष्ट्रगीत, मतदाता आदि के चतुर्दिक लिखी हुई कवि-ताओं के लिए आवश्यक था कि वे व्यंग्यात्मक होतीं। व्यंग्य प्रायः आक्रामक होता है। सहाय ने इसके लिए मुसद्दी वर्ग के लोगों की आदतों, मुद्राओं, कर्मकांडों (रिचुअलस) को अपने आक्रमण का लक्ष्य बनाया है। इसके लिए कथातत्त्व (फेबुल), सफेद झूठे आदर्श, चबाये हुए भाषण आदि उपकरणों को अपनाया गया है। किन्तु ये व्यंग्य इतने सतह पर हैं कि इनके द्वारा जटिल अनुभवों को अभिव्यक्त नहीं किया जा सका है। समय के साथ इन कविताओं की सम-

सामयिकता फीका पड़ती जायगी। ये सारे आक्रमण 'गेम रिचुअल' बन कर रह जाते हैं। निराला के व्यंग्य-विधान की तरह जीवन को समग्रता और गहराई में पकड़ पाना इनके लिए दुष्कर है। पत्रकारिता का अवांछित प्रभाव इन रचनाओं को निष्प्रभ करने में पर्याप्त योग देता है।

धर्मवीर भारती (१९२६—)के काव्य का ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य छोड़ देने के कारण आलोचना की परिपाटी ग्रस्त सरणि के अनुसार उन्हें नव स्वच्छन्दतावादी कह कर (यद्यपि भारती में नव स्वच्छन्दतावादी मनोवृत्ति की कमी नहीं है) उन वस्तुओं की माँग की गई है जो उसके काव्य में नहीं है। जो कुछ उसमें है उसे निरपेक्ष होकर देखने की कोशिश प्रायः नहीं हुई है। मूल्यान्वेषण की जो बात 'तार सप्तक' में उठाई गई है उसे दूसरे सप्तक के विशिष्ट कवियों—रघुवीर सहाय और भारती—में देखी जा सकती है। इन दोनों कवियों के रास्ते अलग-अलग हैं पर आन्तरिकता के विन्दु पर दोनों एक-दूसरे को काटते चलते हैं।

भारती ने लिखा है—'प्रथम बार समस्त जीवन का व्यक्ति या समाज, इस प्रकार के तंग विभाजनों के आधार पर न माप कर मूल्यों की सापेक्ष स्थिति में व्यक्ति और समाज दोनों को मापने का प्रयास कर रहा है।⋯नई कविता की जो प्रमुख भावभूमि है, उसमें मुख्य प्रश्न है, सर्वांगीण मानवीय विघटन का मुकाबला करने का।....नयी कविता 'मनुष्य की आन्तरिकता' को फिर से प्रतिष्ठित करना चाहती है, उसके असामंजस्य को दूर करना चाहती है।'

स्वातंत्र्योत्तर भारत केवल गाँधी-नेहरू के व्यक्तित्वों और विचार धारा से प्रभावित नहीं हो रहा था बल्कि नरेन्द्रदेव, राममनोहर लोहिया और पी० सी० जोशी की विचारधारा से भी प्रभावित हो रहा था—मुख्यतः लोहिया की विचारधारा से। लोहिया मार्क्स की इतिहास की व्याख्या को इस रूप में मानने को तैयार नहीं थे कि उसमें व्यक्ति की अपनी कोई हैसियत नहीं है। साहित्य और दर्शन में ज्याँ पाल सार्त्र ने जिस तरह मार्क्सवाद और अस्तित्ववाद को एकसूत्र में बाँधने का प्रयास किया है उसी प्रकार लोहिया ने राजनीति में भी समाजवाद के भीतर व्यक्ति-स्वातंत्र्य को स्वीकार किया। कहना न होगा कि पाँचवें-छठें दशक के लेखकों पर इसका गहरा प्रभाव पड़ा। रघुवीर सहाय में समाजवाद का स्वर मुख्य है तो भारती में व्यक्ति-स्वातंत्र्य का। कहना न होगा कि व्यक्ति-स्वातंत्र्य पर जोर देने वाले कवियों की सामाजिक मनोवृत्ति क्रमशः क्षीण होती गई—यहाँ तक कि वह प्रतिक्रियावाद की सीमा छूने लगी।

भारती के काव्य में प्रेम-रोमांस का प्राधान्य है, अंधा युग को छोड़ कर। प्रारंभिक काव्य-संग्रह 'ठंडा लोहा' (१९५२) में जो कैशोर अल्हड़ता दिखाई पड़ती है वह बच्चन, नरेन्द्र शर्मा से प्रभावित है, फिर भी अलग—

अगर मैंने किसी के होंठ के पाटल कभी चूमे
अगर मैंने किसी के नैन के बादल कभी चूमे
अगर मैंने किसी की मद भरी अंगड़ाइयाँ चूमीं
अगर मैंने किसी की साँस की पुरवाइयाँ चूमीं
महज़ इससे किसी का प्यार मुझ पर पाप कैसे हो ?
महज़ इससे किसी का स्वर्ग मुझ पर शाप कैसे हो ?

भारती के प्रथम उपन्यास 'गुनाहों का देवता' में भी यही कैशोर भावुकता दिखाई पड़ती है। 'इन फिरोजी ओठों पर/बरबाद मेरी जिन्दगी।' इसी संग्रह में है।

सात गीत वर्ष (१९५१-५८) में वह प्यार की अपर्याप्तता के बाहर भी जाता है—'प्रभु/इस रस को/इस नए रस को क्या कहते हैं?/जिसमें शृंगार की आसक्ति नहीं/जिसमें निर्वेद की विरक्ति नहीं/जिसमें बाँहों के/फूलों जैसे वन्धन के/आकुल परिरंभन की गाढ़ी तन्मयता के क्षण में भी/ध्यान कहीं और चला जाता है।' इसमें व्यक्ति की ऐसी जिज्ञासा उभरती है जो स्वच्छन्दतावादी जिज्ञासा से भिन्न है। इसमें व्यक्ति की अपनी सार्थकता या होने की सार्थकता के विन्दु दिखाई पड़ते हैं। आस्था, दायित्व और आन्तरिकता की खोज यहीं से शुरू होती है।

इस संग्रह में प्रमथ्यु गाथा एक लंबी कविता है। प्रमथ्यु एक यूनानी पौराणिक पुरुष है। वह स्वर्ग स्थित द्युपितर के महलों से मनुष्य के लाभार्थ अग्नि चुरा लाया था। द्युपितर ने प्रमथ्यु को दंड देने के लिए एक शिलाखंड में बँधवा दिया था और उसके हृदय-मांसपिंड को नोंच-नोंच कर खाने के लिए एक बूढ़े गिद्ध को तैनात कर दिया था। इसमें प्रमुथ्यु, द्युपितर, जनसाधारण, अग्नि आदि अपना-अपना वक्तव्य देते हैं।

इसमें परंपराबोध के विरुद्ध आधुनिकताबोध को उजागर किया गया है। गिद्ध पूर्ववर्ती परंपरा का सूचक है। उससे राह ढूँढ़ने में एक ओर सहायता मिलती है तो दूसरी ओर वह व्यक्ति को नोंचता और खंडित करता है। किंतु प्रमथ्यु को विश्वास है कि उसकी पीड़ा प्रत्येक व्यक्ति में छिपे प्रमथ्यु को जगायेगी। यह पीड़ा अज्ञेय के पीड़ावाद या दर्दवाद के मेल में है जो आज की रचनाओं में भी रह-रह अपनी प्रेत-छाया को छोड़ देता है।

जैसा कहा गया है वह इतिहास-चक्र से अपनी रक्षा के लिए सतर्क है—'कूड़े-सा हमको तज कर तट के पास/मन्थर गति से बढ़ जायेगा इतिहास/सामूहिकता भी केवल/साबित होगी जिस दिन छल/अपनी वैयक्तिकता हार/क्या पायेंगे/प्रभु/हम क्या पायेंगे?' जाहिर है कि वह सामूहिकता के मुकाबले वैयक्तिकता को चरम मूल्य के रूप में स्वीकार करता है।

'टूटा पहिया' में वह उपर्युक्त तथ्य की पुष्टि करता है—

मैं रथ का टूटा हुआ पहिया हूँ
लेकिन मुझे फेंको मत
इतिहासों की सामूहिक गति
सहसा झूठी पड़ जाने पर
क्या जाने
सच्चाई टूटे हुए पहियों का आश्रय ले।

अंधायुग (१९५५) भारती की विशिष्ट उपलब्धि है। आधुनिकता से संबद्ध अब तक की आधुनिक काव्य-कृतियों में इसे सर्वश्रेष्ठ गीतिनाट्य कहा जा सकता है। इसमें युद्धजन्य कुंठा, अमर्यादा, विवेकशून्यता, अमानवीयता, व्यर्थता आदि को उनकी संपूर्ण जटिलताओं में चित्रित करते हुए आस्था और वैयक्तिक दायित्व को प्रतिष्ठित किया गया है।—'या कथा ज्योति की है अंधों के माध्यम से।' इसी को औपनिषदिक शब्दावली में कहा गया है—'तमसो मा ज्योतिर्गमय।'

इसमें महाभारत के अट्ठारहवें दिन की संध्या से लेकर प्रभास तीर्थ में कृष्ण की मृत्यु के क्षण तक का घटना-क्रम समाहित किया गया है। युद्धोपरांत की विकृतियों को उद्घाटित करने के लिए इससे अच्छा कथा-पट दूसरा नहीं हो सकता था। यह अजीब युद्ध था। इसमें दोनों ही पक्षों को खोना ही खोना मिला। यदि जीत हुई तो केवल अंधेपन की। आरंभ में ही कथा-गायन में कहा गया है—'जो कुछ सुन्दर था, शुभ था, कोमलतम था/वह हार गया....द्वापर युग बीत गया।' युद्ध का परिणाम यही होता है। दो महायुद्धों के बाद योरप की स्थिति इससे भिन्न नहीं थी।

संपूर्ण काव्य-नाटक पाँच अंकों में बाँटा गया है। उनके क्रमिक शीर्षक हैं—कौरव नगरी, पशु का उदय, अश्वत्थामा का अर्द्धसत्य, पंख, पहिये और पट्टियाँ, गांधारी का शाप, विजय : एक क्रमिक आत्महत्या और प्रभु की मृत्यु। पहले अंक यानी कौरव नगरी में प्रहरियों द्वारा अस्तित्व की अर्थहीनता; धृतराष्ट्र का यह बोध कि वैयक्तिक सत्य के बाहर भी सत्य हुआ करता है; बाहर के सत्य—धर्म, नीति, मर्यादा के प्रति गांधारी की घोर अनास्था, इतिहास को चुनौती देने वाले व्यक्तित्व का उन्मेष और निर्णय न लेने का दुःख आदि अनेक परस्पर-विरोधी आधुनिक मनस्थितियों को प्रस्तुत किया गया है।

दूसरे अंक में अश्वत्थामा में पशु का उदय होता है और बुद्धिजीवी संजय बदली हुई अनुभूति को पुराने शब्दों में व्यक्त कर पाने में अपने को असमर्थ पाता है। लेकिन उसे कटु सत्य कहना ही होगा। एक ओर वृद्ध याचक कहता है कि 'हर क्षण इतिहास बदलने का क्षण होता है' और दूसरी ओर अश्वत्थामा को

तट पर छोड़ कर इतिहास नया मोड़ अपनाता है। तीसरे और चौथे अंक के बीच अन्तराल है जिसमें वृद्ध याचक की प्रेतात्मा कथा के प्रवाह को तो बाँध लेता है लेकिन समय के प्रवाह को नहीं बाँध पाता। इस प्रवाह को कृष्ण भी बाँध पाने में असमर्थ हैं। चौथे अंक में अश्वत्थामा पांडव-पुत्रों का वध करता है, संजय की दिव्यदृष्टि लुप्त होती है और युयुत्सु घोर अन्तर्द्वंद्व में दिखाई पड़ता है। ब्रह्मास्त्रों के युद्ध से धरती बंजर हो जाती है। पाँचवें अंक में युयुत्सु जिसने धर्म का पक्ष लिया था आत्महत्या कर लेता है; कुंती, गांधारी और धृतराष्ट्र दावाग्नि में जल मरते हैं। प्रभु की मृत्यु के बाद घोर अंधकार और नई आस्था की सृष्टि होती है।

विभिन्न सार्थक प्रतीकों, नए नाट्य उपकरणों, बिंबों आदि के माध्यम से भिन्न-भिन्न अंकों को एकसूत्रता में गूँथा ही नहीं गया है बल्कि अपने समापन के साथ-साथ नाटकीय प्रभावान्विति अधिक गहरी हो गई है। अपने ब्योरे में भी इसमें ऐसी परिस्थितियों, विघटित मूल्यों, निरर्थकताओं को समाविष्ट किया गया है जो आज की जिन्दगी को पूरे तौर पर उद्‌घाटित कर देता है। नाटकीय संवादों, कथा गायनों, चीखों तथा कहीं-कहीं मौन द्वारा भी उन सूक्ष्म जटिल अनुभूतियों को व्यक्त किया गया है जो दूसरे माध्यमों से संभव नहीं था।

इसमें मुख्यत: इतिहास की धारा और उससे व्यक्ति की टकराहट की समस्या उठाई गई है। प्रहरी युद्ध की भयावहता के साथ यह भी कहते हैं कि हमारा खुद का मत और निर्णय नहीं था। याचक कहता है—'जब कोई मनुष्य/अनासक्त होकर, चुनौती देता है इतिहास को/उस दिन नक्षत्रों की दिशा बदल जाती है/नियति नहीं है पूर्व निर्धारित/उसको हर क्षण मानव-निर्णय बनाता मिटाता है।' आगे चलकर जब अश्वत्थामा का रथ पांडव शिविर की ओर जाने लगता है तो वही याचक व्यक्ति सामर्थ्य के आगे प्रश्नचिह्न लगा देता है। अंत में यही वृद्ध पुन: कहता है—'वे हैं भविष्य/किन्तु हाथ में तुम्हारे हैं/जिस क्षण चाहो उनको नष्ट करो/जिस क्षण चाहो उनको जीवन दो, जीवन लो।' वृद्ध का यह अपना अन्तर्विरोध उस विचार-धारा का भी अन्तर्विरोध है जो इतिहास और व्यक्ति-सामर्थ्य के बीच स्थित है।

प्रहरियों के पास अपना निर्णय नहीं था। पर युयुत्सु के पास तो अपना निर्णय था। लेकिन उसे आत्महत्या करनी पड़ी। आगे चलकर पता लगता है कि वस्तुत: युयुत्सु का वह निर्णय व्यास का था, कृष्ण का था—स्वयं युयुत्सु का नहीं था। प्रभु के मरण के बाद युयुत्सु वास्तविक प्रश्न उठाता है कि मनुष्य की नियति प्रभु के मरण के साथ नहीं बँधी थी, वह मानवीय भविष्य के साथ बँधी हुई है। युयुत्सु सारी आस्थाओं पर प्रश्नचिह्न लगा देता है। उसके प्रश्नों के

आगे कथा गायन की आस्थाएँ—स्वतंत्रता, साहस और नूतन सर्जन—झूठी लगने लगती हैं।

'प्रभु की मृत्यु' नीत्शे के उस कथन की याद दिलाता है जिसमें प्रभु की मृत्यु घोषित की गई थी। प्रभु के जीवित रहते, उनको सब कुछ समर्पित करके भी क्या हुआ ? क्या स्वयं प्रभु अन्याय से विरत रहे ? विजित और विजयी पक्ष में कौन-सा अन्तर आया ? प्रभु के मरण के वाद युयुत्सु सही समस्या उठाता है—मानवीय भविष्य की संरक्षा की, परीक्षित के बचाव की। यह आज के जीवन की सबसे बड़ी समस्या है। सभी आस्थावादियों के सामने यह विकट प्रश्न है। 'अंधायुग' में इस समस्या का कोई समाधान नहीं है। यदि जोड़ा हुआ समाधान न होता, यदि आरोपित आस्था का आयोजन न होता तो युयुत्सु का प्रश्न पूरे काव्य-नाटक को अधिक महत्त्वपूर्ण बना देता।

'अंधायुग' में जिस इतिहास का निर्माण किया गया वह विकलांग, गूंगा, अभिशप्त और आत्मघाती था। इतिहास का निर्माण केवल एक व्यक्ति नहीं कर सकता चाहे कितना भी अनासक्त वह क्यों न हो। संभवत: कृष्ण की चरम कोटि की अनासक्ति ने इतिहास को इतना रुक्ष और भयावह बना दिया। इतिहास के निर्माण में जब तक रागतत्त्व नहीं गूँथा जायगा तब तक उसे पूर्णता नहीं मिलेगी। अंधायुग और कनुप्रिया को मिलाकर भारती ने एक मूल्य-दृष्टि निर्मित की है। अंधायुग में आधुनिकताबोध के बिंब और प्रतीक हैं तो कनु-प्रिया में रागबोध के।

तीसरा सप्तक १९५९ में प्रकाशित हुआ। बुनियादी तौर पर दूसरे सप्तक से इसे अलग नहीं किया जा सकता। व्यक्तिगतता का आग्रह, अन्वेषण, स्वतंत्रता आदि पर प्राय: प्रत्येक कवि ने जोर दिया है। आधुनिकता की जो शुरुआत दूसरे सप्तक में हुई थी वह इसमें भी मिलेगी। सातवें दशक की कविताओं में जो अनास्था दिखाई पड़ती है उसके स्रोत दूसरे और तीसरे सप्तक में मिल जायेंगे। पर भाषा के सुथरेपन की दृष्टि से यह संग्रह निश्चित रूप से पिछले सप्तकों से आगे है। प्रयाग नारायण त्रिपाठी, कीर्ति चौधरी, मदन वात्स्यायन, केदारनाथ सिंह, कुँवरनारायण सिंह, विजय देव नारायण साही और सर्वेश्वर दयाल सक्सेना इस सप्तक के कवि हैं।

इस सप्तक में संगृहीत कवियों में केदारनाथ सिंह को उनकी रूप-रस-वर्ण-स्पर्श-गंधी बिंब-योजना के लिए अलग माना गया है। बिंब-योजना पर ही सारा ध्यान केन्द्रित करने के कारण उसकी वस्तुमत्ता की ओर लोगों की दृष्टि नहीं जा सकी है। वस्तुत: केदार 'अभी-अभी' की सचेतता (अवेयरनेस) की वजह से विशिष्ट हैं। वर्तमान की तात्कालिकता (प्रेजेन्ट इंस्टैंट) के प्रति रचनात्मक

स्तर पर शायद ही कोई दूसरा कवि इतना जागरूक हो। 'अभी अभी' में अस्तित्व-अनस्तित्व दोनों समान रूप से अपने तनावों में समाहित हैं—'हर घड़ी, हर वक्त खटका लगा रहता है।' 'खटका' की निरंतरता उसकी कविता है। रचनाबद्ध होकर यह जितना कवि का है उतना ही दूसरों का भी हो जाता है। यही उसकी सार्थकता है।

'नए वर्ष' को कवि ने इसी 'अभी-अभी' के दृष्टिकोण से देखा है। वह न तो इसमें सुनहरा भवितव्य देखता है और न अँधेरा। इस पिटे हुए रास्ते को छोड़ कर वह इसमें खटके का नैरन्तर्य अनुभव करता है—'बन्द कमरे / या कि दरवाजे भरी दीवार /......अनछुए तट / या कि रस्तों के नए भटकाव / धूपगंधी पंख चिड़ियों के / कि टूटे आँधियों के पाँव /—निहाई पर चोट घन की / या कि छेनी से निकलते—/ फूल, आँसू, ऋचाएँ, मन के रुँधे सब बोल / गिरे पालों की उदासी / या जल के आईनों में काँपता भूडोल'। इन अनछुए, टटके बिंवों का सौन्दर्य उनकी अर्थवान् प्रतीकात्मकता में है। दो विरोधी बिंब प्रतीक अपनी टकराहट से जो अर्थ-सृष्टि करते हैं वे तात्कालिक भी हैं और तात्कालिकता के पार भी हैं। यह तात्कालिकता युगीन संशय ही है। कभी-कभी वह इसे व्यक्त करने के लिए महज कुछ सवाल खड़ा कर अलग हो जाता है—'रात—कहीं कोई मीनार टूटने की आवाज—/ इधर आई थी / क्या यह सच है / सुबह—एक मंदिर के पास / किसी अजनबी फरिश्ते के पंख पड़े दीखे थे / क्या यह सच है / ये प्रश्न अब भी उतने ही सच है।' ये प्रश्न घटिया अथवा बढ़िया समाधानों की अपेक्षा अधिक गहरे, परिदृश्य संपृक्त और सामाजिक हैं।

'अभी-अभी' के आगे वे 'तभी' का संकेत भी देते हैं। यह 'तभी' 'अभी' से बिलग नहीं होता। अलग होकर शायद कविता कविता न रह जाती। 'दिग्वजय का अश्व' की अंतिम पंक्तियाँ तभी का आभास देती हैं। इधर आकर वे 'तभी' की ओर और भी अधिक अग्रसर हुए हैं—'कंधे / अपनी जरूरत खोते जा रहे हैं / जब कि / बटन जाँघिया / पहिये और इश्तहार / ये महज शब्द नहीं / जमीन के अन्दर बिछी सुरंगें हैं / जिनसे होकर / अपने नाम के पास पहुँचा जा सकता है।' अथवा, 'मैंने पहली बार जाना / सहमत होना / अपनी खाल से / जिन्दा और साबूत बाहर जाना है।'

कुँवर नारायण (१९२७–) का पहला काव्य-संग्रह 'चक्रव्यूह' आधुनिकता की मनोदशा का सूचक है—'मैं नवागत वह अजित अभिमन्यु हूँ / प्रारब्ध जिसका गर्भ ही से हो चुका निश्चित / अपरिचित जिन्दगी के ब्यूह में फेंका हुआ उन्माद / बाँधी पंक्तियों को तोड़ / क्रमशः लक्ष्य तक बढ़ता हुआ जयनाद।' यह आज की सामाजिकता से घिरे व्यक्ति की एक दी हुई निश्चित स्थिति है। पर व्यक्ति

लक्ष्य तक बढ़ेगा ही, किन्तु इसे कुछ निग्रह (रेजरवेशन) के साथ ही स्वीकारा जा सकता है। इन पंक्तियों में अनजाने ही जो अन्तर्विरोध आ गया है वह कुँवर नारायण का ही नहीं है अनेक अन्य कवियों और युग का भी है।

प्रश्न है कि जिसका प्रारब्ध गर्भ में ही निश्चित हो चुका है वह अजित कैसे है? अगर उसकी अजेयता गर्भ में ही निश्चित है तो फिर वह अभिमन्यु कैसे हो सकता है? अभिमन्यु तो लक्ष्य तक पहुँचने के पूर्व मारा जाता है। एक ओर प्रारब्धवादी होना और दूसरी ओर न होना एक साथ संभव नहीं है। इस अन्तर्विरोध के कारण कवि का 'मैं' कहीं कहता है कि 'पर मैं प्रकाश का वह अन्तः केन्द्र हूँ/जिससे गिरने वाली वस्तुओं की छायाएँ बदल सकती हैं/' तो इसके विरुद्ध कहता है। विरुद्धों का यह सामंजस्य 'आत्मजयी' और 'परिवेश : हम-तुम' में मिलता है।

'आत्मजयी' एक चर्चित काव्य है। इसमें कठोपनिषद् की 'यम-नचिकेता' की कहानी आधार रूप में ग्रहण की गई है। नचिकेता का परिवेश भी अभिमन्यु के चक्रव्यूह से कम जटिल नहीं है। नचिकेता अपने ढंग से व्यूह को तोड़कर लक्ष्य तक पहुँच जाता है। पर उसका लक्ष्य क्या है? परिस्थितियाँ क्या हैं? लक्ष्य पर पहुँचने की प्रक्रिया क्या है? और अन्त में उसकी प्रासंगिकता क्या है?

वस्तुतः नचिकेता निजी सुख-सुविधा से आगे किसी ऐसे मूल्य या बोध की तलाश में है कि 'मर्त्य होते हुए भी मनुष्य किसी अमर अर्थ में जी सकता है।' यह प्रश्न पुराने अर्थ में आध्यात्मिक या रहस्यात्मक न होकर अस्तित्वपरक (एक्जेंशिएल) है। इस नचिकेता का अमरत्व सर्जनात्मक संभावनाओं के प्रति आस्था की उपलब्धि में निहित है। किन्तु सर्जनात्मकता का अर्थ इतना अनिर्णीत है कि उसके संबंध में निश्चयात्मक रूप से कुछ कहा नहीं जा सकता।

वाजश्रवा भौतिक जीवन का विश्वासी है जो आज का युग है और नचिकेता आत्मा के सत्य तक, सार्थकता तक पहुँचना चाहता है। वह मृत्यु-बोध से आत्म-बोध या जीवन-बोध पाता है। संपूर्ण जीवन को देकर ही संपूर्ण जीवन को पाया जा सकता है।

किसी भी सोचने-विचारने वाले व्यक्ति के मन में जिन्दगी की सार्थकता का सवाल बराबर उठता रहता है। वाजश्रवा के क्रोध के बाद नचिकेता के सवाल विषादात्मक बन जाते हैं—वे जिन से पाया/नगण्य सुख-साधन कुछ....../दान मिला/दान से अधिक एहसान मिला/वे जिनको प्यार दिया जीवन को खाली कर,/उन्होंने दया की,/मुझ पर उपकार किया/वे सब समृद्ध रहे अपने में/लेकिन मैं रीत गया आत्मा को व्यय करके,/बदले में केवल एक कुंठा संचय करके।/प्रलोभनों में 'काम' को उपलक्षण के रूप में लिया गया है। वह जिज्ञासु

हो उठता है—धरा, धाम, सखा, बन्धु/पिता, नाम, वर्तमान/मुझमें हैं—मुझसे हैं—मेरे हैं—/अनजाने, पहचाने, माने, बेमाने..../सब मेरे हैं—मैं सबका हूँ—/लेकिन मैं क्या हूँ?/मैं क्या हूँ?/मैं क्या हूँ/वह आत्महत्या का प्रयास करता है किन्तु बच जाता है। फिर अचेतावस्था में उसे अतीत और भविष्य-बोध होता है। इसके बाद जिज्ञासा, श्रेष्ठ का वरण, सृजक दृष्टि आदि शीर्षकों के अन्तर्गत नचिकेता की अन्तर्यात्राओं का उल्लेख किया गया है। अन्ततः वह मुक्तिबोध के सोपान तक पहुँच जाता है।

'आत्मा की ओर लौटो' की औपनिषदिक विचारधारा इस देश की अपनी विचारधारा बन गई है। हिन्दी साहित्य के संत कवियों कबीर, दादू आदि में इसे स्पष्टतः देखा जा सकता है। निराला की रचनाओं में भी इसकी प्रतिध्वनि मिलती है। दिनकर की उर्वशी की समस्या को कामाध्यात्म की समस्या कहा जाता है। उर्वशी के पुरूरवा की समस्या मानसिक ज्यादा है। उसे काम के अतिरेक का परिणाम भी कहा जा सकता। वह कामाभाव में संन्यास लेता है। किंतु 'आत्मजयी' की समस्या जीवन के एक बुनियादी सवाल को—सार्थकता के सवाल को—उठाती है। उर्वशी का कामाध्यात्मक रोमैंटिक हो गया है। रोमैंटिक कामाध्यात्मक का अंत पलायन (संन्यास) में होता है। 'आत्मजयी' का आध्यात्म्य शांकर अद्वैतवाद में होता है—

स्वयं अदृष्ट
इसी मायावस्तु को
बार-बार धारण करूँ—इसी भोग सामग्री को ग्रहण करूँ—
इससे छूटा रह कर।
अपनी अपूर्व रचना में
एक कलाकार ईश्वर की तरह अनुपस्थित
अथाह समय में जियूँ—
केवल आत्मा
अमरत्व
और आश्चर्य

यह परिणति नई नहीं हो पाती। संसार को मायावस्तु के रूप में लेना प्रकारान्तर से निवृत्त मार्ग का ही समर्थन है। इसमें संदेह नहीं कि कुँवर नारायण इसके माध्यम से जीवन की जटिलतर समस्याओं और रचनात्मक बोध के विविध आयामों को उठाते हैं। पर इसकी शांकर अद्वैतवादी परिणति इसे निवृत्तवादी बना देती है। और काव्य मुक्तिबोध की सीमा में सिमटकर व्यक्ति का निषेधात्मक आत्मबोध बनकर रह जाता है।

सर्वेश्वर दयाल सक्सेना तीसरे सप्तक के कवि हैं। पर ये केदारनाथ सिंह और कुँवर नारायण की भाँति एकतान चेतना की व्याप्ति और गहराई में पैठने वाले कवि नहीं हैं। इनकी शिल्प-साधना भी उतनी सटीक और परिपक्व नहीं है। किन्तु इनकी कविता में समकालीनता के विविध आयाम उभरते हैं जो इन्हें अपने समकालीनों से अलग कर देते हैं। अब तक चार काव्य-संग्रह––काठ की घंटियाँ, बाँस का पुल, एक सूनी नाव और गर्म हवाएँ––प्रकाशित हो चुके हैं।

वे सूखा, चीथड़ों की धरती, लोहिया के न रहने पर, सरकंडे की गाड़ी, नए वर्ष पर जैसे समसामयिक विषयों पर कविता लिखना अधिक पसन्द करते हैं। पर समसामयिकता प्राय: रचनात्मक स्तर नहीं ग्रहण कर पाती। वह पत्रकारिता के आसपास मँडराती रह जाती है। 'लोहिया के न रहने पर' कविता में वे लिखते हैं––

लो और तेज हो गया उनका रोजगार
जो कहते आ रहे हैं
पैसे लेकर उतार देंगे पार
तुम्हारी घनी भौंहों के बीच की
वह गहरी लकीर
अभी भी गड़ी है वहाँ बल्ली सी
जहाँ अथाह है जल
और तेज है धार।

कहना न होगा कि 'बल्ली' का रूपक न तो कविता को अन्विति दे पाता है और न लोहिया का वर्चस्व उभार पाता है।

व्यंग्योक्तियों और प्रेम कविताओं में अपनी भावनात्मकता तथा सपाट रोमानियत के कारण वे गहन जीवन-बोध से नहीं जुड़ पाते। प्रयाग नारायण त्रिपाठी, मदन वात्स्यायन, कीर्ति चौधरी और विजय देव नारायण साही तीसरे सप्तक के कवि हैं। 'मछलीघर' साही का काव्य-संग्रह है। वे राजनीति में समाजवादी और काव्य में व्यक्ति-स्वातंत्र्य के आग्रही हैं। वे काव्य में कविता की निर्मिति चाहते हैं, व्यक्तित्व की नहीं। गोया कविता और कवि का व्यक्तित्व दोनों सर्वथा अलग-अलग वस्तुएँ हैं। यही कारण है कि कवि के वक्तव्य और कविता में भी एक अन्तराल दिखाई पड़ता है। उसका कहना है कि 'मैंने सत्य के मुख पर ढँके हुए हिरण्यमय पात्र को उखाड़ दिया है'। यह सत्य सनातन सत्य के निकट है, जिसे छूता हुआ इतिहास निकल जाता है। उसकी फैंटेसी मुक्ति-बोध का 'संत्रास' न व्यक्त कर अज्ञेय के रहस्य के व्यक्त करती है। रहस्यमयता

उसकी नियति है क्योंकि 'तुम्हारी प्रत्यंचा का कोई उपयोग नहीं/क्योंकि तुम्हारे पास दूसरा तीर नहीं है।'

सप्तकों के बाहर के कवियों में वीरेन्द्र कुमार जैन (१६१६—) की रचनाओं पर प्रधान रूप से फ्रायड के काम सिद्धांत और गौण रूप से मार्क्सवादी सिद्धांतों का प्रभाव है। इन प्रभावों को 'तार-सप्तक' में संगृहीत रचनाओं में भी देखा जा सकता है। स्मरणीय है कि जैन 'तार सप्तक' में संगृहीत होते-होते रह गए। 'अनागता की आँखें' और 'यातना का सूर्य पुरुष' उनके संग्रह हैं। देवराज के 'धरती और स्वर्ग', 'उर्वशी ने कहा' और 'इतिहास पुरुष' में नए सांस्कृतिक मूल्यों की तलाश दिखाई पड़ती है। जगदीश गुप्त के काव्य-संग्रह हैं—हिमबिद्ध और नाव के पाँव। किन्तु नई कविता के विकास में उनका योगदान 'नई कविता' पत्रिका के प्रकाशन के कारण है। दुष्यन्त कुमार अपने प्रथम काव्य-संग्रह 'सूर्य का स्वागत' लेकर इस क्षेत्र में आये। पर उनके काव्य नाटक 'एक कंठ विषपायी' ने लोगों का ध्यान विशेष रूप से आकृष्ट किया। इसमें शंकर को निर्वैयक्तिकता से वैयक्तिकता और वैयक्तिकता से पुनः निर्वैयक्तिकता की ओर लौटाया गया है। 'संशय की एक रात' की तरह यह भी स्थूल समस्याओं को ही लेकर चलता है। रमा सिंह ने अच्छी शुरुआत की थी, पर उनका एक ही संग्रह 'समुद्रफेन' प्रकाशित हुआ है।

अध्याय आठ

सातवाँ दशक : मोहभंग का काल

छठें दशक में 'नई कविता' का काव्यान्दोलन अपनी व्यक्तिगतता और आत्मस्थता के कारण अपनी मौत मर गया। सब मिला कर उसमें आस्था का स्वर ही प्रधान था, यद्यपि अनास्था की कमी नहीं कही जा सकती। आस्था-अनास्था के द्वंद्व में व्यक्ति-स्वातंत्र्य, उत्तरदायित्व आदि मूल्यों का अन्वेषण भी किया गया। किन्तु सामाजिक व्यवस्था ने व्यक्ति-स्वातंत्र्य और उत्तर-दायित्व के बीच की खाई कभी पटने नहीं दी। कवियों के उगाए हुए सूरज में रोशनी नहीं आई—सूर्य का स्वागत व्यर्थ चला गया। अहं के विसर्जन की जगह कवि अहं में ही विसर्जित होते गए और फिलिस्टीनी मुद्रा के कारण कविता दीक्षा गम्य हो गई। राजनीतिज्ञों के वादों की तरह कवियों की आस्थाएँ भी झूठी सिद्ध हुईं। इसलिए सातवें दशक के पहले दौर से अस्वीकार और नकार का स्वर अधिक मुखर होकर आया।

भारतीय संविधान में व्यक्ति-स्वातंत्र्य और उसके दायित्व को रेखांकित किया गया। पर व्यक्ति-स्वातंत्र्य भ्रष्टाचार का दूसरा नाम हो गया। वर्तमान लोकतंत्र अपनी विसंगतियों में प्रतिदिन धुँधलके की ओर बढ़ता रहा। पूंजी-वाद और लोकतंत्र की साठ-गाँठ के कारण मनुष्य की रही-सही आशा भी क्षीण हो गई। ज्यों-ज्यों समय बीतता गया वर्ग-भेद, जाति-भेद, भाई-भतीजावाद का बाजार गरमाता गया और राष्ट्रीय चरित्र गिरावट की सीमा पार कर गया। फल-स्वरूप स्वतंत्रता के पाले हुए सपने का मोहबंध टूट गया। मूल्यहीनता की आत्यंतिक स्थिति में व्यक्ति की अपनी पहचान खो गई और समाज अँधेरे की पर्तों में खो गया।

ऐसी स्थिति में बुद्धिजीवी के पास दो विकल्प थे—एक तो यह कि वह व्यवस्था में अपने को ढाल ले, दूसरा यह कि बदलाव के लिए संघर्षरत हो। व्यवस्था में अपने को ढाल लेने पर बुद्धिजीवी बुद्धिजीवी नहीं रह जाता। अतः बदलाव ही एकमात्र विकल्प बचता है। इस बदलाव के प्रति दो दृष्टिकोण दिखाई पड़ते हैं—हताशा की नियति और बदलाव की गत्यात्मकता। इस दशक की मूल प्रवृत्तियाँ ये ही हैं। दोनों ही को अगर एक नाम देना हो तो आधुनिकता कहा जा सकता है।

इस दशक की अगुआई की राजकमल चौधरी ने। उसमें आधुनिकता अपनी समग्रता में दिखाई पड़ती है। इस समय की अधिकांश रचनाओं पर चौधरी की छाप देखी जा सकती है। चौधरी बिहार के पूर्वांचल के निवासी थे। बंगाल की भूखी पीढ़ी के साथ उनका गहरा संपर्क था। बंगाल के बसाक, मलय राय आदि ने ईश्वर, धर्म और औरत पर खुला हमला किया। उनका मैनिफेस्टो था : 'गॉड इज़ शिट। रेलिजन इज़ मर्डर रेप, सूसाइड.....प्वाइज़न, फकिंग।' ये सभी लोग अमरीकी कवि एलेनगीन्सबर्ग से प्रभावित थे—'हाउल' रचना से भी, उसकी दिनचर्या से भी। चौधरी को भी इसी वर्ग में रखना चाहिए।

ये गुस्से के कवि थे। अपनी आक्रोशपूर्ण वाणी में ये अपना गुस्सा उतारते रहे। पूर्ववर्ती समस्त मूल्यों और परंपराओं को नकार कर वे अपनी चीखों, जख्मों और यौन-विद्रूपताओं को कविता में व्यक्त करते रहे। व्यवस्था जिन मूल्यों को अपना कवच बनाए हुए थी उसे भेदना जरूरी था। लेकिन नकार जब स्वयं कवच बन जाता है तो आक्रोश व्यर्थता की खोल ओढ़ लेता है।

राजकमल चौधरी के 'कंकावती' और 'मुक्ति प्रसंग' के अध्ययन द्वारा इस दशक की नब्ज पकड़ी जा सकती है। पर स्वयं कवियों ने राजकमल की मृत्यु को शहादत घोषित कर मूल्यांकन में बाधा पहुँचाई है। चौधरी काव्य के अलबम में वेश्या, बीमार शहर, सड़े गोश्तों वाली औरतों के संभोग के फूहड़ चित्रों की कमी नहीं है। इसे आभिजात्य विरोधी कह कर चौधरी का समर्थन नहीं किया जा सकता क्योंकि वे हमें गिरावट की ओर ले जाते हैं। जब नकार स्वयं मूल्य बन जाता है तो वह अश्लील हो उठता है। पर जहाँ मूल्य रूप में गृहीत सेक्स की पवित्रता का पर्दाफाश किया गया है वहाँ पवित्रता-विरोधी रुख मूल्य हो जाता है।

'कंकावती' की भूमिका में वह लिखता है—"कंका से विवेकहीन घृणा, आसक्ति, हिंसा, संभोग, ईर्ष्या, क्षमा, विरति, हिंसा, संभोग, आक्रमण, घृणा, ईर्ष्या, पशुत्व, संभोग करते हुए मैंने प्रतिक्षण अपने अहं और अस्तित्व को प्रमाणित किया है।.... इस कृति के अधिकांश अनुभव और प्रभाव आत्मस्वीकृतियाँ (केवल 'कनफेशन' नहीं 'रिअलिजेशन' भी) हैं।" ये प्रवृत्तियाँ केवल कंकावती की नहीं हैं—पूरे दशक की हैं। 'संभोग' को तीन बार दुहराया गया है। ज़ाहिर है इसमें संभोगात्मक नोट्स अधिक हैं। किन्तु इसके साथ आक्रमण-पशुत्व आदि भी हैं। इसके माध्यम से वह अपने अस्तित्व की पहचान कराता है। मूल्यहीनता के शून्य में अपनी पहचान कराने का यह एक बीहड़ मार्ग है। चौधरी को इस बीहड़ मार्ग से गुजरना पड़ा है, कविताएँ यात्रा के अनुभव हैं। इस अनुभव में जहाँ का व्यंग्य सटीक बैठता है वहाँ की मार भी गहरी होती है—

खाने की मेज पर दोनों पाँव डाल
कर बैठते हुए शुतुरमुर्ग ने पूछा,
इस गर्मी में आखिर तुम हफ्तेवार
शेव क्यों नहीं करती हो ?
क्या हिन्दुस्तानी ब्लेड के खुरदुरेपन से
डरती हो ? लंबे नाखूनों वाली
बिल्ली ने एप्रिल की दोपहरी का
पसीना चाटते हुए कहा,—मेरे
इंटलेक्चुअल दोस्त मुझे मानते हैं
इस जंगल में रहना जानते हैं

इस व्यंग्य में जो परिवेश निर्मित किया गया है वह 'इंटलेक्चुअल' की अभिरुचि और सीमाओं को बेपर्द कर देता है। किंतु राजकमल एक विन्दु पर ठहरता नहीं, अछोर यात्रा करता रहता है। याद रखना चाहिए, उसकी यात्रा स्थापित मूल्यों के विपरीत होती है। इसमें वह अराजक भी हो जाता है कथ्य और रचना दोनों स्तरों पर। रचना के स्तर पर वह अंग्रेजी के कवि कमिंग्ज से प्रभावित है। कमिंग्ज़ की कविता में मुद्रण-वैलक्षण्य के कारण एक अर्थगौरव आ जाता है। मुद्रण-वैचित्र्य, विराम-चमत्कार, पंक्ति-योजना, एक पंक्ति के अंतिम शब्द के कुछ अक्षर काट कर दूसरी पंक्ति के आरंभ में डाल देना आदि हिन्दी काव्य परिपाटी के विपरीत पड़ता है। पर सब मिलाकर यह पद्धति चमत्कार-सर्जना होकर रह जाती है। वस्तुतः 'कंकावती' एक डायरी नुमा 'कोलाज' काव्य है जिसमें समय-समय पर संभोग से लेकर ऊब और जनतंत्र के खोखलेपन के चित्र अंकित हैं।

'मुक्ति-प्रसंग' एक लंबी कविता है जो आपरेशन थिएटर में लिखी गई है। इसमें वह अनस्तित्व से मुक्त होकर अस्तित्व पाना चाहता है—'क्यों नहीं है मेरे लिए कोई नाम कोई नदी कोई/चिड़िया कोई फूल कोई सिद्धांत/कोई दरखत कोई राजनीतिक दल कोई जंगल/कोई साँप कोई गाँव/कोई स्त्री कोई सड़क कोई संगीत कोई नशा/कोई प्रेम कोई घृणा/कोई घर कोई आँगन कोई छाँव/' नीले रंगों में खोया हुआ, मृत्यु के मध्य वह संभोगात्मक स्थितियों से भी मुक्त होना चाहता है। इसमें गहरे अवसाद के विंदु हैं—'सबके लिए, सबके हित में अस्पताल चला गया है/राजकमल चौधरी/लिखने-पढ़ने, गाँजा-अफीम-सिगरेट पीने/मरने का अपना एकमात्र कमरा बन्द/करके/दोपहर दिन के पसीने, पेशाब, वीर्यपात/मटमैले अँधेरे में लेटे हुए—/धुंवा क्रोध दुर्गंधियाँ पीते रहने के सिवा/जिसने कोई बड़ा काम नहीं किया अपनी देह/अथवा

अपनी चेतना में/इस उम्र तक।' यह एक प्रकार का अपराध-बोध है। स्वयं सेक्स या संभोग को वह अपराध नहीं मानता बल्कि इसके कारण कोई बड़ा काम न कर पाना अपराध है। अब वह दूसरी ओर दृष्टि फेरता हुआ कहता है—'अपनी मुक्ति के लिए/संगठन और संस्थाओं के विरुद्ध हो जाना/ अर्थात् शासनतंत्र और सेवाओं के/विरुद्ध हो जाना अपनी इकाई बचाने के लिए/एक ही प्रार्थना/ वास्तविक जीवन और कविता में/' वस्तुतः वास्तविक जीवन और कविता में वह एक है। इस दशक का यह अकेला कवि है जो मुखौटा नहीं लगाता। अन्य लोगों की अपेक्षा वह मुक्त है। यहीं आकर वह प्रतिपक्ष का कवि हो जाता है। यों अपने कवि-मिज़ाज का प्रयोग अपने को पराजित करने में भी उसने कम नहीं किया है।

राजकमल ने इस दशक के मोहभंग की अगुआई मूल्यों के स्तर पर भी की और रचना के स्तर पर भी। भाषा का जादुई प्रभाव, नए अछूते मुहावरे, व्यंग्य-विधान आदि के कारण उसने एक नई भाषा अन्वेषित की जो आगे चलकर आक्रोश, घृणा और चीख की भाषा के नाम से अभिहित हुई।

कैलाश वाजपेयी के 'संक्रान्त' में समूची पीढ़ी की अनास्था अभिव्यक्त है। कम से कम वह 'हिपोक्रैट' नहीं है। अपनी अनास्था के प्रति वह पूरा ईमानदार है। इस विशेषता के कारण ही लोगों का ध्यान इस संग्रह की ओर आकृष्ट हुआ। परास्त बुद्धिजीवी के वक्तव्य में वह कहता है—'चिल्लाती धूप में/ बदहवास रात में/कहीं किसी गटर पर/हम खुली पलकें सो जायँगे/हमें अब किसी व्यवस्था में डाल दो/(जी जायेंगे)।' व्यवस्था से उसे लड़ना नहीं है, वह परास्त हो चुका है। फिर भी उसमें एक क्रियात्मक पीड़ा है—'रक्त और बादल/सर्प और तितलियाँ/यज्ञ और वेश्या/सब को एक साथ जोड़ जाता हूँ/मुझे कोई और नाम/और नाम दे दो!' प्यार, ईश्वर, इतिहास के अर्थ खो गए हैं। स्वतंत्रता के बारे में वह कहता है—'एक सिल की तरह गिरी है स्वतंत्रता/और पिचक गया है पूरा देश।' व्यर्थता के बोध का ऐसा स्वर पहले-पहल संक्रान्त में मिलता है। दूसरा संग्रह है—'देहान्त से हट कर'। इसमें पहले संग्रह की प्रत्यग्रता नहीं है। फिर भी इसमें पैना व्यंग्य अवश्य है—'मैं देखता हूँ/कुछ लकड़बाघे/संसद से निकल कर/पहुँच गए हैं घर रखैल के/ और उधर कोई सुकरात रोज—/' अंधा हो जाता है सींखचे खिजते हुए जेल के, राजीव सक्सेना में व्यर्थता-बोध के साथ सक्रियता, एक तथाकथित सदिच्छा भी है—' लोग भीड़ क्यों हैं/जलूस क्यों नहीं बन पाते/किन्तु इस तरह की सदिच्छाएँ भावनामयता के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं।

जगदीश चतुर्वेदी, श्याम परमार, सौमित्रमोहन, मोना गुलाटी आदि 'अकवितावादी' कवि हैं। जगदीश चतुर्वेदी का एक काव्य-संग्रह 'इतिहास हंता' प्रकाशित हो चुका है। भय, अजनबियत, भदेसपन, सेक्स आदि उनकी परिणतियाँ हैं। प्रतिबद्धता उसके लिए गुनाह है। सुन्दर लड़कियों को रस्से में बाँधकर कोलतार की तपती सड़क पर घसीटते देखने में उसे सुख मिलता है, स्तनों को दाँतों से काटकर थूक देने में आनन्द प्राप्त होता है। वह अपने में सादे की क्रूरता और विध्वंस ले आना चाहता है। पर सादे में एक दार्शनिक विज़न है जब कि अकवितावादियों में अराजकत्व का अंधापन है। अशोक वाजपेयी का संग्रह 'शहर अब भी संभावना है' की भाषा पर छायावादी रंग और आस्था पर बीते दिनों की छाया है। संग्रह की स्थापना ही में कह दिया गया है—'मेरे प्रारंभ में ही मेरा अंत है।' क्या यह संग्रह के मेल में है?

यौन और संभोग कक्ष से हट कर कुछ कवियों ने समकालीनता का अधिक वास्तविक साक्षात्कार किया। यह साक्षात्कार 'नई कविता' के आत्मसाक्षात्कार से भिन्न कार्य-व्यापार प्रधान है। इन रचनाओं में अपने को ही संबोधित न करके जन से सीधे संवाद किया गया है। इसलिए इनमें बातचीत के टुकड़े अधिक मिलेंगे। इन रचनाओं में पहले के व्यर्थ के आक्रोश को अर्थ मिल गया है। ऐसे कवियों में धूमिल की रचनाएँ अपेक्षाकृत अधिक संरचनात्मक और अर्थवान हैं।

धूमिल का काव्य संग्रह है—'संसद से सड़क तक'। इसमें अधिकतर लोकतंत्र की वर्तमान व्यवस्था पर आक्रमण किया गया है। एक तरह से यह आक्रामक कविताओं का संग्रह है। इस आक्रमण का मतलब दूसरे लोकतंत्र की तलाश है—बेहतर लोकतंत्र की। उसकी कविता की परिभाषा को मैं नहीं लेना चाहूँगा क्योंकि वे अन्तर्विरोधों से मुक्त नहीं हैं। वस्तुतः 'कविता/भाषा में/आदमी होने की/तमीज है/' बौखलाये आदमी का एकलाप उसे असंतुलित बना देगा। उसे 'हलफनामा' मान लेने पर वह रक्षा-कवच का काम देगी।

अपनी आक्रामकता के लिए धूमिल ने नए मुहावरों की तलाश की है जो अपनी मारकशक्ति में अत्यंत धारदार सिद्ध होते हैं। 'हरेक का दरवाजा खटखटाया है/मगर बेकार....।/मैंने जिसकी पूँछ/उठाई है उसको/मादा पाया है/पूछा जा सकता है कि नए लोकतंत्र में नर-मादा का यह भेद उसे मध्यकालीन नहीं बना देगा? यहाँ के तटस्थ लोगों पर व्यंग्य करते हुए वह कहता है—'क्रांति/यहाँ के असंग लोगों के लिए/किसी अबोध बच्चे के—/हाथों की जूजी है/।' और भी उदाहरण हैं—'मेरी शालीनता—मेरी जरूरत है/ जो अक्सर मुझे नंगा कर जाती है/', 'भाषा उस तिकड़मी दरिन्दे का कौर है/

जो सड़क पर और है/संसद में और है/पटकथा, प्रौढ़शिक्षा, वसंत, मुनासिब कार्यवाही, राजकमल चौधरी के लिए सार्थक वक्तव्य की कविताएँ हैं।

धूमिल ने अपने मुहावरे खोज कर जहाँ अपने को मुक्त किया है वहीं अपने को कैद भी किया है। उसके मुहावरे, उपमाएँ, प्रतीक आदि से ज्ञात होता है कि धूमिल चौधरी के जंगल से सर्वथा मुक्त नहीं है। चौंकाने वाले मुहावरे भी उसमें कम नहीं हैं, आन्तरिक तुकों के लटके भाषा को कमजोर बनाते हैं। उसके मुहावरे अलग से चमकते हुए दिखाई देते हैं जो संरचना की कमजोरी है। यह सही है कि वह 'चुप' और 'चीख' दोनों तरह की भाषा का प्रयोग करता है। धूमिल संभावनाएँ लेकर आए हैं। आशा है कि वह अपनी कैद से मुक्त होगा।

लीलाधर जगूड़ी का संग्रह है—'नाटक जारी है'। इसमें भी लोकतंत्रीय नाटक को व्यंग्यात्मक ढंग से प्रस्तुत किया गया है। धूमिल से किंचित् प्रभावित होते हुए भी जगूड़ी के पास मीठी मार करने वाली भाषा है, यद्यपि इसमें चुस्ती की कमी है। जगूड़ी में विषय तथा उनके प्रस्तुतीकरण में अपेक्षाकृत अधिक वैविध्य है। विकल कमलेश, चन्द्रकांत देवताले, विष्णुचन्द्र शर्मा, मणिमधुकर, वेणुगोपाल, आलोकधन्वा, विनोद शुक्ल आदि इसी पीढ़ी के कवि हैं।

नवगीत

नई कविता की तरह गीतकारों ने अपनी पहचान बनाने के लिए नवगीत का आन्दोलन चलाया। इस आन्दोलन में मुख्य रूप से वे लोग शरीक हुए जो नई कविता नहीं लिख पाते थे या नई कविता में विफलता प्राप्त करने के उपरान्त पुराने गीत-लोक में लौटने के लिए बाध्य थे। ग्राम गीतों के कुछ टुकड़े, गाँव की भाषा, गीतों की लय आदि को पकड़ने के साथ आधुनिकता का रंग भर कर इसे नवगीत कहा जाने लगा। किंतु नवगीतों की आन्तरिकता या नव-रोमान का तालमेल नवगीत के साथ नहीं बैठ पाता। नई कविता ने जिस तरह या जिस सीमा तक अपनी पूर्ववर्ती काव्य-परंपरा से अपने को अलगा कर नए कथ्य, नए रूप-विन्यास को अपनाया है उस सीमा तक नवगीत अपनी पूर्ववर्ती गीत-परंपरा से नहीं अलगा सका है। अतः प्रयास करने पर भी इसका स्वर आधुनिक नहीं बन पाता। यह प्रेम और प्रकृति के दो छोरों तक सीमित रह कर स्थगित हो गया है।

यों तो कहना चाहिए कि हिन्दी काव्य-परंपरा का प्रवर्तन ही गीतों से हुआ। कबीर, विद्यापति हिन्दी के प्रारंभिक गीत-कवि हैं। भक्त कवियों में प्रायः प्रत्येक ने पदों की रचना की। पुनर्जागरण काल में भारतेंदु के गीतों में लोक तत्त्व का नया सम्मिश्रण मिलने लगता है। स्वच्छन्दतावाद-काल में प्रसाद, निराला,

पंत, महादेवी ने गीतों की प्रचुर रचना की। निराला के परवर्ती गीतों में लोक धुन का पर्याप्त समावेश है।

इस शताब्दी के चौथे दशक में बच्चन, नरेन्द्र शर्मा, अंचल और केदारनाथ अग्रवाल ने प्रसाद, पंत, महादेवी आदि से अलग बोलचाल की भाषा में गीत-सृष्टि की। किन्तु भाषाई सादगी के बावजूद इनमें कैशोर भावुकता का प्राधान्य था। नवगीत का आरंभ कुछ लोग '२० से ही मानते हैं, कुछ लोग '५० के बाद से। वस्तुतः स्वच्छन्दतावाद-काल के गीतों में जो अभिजात्य और परिनिष्ठता देखी जाती है वह बाद के गीतों में नहीं मिलती। निराला के परवर्ती गीतों में यह आभिजात्य परंपरा टूटती है। तार सप्तक के कवियों में अज्ञेय ने प्रारंभ में बहुत से गीत लिखे हैं। गिरिजाकुमार माथुर तो समग्रतः गीतकार है।

जैसा पहले ही कहा जा चुका है नई कविता के वजन पर गीतों को 'नवगीत' की संज्ञा मिली। दूसरे और तीसरे सप्तक के कवियों में नरेश मेहता, धर्मवीर भारती, हरिनारायण व्यास, कुँवरनारायण, रघुवीर सहाय, केदारनाथ सिंह, विजय देव नारायण साही आदि ने गीतों से ही कविता लिखना प्रारंभ किया। पर इन्हें गीतकार के रूप में नहीं स्मरण किया जाता क्योंकि मूलतः ये लोग नई कविता के कवि हैं। इनकी परंपरा से अपने को जोड़ते हुए नवगीतकारों ने स्वतंत्र व्यक्तित्व के निर्माण का दावा किया है।

शंभुनाथ सिंह, वीरेन्द्र मिश्र, जगदीश गुप्त, ठाकुर प्रसाद सिंह, रवीन्द्र भ्रमर, शलम श्री रामसिंह, सोमठाकुर, हरीश मादानी, नरेश सक्सेना, दिनकर सोनवलकर आदि नवगीतकार हैं।

शंभुनाथ सिंह की काव्य-यात्रा काफी लंबी है। छायावादी संस्कारों से चल कर ये नए संस्कारों को समेटे हुए पुनः नवगीतों की सीमा तक जा पहुँचते हैं। वे मूलतः गीतकार हैं। उनके प्रारंभिक गीत संग्रहों—रूपरश्मि, छायालोक—में रूमानी रूपासक्ति और तरल प्रणयोद्‌गार हैं। 'उदयाचल' में वे उपरले स्तर की प्रगतिशील चेतना से आक्रान्त हैं। 'दिवालोक' में वे दिन की ऊष्मा का अनुभव करते हुए लोक चेतना के निकट पहुँचना चाहते हैं। इधर हाल में उन्होंने कुछ व्यंग्य-दर्दपूर्ण गीतों की रचना की है जिनमें अनुभूति का तीखापन काफी गहरा हो उठा है।

शंभुनाथ सिंह की भाषा में अद्‌भुत लोच और मादल लय, लोकधुन, आंचलिक शब्दावली, विरोधाभास एक दूसरे में रच-पच कर उनके गीतों को संश्लिष्ट बना देते हैं। उनके स्वर का पारस स्पर्श पाकर गीतों की प्रभान्विति और भी बढ़ जाती है।

गोपालदास नीरज बच्चन की तरह से ही कवि-सम्मेलनों के माध्यम से अत्यंत लोकप्रिय कवि के रूप में उभरे। बच्चन की तरह ही अतृप्ति, नियतिवादिता, क्षणभंगुरता, मृत्युबोध उनमें भी है—कुछ अधिक उदास और तीखा। बच्चन की तरह ही आस्था के स्वर भी बीच-बीच में सुनाई पड़ते हैं। पर कवि का अपना व्यक्तित्व नियति और मृत्युबोध में पूरी संलग्नता से अभिव्यक्त हुआ है। यह गीतकार आरंभ में जो संभावनाएँ लेकर आये वे बेहोशी में गुम हो गईं। संघर्ष, विभावरी, अन्तर्ध्वनि, प्राणगीत, दर्द दिया है, आसावरी, गीत भी अगीत भी उनके संग्रह हैं।

वीरेन्द्र मिश्र ने अपने गीतों को 'गीतम्', 'लेखनी बेला' और 'अविराम चल मधुवन्ती' में संकलित किया है। उनके गीतों में प्रणयगान और सामाजिक विसंगतियों के चित्र मिलते हैं। किन्तु दोनों चित्र हल्के, सपाट तथा उपरले स्तर के हैं। उन्हें नवगीत और सिनेमाई गीतों का मध्यवर्ती मानना चाहिए।

ठाकुर प्रसाद सिंह के गीत 'वंशी और मादल' में संगृहीत हैं। उनके गीतों में संथाल परगना के मूल निवासियों के गीत-नृत्य धुनों की टटकी और सोंधी अनुगूँज है। अतः उनके गीतों का अपना अलग व्यक्तित्व बन जाता है। इनमें अनाघ्रात पुष्पों का आस्वाद और आदिम रस-गंधों के बिंब हैं। अपने 'आरकेटाइपल' बिंबों के आधार पर उन्होंने नवीन मानवीय चेतना को आकलित किया है।

जगदीश गुप्त मन से गीतकार, बुद्धि से नए कवि और नई कविता के प्रचारक, अभिरुचि से चित्रकार और पेशे से अध्यापक हैं। वे सावधानी से इनको अलग-अलग रखते हैं। पर चित्रगत रंग-रेखाएँ गीतों में भी उभर आती हैं। चित्र गीतों में समाहित है, अध्यापक नई कविता में। चित्रों की रूपात्मक संश्लिष्टता गीतों में भी देखी जाती है।

नवगीतकारों में रामदरश मिश्र के गीतों में गँवई की सोंधी गंध सबसे अधिक आई है। मूलतः वे प्रेम-संवेदना के गीतकार हैं। प्रारंभ में उनके गीतों में रूमानियत का गहरा रंग था जो धीरे-धीरे थोड़ा हल्का होता गया है। नवीन बिंबों की तलाश उनकी भाषाई विशेषता है।

रवीन्द्र भ्रमर गाँव की विशेषताओं को लेकर भी उसकी रूमानियत से उतने प्रभावित नहीं हैं। यह दूरी उनके गीतों को प्रयोग की ओर आकृष्ट करती है। इसलिए उनके गीतों में अन्य की अपेक्षा अधिक वैविध्य है। सामाजिक परिवेश, युगबोध, प्रणयानुभूति, प्रकृति के मनोरम चित्र उनके गीतों की शोभा हैं।

बालस्वरूप राही के गीतों में प्रयोगात्मक स्पर्श है। रमानाथ अवस्थी ने प्रकृति के सहारे नवबोध को अंकित किया है। रामावतार त्यागी अनुभूतियों पर बल देते हैं, दिनकर सोनवलकर व्यंग्य पर।

नाटक

इस दौर में हिन्दी नाटक रंगमंच और जीवन के यथार्थ से जुड़कर नई दिशा की ओर उन्मुख होता है। भारतेंदु हरिश्चन्द्र ने नाटकों को इन दोनों से जोड़ने का प्रयास किया था। पर उनका समय गद्य के प्रारंभिक विकास का समय था। ऐसी स्थिति में उनके नाटकों से बड़ी अपेक्षाएँ नहीं की जानी चाहिए। भारतेंदु के बाद दिशा-प्रवर्तक नाटककार प्रसाद माने जाते हैं। प्रसाद के नाटकों को मंच नहीं मिला। फिर भी अपनी सांस्कृतिक चेतना, काव्यात्मक पहचान, नाटकीय संघर्ष की सूझ, चरित्र-सृजन की अपूर्व क्षमता के कारण उनके नाटक अद्वितीय वन पड़े हैं। अपने रोमैंटिक दृष्टिकोण के कारण इतिहास के अतीत के साथ समसामयिक जीवन को आदर्शोन्मुखी रूप में जोड़कर उन्होंने महत्त्वपूर्ण कार्य किया। किंतु रोमैंटिक दृष्टि की खामियाँ भी उनके साथ लिपटी रहीं। उनके समसामयिक नाटककार (लक्ष्मीनारायण मिश्र सहित) रूमानियत से छूट नहीं सके।

अश्क पहले नाटककार हैं जिन्होंने हिन्दी नाटक को रोमांस के कठघरे से निकाल कर आधुनिक भावबोध के साथ (मोटे भावबोध) जोड़ा। यद्यपि उनका 'जय पराजय' (१९३७) प्रसाद की प्रभावछाया से बहिर्गत नहीं होता, वही ढंग, वही शैली, फिर भी १९४० में प्रकाशित 'छठां बेटा' उससे मुक्त हो जाता है। अश्क के बाद के प्राय: सभी नाटककार—जगदीशचन्द्र माथुर, धर्मवीर भारती, लक्ष्मीनारायण लाल, मोहन, राकेश आदि—आधुनिक भावबोध और मंच से जुड़े हुए हैं। यह ऐसी विभाजक रेखा है जो प्रसाद के नाटकों तथा '४० के बाद लिखे गए नाटकों के बीच खींची जा सकती है।

अश्क का 'छठां बेटा' में पिता-पुत्र के परिवर्तित संबंधों को व्यंग्यात्मक ढंग से चित्रित किया गया है। अवकाश प्राप्त पिता को छह बेटों में से कोई भी अपने पास रखने को तैयार नहीं है। जिन पुराने मूल्यों पर पिता-पुत्र का संबंध आधारित रहा करता था वे यहाँ गायब हैं। यदि कोई संबंध शेष है तो आर्थिक संबंध। स्वप्न के माध्यम से इस आर्थिक संबंध की स्थापना की जाती है जो स्वयं में एक छलना हास्य-व्यंग्य सतही होकर रह गया है। स्वप्न-नाटक होने के नाते छाया-सृजन का फिलमी प्रयोग नाटकीय शिल्प की दृष्टि से श्लाघ्य है।

कैद (१९४५) और उड़ान (१९४६) एक दूसरे के पूरक हैं। प्रतीक का संस्पर्श दोनों में है पर पहले का प्रतीक अधिक सटीक और व्यापक है। कैद में सामाजिक रूढ़ियों और यंत्रणाओं की कैद में घुटती हुई नारी का चित्र है तो दूसरे में रूढ़ियों से बाहर निकल कर मुक्त हवा में साँस लेती हुई नारी चित्रित है। कैद की दूसरी विशेषता यह है उसके सभी पात्र स्वयं अपने में बंदी हैं। पर

उड़ान की नारी आरोपित है--आदर्श के पूर्वनिर्धारित मार्ग पर चलने वाली। अतः इसे नाटकीय सर्जनात्मकता का स्तर नहीं प्राप्त है। उसमें ऐसी बहुत सी बातों का सन्निवेश है जो नाटक की अनिवार्यताएँ नहीं हैं।

अलग-अलग रास्ते आदि मार्ग एकांकी का ही नया रूप है। मूलतः यह कैद और उड़ान से अलग नहीं है। इसमें भी एक समझौतावादी नारी है और एक विद्रोहिणी। इसकी समस्याएँ मध्यवर्गीय परिवार की स्थूल समस्याएँ हैं। यदि ताराचंद सोच-विचार से काम लेते, विवाह में वर-निर्वाचन को ही प्राथमिकता देते तो क्या लड़कियों की जिन्दगी सुखी हो जाती ? क्या जहाँ वर-निर्वाचन की खुली छुट है वहाँ समस्या सुलझ गई है ?

भंवर (१९५०) में जो थीम ली गई है वह अनेक नाटकीय संभावनाओं से युक्त है। किंतु लगता है अश्क संभावनाओं को छू सकते हैं उनके भीतर घुसने में उन्हें भय लगता है। थीम का अपना महत्त्व नहीं होता बल्कि संपूर्ण सर्जनात्मक प्रक्रिया में उसके विकसित होने का महत्त्व होता है। इसकी नायिका प्रतिभा, जिस मानसिक गट्ठर में डाली गई है वह आधुनिक जीवन का एक महत्त्वपूर्ण आयाम है पर उस भंवर में न तो व्याकुलतापूर्ण आवर्त है और न गहराई।

अंजो दीदी (१९५४) कदाचित् उनकी सर्वाधिक प्रौढ़ नाटकीय कृति है। इसकी केन्द्रीय पात्र है अंजो दीदी। वह बेहद अनुशासन प्रिय है। किन्तु उसका अनुशासन यंत्रीकरण का पर्याय हो जाता है। परिवार के प्रत्येक प्राणी को उसके यांत्रिक ढाँचे में ढलना अनिवार्य है। हर चीज का समय निर्धारित है--सुबह उठने का, नाश्ते का, भोजन का, आराम का, सोने का। हर चीज का एक सलीका है--उठने-बैठने का, नमस्कार-प्रणाम का, खेल-पढ़ाई का। कहीं पर भी उसे प्रमाद असह्य है। दीदी के साँचे में ढलकर भी वकील साहब ढल नहीं पाते हैं। उन्हें आत्महत्या करनी पड़ती है।

अंजो का भाई श्रीपत अंजो विरोधी चरित्र है, यानी अंजो की यान्त्रिकता का विरोधी। वह अंजो का मनोविश्लेषण करता हुआ कहता है--'अंजो सख्त, मार्बिड और जालिम थी क्योंकि उसके नाना मार्बिड और जालिम थे। वह इस घर को घड़ी की तरह चलाना चाहती थी, पर वह न जानती थी कि घड़ी मशीन है और इंसान मशीन नहीं। जब इंसान मशीन बन जायगा तो वह दिन दुनियाँ के लिए सबसे बड़े खतरे का दिन होगा--लेकिन मैं समझता हूँ, आज अंजो की सनक--उसके तिलस्म को तोड़ना जरूरी है, ताकि इस घर के वासी अपनी-अपनी जिन्दगी जियें।'

मशीनीकरण के कारण टूटते हुए व्यक्तित्वों का चित्रण आधुनिक जीवन का अत्यंत खतरनाक रोग है। किंतु उसे तोड़ने के लिए एक दूसरे पात्र की सर्जना

सरलीकरण की प्रवृत्ति की सूचक है। इसके फलस्वरूप यांत्रिकता का समग्र, गहरा और जटिल नाटकीयता को उभार पाने में यह सफल नहीं होता। अंधी-गली और पैंतरे उनके अन्य नाटक हैं।

पहले ही कहा जा चुका है कि अश्क ने हिन्दी-नाटकों को मंच और आधुनिक यथार्थ के साथ जोड़ा। मंच के प्रति सतर्क होने के कारण उन्हें अपनी भाषा को रोमैंटिक अभिव्यक्तियों से बचाकर यथार्थ सापेक्ष और कार्यक्षम बनाने की आवश्यकता हुई। पर वह गहन मानवीय स्थितियों को रूपायित नहीं कर पाती। वह स्थिति को स्थूल स्तर पर ही नाटकीय बना पाती है। तनावों के भीतर के तनावों को देख पाना इसकी शक्ति के बाहर है। हिन्दी-नाटकों के कथा-तत्त्व से भी अश्क छुट्टी नहीं पा सके हैं। कथा-तत्त्व की प्रमुखता भी गहराई में नहीं पैठने देती। या गहराई में न पैठने के फलस्वरूप ही कथा-तत्त्व की प्रधानता स्वीकार की गई है।

मंचीय सार्थकता और नई जटिल जीवनानुभूतियों की नाटकीय रचनात्मकता जगदीशचन्द्र माथुर के कोणार्क में दिखाई पड़ी। अश्क ने अपने नाटकों में सामान्यतः दो विरोधी प्रकृति वाले पात्रों की सृष्टि की है जो पुराना परिचित नुस्खा है। पर कोणार्क में इस तरह का कोई सरलीकरण नहीं है। विभिन्न प्रकार के पात्रों, घटनाओं आदि को इसमें इस प्रकार संयोजित किया गया है कि वे विशिष्ट नाटकीय स्थितियों में संश्लिष्ट हो उठते हैं।

इसमें संघर्ष के कई आयाम उभरते हैं—प्रभुसत्ता और गरीब शिल्पी के बीच का संघर्ष। धर्मपद शैवालिक से कहता है—'क्या हम लोग भेंड़-बकरियाँ हैं, जो चाहे जिसके हवाले कर दी जायँ। जिस सिंहासन को तुम डाँवाडोल कर रहे हो वह हमारे कंधों पर टिका है।' पर शिल्पी विशु कोरा कलाकार है। वह कहता है—'यही तो मैं इसे समझा रहा था देव! शासन के मामलों में पड़ना हम शिल्पियों के लिए अनधिकार चेष्टा होगी।' विशु पिता है, धर्मपद पुत्र। दोनों को बोली में दो युग बोल रहे हैं।

कोणार्क का निर्माण एक गहरे अन्तर्द्वन्द्व का परिणाम है, मनोविज्ञान की शब्दावली में यह एक प्रकार का उदात्तीकरण (सब्लीमेशन) है। रचना-प्रक्रिया अनेक तरह के अन्तर-संघर्षों से प्रेरित है। एक खास विन्दु पर पहुँच कर परिवेश का संघर्ष अन्तः संघर्ष से मिलकर इतना उद्वेलनपूर्ण हो उठता है कि रचयिता विशु अपनी रचना का विध्वंस स्वयं कर देता है। इस ध्वंस की व्याख्या करते हुए नाटककार कहता है—"मुझे तो लगा जैसे कलाकार का युग-युग से मौन पौरुष जो सौन्दर्य-सृजन के सम्मोहन में अपने को भूल जाता है, कोणार्क के खंडन के क्षण में फूट निकला हो।"

शारदीया उनका दूसरा नाटक है। कोणार्क की तरह यह भी ऐतिहासिक है। नाटक का नायक नरसिंह राव अर्ध कल्पित और अर्ध ऐतिहासिक पात्र है। प्रेम और सर्जनात्मक प्रक्रिया का प्रश्न इसमें भी उठाया गया है। पाश्चात्य संघर्ष के साथ-साथ भारतीय कैशिकी प्रवृत्ति को भी इसमें स्थान दिया गया है। भाषा की सरलता में नाटकीय स्थितियों को तीव्रतापूर्वक प्रस्तुत करने की कोशिश इसे विशिष्ट बनाता है। किंतु नाटकीय संश्लिष्टता और जीवन के विविध आयामों को जिस स्तर पर कोणार्क में रखा गया है शारदीया में उसकी कमी है। पहला राजा उनका मामूली नाटक है।

धर्मवीर भारती का अंधायुग (१९५५) गीतिनाट्य में महाभारत के अठारहवें दिन की संध्या से प्रभासतीर्थ में कृष्ण के देहावसान के क्षणों तक की कथा ली गई है। इस कथा को चुनने का मूल प्रयोजन युद्धजन्य वर्तमान-कालीनता को प्रासंगिकता देना है। किंतु इसकी उपलब्धि केवल वर्तमानता के कारण नहीं है बल्कि जब-जब युद्ध होगा ऐसी ही अवसादपूर्ण त्रासद स्थितियाँ उत्पन्न होंगी और विघटित मूल्यों के संदर्भ में मनुष्य को नए मूल्यों की तलाश करनी होगी। बाह्य संकट से आगे बढ़ने पर जिन आन्तरिक संकटों का सामना करना पड़ता है वे अत्यंत भयावह होते हैं। थीम के नियोजन के अतिरिक्त भारती ने इस गीतिनाट्य को जो अनेक आयामी धरातल, नाटकीय बिंबात्मकता तथा रचनात्मकता प्रदान की है वे पूर्ववर्ती नाटकों में नहीं पाई जातीं। इतनी गहरी तथा संवेदनात्मक नाटकीय स्थितियाँ अन्यत्र शायद मिलें।

युद्ध क्या देता है? इसमें कौन विजयी होता है और कौन पराजित? ये सब ऐसे प्रश्न हैं जो अर्थशास्त्रीय आँकड़ों द्वारा उत्तरित नहीं हो सकते। इसका सही उत्तर संवेदनात्मक ज्ञान द्वारा ही दिया जा सकता है––

यह रक्तपात कब तक समाप्त होना है।
दोनों पक्षों को खोना ही खोना है ॥

युद्ध के बाद पहले के सारे अर्थ बदल जाते हैं, पहिये और धुरियाँ दोनों एकत्र नहीं रह पाते। आस्था अनास्था में तथा मूल्य निर्मूल्यता में खो जाते हैं। सभी दिग्भ्रमित और बेचैनी से व्याकुल और श्रीहत हो उठते हैं, बहिर्द्वन्द्व के समाप्त होने पर अन्तर्द्वन्द्व की एक विकराल ज्वाला जग कर सभी को भस्मीभूत कर लेने के लिए उतावली हो जाती है। अन्धायुग के युद्ध-शेष पात्र अपनी आन्तरिक ज्वाला में बुरी तरह जलते प्रतीत होते हैं। चारों ओर निर्जीव खंडित सत्य के शव बिखरे दिखाई देते हैं। उनके स्थान पर उगते हैं––अन्तरतम की चीख, नैराश्य, पीड़ा, निरर्थकता, अकेलापन। लेकिन भारती का उद्देश्य केवल युद्ध की फलश्रुति प्रस्तुत

करना नहीं है। उनका कहना है—यह कथा ज्योति की है अंधों के माध्यम से। इसे अंत में कथागायन द्वारा भी पुष्ट किया जाता है।

प्रश्न किया जाता है कि जिस त्रासद परिवेश का निर्माण इस नाटक में किया गया है वह पाठक या सामाजिक को इतनी बुरी तरह दबोच लेता है कि उससे निकल पाना कठिन हो जाता है। वृद्ध का यह कहना कि कोई सुनेगा, क्या कोई सुनेगा, क्या कोई सुनेगा? उसकी अपनी आशावादिता पर भी पानी फेर देता है। तो क्या जिन मूल्यों का सृजन भारती ने किया है वे संपूर्ण नाटकीय संदर्भ में अर्थहीन होकर जोड़े हुए लगते हैं?

अंधायुग एक सशक्त आधुनिक त्रासदी है। प्रभु की मृत्यु के बाद तो त्रासद परिवेश और भी गहरा हो जाता है। नीत्शे की इस घोषणा का कि 'ईश्वर मर गया' आज की दुनियाँ पर क्रांतिकारी प्रभाव पड़ा। पुराने मूल्य यहीं पर अंतिम रूप से टूट जाते हैं। परंतु इसी जगह से नए मूल्यों का बनना शुरू होता है। भारती ने मूल्यों की तलाश में तीन नाम दिए हैं, साहस, स्वतंत्रता और सृजन। पर ये मूल्य नितांत वैयक्तिक हैं। इसीलिए इतनी बड़ी त्रासदी में वे कहीं ठहर नहीं पाते और न वे विश्वसनीय ही लगते हैं। किंतु इससे अंधायुग के महत्त्व में कमी नहीं आती। अगर इन मूल्यों का समावेश इसमें न होता तो इसकी भयावहता में सामाजिक अपना मूल्यानुचिंतन स्वयं करते।

अंधायुग की भाषा अपनी सरलता, टोन के उतार-चढ़ाव, लय, क्रियात्मकता आदि के कारण नाटकीय स्थितियों का जो बिंब प्रस्तुत करती है उससे यथार्थ का नवीन पक्ष उद्घाटित होता है। यथार्थ के नवीन पक्ष या नए यथार्थ के चित्रण के फलस्वरूप कला में सृजन की समस्या उठती है। अंधायुग की सर्जनात्मकता हमें अभिभूत (इन्वाल्व) न करके चिन्तापरक (कांटेम्प्लेटिव) बनाती है।

वस्तुतः यह तनावों का नाटक है, संघर्ष का नहीं। नाटकीयता तनावों में ही होती है। अश्वत्थामा का अन्तःसंघर्ष सामाजिक को तनावपूर्ण स्थिति में डालता है। अपने ही को अनेक टुकड़ों में बाँट देनेवाला अश्वत्थामा का व्यथापूर्ण आक्रोश, युयुत्स की यातना, गांधारी के आवेश, धृतराष्ट्र की आत्मभर्त्सना, संजय की अभिशप्त चीख से घिर कर युद्धजन्य स्थितियों को पूर्णतः नाटकीय बना देता है।

अपनी-अपनी यातनाओं से पीड़ित व्यक्तियों का टेक्श्चर एक-दूसरे से टकराकर अन्तरस्टेक्श्चर में बदलता है और इस प्रक्रिया से गुजर कर नाटकीय संघटना अपना नया रूप लेती है। यह प्रक्रिया विचारों, नाटकीय स्थितियों, दृश्यों की द्वन्द्वात्मकता में निहित है। अपनी इस द्वन्द्वात्मकता के कारण अंधायुग हिन्दी नाट्य साहित्य में विशेष गौरव का अधिकारी होगा।

'अंधायुग' के प्रकाशन के पहले और बाद में भी गीतिनाट्य लिखे गए। सुमित्रानन्दन पंत के गीतिनाट्य रजत शिखर, शिल्पी और सौवर्ण में संगृहीत हैं। पर वे न गीति बन सके हैं न नाट्य। गिरजाकुमार माथुर के कल्पांतर, दंगाराम आदि में केवल कल्पांतर की नोटिस ली जा सकती है। कल्पान्तर भी सैद्धांतिक और सूचनापरक होने के कारण रचनात्मक नहीं बन पाता।

सृष्टि की साँझ और अन्य काव्य नाटक में सिद्धनाथ कुमार के पाँच गीति-नाट्य संगृहीत हैं—सृष्टि की साँझ, लौह देवता, संघर्ष, विकलांगों का देश और बादलों का शाप। इन नाटकों में समसामयिक समस्याएँ गृहीत की गई हैं। सृष्टि की साँझ में तृतीय महायुद्ध की आणविक लपटों के संदर्भ में नई चाँदनी का अवतरण चित्रित है। लौह देवता में यांत्रिक अभिशाप के बीच से उगने वाली सामाजिक व्यवस्था पर बल दिया गया है। संघर्ष में बहिरंतर के मध्य से कला को जीवनोन्मुखी होने का संकेत किया गया है। इन नाटकों में गहन आन्तरिक उद्वेलन का अभाव है। एक ओर समसामयिकता का उपरले स्तर पर चित्रण है तो दूसरी ओर आशापरक परिणतियाँ। इस तरह सारे नाटक फार्मूलाबद्ध होकर सरलीकरण का पैटर्न अपना लेते हैं।

'अंधायुग' के वजन पर दुष्यन्त कुमार ने 'एक कंठ विषपायी' १९६३ में लिखा। इसकी कथा दक्षयज्ञ के समय पति के अपमान को देखकर सती के दग्ध होने पर आधारित है। सतीदाह के समाचार से शंकर देवताओं से युद्ध करने के लिए तैयार हो जाते हैं। इन्द्र भी युद्ध को सन्नद्ध होते हैं। किंतु ब्रह्मा इन्द्र को युद्ध की अनुमति नहीं देते। प्रजा के विद्रोही होने पर भी ब्रह्मा अपनी नीति से विचलित नहीं होते क्योंकि उनकी दृष्टि में युद्ध न तो सत्य से अनुप्रेरित है और न वह किसी सत्य परिणति पर पहुँचता है। विष्णु के बीच-बचाव करने पर शंकर बिना युद्ध किए ही लौट जाते हैं। बीच-बचाव, समझौतावाद, स्थूल गाँधीवादी नैतिकता नाटक में नाटकीय संघर्षों के लिए कोई अवकाश नहीं निकालने देते।

भाषा की सपाटता न तो नाटकीय बिबों की सृष्टि कर पाती है और न वर्णनात्मकता से आगे बढ़कर क्रियात्मकता को ही उभार पाती है। कथानक का संयोजन इस ढंग से किया गया है कि मानवीय संघर्षशील स्थितियों के लिए अवकाश ही नहीं रह गया है।

मोहन राकेश मुख्यतः कथाकार के रूप में प्रसिद्ध थे। पर 'आषाढ़ का एक दिन' (१९५८), 'लहरों के राजहंस' (१९६३) और 'आधे-अधूरे' लिखकर उन्होंने अपने को प्रथम पंक्ति के नाटककारों में प्रतिष्ठित कर लिया है। संभवतः राकेश

के नाटकों का मंचन सर्वाधिक हुआ है। इसका कारण यह है कि वे आज की गहन मानवीय ट्रैजिडी को नाटकीय स्थितियों में रचनात्मक ढंग से आँक पाने में समर्थ हैं।

'आषाढ़ का एक दिन' महाकवि कालिदास के परिवेश, रचना-प्रक्रिया, प्रेरणा-स्रोत और चुक-जाने से संवद्ध है। इस नाटक का सृजन दो प्रकार के संघर्षों पर आधारित है—परिवेशमूलक संघर्ष और आन्तरिक संघर्ष। आषाढ़ के एक दिन इस संघर्ष का प्रारंभ होता है और आषाढ़ के एक दिन वह समाप्त हो जाता है। इन दो दिनों के दीर्घ अन्तराल को कालिदास और मल्लिका की पीड़ा भरती है। कालिदास की पीड़ा अहं की पीड़ा है जब कि मल्लिका की पीड़ा रचनात्मक उत्सर्ग की पीड़ा है।

कालिदास को सृजन की प्रेरणा अपने गाँव के परिवेश से—प्रकृति से, पेड़-पौधों से, पहाड़ियों से, सूर्योदय से—मिलती है। सबसे अधिक और प्रभावी स्रोत है मल्लिका। कालिदास मल्लिका से कहता है—"मैं अनुभव करता हूँ कि यह ग्राम-प्रान्तर मेरी वास्तविक भूमि है। मैं कई सूत्रों से इस भूमि से जुड़ा हूँ। उन सूत्रों में तुम हो, यह आकाश और मेघ हैं। यहाँ की हरीतिमा है, हरिणों के बच्चे हैं, पशुपाल हैं—यहाँ से जाकर मैं अपनी भूमि से उखड़ जाऊँगा।"

राज्याश्रय प्राप्त कर कालिदास की प्रतिभा सूखने लगती है। उसका अन्तर घुमड़ कर भी बरस नहीं पाता क्योंकि अपेक्षित ऋतु नहीं मिलती, अनुकूल हवा नहीं प्राप्त होती। उसे अनुभव होता है कि राज्यसत्ता और प्रभुता के मोह से वह उस क्षेत्र में प्रविष्ट होता है जो उसकी अधिकार-सीमा के बाहर है। जीवन के जिस विशाल क्षेत्र में उसे रहना चाहिए उससे वह कट जाता है। कालिदास का व्यामोह साहित्यकार का चिरंतन मोह है। आज भी हमारे साहित्यकार राज्याश्रय के लिए कम लालायित नहीं हैं। किंतु राज्याश्रय साहित्यकार के सृजन-स्रोत को सोख लेता है। वह टूटकर व्यर्थता के बोध से आक्रान्त हो उठता है।

किंतु इस नाटक के पढ़ने या देखने से यह प्रश्न उठता है कि क्या यह वही कालिदास है जिसका बिंब हमारे दिमाग में बना हुआ है? दूसरा सवाल यह है कि क्या रचना में उसी कालिदास को अवतरित होना जरूरी है? रचयिता कालिदास के नए पक्ष को, उसकी नवीन वास्तविकता को हमारे सम्मुख प्रस्तुत करता है। इस नए पक्ष के कारण ही वह रचना करता है। कालिदास के पूर्व-निश्चित बिंब और नवनिर्मित कालिदास के बिंब में जो विसादृश्य दिखाई पड़ता है उससे रचना की वास्तविकता त्रुटिपूर्ण हो जाती है।

वास्तविकता से दूर होने के फलस्वरूप कालिदास के चरित्र में एक अन्त-र्विरोध दिखाई पड़ने लगता है। इतना महान् साहित्यकार जो भारतीय संस्कृति

और दर्शन का चितेरा माना जाता है वह व्यक्तिगत जीवन में कोरा रोमैंटिक, कायर और सेंटीमेंटल होगा विश्वसनीय नहीं लगता। कालिदास की रचनाओं से यह भी सिद्ध नहीं होता कि वह इस सीमा तक कायर रहा होगा। जो मल्लिका उसे निर्मित करने में स्वयं टूट गई उसी को वह छोड़ कर उसकी भावना को व्यर्थ बना देता है। कालिदास और मल्लिका की भावनामयता के विरुद्ध विलोम और मल्लिका की माँ को रखा गया है। ये रोमांस-विरोधी पात्र हैं। विलोम का व्यक्तित्व इतना जबरदस्त है कि वह कालिदास को विदूषकत्व की स्थिति में ला देता है। इसके बाद तो वह और भी अनपहचाना लगने लगता है।

कालिदास को अनपहचाना बनाने का दायित्व लेखक के अपने विज़न पर है। लेकिन जिस कालिदास को उसने अवतरित किया है वह अनेक विरोधी संघर्षों, लयों के फलस्वरूप नाटकीय गत्यात्मकता से पूर्ण है। एक परिवेश से कटकर दूसरे परिवेश में जाकर न जुड़ पाना गहन आन्तरिक द्वंद्व है। स्वयं कालिदास के अपने परिवेश में, जिससे वह जुड़ा हुआ है, अन्तर्मंथन का अवकाश कम नहीं है। विलोम और मल्लिका की माँ कालिदास और मल्लिका के अन्त-द्वंद्वों को धार देते हैं। फलस्वरूप नाटक में गहन प्रवेगमयता और तीव्रता आ जाती है। खेद है कि यह प्रवेग और तीव्रता एक रोमानी दुखात्मकता (एगोनी) तक पहुँचा कर समाप्त हो जाते हैं।

'लहरों के राजहंस' राकेश का दूसरा नाटक है। इस नाटक में रचना-प्रक्रिया संबंधी प्रश्नों को न उठाकर नए संदर्भ में चिरंतन आध्यामिक प्रश्न ही उठाया गया है। इसमें राग-विराग, श्रेय-प्रेय, नारी सौंदर्य की भौतिक तृप्ति और त्यागमूलक संन्यास के अन्तर्द्वंद्व को उभारा गया है।

इसका कथानक अश्वघोष के 'सौन्दरनन्द पर' आधारित है। कपिलवस्तु का राजकुमार नन्द गौतम बुद्ध का सौतेला भाई है। वह अपनी अनिंद्यसुन्दरी पत्नी के प्रति अत्यधिक आसक्त है। उसका समर्पण अतिशय अहं विरहित और असाधारण रूप से विनीत है—इतना विनीत कि सुन्दरी को सोचना पड़ता है कि काश वह किंचित् दुर्विनीत होता।

पर कितना भी समर्पित होने पर बुद्ध के प्रति, उनके मार्ग के प्रति यानी आध्यात्मिकता के प्रति भी उसका मन आकर्षित है। बुद्ध के सिद्धांतों के अतिरिक्त उनके महान् व्यक्तित्व से भी वह प्रभावित है। इन दो व्यक्तित्वों और दो विरोधी जीवन दर्शनों के बीच वह भटकता रहता है।

इसके नाटकीय संघर्षों की स्थितियाँ दो जीवन-दर्शनों की टकराहट से उत्पन्न होती है। सुन्दरी भौतिक जीवन, नारी सौन्दर्य को आकर्षण का चरम-विन्दु मानती है। सौंदर्य-गर्विता सुन्दरी अलका से कहती है—"राजकुमार सिद्धार्थ

क्यों चुपचाप एक रात घर से निकल पड़े थे ? बात बहुत साधारण सी है, अलका ! नारी का आकर्षण पुरुष को पुरुष बनाता है, तो उसका अपकर्षण उसे गौतम बुद्ध बना देता है ।"

जिस दिन रानी यशोधरा भिक्षुणी बनने जा रही थी ठीक उसके एक दिन पूर्व सुन्दरी ने कामोत्सव का आयोजन किया था । यशोधरा के भिक्षुणी बनने की घटना स्वयं में तनावपूर्ण है । किन्तु कामोत्सव का आयोजन इसे और भी तनावपूर्ण बना देता है । नन्द को कामोत्सव में सम्मिलित होने के समय आखेट के मृत मृग की बात उसे भूलती नहीं । दूर से आता हुआ भिक्षु-भिक्षुणियों का समवेत स्वर 'धम्मं शरणं गच्छामि' नन्द के कान में पड़ता है । उसका द्वंद्व और भी गहरा जाता है । उसके हाथ का दर्पण गिर जाता है । अब उसका द्वंद्व दूसरी दिशा की ओर बढ़ता है । जब उसे यह पता लगता है कि बुद्ध बिना भिक्षा प्राप्त किए ही लौट गए तो वह अपराध भावना से पीड़ित हो उठता है । बुद्ध के पास जाकर क्षमा याचना करते हुए वह स्वयं दीक्षित हो जाता है और उसके केश कतर दिए जाते हैं । नन्द के मुंडित मस्तक को देखकर सुन्दरी का अहं पूर्णतः खंडित हो जाता है । नन्द अपने अन्तरसंथन में बुद्ध के पास अपने केशों की खोज में लौट जाता है क्योंकि उसकी पत्नी को उसके केशों की आवश्यकता है । यह सुन्दरी की आन्तरिक पीड़ा को चरमोत्कर्ष पर पहुँचा देता है । वह कहती है—'इतना ही तो समझ पाते हैं ये लोग । इससे अधिक कभी नहीं समझ पायेंगे, कभी नहीं समझ पायेंगे ।'

इसके समापन और प्रतीकों के प्रयोग को लेकर आलोचकों में मतभेद है । एक वर्ग का कहना है कि इसका समापन ठंडा है और उसमें अपेक्षित नाटकीय तीव्रता का अभाव है । इसके समापन को 'आषाढ़ का एक दिन' के समापन के साथ जोड़ कर देखने से गलतफहमी होती है । 'आषाढ़ का एक दिन' अपनी भावुकतापूर्ण तीव्रता में समाप्त होता है । पर 'लहरों के राजहंस' समाप्त नहीं होता । नन्द आधुनिक भावबोध का प्रतिनिधित्व करता है जो एक संशयशील, अकेली, अनिर्णीत स्थिति में पड़ा हुआ भी एक किरण की तलाश में है । इसलिए इससे 'आषाढ़ का एक दिन' की तीव्रता की माँग नहीं की जा सकती । नाटकीय बिंब कुछ नाटकीय गति में विक्षेप डालते से लगते हैं जैसे खंडित व्यक्तित्व का प्रतीक श्यामांक । किंतु किंचित् संशोधन उसे अनाटकीय गति और प्रवेग को आगे बढ़ाने वाला ही सिद्ध होगा । 'आषाढ़ का एक दिन' की भावुकता से मुक्त होने का प्रयास निश्चित रूप से प्रशंसनीय है ।

आधे-अधूरे राकेश का तीसरा नाटक है जो उनकी विकास-यात्रा की अगली मंजिल का सूचक है । इसमें इतिहास के आधार को छोड़कर समाज की विसं-

गतियों से सीधे जूझने का प्रयास है । वैवाहिक जीवन की मध्यवर्गीय विडंबनाओं के कारण परिवार का प्रत्येक व्यक्ति आधा-अधूरा रहकर अपने-अपने ढंग का संत्रास भोगता है । नाटककार संत्रास के मूल कारणों की खोज करता है । यह बिडंबना आर्थिक-मनोवैज्ञानिक दोनों है । प्रत्येक पात्र की नियति वृत्तात्मक है । सभी लोग पारस्परिक आकर्षण-विकर्षण से निकट-दूर आते हुए बाहर जाकर भी वापस लौटने की नियति से बाध्य हैं । इस वृत्तात्मकता के फलस्वरूप नाटक आद्यन्त तनावपूर्ण बना रहता है ।

पति-पत्नी की अपनी-अपनी विवशताएँ और कमजोरियाँ हैं । पति अपनी व्यक्तित्वहीनता को लेकर, जो उसे कभी पूरा नहीं होने देती, सिर पीटता है तो पत्नी समय-समय पर अनेक व्यक्तियों के माध्यम से अपने को पूरा करने में विफल होकर यातना भोगती है । पति जुनेजा पर अत्यधिक आश्रित होने के कारण आत्मनिर्णय विहीन है तो पत्नी शिवजीत जगमोहन आदि से अपने खोखलेपन को भरने के कारण अधूरी ।

पुरुष चार ने उससे कहा था—"महेन्द्र की जगह इनमें से कोई भी आदमी होता तुम्हारी जिन्दगी में तो साल-दो साल बाद तुम यही महसूस करती कि तुमने एक गलत आदमी से शादी कर ली है । उसकी जिन्दगी में भी ऐसे ही कोई महेन्द्र कोई जुनेजा कोई शिवजीत या कोई जगमोहन होता जिसकी वजह से तुम यह सब सोचती, यह सब महसूस करती । क्योंकि तुम्हारे लिए जीने का मतलब रहा है कितना कुछ एक साथ होकर, कितना कुछ एक साथ पाकर और कितना कुछ एक साथ ओढ़कर जीना, वह उतना कुछ कभी तुम्हें एक जगह न मिल पाता— ।"

लड़का प्रश्न करता है—कोई क्या क्यों है ? यह ऐसा बुनियादी सवाल है जो बार-बार उत्तर की माँग करता है । छोटी लड़की इतनी बदतमीज क्यों है ? महेन्द्र बेचारा क्यों है ? ये सारे प्रश्न, ये सारी आकुलताएँ, अकेलापन क्यों ? आखिर क्यों ? इस नाटक का तनाव राकेश के पिछले नाटकों के तनाव से भिन्न है । पिछले दोनों नाटक बहुत कुछ रोमैंटिक हो गए हैं । किंतु इसमें रोमांस की छुवन नहीं है । फिर भी अपने आन्तरिक तनावों के कारण सामाजिक इसके साथ एकतान बना रहता है । इसकी भाषा में, कथोपकथन में अद्‌भुत संयम है जो यथार्थ को नाटकीय ढंग से वहन करने में पूर्ण समर्थ है । संवादों की लयात्मकता में बहुत वैविध्य नहीं है यद्यपि लड़के की वाणी में काट खाने वाला पैना व्यंग्य अवश्य है ।

वस्तुतः राकेश के संपूर्ण साहित्य की आधार-रेखा छोड़ करके भी न छोड़ पाना या पकड़ करके भी न पकड़ पाना है । नाटकों की स्थिति भी यही

है । नए मध्यवर्ग की मूल्य-स्थिति यही है । 'आषाढ़ का एक दिन' का कालिदास मल्लिका को छोड़कर भी मानसिक दृष्टि से नहीं छोड़ पाता । नन्द तो इन दो छोरों के बीच त्रिशंकु की तरह लटका हुआ है । 'आधे-अधूरे' के पात्र—मुख्य रूप से महेन्द्र—इसी स्थिति के शिकार हैं । डा० मदान पहले दोनों नाटकों में नियति देखते हैं और आधे-अधूरे में स्थिति । पर नियति और स्थिति को दो अलग-अलग कठघरों में नहीं रखा जा सकता । मनोवैज्ञानिक दृष्टि से स्थिति (सिचुएशन) पहले होती है, नियति उसके बाद आती है । राकेश के नाटक इसी क्रम में रखे गए हैं । उनकी कमजोरी नियति को ज्यों का त्यों स्वीकार करने में है । इसीलिए उनमें एक लिजलिजापन आ जाता है ।

डा० लक्ष्मीनारायण लाल ने कई नाटकों की रचना की है—अंधाकुवाँ (१९५५), मादा कैक्टस (१९५९), तीन आँखोंवाली मछली (१९६०), सूखा सरोवर (१९६०), रूपकमल (१९६२), रातरानी (१९६२), दर्पन (१९६३), सूर्यमुख (१९६८), मिस्टर अभिमन्यु (१९७१), करफ्यू (१९७२) और अब्दुला दीवाना (१९७३) ।

अंधाकुवाँ में शराबी पति द्वारा पत्नी पर किए जानेवाले अत्याचार को वर्ण्य के रूप में लिया गया है । विषय-वस्तु और नाटकीय विन्यास की दृष्टि से यह स्थूल नाटक है ।

मादा कैक्टस में प्रेम-विवाह को कला-साधना के परिप्रेक्ष्य में देखने का प्रयास किया गया है । चित्रकार अरविन्द विवाह को कला-साधना में बाधक मानता है । उसकी दृष्टि में विवाह गतिहीन, प्रेरणाहीन बच्चों का घरौंदा है । वह अपनी पत्नी सुजाता से अपना संबंध-विच्छेद कर लेता है । कला-प्रेरणा की दृष्टि से वह विश्वविद्यालय की एक प्रवक्ता आनन्दा से घनिष्ठ मैत्री करता है ।

मादा कैक्टस नाटक का केन्द्रवर्ती प्रतीक है । इसके संपर्क में आने पर नर कैक्टस सूख जाता है, किंतु वह नहीं सूखती । सुजाता के संपर्क से अरविन्द सूख जाता है, उसे कोई रचनात्मक प्रेरणा नहीं मिलती । इसलिए अरविन्द सुजाता से अलग हो जाता है । मतलब यह कि वैवाहिक जीवन कला जीवन का पोषक नहीं है । वह ऐसी मादा कैक्टस के पास रहना चाहता है जो उसकी विवाहिता न हो । ऐसा करने पर दोनों नहीं सूखेंगे । पर मादा कैक्टस सूख जाती है—आनन्दा के फेफड़े में कैंसर हो जाता है ।

मुख्य सवाल है—क्या विवाहित जीवन कला के लिए अभिशाप है ? एक जगह दद्दा कहते हैं—'जिस सुजाता को तूने इस तरह अपमानित करके त्यागा था वही सुजाता चारों ओर है । हर स्त्री वही सुजाता है ।' किंतु इसके सवाल

और जवाब दोनों पुराने हैं। सुजाता और आनन्दा की टकराहट बराबर होती रहेगी, जब तक कि एक ही में दोनों न हों।

इसमें शक नहीं कि इसके प्रतीक काफी मौजू हैं। पर इनका प्रयोग गहरे आन्तरिक संघर्ष को नहीं उभार पाता——कोरा सैद्धांतिक बनकर रह जाता है। प्रारंभ में नीलाम की बोली चमत्कार उत्पन्न करती है, पर वह नाटकीय गति का अनिवार्य अंग नहीं बन पाती।

'सुन्दररस' और 'सूखा सरोवर' दोनों प्रतीकात्मक नाटक हैं। पहले में चर्म-सौंदर्य की जगह कर्म-सौंदर्य को प्रतिष्ठित किया गया है, दूसरे में व्यष्टि समष्टि के लिए आत्मबलिदान करता है। निश्चय ही दोनों परिणतियाँ आधुनिक नहीं बन पातीं। इनमें व्यवहृत प्रतीक आरोपित और अविश्वसनीय लगने लगते हैं। 'रक्त कमल' में भी लेखक स्थूलताओं की तह में बैठने का कोई प्रयास नहीं करता।

'रातरानी' अपेक्षाकृत बेहतर नाटक है। इसका नायक दोहरे व्यक्तित्व में विश्वास करता है——घर में एक व्यक्तित्व और बाहर दूसरा व्यक्तित्व। वह परिवार को अलग-अलग व्यक्तित्वों का जमघट मानता है, सामंजस्यपूर्ण इकाई नहीं। नायिका का व्यक्तित्व इकहरा है और वह इसी आधार पर सारे संकटों को झेल लेती है। पर इस नाटक में नायक के जिस दुहरे व्यक्तित्व को रखा गया है वह बाहरी सुविधा के लिए। किसी आन्तरिक विवशता के फलस्वरूप उसके व्यक्तित्व का विभाजन नहीं हुआ है। इसलिए आधुनिक अर्थ में उसे खंडित व्यक्तित्व का पात्र नहीं माना जा सकता। उसके सामने न तो कोई नैतिक संघर्ष है और न आस्थाओं की टकराहट। ऐसी स्थिति में इसमें नाटकीय संघर्ष की वे स्थितियाँ नहीं उभर पातीं जो आज के नाटक के लिए अनिवार्य हैं।

'दर्पन' में वे आधुनिक बोध को अधिक गहराई में पकड़ पाने में समर्थ हुए हैं। आज के मूल्यहीन और विघटनात्मक परिस्थितियों में मनुष्य क्या करे ?—यह एक ऐसा प्रश्न है जिसके उत्तर की तलाश करनी होगी। मानवीय जीवन अपनी सार्थकता कहाँ खोजे——धर्म में, ईश्वर में, आप्त सरणि में या स्वयं में।

'सूर्यमुख' पर 'अंधायुग' की गहरी छाया है। पर इसमें पीढ़ियों का संघर्ष, इतिहास-वंचित दृष्टि, स्त्री-पुरुष संबंध, मूल्यहीन स्वतंत्रता, गाय के पेट से गधे और हथिनी के पेट से सुअर का पैदा होना आदि अनेक प्रकार की विसंगतियों का समावेश करके आधुनिकता-बोध को व्यापक फलक पर रखा गया है। पर व्यापकता को नाटकीय समन्विति नहीं मिल पाई है। मिस्टर अभिमन्यु व्यवस्था के चक्रव्यूह से चाहकर नहीं निकल पाता। करफ्यू में विवाह की सीमाओं और

आजादी की असीमताओं के बीच समन्वय का प्रयास इसे आधुनिकता से वंचित कर देता है ।

डा० लाल को मंचीय अनुभव है, उन्हें नए से नए नाटकीय नुस्खों का ज्ञान है, वे तकनीकी तंत्रों से भी वाकिफ हैं । पर वे बाह्य क्रिया-व्यापारों या परिवेशमूलक संघर्षों में इतने उलझ जाते हैं कि आन्तरिक तनावों तक पहुँचने की कोशिश नहीं करते । सपाट बयानी और सिद्धांत कथन के कारण नाटकों की भाषा रचनात्मकता का स्तर नहीं प्राप्त करती । पर पिछले नाटकों में भावी संभावनाएँ दिखाई पड़ती हैं ।

विष्णुप्रभाकर पहले 'समाधि' नाटक लिख चुके थे । उनका नाटक अधिक चर्चित हुआ है । यह मनोवैज्ञानिक सामाजिक नाटक है । इसमें भावना और नैतिक कर्त्तव्य का संघर्ष दिखाया गया है । पर्दा डा० अनीला के नर्सिंग होम में उठता है । इंजीनियर सतीशचन्द्र शर्मा अपनी रोगी पत्नी को नर्सिंग होम में भरती करना चाहते हैं । अनीला शर्मा की परित्यक्ता पत्नी मधुलक्ष्मी है । अनीला को जब यह मालूम होता है तो मरीज को नर्सिंग होम से निकाल देने की आज्ञा देती है । सईदा के समझाने पर उसका अन्तर्द्वन्द्व तीखा हो जाता है । वह आपरेशन का निश्चय करती है । गोपाल को देख उसका अन्तर्द्वंद्व और भी गहरा जाता है । उसका अन्तर्द्वंद्व आपरेशन थिएटर और आपरेशन के समय भी चलता रहता है । आपरेशन करते समय भी द्वंद्व का चलना विश्वसनीय नहीं बन पाता । यद्यपि अन्तर्द्वंद्व और आन्तरिक संघर्ष की संभावनाओं का पूरा इस्तेमाल लेखक नहीं कर सका है, पर अंत में चलकर तनाव अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँचकर आधुनिकता से जुड़ जाता है । जब शर्मा को मालूम पड़ता है कि डा० अनीला उसकी परित्यक्ता पत्नी है तो वह चिल्ला उठता है—'मधुलक्ष्मी !' इस पर दादा कहते हैं—'मधुलक्ष्मी मर चुकी है । यह डाक्टर अनीला, और तुम्हारे लिए केवल डाक्टर ।'

कुछ और नाटक

इन नाटकों को स्थूल रूप से चार श्रेणियों में बाँटा जा सकता है :— १—आजादी के बाद व्याप्त भ्रष्टाचार से संबद्ध नाटक, २—पीढ़ीगत संघर्षों तथा नैतिक मूल्यों से संबद्ध नाटक, ३—चीनी आक्रमण से संबद्ध नाटक, ४—ब्रेख्त, आइनेस्को, बेकेट आदि से प्रभावित साभिप्राय और निरर्थकता (एब्सर्ड) बोध के नाटक ।

विनोद रस्तोगी के 'आजादी के बाद', 'नया हाथ' चन्द्रगुप्त विद्यालंकार का 'न्याय की रात' आदि आजादी के बाद व्याप्त भ्रष्टाचारों, और मन्नू भंडारी के 'बिना दीवारों का घर', नरेश मेहता के 'सुबह के घंटे' और 'खंडित यात्राएँ', शांति

मेहरोत्रा के 'एक दिन' नवीन नैतिक संकटों तथा शिवप्रसाद सिंह की 'घाटियाँ गूँजती हैं' रेवतीरमण शर्मा के 'चिराग की लौ', विमला रैना के 'खंडहर', 'सवेरा' ज्ञानदेव अग्निहोत्री के 'नेफा की एक शाम' चीन-भारत युद्ध से संबद्ध हैं। शंभुनाथ सिंह के 'दीवार की वापसी', विपिन अग्रवाल के 'तीन अपाहिज' व लक्ष्मीकांत वर्मा के 'अपना अपना जूता', ज्ञानदेव अग्निहोत्री के 'शुतुरमुर्ग', काशीनाथ सिंह के 'धौआस' की गणना चौथी श्रेणी में की जायगी।

रस्तोगी के 'नाटक आजादी के बाद' का नायक १५ अगस्त '४७ को प्राप्त स्वतंत्रता को स्वतंत्रता नहीं मानता। वह आर्थिक-सामाजिक वैषम्य को दूर करने के लिए, शोषण से मुक्ति पाने के लिए कटिबद्ध है। 'नया हाथ' का नायक भी रूढ़ नैतिकता, झूठी मर्यादा का विरोध करता है और स्वतंत्रता-समानता का समर्थन करता है। दोनों पर गाँधीवादी जीवन-दर्शन का प्रभाव है। अतः समझौतावाद की अनुगूँज उनमें सुनाई पड़ती है।

दोनों नाटकों में बाह्य संघर्षों, विचारों का इतिवृत्तात्मक बाहुल्य उन्हें न तो नाटकीय स्तर की गहनता दे पाता है और न आधुनिक बोध से संपृक्त कर पाने में ही समर्थ होता है। बीते वर्षों की थोड़ी राजनीतिक, सामाजिक भूमियाँ ताजगी से शून्य हैं। नाटकीय संघर्ष की शिथिलता, कथोपकथन की सामान्यता उन्हें आकांक्षित स्तर नहीं दे पातीं।

चन्द्रगुप्त विद्यालंकार का 'न्याय की रात' समाज को विघटित करने वाले भ्रष्टाचारियों और स्वयं समाज के द्वंद्व पर आधारित है। इसलिए इसमें संघर्ष की स्थितियाँ अधिक स्वाभाविक और विश्वसनीय बन पड़ी हैं। पर बाह्य व्यापारों की बहुलता इसके निर्माण पक्ष को दुर्बल बना देती है। 'सुबह के घंटे' और 'खंडित यात्राएँ' सामान्य नाटक हैं। 'खंडित यात्राएँ' में पुरानी पीढ़ी की यातना जरूर उभरती है पर उसकी आंतरिक संघटना बेहद कमजोर है।

मन्नू भंडारी का 'बिना दीवारों का घर' में पति-पत्नी के बीच जो तनाव पैदा हुआ है उसका आधार पुष्ट और विश्वसनीय है। आज के युग में पढ़ी-लिखी पत्नी के प्रति पति का इर्ष्यालु हो जाना स्वाभाविक है। जयंत द्वारा शोभा के प्रिंसपली का जो प्रस्ताव लाया जाता है उससे नाटकीय तनाव को गति मिलती है। दावत की घटना से इसमें तीव्रता और मोड़ आता है शोभा के चले जाने की स्थिति नाटकीय तनाव को सान्द्र बना देती है। पर इसका नाटकीय संयोजन विषयवस्तु के अनुरूप विक्षोभक नहीं है।

शिवप्रसाद सिंह ने 'घाटियाँ गूँजती हैं' में चीन-भारत युद्ध का व्यापक फलक लिया है। भिन्न-भिन्न व्यक्ति इस परिवेश से अलग-अलग ढंग से प्रभावित हैं तथा क्रियाशील होते हैं। किंतु आदर्शवादी दृष्टिकोण और टिप्पणियाँ वैचारिकता

को आन्तरिकता में नहीं बदल पातीं। अग्निहोत्री का 'नेफा की एक शाम' में चीनी आक्रमण के प्रतिरोध में आदिवासियों के संघटन और गोरिल्ला युद्ध पद्धति की सार्थकता सिद्ध की गई है-किंतु पिटे आदर्शों की बहुलता, परिवेश की मुखरता इसे सामान्य स्तर से ऊपर नहीं उठने देतीं। अग्निहोत्री के 'शुतुरमुर्ग' में दिल्लीश्वर के शुतुरमुर्गी आचरण पर व्यंग्य किया गया है। पर इसके प्रतीक अर्थगर्भ नहीं हैं। ललित सहगल के 'हत्या एक आकार की' में गाँधी जी के हत्यारे का अन्तर्द्वंद्व है। आलोक शर्मा का 'चेहरों का जंगल' संवादहीन नाट्य प्रयोग है। इसमें महानगरीय यंत्रणा में पड़े व्यक्ति के अकेलेपन की कहानी है। 'धोआस' में आज के उस बुद्धिजीवी पर व्यंग्य है जो हत्यारे की व्यर्थ तलाश की अपेक्षा नफरत से भर कर पड़ा रहना अच्छा समझता है।

हिन्दी साहित्य की अन्य विधाओं की अपेक्षा नाटक का विकास मंदगति से हुआ है, इसमें संदेह नहीं है। इसके दो कारण प्रतीत होते हैं, एक तो मंच का अभाव और दूसरा, स्वयं इस विधा का अपना स्वरूप। दूसरे तथ्य को अधिक स्पष्ट करने की जरूरत है। नाटक का सीधा संबंध समूह, जाति और देश से होता है। यदि आज की बहुत-सी कहानियों, उपन्यासों और कविताओं का अनुवाद कर दिया जाय तो वे कथ्य और रूप-विन्यास में विदेशी लगने लगेंगे। किंतु एक भी नाटक ऐसा नहीं मिलेगा जिसके संबंध में ऐसा कहा जा सके। अन्य विधाओं में पाठक की उतनी चिन्ता नहीं रहती, पर नाटककार के सामने सामाजिक बराबर बना रहता है। अपनी इन मुश्किलों के कारण नाटक अपनी परंपरा से विच्छिन्न नहीं हो सका। इसलिए अपनी मंद प्रगति के बावजूद इसकी स्वस्थ संभावनाएँ हैं।

भारतेंदु हरिश्चन्द्र ने अपने नाटकों को संस्कृत के शास्त्रीय घेरे से बाहर करके नए धरातल पर प्रतिष्ठित किया। उन्होंने उसे सामूहिकता, समसामयिक समस्याओं से जोड़कर किंचित् संवेदनात्मक आयाम देने की कोशिश की। इसके बाद लंबा अन्तराल। प्रसाद के आगमन के साथ नाटक नई करवट लेता है। वस्तुतः प्रसाद के कारण हिन्दी नाटकों को साहित्यिकता मिलती है। संवेगों के व्यायाम और वाचिक बहुलता के कारण वे रंगमंच से अच्छी तरह जुड़ नहीं पाते। बहुत से नाटकों के लिखे जाने के बावजूद पुनः अन्तराल दिखाई पड़ता है। इस अन्तराल को लक्ष्मीनारायण मिश्र, प्रेमी, उदयशंकर भट्ट भरते दीख पड़ते हैं। किंतु इन्हें ऐतिहासिक कड़ियों के रूप में ही लिया जा सकता है।

इधर पुराने मूल्यों के विघटन और नई समस्याओं के उदय के कारण नाटक के रूप-विन्यास में परिवर्तन हुए। वे मंच से अधिक से अधिक संपृक्त होने लग गए। नाटकों के मूल्यांकन का स्वरूप भी बदला। पर इधर के अधिकांश

नाटक समसामयिक समस्याओं के साथ उलझे रहने के कारण गहन मानवीय स्थितियों का आकलन नहीं कर सके। दूसरे शब्दों में वे समसामयिक समस्याओं को संवेदना का स्तर नहीं दे सके। लेकिन जगदीशचन्द्र माथुर, धर्मवीर भारती, मोहन राकेश के नाटकों ने हिन्दी-नाटकों को नई दिशाएँ दी हैं और नाटक के भविष्य के संबंध में हम आशान्वित हो रहे हैं। इन संभावनाओं को आगे बढ़ाने में देशी-विदेशी नाटकों के अनुवाद का भी महत्त्वपूर्ण योग है। ब्रेख्त, आइनेस्को, ओ'नील, ओसबर्न, बेकेट के कई नाटकों के अनुवाद हिन्दी में उपलब्ध हैं।

एकांकी

हिन्दी एकांकी का वास्तविक आरंभ छायावादोत्तर काल में ही होता है। यों तो भारतेंदु हरिश्चन्द्र के धनंजय विजय (व्यायोग), विषस्य विषमौषधम् (भाण), भारत दुर्दशा (नाट्यरासक), अंधेरनगरी (प्रहसन) आदि एक प्रकार के एकांकी ही हैं। इनमें दृश्य के स्थान पर अंक लिख दिया गया है। यदि अंकों के स्थान पर दृश्य लिख दिया जाय तो इनका ढाँचा बहुत कुछ एकांकी सा हो जाय। भारतेंदु के अतिरिक्त राधाचरण गोस्वामी, बालकृष्ण भट्ट, प्रताप नारायण मिश्र आदि ने भी इस तरह के एकांकी लिखे। पर आधुनिक एकांकी के अर्थ में उन्हें एकांकी नहीं कहा जा सकता।

सामान्यतः प्रसाद के 'एक घूंट' (१९२९) को हिन्दी का पहला एकांकी मान लिया गया है। यद्यपि 'एक घूंट' संवाद, कार्य, गत्वरता की दृष्टि से पुरानी नाटचरूढ़ियों से मुक्त नहीं हो पाया है फिर भी पाश्चात्य नाटचतंत्र, किंचित् बौद्धिक स्पर्श आदि को अपना कर इसे नया रूप देने की चेष्टा की गई है।

डा० रामकुमार वर्मा हिन्दी एकांकियों के पुरस्कर्ताओं और उन्नायकों में माने जाते हैं। इनका पहला एकांकी 'बादल की मृत्यु' १९३० में छपा था। इसके बाद वे निरंतर एकांकी लिखते रहे और अब भी लिखते जा रहे हैं। पृथ्वीराज की आँखें (१९३६), रेशमी टाई (१९४१), चारुमित्रा (१९४२), सप्तकिरण (१९४७), रूपरंग (१९४८), ध्रुवतारिका (१९५०), ऋतुराज १९६१), इन्द्रधनुष (१९५५), रिमझिम (१९५५) आदि हैं। इनके प्रारंभिक एकांकी कोरे संवादात्मक हैं। बाद के एकांकियों में उनकी जीवन-दृष्टि को विस्तार मिला है पर वे गहराई के प्रति कभी भी सतर्क नहीं दिखाई पड़े। इनके ऐतिहासिक और सामाजिक एकांकी छायावादी आदर्शों अथवा अवसादों से अलग नहीं हो पाते। छायावादी दृष्टि के कारण एकांकियों की भाषा रूमानियत का पल्ला छोड़ पाने में असमर्थ है। किसी गहरी जीवन-दृष्टि के अभाव में वर्मा जी के एकांकी प्रायः सतही होकर रह जाते हैं। उनकी सार्थकता छात्रोपयोगी रंगमंचों तक ही सीमित है।

आधुनिक एकांकीकारों में सबसे बड़ा क्रांतिकारी नाम भुवनेश्वर का है। १९३५ में उनका 'कारवाँ' एकांकी-संग्रह प्रकाशित हुआ। विषय-वस्तु और नाट्य-प्रयोग की दृष्टि से इसमें रोमांस विरोधी रुख की नई पहल मिलेगी। उनका पहला एकांकी 'श्यामा : एक वैवाहिक विडंबना' 'हंस' (१९३३) में प्रकाशित हुआ था। प्रारंभिक एकांकियों पर शॉ, इब्सन का अत्यधिक प्रभाव परिलक्षित होता है। इनमें भारतीय मूल्यों के प्रति प्रतिक्रिया और पाश्चात्य मूल्यों के प्रति जो आग्रह दिखाई पड़ता है उससे संतुलन में विक्षेप आ गया है। किंतु इन एकांकियों में मानवीय संघर्षों की मानसिक स्थितियों के जो चित्र प्रस्तुत किए गए हैं वे पूर्ववर्ती एकांकियों से अलगाव तथा आधुनिक बोध से लगाव के सूचक हैं। 'श्यामा : एक वैवाहिक विडंबना' और 'प्रतिमा का विवाह' में रोमांस पर सीधे चोट करते हुए बौद्धिक निर्ममता के आधार पर नाटकीय तनाव को प्रस्तुत करना क्रांतिकारी कदम का ही निर्देशक है।

इस संग्रह का एकांकी 'ऊसर' अनेक दृष्टियों से सशक्त और महत्त्वपूर्ण है। यही नहीं, यह आधुनिक संवेदना को अनेक अंशों में उजागर करता है। अपनी पीढ़ी की एकरसता, ऊब, जड़ संबंधों में जीते रहने की विवशता आदि को भावी पीढ़ी में विश्वास करते हुए जिस आक्रोश और व्यंग्य की सृष्टि की गई है वह एकांकी को गहरे तनावों से संपृक्त कर देती है।

'कारवाँ' संग्रह के बाद भी उन्होंने कुछ एकांकियों की रचना की जो विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हैं। रोशनी और आग (१९४१), कठपुतलियाँ (१९४२), ताँबे के कीड़े (१९४६), इतिहास के केंचुल (१९४८) आदि ऐसी ही रचनाएँ हैं। इनमें उच्च वर्ग के खोखले जीवन पर गहरा व्यंग्य किया गया है।

आश्चर्य है कि 'ताँबे के कीड़े' जैसे एकांकी में भुवनेश्वर आज के ऊलजलूल मंच (एब्सर्ड थिएटर) के समीप पहुँच जाते हैं। जीवन की संपूर्ण विसंगतियों और विशृंखलाओं की निरर्थकता में भी जिन्दगी को जीते जाना विचित्र विडंबना है। निम्नवर्ग की स्थिति बिगड़ती जाती है और वह आशा के प्रति उसका मोह भ्रमात्मक है। अफसर की ऊब और थकान अजीब यंत्रणापरक है। स्त्री की विदूषकीय मुद्रा सारी व्यवस्था का मजाक उड़ाती है। अनेक विरोधी स्थितियाँ, संवादों का ऊलजलूलपन तथा विदूषकीय मुद्राएँ आज की जिंदगी को समग्रता में उभारते हुए एकांकी को संश्लिष्टता और गहराई देती हैं।

इस बीच सेठ गोविंददास, हरिकृष्ण प्रेमी, गणेश प्रसाद द्विवेदी, उग्र, लक्ष्मीनारायण मिश्र, रामवृक्ष बेनीपुरी, सदगुरुशरण अवस्थी, उपेन्द्रनाथ अश्क जगदीशचन्द्र माथुर, विष्णु प्रभाकर आदि एकांकी की रचना करते रहे। सेठ जी

ने संख्या में बहुत से एकांकी लिखे हैं। गाँधीवादी विचारधारा के अनुयायी होने के कारण इनमें सर्वत्र इसकी अनुगूँज सुनाई पड़ेगी। इनमें प्रायः समस्याओं की व्याख्या तथा उनका स्थूल हल ढूँढ़ने का प्रयास दिखाई देगा। हरिकृष्ण प्रेमी ने सामान्यतः एकांकियों के लिए भी मध्यकालीन इतिहास के वृत्त लिये हैं। उनमें राजपूती शौर्य के साथ-साथ हिन्दू-मुसलमान समस्या को हल किया गया है। भट्टजी अपेक्षाकृत अधिक प्रगतिशील हैं। उनके नाटकों में कोई न कोई निश्चित सामाजिक उद्देश्य निहित रहता है। वे प्रायः सामाजिक विसंगतियों पर गहरा व्यंग्य करते हैं। 'वर-निर्वाचन' 'बड़े आदमी की मृत्यु' आदि ऐसे ही एकांकी हैं। समस्या का अंत, चार एकांकी नाटक, अभिनव एकांकी, स्त्री का हृदय, अस्तोदय, सात प्रहसन, जवानी और छः एकांकी, धूमशिखा आदि उनके एकांकी संग्रह हैं।

उपेन्द्रनाथ अश्क का पहला एकांकी 'पापी' १९३७ के विशाल भारत में प्रकाशित हुआ था। 'देवताओं की छाया' (१९४०) इनका पहला एकांकी संग्रह है। इनमें मध्यवर्गीय विडंबनाओं पर व्यंग्य किया गया है। चरवाहे (१९४७) में संगृहीत एकांकियों में प्रतीकात्मक शैली के आधार पर मन की गुत्थियों को सुलझाने का प्रयत्न मिलेगा। पर 'चरवाहे' रोमानी भावनाओं से ग्रस्त होने के कारण यथार्थ भूमि का स्पर्श नहीं कर पाता। 'तूफान से पहले' में सांप्रदायिक तनावों की आदर्शवादी परिणति या जीवन का रोमानी अंत दिखाई देता है। 'पर्दा उठाओ, पर्दा गिराओ' में हास्य-व्यंग्य से संबद्ध एकांकी संगृहीत हैं। अश्क ने एकांकियों में अभिनेयता पर विशेष ध्यान दिया है। पर वे मानवीय स्थितियों की पर्तें तोड़ गहन समस्याओं से कहीं भी जूझते हुए नहीं दिखाई पड़ते। इसलिए वे छात्रोपयोगी नाट्य रचना से आगे नहीं बढ़ सके हैं। माथुर के 'भोर का तारा' और विष्णु प्रभाकर के 'इन्सान', 'माँ का बेटा', 'क्या वह दोषी था' आदि में जीवन की बाह्य परिस्थितियों को ही लिया गया है।

डा० लक्ष्मी नारायण लाल के आरंभिक एकांकियों में रोमांस या भावनामयता का प्राधान्य दिखाई पड़ता है। पर बाद में उन्होंने एकांकी को यथार्थ की भूमि पर प्रतिष्ठित करने की चेष्टा की। 'ताजमहल के आँसू', 'पर्वत के पीछे' के बाद प्रकाशित 'नाटक बहुरंगी' में ये नयापन ले आने की कोशिश करते दिखाई पड़ते हैं। परंतु इस संग्रह के एकांकियों में फैलाव बहुत है। संवादों में निरर्थकताओं, मितकथन का अभाव और मैनरिज्म के कारण न तो कसाव आता है और न नाटकीय संघर्ष में तीव्रता।

धर्मवीर भारती के एकांकी संग्रह 'नदी प्यासी थी' में नए मानवीय संदर्भों और नाट्यशिल्पों के आधार पर लिखित एकांकी संगृहीत हैं। इसमें संगृहीत

'आवाज का नीलाम' में पूँजी की जकड़बंदी में सिसकती पत्रकारिता को उजागर किया गया है। नए नाट्य प्रयोगों के फलस्वरूप इसे प्रभावशाली बनाने में लेखक को सफलता मिली है।

इनके अतिरिक्त विनोद रस्तोगी, भारतभूषण अग्रवाल, अज्ञेय, देवराज दिनेश, रेवतीशरण शर्मा, विमला लूथरा, आरसी प्रसाद सिंह आदि अनेक लोगों ने एकांकी और ध्वनि-एकांकियों की रचना की है।

किंतु सच पूछा जाय तो भुवनेश्वर ने जहाँ पर एकांकियों को छोड़ दिया है वे उससे आगे नहीं बढ़े। अधिकांश एकांकी न तो आधुनिक बोध की जटिलताओं को आँक पाये हैं और न कलात्मक रचनात्मकता को ही उपलब्ध कर सके हैं। जटिलताओं को पकड़ पाने पर ही कलात्मक श्रेष्ठता की उपलब्धि हो सकती थी। अनेक एकांकीकार नए से नए नाटकीय तंत्रों का उपयोग करने पर भी नाटक की आन्तरिकता को छुपाने में असमर्थ रहे हैं। आन्तरिकता के अस्पृश्य रह जाने पर नाटकीय शिल्प अलंकार की श्रेणी में आ जाते हैं।

उपन्यास

प्रेमचन्द के उपरान्त हिन्दी उपन्यास कई मोड़ों से गुजरता हुआ दिखाई पड़ता है। तीस वर्ष, सन् '४० से '७० तक की कालावधि, को स्थूल रूप से तीन दशकों में बाँटा जा सकता है— '४० से '५०, '५० से '६० और '६० से '७० तक। पहला दशक मुख्यतः फ्रायड और मार्क्स की विचारधारा से प्रभावित है, दूसरा दशक प्रयोगात्मक विशेषताओं से तो तीसरा दशक आधुनिकतावादी विचारधारा से। प्रेमचन्द समाज की स्वीकृत मान्यताओं के भीतर संघर्ष करते रहे। किंतु प्रथम महायुद्ध के बाद पश्चिम में पुराने मूल्यों का तेजी के साथ विघटन आरंभ हुआ। फ्रायड ने काम संबंधी मान्यताओं को नैतिकता-अनैतिकता से परे बताकर सामाजिक नैतिकता के आगे प्रश्नचिह्न लगा दिया। पूंजीवादी समाज में व्यक्ति-चेतना उभर कर सामने आई। मार्क्स ने सामूहिकता का प्रतिपादन करते हुए समष्टि-चेतना को कल्याणकारी माना। हिन्दी-उपन्यास इन दोनों विचारधाराओं से प्रभावित हुआ। सन् '५० के बाद स्वतंत्रता के फलस्वरूप उपन्यासकारों की दृष्टि व्यक्ति और समाज की मुक्ति की ओर गई। वे एक नया सपना देखने लगे। पर स्वतंत्रता के बीस वर्षों के बाद इस बंजर लोकतंत्र में कुछ भी उगता हुआ न देखकर जीवन के प्रति एक अजीब कुंठा, निराशा, अनिश्चितता, त्रास और अर्थहीनता की अनुभूति हुई और '६० के उपन्यासों में इन्हीं मनोदशाओं के प्रभूत चित्र मिलेंगे।

सन् '४० के पहले ही प्रेमचन्द के जमाने में ही जैनेन्द्र ने फ्रायड से प्रभावित होकर मानव-चरित्र के स्थान पर व्यक्ति-चरित्र की सृष्टि की।

प्रेमचन्द के सामने व्यक्ति की पहचान का सवाल नहीं था बल्कि समाज के साथ एकीकृत (एडजस्ट) होने का प्रश्न अधिक महत्त्वपूर्ण था । किंतु उन्हीं के समय में जैनेन्द्र ने व्यक्ति की अपनी गुम होती हुई पहचान को उभार कर सामने रखा । इनके उपन्यासों में अनमेल विवाह या दहेज प्रथा की समस्या नहीं है बल्कि विवाह स्वयं में एक समस्या है, क्योंकि सारी अनिश्चितताएँ विवाह के बाद आरंभ होती हैं । इसे मुक्ति की समस्या भी कहा जा सकता है, अस्तित्ववादी अर्थ में तो नहीं पर कोई चाहे तो स्वतंत्रता की समस्या भी कह सकता है ।

किंतु जैनेन्द्र की स्वतंत्रता या मुक्ति की समस्या के आड़े आते हैं रूढ़ संस्कार और जैनेन्द्र का प्रत्येक उपन्यास अन्तर्विरोधों का उपन्यास बन जाता है । उसके नारी पात्र समाज की मर्यादाओं को, उसकी संस्थाओं को बनाए रखना चाहते हैं दूसरी ओर अपने अस्तित्व की पहचान भी करना चाहते हैं । ऐसी स्थिति में आत्म-यातना के अतिरिक्त और कोई राह शेष नहीं रहती । वे समाज को न तोड़कर स्वयं टूटते हैं । वे बस टूटते भर हैं । अपने को तोड़कर किसी को निर्मित नहीं करते । नियति, ईश्वर, धर्म आदि में अटूट आस्था उनके उपन्यासों को आधुनिक नहीं बनने देती । वे 'रोमैंटिक एगोनी' का रूप ले लेते हैं ।

सन् '४१ में अज्ञेय के 'शेखर : एक जीवनी' के प्रकाशन के साथ हम उपन्यास की दिशा में एक नया मोड़ पाते हैं । इस उपन्यास को लेकर आलोचकों में भारी मतभेद रहा । किसी ने इसे प्रकाशमान पुच्छल तारा कहकर प्रशंसा की तो किसी ने अतिशय आत्मकेन्द्रित, अपनी दुम का पीछा करने वाला कहा । इसके कथानक को उखड़ा-पुखड़ा, बिखरा-बिखरा । असंबद्ध और विशृंखलित कहने वाले लोगों की भी कमी नहीं थी । इन विरोधी सम्मतियों से सिद्ध होता है कि यह परंपरा से हटकर नया प्रयोग था—कथ्य, शिल्प, भाषा में । जिसे आज आधुनिकता की संज्ञा दी जाती है उसका सर्वप्रथम समावेश इसी उपन्यास में दिखाई देता है । इसका मूल मंतव्य है स्वतंत्रता की खोज । इसकी खोज अपने को सबसे काट करके नहीं की गई है बल्कि अन्य के संदर्भों में की गई है, मानवीय परिस्थितियों के बीच की गई है । इसमें माध्यम व्यक्ति होता है, यों कहें कि उसकी वैयक्तिकता होती है ।

इसकी तलाश में व्यक्ति मूल प्रश्नों से टकराता है । समष्टि के भीतर व्यष्टि का क्या स्थान है ? है भी या नहीं है ? वह अनेक प्रकार के आन्तरिक संघर्षों से जूझता है, भीतरी तनावों से गुजरता है । वह अपने को अरक्षित अनुभव करता है । पर इस अरक्षा में ही उसे अपने अस्तित्व का बोध होता है । इस आधुनिक दृष्टिकोण के फलस्वरूप शेखर विद्रोही हो जाता है ।

प्रश्न उठाया गया है कि क्या शेखर का विद्रोह निषेधात्मक और रोमैंटिक नहीं है ? समाज, संस्था, नैतिक मान्यताओं, शिक्षा आदि के विरुद्ध नकारात्मकता का दृष्टिकोण उसे शून्यवादी नहीं बना देता है ? वास्तविकता यह है कि आधुनिक उपन्यासकार अपनी परिस्थिति को अस्वीकार करता है, उसके साथ उसका सामंजस्य हो नहीं पाता । असामंजस्य की स्थिति शून्यता के हद तक पहुँच जाती है । आधुनिक उपन्यासकार की यह पहचान है। शेखर : एक जीवनी इस शून्यता में ही स्थित है । पर इस शून्यता से ही होने की प्रक्रिया आरंभ होती है । उपन्यास में होने (बीइंग) की प्रक्रिया शुरू ही नहीं होती। इसलिए सामाजिक प्रभाव की दृष्टि से यह निषेधात्मक प्रतीत होता है ।

शेखर अपने निषेधात्मक रोमैंटिक विद्रोह से अपरिचित नहीं है । 'उसने अनुभव किया कि उसकी प्राणशक्ति अन्तर्मुखी हो रही है और क्रमशः उसी को भस्म कर जायेगी अगर किसी गहरे आन्दोलन ने फिर बहिर्मुखी नहीं कर दिया—' फिर भी वह बहिर्मुखी नहीं हो पाता । बहिर्मुखी होने के लिए वह जो परिदृश्य लेता है वह छोटा पड़ जाता है । इसके लिए जिस संघर्ष की जरूरत होती है उसे वह आयत्त नहीं कर पाता। अतः सारा संघर्ष मौखिक होकर रह जाता है, क्रिया (ऐक्ट) में नहीं बदलता ।

पर शेखर के विद्रोह के पीछे आज की पीढ़ी का विद्रोही स्वर है । शेखर अपने पिता से कहता है—"पर मैं तो सेक्योर होना नहीं चाहता । आप घर-गिरस्थी, निश्चित आमदनी और सिक्योरिटी की बात कहते हैं, मुझे यही जीवन के रोग लगते हैं—इन्हीं से तो मैं बचना चाहता हूँ । यह चैन की जिन्दगी, यह आश्वासन का भाव, यह दिनोदिन जोखम की अनुपस्थिति—यही तो घुन है जो जीवन की शक्ति को खा जाता है ।" सेक्योर न होकर ही व्यक्ति स्वतंत्रता की तलाश कर सकता है ।

शेखर कान्वेंट से छुटकारा पा लेता है, घर पर आए हुए ट्यूटर को भी भगा देता है । वह टाइप नहीं बनना चाहता बल्कि अपनी निजी संभावनाओं को अन्वेषित करना चाहता है । आज की शिक्षा-पद्धति के प्रति भी वह विद्रोह करता है । शादी में भी वह माँ-बाप के खिलाफ अपने निजी चुनाव का पक्षधर है ।

दूसरे खंड में पहले खंड के बिखराव की जगह एक व्यवस्था आ गई है—जेल-जीवन और शशि के प्रेम-प्रसंग को लेकर । पहले भाग का विद्रोह सृजन की भूमिका मालूम पड़ता है क्योंकि इसमें उसका बिखरा व्यक्तित्व संघटित होता है, रचनात्मक बनता है । किंतु राष्ट्र, राष्ट्रीयता, भाषा आदि के संबंध में उसके विचार क्रियात्मकता से न जुड़ने के कारण सतही मालूम पड़ते हैं । शशि

और शेखर के संबंध को लेकर जो आपत्तियाँ उठाई जाती हैं वे नैतिक अधिक हैं वास्तविक कम। स्मरण रखना चाहिए कि शेखर विद्रोही है और समाज द्वारा निर्मित प्रतिमान उहे सह्य नहीं है। शशि-शेखर का प्रेम सामाजिक संबंधों को तोड़ नए संबंधों की स्थापना करता है जो प्रवंचना पर नहीं; ईमानदारी, जोखम और दायित्व पर निर्भर करता है, जिसे शेखर जीता है।

'शेखर : एक जीवनी' आधुनिक लेखक की सृजन-प्रक्रिया की भी कहानी है। जिस प्रामाणिक अनुभूति की चर्चा आज की रचनाओं के संदर्भ में उठाई जाती है, वह शेखर में पहली बार मिलती है। शेखर अपनी अनुभूतियों को निश्छल अभिव्यक्ति देता है। जो परिदृश्य उसके अनुभव के भीतर नहीं आया वह इस उपन्यास में भी नहीं आया है। यह शेखर की कमजोरी और उपन्यास-कार की ईमानदारी है। आज का लेखक विद्रोही ही होगा अन्यथा उसे लेखन-कर्म नहीं अपनाना चाहिए। यातना और प्रेम ऐसे तत्त्व हैं जो शेखर को रचनाकार बनाते हैं। इनके अतिरिक्त क्या वे और कुछ हो सकते हैं ?

काल की दृष्टि से भी यह प्रयोगधर्मी उपन्यास है। इसमें एक रात में देखे गए विज़न को शब्द-बद्ध करने का प्रयास है। इस विज़न में कुछ हाईलाइट्स ही उभर सकते हैं। इसलिए इसमें परंपराभुक्त कालक्रमिक क्रमबद्धता नहीं मिलेगी। अनुभूति के टुकड़ों को जहाँ-तहाँ से उठा लिया गया है। काल प्रयोग के कारण इसकी थीम, रूपविन्यास और भाषा बदल जाती है। चेतना-प्रवाह, पूर्वदीप्ति, प्रतीक अतिरिक्त भाषा की आन्तरिकता उपन्यास की आन्तरिकता बन जाती है। इसमें कोई संदेह नहीं कि यह अपने में अप्रतिम होते हुए आधुनिक उपन्यासों को नया मार्ग देता है। पर अपने रोमैंटिक आवेग तथा अहं केन्द्रित होने के कारण से इसका विज़न रचनात्मक बनते-बनते रह गया है।

अज्ञेय का दूसरा उपन्यास 'नदी के द्वीप' (१९५१) सामान्यतः शेखर की संवेदना का विकास माना जाता है। शेखर और भुवन तथा रेखा और शशि में एक तरह का सादृश्य लगता है। पर इस सादृश्य पर जोर नहीं देना चाहिए। नदी के द्वीप को एक स्वतंत्र वृत्ति के रूप में मूल्यांकित करना अधिक संगत है। किंतु इसमें संदेह नहीं कि दोनों की भाव-संवेदना में निश्चित रूप से एकसूत्रता है। पर लगता है शेखर की तेजस्विता इस उपन्यास में समाप्त हो जाती है। भुवन की तेजस्विता कृत्रिम, आरोपित और अविश्वसनीय है। वह ठीक ढंग से सिचुएट नहीं होता है। इसलिए वह आत्मकेन्द्रित और दंभी बन जाता है। शेखर : एक जीवनी की शशि भी सिचुएटेड चरित्र है पर रेखा कहीं भी नहीं है। इसलिए उसकी बौद्धिक ऊँचाई स्वयं नदी का द्वीप है, प्रवाह से अलग। 'नदी के

द्वीप' का प्रतीक अर्थवान नहीं बनता क्योंकि यह तो उसके अस्तित्व को ही समाप्त कर देता है ।

आवेग के चुक जाने पर नदी का द्वीप बन जाना विद्रोही की नियति होती है । क्या इस नियति को अज्ञेय के साथ नहीं जोड़ा जा सकता ?

जिस शून्यता (नथिंगनेस) की स्थिति का उल्लेख शेखर के प्रसंग में किया गया है वह काफी खतरनाक होती है । अपने को दुनिया से काटकर, अक्रियमाण होकर, व्यक्ति अपने में ही लौट आता है । फिर तो प्रणय की देह-गाथा के अतिरिक्त कोई दूसरी जगह ऐसी नहीं बचती जहाँ वह अपने खोखले अहं को तृप्त करे और लारेंस की तरह यौन-कल्ट की प्रतिष्ठा करता हुआ उसी में 'फुल-फिल्ड' हो ।

इस उपन्यास की भाषा, शिल्प, रूप-विन्यास आदि की काफी प्रशंसा की गई है । किंतु भाषा के प्रति अतिरिक्त सावधानी, क्या एक दूसरी स्थिति का सूचक नहीं है ? क्या यह भाषा की प्रौढ़ता उपन्यास की प्रौढ़ता बन पाती है ? इसका उत्तर नकारात्मक होगा । फिर दोनों के बीच के अन्तराल की क्या वजह है ? क्या यह अनुभव की रिक्तता को भरने का प्रयास नहीं है ? 'शेखर : एक जीवनी' की भाषा अपने अनगढ़पन के बावजूद सर्जनात्मक बन पड़ी है, विन्यास बिखर कर भी संघटित हो जाता है । पर यहाँ तो उपन्यास के संघटन में ही कुछ ऐसी रिक्तता है जो उसे संघटित नहीं होने देती, सारा रचाव, कविताएँ, दर्शन, पहाड़ी अंचलों की रम्यताएँ—बिखराव में बदल जाती हैं ।

'अपने-अपने अजनबी' अज्ञेय का तीसरा उपन्यास है जिसमें एक प्रकार की धार्मिक दृष्टि-संपन्नता दिखाई पड़ती है । अपने पहले दोनों उपन्यासों में अज्ञेय ने यौन-कल्ट की स्थापना के साथ-साथ एक मसीहाई दृष्टिकोण भी अख्तियार किया है। 'अपने-अपने अजनबी' इसी की फलश्रुति है। यह अस्तित्ववादी उपन्यास नहीं है और न तो मृत्यु के साक्षात्कार का उपन्यास है । इसमें मुख्य समस्या स्वतंत्रता के वरण की है जो संत्रास, अकेलापन, बेगानगी, मृत्युबोध, अजनबीपन आदि से सहज ही संयुक्त हो गया है ।

सेल्मा और योके को एक ऐसी परिस्थिति में डाल दिया गया है कि स्वतंत्रता की समस्या अपने-आप उभर आती है। यह समस्या अस्तित्ववादी समस्या ही है । पर इसका समाधान दूसरा है । न तो योके अस्तित्ववादी है न सेल्मा । सेल्मा ने योके से कहा है—तुम जो अपने को स्वतंत्र मानती हो वही सब कठिनाइयों की जड़ है, न तो हम अकेले हैं, न हम स्वतंत्र हैं । बल्कि अकेले नहीं हैं और हो नहीं सकते, इसलिए स्वतंत्र नहीं हैं, और इसलिए चुनने या फैसला करने का अधिकार हमारा नहीं है ।—ऐसी सब स्वतंत्रताओं की

कल्पना निरा अहंकार है। स्वतंत्रता को अहंकार से जोड़कर अज्ञेय ने अस्तित्ववादी स्वतंत्रता के मूल अर्थ को ही बदल दिया है। उनके मत से, जैसे उपन्यास से प्रतीत होता है, स्वतंत्रता में अहंकार का घुस जाना स्वाभाविक है। सेल्मा ने साझे से, समर्पण से, दूसरे को अपने से संबद्ध करके क्षण को परंपरा से संपृक्त करके नया अर्थपूर्ण जीवन जिया। इसके अभाव में योके स्वतंत्रता के नाम पर आत्महत्या को चुन सकी। यह दर्शन मूलतः भारतीय है पर मेटाफिजिकल होने की वजह से इसमें सब कुछ बौद्धिक स्तर पर घटित होता है स्वयं जीवन जीने के स्तर पर नहीं।

इलाचन्द्र जोशी

जैनेन्द्र और अज्ञेय फ्रायड के अचेतन मनोविज्ञान से प्रभावित हैं तो इलाचन्द्र जोशी उसके मनोविश्लेषण से। यद्यपि उनका पहला उपन्यास घृणामयी सन् १९२९ में ही प्रकाशित हो चुका था किंतु संन्यासी (१९४१) के द्वारा ही उन्हें उपन्यासकार के रूप में प्रतिष्ठा मिली। इस उपन्यास में ही पहली बार मनोविश्लेषणात्मक पद्धति की विवृत्ति देखी जाती है। संन्यासी के अतिरिक्त पर्दे की रानी (१९४१), प्रेत और छाया, निर्वासित (१९४६), मुक्ति-पथ (१९५०), सुबह की भूलें (१९५२), जिप्सी, जहाज का पंछी (१९५५) और ऋतुचक्र उपन्यास प्रकाशित हो चुके हैं।

उनके उपन्यासों की विकास-यात्रा में 'मुक्ति-पथ' एक नए मोड़ की सूचना देता है। 'मुक्ति-पथ' के पूर्ववर्ती उपन्यास, ग्रंथियों के विश्लेषण पर आधारित है। उनकी भाव-भूमियाँ एकांगी, संकुचित और छोटी हैं। मुक्ति-पथ तथा उसके बाद जो उपन्यास लिखे गये, उनमें परिदृश्य का विस्तार और सामाजिकता का समावेश दिखाई पड़ता है। फिर भी वे कहीं भी मनोविश्लेषणात्मक प्रवृत्ति और छायावादी संस्कारों से उबर नहीं पाते। 'संन्यासी', 'परदे की रानी', 'प्रेत और छाया' में अवनर्मिल चरित्रों को लिया गया है। इनके मुख्य पात्र किसी न किसी मनोवैज्ञानिक ग्रंथि के शिकार हैं। जब तक उन्हें ग्रंथि का रहस्य नहीं मालूम होता तब तक वे अनेक प्रकार के असामाजिक कार्यों में संलग्न रहते हैं, उनकी जिन्दगी स्वयं उनके लिए नरक हो जाती है। जिस क्षण उनकी ग्रंथियों का मूलोद्घाटन हो जाता है, उसी क्षण वे सामान्य स्थिति में पहुँच जाते हैं।

'संन्यासी' में आत्महीनता की ग्रंथि है तो 'प्रेत और छाया' में इडिपस ग्रंथि। 'परदे की रानी' का पात्र भी मानसिक कुण्ठाओं से ग्रस्त है। फ्रायड के मनोविश्लेषण का मूलाधार काम-भावना है। इस भावना को ही केन्द्र में रखकर तीनों उपन्यासों के ताने-बाने बुने गये हैं। 'संन्यासी' का नन्दकिशोर शांति और जयंती के दो पाटों में पिस रहा है। नन्दकिशोर इन दोनों स्त्रियों का जीवन नष्ट करके

संन्यासी हो जाता है। 'परदे की रानी' का इन्द्रमोहन अपनी गाँठ के कारण शीला और निरंजना को धोखा देने में आनन्द का अनुभव करता है। 'प्रेत और छाया' का पारसनाथ अपनी ग्रंथि के खुल जाने पर सामान्य मानसिक स्थिति में आ जाता है।

मनोविश्लेषण के सिद्धान्तों के आधार पर गढ़े जाने के कारण उपन्यासों की गत्यात्मकता बाधित होती है। सभी पात्र मनोविश्लेषण के किताबी ढाँचे में ढाले जाने के कारण स्वतंत्र रूप से अपने को विकसित नहीं कर पाते। अपनी इन सीमाओं के कारण ये उपन्यास सहज नहीं बन पड़े हैं।

कहा जा चुका है कि 'मुक्ति-पथ' लिखने के साथ-साथ जोशी जी में एक परिवर्तन आया। 'मुक्ति-पथ', 'सुबह की भूलें', 'जिप्सी', 'जहाज की पंछी' में उन्होंने सामाजिकता का भी सन्निवेश किया है। 'मुक्ति-पथ' का नायक समाजवादी विचारधारा का व्यक्ति है और श्रम द्वारा मुक्ति चाहता है। नायिका श्रम के साथ विश्राम और मुक्ति के साथ बंधन भी चाहती है। नायिका का दृष्टिकोण अधिक व्यावहारिक और व्यक्ति-सापेक्ष है। व्यक्ति की निजी भावनाओं को सर्वथा दबाकर भी सामाजिक कार्यों में पूरी सफलता नहीं मिल सकती। 'जहाज का पंछी' व्यक्ति और समाज की पारस्परिक असम्बद्धता का उपन्यास है। इस उपन्यास का नायक ग्रंथि से बाहर निकल कर समाज की बदबूदार गलियों का चक्कर लगाता है, निस्सहायों की सहायता करता है पर उसके सारे कार्य और भटकाव परिस्थिति-जन्य उतने नहीं हैं जितने बौद्धिक हैं। उसका भटकाव उसी के द्वारा नियोजित किया जाता है परिस्थितियों द्वारा नहीं।

ऋतुचक्र में वह घूम-फिर कर पुनः रुमानी प्रेम पर उतर आता है। जीवन के चरम सत्य की उपलब्धि सेक्स में ही होती है। इसमें तीन जोड़ों की प्रेम-कथाएँ दी हुई हैं। इन तीन कथाओं के चुनाव के मूल में सम्भवतः प्रेम के तीन आयामों को लिया गया है---आदिम गन्धों का प्रेम, अस्तित्ववादी प्रेम, इन दोनों के मध्यवर्ती स्थिति का प्रेम। इनके माध्यम से वह मुक्ति की खोज करता है और इस खोज में वह छायावादी संस्कारों से मुक्त नहीं हो पाता। और उपन्यासों के पात्रों की तरह इसका दादा भी नारी के अंचल में शुतुरमुर्गी गर्दन गड़ा देता है। इसकी भाषा छायावादी जमाने की है। पुरानी भाषा में नये मूल्यों का आकलन संभव नहीं है।

यशपाल

प्रेमचन्दोत्तर उपन्यासकारों में अपनी विशिष्ट विचारधारा, ईमानदारी और सर्जनात्मक शक्ति के कारण यशपाल ने स्वतंत्र व्यक्तित्व बना लिया है। ऐतिहासिक दृष्टि से यशपाल को प्रेमचन्द उपन्यास-परम्परा की अगली कड़ी के

रूप में माना जा सकता है। 'गोदान' उपन्यास में प्रेमचन्द आदर्शवाद से मुक्त होकर यथार्थवादी दृष्टिकोण ग्रहण कर चुके थे। सन् '३६ में प्रगतिशील साहित्य सम्मेलन का सभापतित्व स्वीकार करके उन्होंने अपनी बदली हुई मनोवृत्ति की ही सूचना दी थी। यशपाल ने इसी परिवर्तित परंपरा को आगे बढ़ाया।

यशपाल का प्रारम्भिक जीवन क्रांतिकारी दल से सम्बद्ध था, वे इसके सक्रिय सदस्य थे, इसके लिए उन्हें चौदह वर्ष का कारावास भी मिला किन्तु सन् १९३७ के कांग्रेसी मंत्रिमंडल ने उन्हें मुक्त कर दिया। कारावासकाल में उनका सारा समय अध्ययन-मनन में व्यतीत होता था। इसी समय मार्क्सवादी विचारधारा का उनपर गहरा प्रभाव पड़ा। साहित्य के क्षेत्र में उतरने पर उन्होंने इसी विचारधारा को आगे बढ़ाया।

अमिता और दिव्या को छोड़कर उनके शेष उपन्यास समाजवादी यथार्थवाद का चित्र प्रस्तुत करते हैं। अमिता और दिव्या ऐतिहासिक उपन्यास हैं फिर भी उनमें अतीत को मार्क्सवादी विचारधारा से सम्बद्ध कर दिया गया है। इन दोनों उपन्यासों का विश्लेषण वहाँ किया जायेगा जहाँ अन्य ऐतिहासिक उपन्यास विवेचित होंगे। उनके शेष उपन्यास हैं—'दादा कामरेड' (१९४१), 'देशद्रोही' (१९४३), 'पार्टी कामरेड' (१९४६), 'मनुष्य के रूप' (१९४९), 'झूठा सच' प्रथम भाग 'वतन और देश' (१९५८), दूसरा भाग 'देश का भविष्य' (१९६०)।

दादा कामरेड की भूमिका में उन्होंने लिखा है—'समाज में पूँजीवाद, गाँधीवाद और समाजवाद के संघर्ष के बीच परिस्थितियों, व्यवस्था और धारणाओं में सामंजस्य ढूँढ़ने का इस पुस्तक में प्रयत्न किया गया है। वस्तुतः इसमें पूँजीवाद, गाँधीवाद और क्रान्तिकारियों के आतंकवाद का विरोध करते हुए समाजवाद का समर्थन किया गया है। साम्यवाद की वकालत के साथ-साथ इसमें स्त्री-जीवन की कुछ मौलिक समस्याओं को उठाया गया है। इसकी शैला प्रश्न करती है कि क्या मनुष्य-हृदय का स्नेह केवल एक ही व्यक्ति पर समाप्त हो जाना जरूरी है? शैला और हरीश के संबंध को लेकर नैतिकतावादी आलोचकों ने आपत्तियाँ भी उठायी हैं। इस प्रकार का आक्रमण पुरानी नीतिबद्धता के कारण ही किया जाता है। जब इस उपन्यास का लक्ष्य समाजवाद की स्थापना करना है तो इसमें स्त्री को वरण की स्वतंत्रता देनी ही होगी।' पर इस उपन्यास को कलात्मकता का अपेक्षित स्तर नहीं मिल पाया है।

'देशद्रोही' सन् '४२ की क्रांति से संबद्ध है। द्वितीय महायुद्ध में सोवियत रूस के सम्मिलित होने के साथ ही भारतीय साम्यवादियों ने अंग्रेजों की मदद आरंभ कर दी। भारतीय जनता ने साम्यवादियों को देशद्रोही कहा और साम्यवादियों ने इसे फ़ासिज्म ने विरुद्ध जनता की लड़ाई सिद्ध करना चाहा है। लेकिन

उसका नायक इतना कमजोर, रीढ़हीन और ढुलमुल पात्र है कि यशपाल की नियत पर संदेह होने लगता है कि वे समाजवादी विचारधारा के समर्थन में लिख रहे हैं या फ्रायडवादी विचाराधारा के समर्थन में। कलागत सतर्कता के बावजूद इसमें पात्र विभिन्न परिस्थितियों में फेंके जाते हैं और निकाल लिये जाते हैं। उन परिस्थितियों में पड़ने और निकलने की सारी जिम्मेदारी लेखक पर है। अतः सारा आयोजन सहज न होकर आयास-जन्य लगने लगता है। 'देशद्रोही' की अपेक्षा 'पार्टी-कामरेड' साफ-सुथरा उपन्यास है। इसमें न काम-संबंधी लिजलिजापन है और न सैद्धांतिक अस्पष्टता। 'मनुष्य के रूप' में परिवर्तमान मानवीय रूप के मूल में आर्थिक समस्या को लिया गया है।

यशपाल में कथा कहने की अद्‌भुत क्षमता है। पर एक पूर्वनिर्मित विचारधारा को रूपायित करने की उत्कट प्रेरणा उनके उपन्यासों की स्थितियों, पात्रों, विकास और परिणतियों को भी पूर्वनिर्मित बना देती है। प्रेम-संबंधी चित्रों में जहाँ किसी राजनीतिक उद्देश्य की पूर्ति नहीं होती, वे शरदचन्द्रीय मालूम पड़ने लगते हैं। वस्तुतः वे प्रेम को कामेच्छा के अतिरिक्त और कुछ नहीं मानते। ऐसी स्थिति में वे अपने बाड़े के बाहर जिन्दगी को बृहत्तर आयामों में देख पाने में असमर्थ रहे हैं।

'झूठा सच' के प्रकाशन ने सिद्ध कर दिया कि यशपाल बहुत विशाल फलक पर जीवन के विविध रूपों, आयामों, समस्याओं, जटिलताओं को अपने ढंग से प्रभावशाली रूप में प्रस्तुत कर सकते हैं। इतनी विशालता, इतना वैविध्य, इतने प्रश्न, इतनी समस्याएँ हिन्दी के किसी एक उपन्यास में नहीं उठाई गई हैं। इसे अपने युग का औपन्यासिक महाकाव्य की संज्ञा दी जा सकती है, यद्यपि इसमें जितनी व्याप्ति है उतनी गहराई नहीं है।

उपन्यास दो भागों—'वतन और देश' और 'देश का भविष्य' में प्रकाशित हुआ है। प्रथम भाग के आवश्यक में लिखा गया है—"देश के सामयिक और राजनैतिक वातावरण को यथासंभव ऐतिहासिक यथार्थ के रूप में चित्रित करने का प्रयास किया गया है।" इसमें कोई संदेह नहीं कि यशपाल जैसी ऐतिहासिक दृष्टि हिन्दी उपन्यासकारों में कम ही लोगों को प्राप्त है। इसलिए देश-विभाजन की भूमिका पर इतनी बड़ी कृति की परिकल्पना यशपाल ही कर सकते थे।

विभाजन के बाद देश के लाखों निरपराध आदमियों को तलवार के घाट उतार दिया गया। लाखों लोग गृहविहीन, कुटुम्बहीन हो गए। अनेक प्रकार की पाशविक यंत्रणाओं से जूझते हुए इन लोगों ने अपने लिए तथा स्वतंत्र देश के लिए अनगिनत समस्याएँ पैदा कीं। मानवीय यातना के इतिहास में यह विश्व की क्रूरतम घटनाओं में से एक घटना मानी जायगी। लगभग एक दशक

(१९४६–५६) तक इस उपप्लव का प्रभाव बना रहा। यशपाल ने इसी दशक का औपन्यासिक इतिहास लिखा है।

'वतन और देश' में जो वतन था वह देश नहीं रह गया और जो देश था वह वतन नहीं रह गया। वतन और देश के बीच विभाजक रेखा खींचने की जिम्मेदारी किसकी है ? अंग्रेजों की या स्वार्थपरता से घिरे देशभक्तों की ? राजनीतिक स्वार्थपरता को धर्मांधता का रंग देकर जो दंगे हुए उनकी अनेक रोमांचक कहानियाँ इसमें मिलेंगी। हिन्दुओं-मुसलमानों के पारस्परिक सौहार्द्र और संबंधों का बदलाव देश की अखंडता को ही ध्वस्त नहीं करता है बल्कि बहुत से उच्चतर मूल्यों को भी समाप्त कर देता है। यशपाल ने ध्वस्त मूल्यों के साथ-साथ नए मूल्यों का भी चित्रण किया है। दूसरे भाग में दंगे से बचे कुछ पात्रों द्वारा देश के भविष्य के संदर्भ में बनते-बिगड़ते मूल्यों को उजागर किया गया है। इस तरह यह उपन्यास देश के एक दशक का प्रामाणिक दस्तावेज बन जाता है।

उपन्यास का पहला भाग देश के यथार्थ विघटन को रूपायित करता है तो दूसरा भाग संघटन को। विघटन का दृश्य उपस्थित करने के लिए जिस यथार्थवादी दृष्टि की आवश्यकता होती है वह यशपाल को प्राप्त है। इसलिए प्रथम खंड अपेक्षाकृत अधिक प्रामाणिक, यथार्थ और मार्मिक बन पड़ा है पर संघटन के लिए यथार्थ की अपेक्षा विधायक कल्पना की जरूरत होती है। कहना न होगा कि यशपाल में इसकी कमी दिखाई पड़ती है। इसलिए दूसरे खंड में चित्रित पात्रों की सफलताएँ सपाट हो गई हैं।

दूसरे भाग में भी जहाँ तक देश में फैले भ्रष्टाचार का प्रश्न है, उसे अत्यंत निपुणता से चित्रित करते हुए विश्वसनीय बनाया गया है। और इस भ्रष्टाचार का आरंभ नेताओं, प्रशासनिक यंत्रों, योजना-आयोगों से होता हुआ जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में व्याप्त हो गया है। उपन्यास प्रकाशित होने के बाद भी सूर जैसे कांग्रेसी नेताओं और मंत्रियों की संख्या बढ़ती जा रही है। व्यक्ति आत्मनिष्ठ और स्वार्थी बनता जा रहा है। पहले और दूसरे दोनों भागों में कम्युनिस्ट पार्टी को तरजीह दी गई है, वह एकांगी और लेखक की पक्षधरता का सूचक है।

इस उपन्यास के मुख्य पात्र तीन हैं—तारा, पुरी और कनक। इनमें तारा उपन्यास की मुख्य नायिका प्रतीत होती है। ध्वस्त अतीत को अपने विवेक की निर्भीकता, सत्य के प्रति अटूट निष्ठा के कारण नए ढंग से निर्मित करती है। कनक में भी अद्‌भुत दृढ़ता और सत्य के प्रति दृढ़ आस्था है। उसने निश्चय किया कि पुरी से विवाह करना है तो प्रत्येक अवरोध लाँघती हुई उससे विवाह कर लेती है। जब पुरी का आचरण उसे अरुचिकर लगा तो उसने गिल का वरण कर लिया। तारा भी अपने पति को छोड़कर डा० प्राणनाथ से विवाह-सूत्र में बँध जाती है। पुरी

विभाजन के पूर्व भी बहुत आस्थावान नहीं था । विभाजन के बाद उसके चरित्र में काफी गिरावट आ जाती है । उपन्यास के पूर्वार्ध में इन पात्रों को जिन परिस्थितियों में डाला गया है वे इनके यथार्थ निर्माण में महत्त्वपूर्ण योग देती हैं । पर उत्तरार्ध में उनका विकास सीधी रेखा में होता है । किंतु जीवन सीधी रेखा नहीं है । इस उपन्यास के नारी पात्र यशपाल के पूर्ववर्ती उपन्यासों के नारी पात्रों के मेल में हैं, कम से कम जीवन-दर्शन में उनमें अद्‌भुत समानता है ।

यशपाल को रोचक कहानी कहने की कला खूब मालूम है । उनका कोई ऐसा उपन्यास नहीं है जिसे पाठक चाव से न पढ़ता हो । समाज के गलित पक्ष पर गहरा प्रहार करना कोई उनसे सीख ले । स्थान-स्थान पर भाषा विडंबनात्मक (आइरेनिकल) होकर मार करने वाली धार को और पैना बना देती है । वे अपनी भावनाओं, सिद्धांतों और लेखन के प्रति अत्यंत ईमानदार हैं । वे सत्य को, जिसे वे सत्य समझते हैं, सीधे स्थापित करते हैं। वे अपने उपन्यासों को पठनीय बनाने के लिए कामतत्त्व का—प्रेमतत्त्व का नहीं—प्रचुर उपयोग करते हैं ।

मार्क्सवाद को केन्द्रीय विषय-वस्तु मान लेने तथा जीवन और जगत् को सीधी रेखा स्वीकार करने का फल यह हुआ है कि उन्हें किसी जटिल मार्ग से गुजरने की जरूरत नहीं पड़ी । यदि वे रेडीमेड सत्य को ज्यों का त्यों न स्वीकार कर सत्यान्वेषण में संलग्न हुए होते तो उन्हें कलागत नवीन प्रविधियों का प्रयोग करना पड़ता । कम से कम 'झूठा सच' में जीवन को गूढ़तर नैतिक दार्शनिक स्तर पर चित्रित करने की गुंजायश थी । पर यह न तो लेखकीय प्रतिबद्धता के अनुरूप था और न उसके स्वभाव के । जीवन के चौथे आयाम से उनका कोई ताल्लुक नहीं है । वे अपनी बात को सीधे पाठक तक प्रेषित करते हैं । उनकी संप्रेषणीयता सराहनीय है । पर पाठक की कल्पना-शक्ति को वे उकसा नहीं पाते । अपनी इन कमजोरियों के कारण 'झूठा सच' को रचनात्मक सार्थकता नहीं मिलती । फिर भी यह हिन्दी का एक महत्त्वपूर्ण महाकाव्यात्मक उपन्यास है ।

रामेश्वर शुक्ल 'अंचल' यशपाल की परंपरा में आते हैं । चढ़ती धूप, नयी इमारत, उल्का और मरुप्रदीप उनके प्रसिद्ध उपन्यास हैं । पर इनमें द्वंद्वात्मक चेतना पूरे तौर पर नहीं उभरती ।

भगवतीचरण वर्मा

भगवतीचरण वर्मा प्रेमचन्दीय परंपरा के उपन्यासकार हैं । सन् '५० तक यह परंपरा चलती रही । प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों में समसामयिक समस्याओं को चित्रित किया और वर्मा जी परिवर्तमान ऐतिहासिक धारा को मध्यमवर्ग के माध्यम से अंकित करते रहे हैं—मुख्यत: '४० के बाद लिखे गए उपन्यासों में ।

इनका पहला उपन्यास चित्रलेखा १९३६ में प्रकाशित हो चुका था। '४० के बाद के उपन्यासों में 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते', 'आखिरी दाँव', 'भूले-बिसरे चित्र', 'सामर्थ्य और सीमा', 'सबहिं नचावत राम गुसाईं' मुख्य हैं।

'टेढ़े मेढ़े रास्ते' में दो पीढ़ियों के अन्तराल का चित्र प्रस्तुत करते हुए लेखक ने एक ऐसे परिवार का नक्शा खींचा है जो समन्वय के अभाव में विघटित हो गया। पं० रामनाथ तिवारी के तीन लड़के हैं। रामनाथ का व्यक्तित्व टिपिकल सामंतीय है जो टूटना जानता है झुकना नहीं। अंग्रेज सरकार की तरह वह भी अपने को किसी सरकार से कम नहीं समझता। उनके तीनों लड़के ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध हैं। इसलिए पिता और पुत्रों के बीच भी अंतराल आ जाता है। तीनों लड़कों में से एक गाँधीवादी है, दूसरा आतंकवादी और तीसरा साम्यवादी। ये तीनों रास्ते टेढ़े-मेढ़े हैं। ये रास्ते गढ़े हुए हैं और यथार्थ से परे हैं। इनमें लेखक की सहानुभूति गाँधीवादी रास्ते से है। लेकिन इन तीनों रास्तों पर चलने वाले लड़के अपने रास्ते पर दृढ़ नहीं हैं, न वे विश्वसनीय बन पड़े हैं। सभी को पिता से अपेक्षा रहती है। स्त्री पात्र पुराने ढंग के हैं। लेखक का दृष्टिकोण नई पीढ़ी के प्रति अनास्थावान मालूम पड़ता है। रामनाथ का चरित्र सर्वाधिक यथार्थवादी और सशक्त है। 'आखिरी दाँव' यशपाल के 'मनुष्य के रूप' की छाया में पनप नहीं सका है। यह साधारण स्तर का उपन्यास बनकर रह गया है। 'अपने खिलौने' अपनी असंगतियों, बिखराव और सस्तेपन के कारण सामान्य स्तर के नीचे पहुँच जाता है।

'भूले-बिसरे चित्र' (१९५९) से वर्मा जी को विशेष ख्याति मिली है। इसमें चार पीढ़ियों के परिवर्तमान जीवन-दृष्टियों की कथा है। सन् १८८५ से सन् १९३० तक। अर्जीनवीस मुंशी शिवलाल का लड़का ज्वालाप्रसाद अंग्रेज कलक्टर की कृपा से नायब तहसीलदार हो जाता है। ज्वालाप्रसाद के पुत्र गंगाप्रसाद सीधे डिप्टी कलक्टर हो जाते हैं। गंगाप्रसाद का पुत्र अपनी योग्यताओं के बावजूद सत्याग्रह संग्राम में जुट जाता है।

इसमें चार खंड हैं। प्रथम दो खंडों में सामंतीय मनोवृत्ति और नौकरशाही का चित्र प्रस्तुत किया गया है, तृतीय खंड में दिल्ली दरबार का। चौथे खंड में गाँधीवादी आंदोलन से संबद्ध अनेक राजनीतिक समस्याओं को प्रस्तुत किया गया है। इस तरह लंबे दिक्-काल को समेट कर इसे महाकाव्योचित बनाने की चेष्टा प्रतीत होती है।

यह उपन्यास ५० वर्षों के बदलते हुए इतिहास-चक्र को अनगिनत पात्रों, रोचक प्रसंगों, घटना-श्रृंखलाओं से इस तरह अंकित किया गया है कि अपेक्षित कालावधि को एक व्यापक परिदृश्य दिया जा सके। इस तरह के उपन्यासों में

लेखक को संग्रह-त्याग की कला में पर्याप्त निपुण होना चाहिए। इसमें संदेह नहीं कि वर्मा जी को इस कला में महारत हासिल है। रोचकता उनके उपन्यासों का एक विशेष गुण है। गिरजाकुमार माथुर ने इसे अलबम कहा है। निस्संदेह इसमें अलबम का——फोटोग्राफी की कला का——आकर्षण आद्यन्त मौजूद है।

पर अलबम की अलग-अलग छवियाँ मिलकर एक समग्र छवि का अंकन नहीं कर पातीं। सारे खंडों में अन्वितियों की एकतानता नहीं मिलती, वे अपने ही खंडों में पूर्ण होकर दूसरे से अलग हो जाते हैं——मुख्यतः तीसरे, चौथे और पाँचवें खंड। फलतः नैरंतर्य बीच-बीच में रुका-ठिठका प्रतीत होता है। इसका फल यह होता है कि काल-प्रवाह तो व्यापक हो जाता है किन्तु समन्वित प्रभाव में विक्षेप आ जाता है।

इसके मूल में ऐसी कोई गहरी दृष्टि और संवेदना नहीं हैं जो इसे अन्विति-पूर्ण और जीवन की गहन जटिल समस्याओं से संपृक्त कर सकें। 'झूठा-सच के' परिप्रेक्ष्य में देखने से यह और भी सपाट और दृष्टिहीन मालूम पड़ने लगता है। 'झूठा सच' जैसी तात्कालिकता, प्रामाणिकता और गहनता का इसमें अभाव है। इस सिलसिले में गाल्सवर्दी के 'दी मैन आफ प्रापर्टी' की याद भी आ जाती है। इसमें धनी-मानी-संपन्न व्यक्तियों को सौन्दर्य-बोध के विरोध में रखा गया है। यह विरोध ही उसके रचनात्मक तंत्र का भी नियामक है। 'भूले-बिसरे चित्र' का रचनात्मक तंत्र विषय के अनुरूप सपाट है।

इसके पात्र अपने-अपने समय के साँचे में ढलकर अपना कोई व्यक्तित्व नहीं बना पाते। वे ऐसी मानवीय स्थितियों में नहीं पड़ते जो मनुष्य के तीखे दर्द का अनुभव करा सकें। वे सामान्यतः भावना की सतह पर तैरते रहते हैं, गहरे डूबने का उनमें साहस नहीं है। चौथी पीढ़ी की नारी की जागरुकता अपने पति पर हाथ छोड़ने में दिखाई गई है जो पर्याप्त स्थूल है।

'सामर्थ्य और सीमा', 'रेखा' और 'सबहिं नचावति राम गुसाईं इनके अन्य उपन्यास हैं। यदि वर्मा जी के उपन्यासों का मूल स्रोत खोजा जाय तो वह 'मनुष्य परिस्थितियों का दास है' में मिलेगा। परिस्थितियों को उन्होंने ऐति-हासिक अनिवार्यताओं की संश्लिष्टता में नहीं लिया है। वे प्रायः इकहरी होती हैं और मनुष्य उनसे पराभूत हो जाता है। फलतः वे पात्र रूपाकारहीन हो जाते हैं। प्रेमचन्द की भाँति वर्मा जी तात्कालिकता को तीखेपन के साथ चित्रित नहीं कर पाते। प्रेमचंद की परंपरा में वे इसी अर्थ में माने जा सकते हैं कि उन्होंने अपने उपन्यासों में परवर्ती ऐतिहासिक परिस्थितियों का आकलन किया है। फिर भी बहुत सारी समस्याएँ वे ही हैं जो प्रेमचंद ने 'गोदान' के पूर्ववर्ती उपन्यासों में प्रस्तुत किया है। वर्मा जी गोदान की परंपरा के उपन्यासकार

न माने जाकर सेवासदन, रंगभूमि, ग़बन की परंपरा के उपन्यासकार माने जायँगे।

उपेन्द्रनाथ अश्क

अश्क को प्रेमचंद परंपरा का उपन्यासकार कहा जाता है। पर स्मरण रखना चाहिए कि समग्र अर्थ में वे प्रेमचन्दीय परंपरा से नहीं जुड़ पाते। जहाँ तक मध्यवर्गीय परिवारों और व्यक्तियों की परिस्थितियों, समस्याओं और परिवेश का संबंध है वहाँ तक वे प्रेमचन्दीय परंपरा के उपन्यासकार हैं—प्रेमचन्द की अपेक्षा अधिक यथार्थवादी, इसलिए प्रामाणिक भी। प्रेमचन्द के वैविध्य और जीवन चेतना का इनमें अभाव है।

'सितारों के खेल' के बाद इनके कई उपन्यास प्रकाशित हुए हैं—गिरती दीवारें, गर्म राख, बड़ी-बड़ी आँखें, पत्थर-अल-पत्थर, शहर में घूमता आईना और एक नन्हीं किन्दील। गिरती दीवारें इनका सर्वोत्तम उपन्यास है। गर्म राख, बड़ी-बड़ी आँखें, पत्थर-अल-पत्थर सुगठित (वेल मेड) उपन्यासों की श्रेणी में रखे जायेंगे। अंतिम दोनों उपन्यास 'गिरती दीवारें' के एक्स्टेंशन हैं।

गर्म राख में 'यां चिन्तयामि मयि सा विरक्ता' को औपन्यासिक रूप दिया गया है। 'बड़ी-बड़ी आँखें' देखने में रूमानी लगता है पर इसका मुख्य स्वर संस्थाओं के खोखलेपन को उजागर करना है। प्रेमचन्द के जमाने में संस्थाएँ महत्त्वपूर्ण थीं। पर कालान्तर में वे अर्थहीन हो गईं। 'पत्थर-अल-पत्थर' में यदि लेखक ट्रेवलॉग के चक्कर में न पड़ता तो मानवीय आन्तरिकता को उभार पाने की संभावनाएँ उसमें थीं।

'गिरती दीवारें' हिन्दी की यथार्थवादी परंपरा के उपन्यासों में अपना ऐतिहासिक स्थान रखता है। इसके पूर्व यथार्थवादी परंपरा का शायद ही कोई ऐसा उपन्यास हो जो मध्यवर्ग की विवशता, हार, लाचारी और संघर्ष को वास्तविकता की भूमि पर प्रतिष्ठित कर सका हो।

इसका मुख्य पात्र चेतन एक संघर्षी पात्र है। प्रायः कहा गया है कि वह ढुलमुल है, रीढ़हीन है। यह सही भी है। किंतु जो वह नहीं है उसकी माँग उससे क्यों की जाय? देखना यह है कि उसके होने की यथार्थता क्या है?

पूंजीवादी व्यवस्था में एक मध्यवर्गीय व्यक्ति कहाँ तक संघर्ष कर सकता है? उसका व्यक्तित्व, उसका आदर्श पूँजीवादी व्यवस्था के हल्के ठोकर से ध्वस्त हो जाता है। काव्य और साहित्य के प्रति उसके आदर्शवादी दृष्टिकोण को भी पूंजीवादी व्यवस्था ने कहाँ पनपने दिया? प्रकाशन और समाचारपत्रों पर उन्हीं का एकाधिकार है। इसके बीच मध्यवर्गीय लेखक को अपनी राह पा लेना संभव नहीं है। धूर्त रामदासों और समाचारपत्र के दफ्तरों के बीच

मध्यमवर्गीय आदर्शवाद का पौधा नहीं लग सकता । आर्थिक परिस्थितियों से जूझता हुआ चेतन अपने आदर्शों को तोड़ने के लिए बाध्य है ।

पर इन सभी आर्थिक-पारिवारिक परिस्थितियों से आगे बढ़कर चेतन काम-कुंठाओं से अधिक ग्रस्त मालूम पड़ता है । उसकी समस्या आर्थिक उतनी नहीं मालूम पड़ती जितनी काम-जन्य । इसलिए उपन्यास के शीर्षक के आगे प्रश्न-चिह्न लग जाता है । फिर भी उपन्यास मध्यवर्गीय नैतिक वर्जनाओं को तोड़ने की प्रेरणा देता है । यही इसकी सफलता का रहस्य है ।

'शहर में घूमता आईना' और 'एक नन्हीं किन्दील' उपर्युक्त उपन्यास के अगले खंड और अपने आप में पूर्ण हैं । दोनों ही उपन्यासों में चेतन के जीवन के अनेकानेक संस्मरण संगृहीत हैं । इन संस्मरणों, डाकूमेंटरी विवरणों आदि में तथ्यात्मकता दिखाई देती है । चेतन अपने संस्मरणों की रील पर रील खोलता चलता है । वह उन्हें पुनः जीता नहीं, पुनः सर्जित नहीं करता । इन फीके, बेस्वाद संस्मरणों से पाठक को क्या लेना-देना है ? स्मृति कौंधी नहीं कि पिछले जीवन का काफी हिस्सा प्रकाश के वृत्त में आ गया और उपन्यास में कई पृष्ठ जुड़ गए । चेतन जहाँ कहीं ज्ञान की बातें करता है वहाँ पूरा मिडियाकर लगता है । शिल्प के अनेकानेक उपकरणों का चुनाव इनमें प्राण-प्रतिष्ठा नहीं कर पाता । इसके आगे के खंडों में थका देनेवाली पुनरावृत्तियाँ ही होंगी । वस्तुतः चेतन का सब कुछ 'गिरती दीवारें' में निचुड़ गया है । अब उस थके-हारे व्यक्ति के पास ऐसा कुछ नहीं बचा है जो पाठकों को दे सके ।

अमृतलाल नागर

प्रेमचन्द के उपन्यासों में सामाजिक समस्याओं के आवर्त में पड़ा व्यक्ति कभी अपने को उनके अनुरूप ढालता है, कभी उनसे आहत होता है, कभी छोटे-मोटे सुधारों के द्वारा समाज का परिष्कार करता है । वहाँ प्रधान समाज है, व्यक्ति गौण । मनोवैज्ञानिक उपन्यासकारों ने व्यक्ति की सनकों अन्तर्द्वंद्वों को समाज से अधिक महत्त्व दिया । नागर के उपन्यासों में व्यक्ति और समाज के सापेक्षिक संबंधों को चित्रित किया गया है । 'नवाबी मसनद', 'सेठ बाँकेमल', 'महाकाल', 'बूंद और समुद्र', 'शतरंज के मोहरे', 'सुहाग के नूपुर', 'एकदा नैमिषारण्ये' और 'मानस का हंस' उनके प्रकाशित उपन्यास हैं । अपने विस्तार और गहराई के कारण 'बूंद और समुद्र' विशेष महत्त्वपूर्ण बन पड़ा है ।

'बूंद और समुद्र' व्यक्ति और समाज के प्रतीक हैं । लखनऊ के चौक के रूप में भारतीय समाज के विभिन्न रूपों, उनकी रीति-नीतियों, आचार-विचारों, जीवन-दृष्टियों, मर्यादाओं, टूटती और निर्मित होती हुई व्यवस्थाओं के अनगिनत चित्र हैं । इस उफनते हुए समुद्र में व्यक्ति-बूंद की क्या स्थिति है, यह उपन्यास

का मुख्य प्रतिपाद्य है । समस्या है कि क्या बूँद अपने को समुद्र में समाहित कर दे ? यह समुद्र भी तो एक-एक बूंद का समवेत रूप है । फिर दोनों के बीच यह अन्तराल कैसा ? इसका समाधान है बूंद में समुद्र का समाविष्ट हो जाना, और यह व्यक्ति स्तर पर ही संभव है ।

उपन्यास की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पात्र ताई व्यक्ति और समाज के संघातों की अत्यंत प्रभावशाली ट्रेजडी है । यह ट्रेजडी जितनी व्यक्ति-समाज के संघर्ष की है उतनी ही व्यक्ति-व्यक्ति और व्यक्ति के आत्मसंघात की है । अपनी ट्रेजडी में वह पूर्ण मानवीय है । पर अन्य पात्र वैचारिक अधिक और जीवंत कम बन पड़े हैं ।

एक दूसरे स्तर पर इसमें आज के बुद्धिजीवी का संकट भी चित्रित किया गया है । हमारा समाज अनेक प्रकार के स्वार्थों, पाखंडों में लिप्त होकर मूल्य-हीन हो गया है । पर बुद्धिजीवी का संघर्ष मूल्यान्वेषण में संलग्न दीख पड़ता है । लेकिन अन्ततोगत्वा उसे अपने आदर्श भी खोखले प्रतीत होते हैं ।

जो लोग इसमें आधुनिकता-बोध को खोजना चाहेंगे उन्हें निराश होना पड़ेगा । यह प्रेमचन्द्र परंपरा का—यथार्थ और आदर्श के समन्वय का—व्यष्टि और समष्टि के पारस्परिक संबंधों का अत्यंत रोचक शैली में लिखी गयी विशिष्ट औपन्यासिक कृति है ।

'अमृत और विष' उनका दूसरा वृहद्काय उपन्यास है। इसमें भी अनेक प्रकार के कालों, जीवन स्थितियों, आन्दोलनों, रीति-रिवाजों के ब्योरों को अंकित किया गया है । अपने किस्सागोई के बावजूद यह उपन्यास अपने अतिरिक्त फैलाव के फलस्वरूप गहरे जीवन-बोध से रिक्त होकर विवरणात्मक हो गया है । 'मानस का हंस' गोस्वामी तुलसीदास के जीवनवृत्त पर आधारित एक लोक-प्रिय उपन्यास है । इसमें तथ्य और कल्पना दोनों का योग है ।

ऐतिहासिक उपन्यास

हिन्दी उपन्यासों के विकास के इस दौर में इतिहास संबंधी नया दृष्टिकोण सामने आया । किशोरीलाल गोस्वामी के ऐतिहासिक उपन्यासों में रोमांस ज्यादा है । उन्हें न तो ऐतिहासिक तथ्यों की चिंता है और न कल्पना के रच-नात्मक पक्ष की । उनमें कौतूहल, उत्सुकता, साहसिकता, मनोरंजन और रोमांस की प्रमुखता हो गई है । वृन्दावनलाल वर्मा के प्रारंभिक उपन्यासों में ये तत्त्व दिखाई पड़ते हैं पर रोमैंटिक आदर्श और आंचलिकता के पुट के कारण वे संयमित हो गए हैं । या यों कहें कि उनमें इतिहास और कल्पना का समन्वय दिखाई पड़ने लगता है । चतुरसेन शास्त्री मूलतः गोस्वामी जी की परंपरा में आयेंगे पर उन तत्त्वों के कारण उनके उपन्यासों में परिस्थितिपरक तीव्रता भी

आई है। नए ऐतिहासिक दृष्टिकोण को सामने ले आने वालों में हजारीप्रसाद द्विवेदी, राहुल सांकृत्यायन, यशपाल और रांगेय राघव विशेष उल्लेखनीय हैं।

वृन्दावनलाल वर्मा

इधर वर्मा जी के कई उपन्यास प्रकाशित हुए—झाँसी की रानी, कचनार, मृगनयनी, अहिल्याबाई, माधोजी सिंधिया, भुवनविक्रम आदि। पर 'मृगनयनी' सबसे अधिक यश की भागी हुई। 'झाँसी की रानी' में पूर्ववर्ती उपन्यासों का रोमांस नहीं है किन्तु अत्यधिक तथ्याश्रयी हो जाने के कारण इतिवृत्तात्मक हो गया है। इस संबंध में जुटाए गए समस्त विवरणों, तथ्यों आदि को लेकर इसे इतिहास बना दिया गया है।

लेकिन मृगनयनी लिखकर वर्मा जी ने अपने दोषों का बहुत-कुछ परिहार कर लिया है। इस उपन्यास में तत्कालीन परिवेश को उसकी समग्रता में आकलित करने का प्रयास दिखाई पड़ता है। बीच-बीच में ऐसे प्रसंग भी आ गए हैं जो आज की समस्याओं से भी जुड़ जाते हैं। किंतु पूरे उपन्यास को इस धरातल पर नहीं उतारा गया है।

ग्वालियर के महाराज मानसिंह और ग्रामीण मृगनयनी के प्रणय-रोमांस के ताने-बाने में उस समय के सांस्कृतिक वातावरण को, उसके अनेकशः आयामों में चित्रित करके वर्मा जी ने एक काल-खंड को जीवंत बना दिया है। तत्कालीन धर्म, राजनीति, चित्र, संगीत, वास्तुकला को उनके व्योरों और अंर्तविरोधों सहित इस रूप में चित्रित किया गया है कि यह उपन्यास सांस्कृतिक उपलब्धि बन गया है।

इस उपन्यास में वर्मा जी के अन्य ऐतिहासिक रोमांसों का उच्छ्वसित आवेग नहीं है। इसलिए अपनी समस्त रोमानी प्रवृत्तियों के बावजूद यह संयम के बाँधों में संग्रथित हो गया है। इस संयम का ही परिणाम है मानसिंह का लालित्य बोध और उसका रचनात्मक रूप। पर इसके फलस्वरूप मृगनयनी का चरित्र अपनी आन्तरिकता में भर कर सामने नहीं आता। स्काट की भाँति वर्मा जी ने भी अपनी जन्मभूमि का, उसकी राजनीतिक, भौगोलिक, सांस्कृतिक, ऐतिहासिक समग्रता का जो सजीव चित्र उभारा है वह अद्वितीय बन पड़ा है।

हजारीप्रसाद द्विवेदी

द्विवेदी जी के अब तक तीन उपन्यास प्रकाशित हुए हैं—बाणभट्ट की आत्मकथा, चारुचन्द्र लेख और पुनर्नवा। इनके उपन्यास इतिहास के तथ्यों पर आधारित नहीं हैं। उनमें कल्पना के आधार पर ऐतिहासिक वातावरणों की अर्थवान् सृष्टि की गई है। इस अर्थवत्ता के लिए उनका नया ऐतिहासिक दृष्टि-

कोण भी दायी है । वे किसी कालखंड को जीवंत रूप में प्रस्तुत करने के साथ-साथ उसे आज की ज्वलंत समस्याओं के साथ भी जोड़ते चलते हैं। इस संदर्भ में ही एक गंभीर जीवन दर्शन भी प्रतिफलित होता है ।

यह उपन्यास जैसा कि पहले कहा गया है ऐतिहासिक तथ्यों पर आधृत नहीं है फिर भी पूर्वकालीन उत्तर भारत का इससे ज्यादा प्रामाणिक इतिहास दूसरा नहीं है । देश अनेक स्तरों पर जड़ और खंडित हो चुका था । द्विवेदी जी ने मध्यकालीन जड़ता पर प्रहार करते हुए उसे आधुनिक चैतन्य से संपृक्त किया है । अनेक प्रकार की विरोधी धर्म-साधनाओं के कारण समाज अनेकश: विभक्त और खंडित हो चुका था, राजनीतिक स्थिति अस्थिर-चंचल थी। वे इन अस्थिरताओं और विघटनों के बीच नए मूल्य खोजने की कोशिश करते हैं। फलस्वरूप 'बाणभट्ट की आत्मकथा' को हिन्दी के ऐतिहासिक उपन्यासों से अलग स्वतंत्र भूमि पर खड़ा होना पड़ा है ।

इस उपन्यास में जड़ता से स्पन्द चेतना की ओर जाने की कथा है । सचराचर धरा में मग्न है । सारा समाज एक प्रकार के अवरोध में है । भट्टिनी, महामाया, निपुणिका, सुचरिता यहाँ तक कि बाणभट्ट भी अवरुद्ध है । संपूर्ण मध्यकाल में एक गतिशून्यता भरी हुई है । राजनीति, संस्कृति, धर्म आदि बँधे घाटों के जल की तरह प्लावित हैं । सोचने का बँधा हुआ तरीका है, धर्म की बँधी-बँधाई परिपाटी है । सब लकीर के फकीर हैं । बाणभट्ट को लगा था—'न जाने क्यों मुझे लग रहा था कि नीचे से ऊपर तक सारी प्रकृति में एक अवश अवसाद की जड़िमा छाई हुई है ।'

इसके सभी मुख्य पात्र इस जड़िमा को तोड़ने और जीवन की सार्थकता को पाने में संलग्न हैं । फलस्वरूप उपन्यास अर्थ के कई स्तरों पर चलता है । इसमें व्यष्टि और समष्टि का अद्भुत समन्वय हो गया है । प्रत्येक पात्र का अपना निजी वैशिष्ट्य है जो समष्टि से संसिक्त होकर चमक उठता है ।

बाणभट्ट की जड़ता को भट्टिनी का सौन्दर्य और चेतना तोड़ते है । फिर भी वह मुक्त नहीं हो पाता । भट्टिनी के प्रति अपने एकान्त अनुराग भाव से वह मुक्त होना चाहता है । लेकिन वह अवश है । परंतु क्या यह अवशता ही उसे यथार्थ और रचना की भूमिका पर प्रतिष्ठित नहीं करती ? राजा हर्षवर्धन की प्रशस्ति करने पर वह मानसिक दृष्टि से आहत होता जाता है । यहाँ भी वह स्वतंत्र नहीं है ।

भट्टिनी, निपुणिका, महामाया और सुचरिता के अपने अलग-अलग व्यक्तित्व हैं । वे अपने-अपने ढंग से देश-समाज के वृहत्तर कार्यों में भी संलग्न हैं । इन चारों स्त्री पात्रों में लेखक की दृष्टि में भट्टिनी और सुचरिता को जीवन में सार्थकता

मिली । इसलिए कि दोनों के आराधक मिल गए जब कि निपुणिका और महामाया के आराधक नहीं मिले । पर इनकी सार्थकता भागवत धर्म की सार्थकता है । जीवन की ट्रेजिडी भी कम सार्थक नहीं होती—इस दृष्टि से और व्यापक सामाजिक औपन्यासिक दृष्टि से भी निपुणिका और महामाया अधिक सार्थक हैं । भागवत दृष्टि से सुचरिता का जो भी महत्त्व हो पर यथार्थ जीवन-दृष्टि में वह सबसे कम आधुनिक और अयथार्थ है ।

यह एक क्लासिकल रोमैंटिक उपन्यास है । अपने बंध, चित्रण, वर्णन शिल्प, शैली में यह क्लासिकल है और प्राणगत ऊष्मा में रोमैंटिक । ये दोनों तत्त्व एक दूसरे से मिलकर अविभाज्य टेक्श्चर बन जाते हैं । इस क्लासिकल विन्यास में अपेक्षित रोमैंटिक सूत्रों की कमी नहीं है और रोमैंटिक आवेग को क्लासिकल संयम बाँधे हुए है । क्लासिकल में एक ओर औदात्य होता है तो दूसरी ओर जड़ता । लेखक ने औदात्य तत्त्व को लेते हुए रोमांस के सन्निवेश द्वारा जड़त्व का परिहार कर दिया है । इसलिए बाणभट्ट की अलंकृत शैली में लिखा जाने पर भी यह गत्यात्मक हो गया है । गत्यात्मकता ही इसकी भाषा और वस्तु दोनों है ।

बाणभट्ट की आत्मकथा के पाठक को चारुचन्द्र लेख अनाकर्षक और फीका मालूम पड़ता है । इसके विन्यास का बिखराव मूलवर्ती दृष्टि का ही बिखराव है । लोक कथा के तत्त्वों को बाणभट्ट की आत्मकथा में भी लिया गया है । पर जहाँ उस उपन्यास में ये तत्त्व विश्वसनीय यथार्थ बनकर रचनात्मक हो जाते हैं वहाँ चारुचन्द्र लेख में ये कुतूहल, विस्मय, रोमांस और रहस्य की सृष्टि करते हैं । संरचना के स्तर पर उनका उपयोग नहीं हो पाता । बाणभट्ट की आत्मकथा की भाँति इसमें प्रतीक, बिंब, मिथक आदि का प्रयोग मिलता है । पर प्रथम में इनके द्वारा काव्यानुभूति की चेतना निबद्ध होती है तो दूसरे में ये उपकरण अलंकरण बनकर रह जाते हैं । चारुचन्द्र लेख क्रियात्मकता के अभाव में अनेकानेक घटनाओं, रोमांचक और रहस्यपूर्ण कथाओं के गड्डमड्ड के कारण उपन्यास न होकर निजंधरी कथा में परिणत हो जाता है ।

यशपाल की 'दिव्या' भी कल्पनाश्रित ऐतिहासिक उपन्यास है । लेखक एक विशेष दृष्टिकोण—मार्क्सवादी दृष्टिकोण—से इसे विन्यस्त करता है । फिर भी कलात्मक सावधानी के कारण वह कहीं अवरुद्ध नहीं दिखाई पड़ता । अभिजातीय मान्यताओं और अवरोधों के कारण दिव्या को अनेक प्रकार के संघर्ष झेलने पड़ते हैं । इन संघर्षों के दौरान वह धर्माडंबर, वर्ण-भेद, दास-प्रथा की यातनाओं आदि के मार्मिक दृश्य प्रस्तुत करता है ।

भगवतीचरण वर्मा के 'चित्रलेखा' और 'दिव्या' में उतना ही अन्तर है जितना भगवतीचरण और यशपाल में। वर्मा जी के पास जीवन-दृष्टि का अभाव है और यशपाल उससे विरहित होकर कुछ भी नहीं लिखते। इसलिए चित्रलेखा का फलक परिस्थितियों के चौखटे में बँध कर संकीर्ण और एकांगी हो गया है। चित्र-लेखा में जीवन की कोई राह नहीं है जब कि दिव्या में राह की खोज है। उसमें ऐसे चित्र हैं जिनके आधार पर नई राह बनाई जा सकती है।

धर्म, वर्ण, अर्थ, लिंग-भेद आदि के शिकंजे में हमारे समाज का अधिकांश भाग जकड़ा पड़ा है, इससे कौन इन्कार करेगा ? जब तक वर्ग-भेद की यह खाई नहीं पट जाती तब तक समाज का अधिकांश भाग स्वतंत्रता का अनुभव नहीं कर सकता। और न तो निर्वाणोन्मुख साधना ही हमें जीवन के किनारे पहुँचा पाती है। मारिश कहता है—"दु:ख की भ्रांति में जीवन का शाश्वत क्रम इसी भाँति चलता है। वैराग्य भीरु पुरुष की आत्म-प्रवंचना मात्र है, जीवन की प्रवृत्ति प्रबल और असंदिग्ध सत्य है।" जीवन की इस सहज प्रवृत्ति का प्रतिपादन इस उपन्यास का लक्ष्य है।

अन्य ऐतिहासिक उपन्यासों का रोमांस इसमें नहीं है। अपने विशिष्ट दृष्टिकोण के कारण यह एक हद तक रोमांस-विरोधी बन गया है। रोमांस विरोधी स्थितियों ने इसके विन्यास को यथार्थवादी और नाटकीय होने में मदद की है। 'अमिता' इनका दूसरा ऐतिहासिक उपन्यास है जिसमें बौद्धिकता और यथार्थ की यह ऊँचाई नहीं आ पाई है।

राहुल सांकृत्यायन और रांघेय राघव के ऐतिहासिक उपन्यासों में भी मार्क्सवादी जीवन-दृष्टि की स्थापना मिलती है। सिंह सेनापति, जय यौधेय, मधुर स्वप्न आदि राहुल जी के ऐतिहासिक उपन्यास हैं। पहले दोनों में क्रमशः लिच्छवि गण और यौधेय गण के संघर्ष चित्रित हैं। रांगेय राघव का प्रसिद्ध उप-न्यास 'मुर्दों का टीला' में मोहनजोदड़ो के गणतंत्र को ही लिया गया है। चतुरसेन शास्त्री की 'वैशाली की नगरवधू' भी गणतंत्र से ही संबद्ध है। राहुल के उपन्यासों पर मार्क्सवादी जीवनदर्शन का लदाव उनके ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य को बहुत कुछ धूमिल और असंगतिपूर्ण बना देता है। 'वैशाली की नगरवधू' पर आधुनिक जीवन को लादकर तत्कालीन इतिहास की प्रामाणिता को ही संदिग्ध बना दिया गया है। 'मुर्दों का टीला' में इतिहास और मार्क्सवादी जीवनदर्शन में उपर्युक्त असंगतियाँ नहीं मिलतीं।

उपन्यास : नई गतिविधियाँ

'५० के बाद के दशक को भ्रमवश आंचलिक उपन्यासों का दशक मान लिया जाता है और आंचलिक उपन्यासों को सद्य: स्वतंत्र भारत के उल्लास के साथ

जोड़कर ऐतिहासिक दृष्टि को सरलीकृत कर लिया जाता है। वस्तुतः इस समय के उपन्यासों को समग्रतः लिया जाय तो दिखाई देगा कि वे एक नए प्रकार के मुक्ति-आन्दोलन से जुड़े हुए हैं। यह मुक्ति-आन्दोलन वैयक्तिक और सामाजिक दोनों है, वैयक्तिक इसलिए कि वह पुराने नैतिक मूल्यों से मुक्त होकर खुले वातावरण में साँस लेना चाहता है, सामाजिक इसलिए कि अभी समाज को आर्थिक दृष्टि से स्वतंत्र होने में लंबी मंजिल तय करनी थी। देश-विभाजन के कारण जो नई समस्याएँ उत्पन्न हुईं उन्हें भी औपन्यासिक रूप दिया गया। जरूरी था कि पूर्ववर्ती पैटर्न के साथ-साथ नए रूपकारों की खोज की जाती।

अज्ञेय का 'नदी के द्वीप' सन् '५१ में प्रकाशित हुआ। इसे 'रोमैंटिक कास्ट' के व्यक्तिवादी उपन्यासों का चरम विकास समझना चाहिए। इस तरह के उपन्यासों की संभावनाएँ समाप्त हो गईं। इसी सन् ईस्वी में देवराज का 'पथ की खोज', एक दो वर्ष बाद नागार्जुन का 'बलचनमा', भारती का 'सूरज का सातवाँ घोड़ा,' रुद्र का 'बहती गंगा' प्रकाशित हुए। '५४ में रेणु का 'मैला आँचल' आया। इन सभी उपन्यासों में जूझते हुए व्यक्तियों और समाज की आस्थाएँ देखी जा सकती हैं। निश्चय ही ये आस्थाएँ स्वतंत्र देश के उल्लास और मनोबल से अनुप्रेरित हैं। प्रवृत्ति की दृष्टि से इस दशक के उपन्यासों को तीन प्रवृत्तियों में बाँटा जा सकता है---ग्रामांचल के उपन्यास, मनोवैज्ञानिक उपन्यास और प्रयोगशील उपन्यास।

ग्रामांचल के उपन्यास

इस श्रेणी में आने वाले उपन्यासों को आंचलिक कहकर उन्हें सीमित कर दिया जाता है। रेणु के 'मैला आँचल' के प्रकाशन के पूर्व नागार्जुन का 'बलचनमा' (१९५२) प्रकाशित हो चुका था। पर इसे आंचलिक नहीं कहा गया यद्यपि इसमें आंचलिकता का कम रंग नहीं है। प्रश्न हो सकता है कि प्रेमचन्द ने भी ग्राम-कथाएँ ली हैं। उन्हें भी आंचलिक क्यों न कहा जाय? प्रेमचन्द के उपन्यासों में गाँव के निवासियों की कथाएँ हैं। पर जिन उपन्यासों को ग्रामांचल के उपन्यास कहा जाता है उनमें गाँव की धरती, खेत-खलिहान, नदी-नाले, डबरे, पशु-पक्षी, हल-बैल, भाषा, गीत, त्योहार आदि को इनके बीच रहने वाले व्यक्तियों के साथ, समवेत रूप में वाणी दी जाती है। तात्पर्य यह कि उपन्यास के पात्रों के साथ उनका परिवेश भी बोलता है। रेणु के उपन्यासों में ग्रामांचल को जो प्रधानता दी गई है उसके आधार पर केवल उन्हीं के उपन्यासों को आंचलिक की संज्ञा दी जानी चाहिए।

नागार्जुन के उपन्यासों में दरभंगा-पूर्णिया जिले का राजनीतिक-सांस्कृतिक साक्षात्कार होता है, राजनीतिक ज्यादा, सांस्कृतिक कम। जहाँ तक विषय-

वस्तु के चुनाव का संबंध है वे प्रेमचन्द की परंपरा में पड़ते हैं। पर दृष्टि-विन्दु के हिसाब से वे यशपाल की परंपरा के व्यक्ति हैं। किंतु इन दोनों को समन्वित करना कठिन हो गया है। यशपाल कथा-वस्तु का चुनाव अपने दृष्टि-विन्दु के अनुरूप करते हैं, इसलिए उनकी औपन्यासिकता क्षरित नहीं होती। नागार्जुन का मार्क्सवादी दृष्टिकोण गाँव की थीम पर आरोपित प्रतीत होता है। कथानक स्वयं विकसित न होकर पूर्वनिर्धारित योजना के अनुसार चलता है। इसके फलस्वरूप उपन्यासों की सर्जनात्मकता शिथिल और अवरुद्ध हो जाती है। रतिनाथ की चाची, बलचनमा, नई पौध, बाबा बटेसर नाथ, दुखमोचन, वरुणा के बेटे आदि उनके प्रकाशित उपन्यास हैं।

फणीश्वरनाथ रेणु के उपन्यासों को ही आंचलिक की संज्ञा दी जा सकती है। स्वयं रेणु ने ही मैला आँचल को आंचलिक उपन्यास कहा है। मैला आँचल के प्रकाशन के बाद ही आंचलिक उपन्यासों की खोज शुरू हुई और ढेर के ढेर उपन्यासों को इस श्रेणी में डाल दिया गया। पर 'मैला आँचल' और 'परती परिकथा' की तरह किसी भी तथाकथित आंचलिक उपन्यास में ग्रामांचलों का इतना विशद और सवाक् चित्र देखने को नहीं मिलता।

इन दोनों उपन्यासों में ग्रामांचल की छोटी-छोटी घटनाओं, कथाओं, आचार-विचार, रीति-नीति, राजनीतिक-नैतिक अवधारणाओं, पारस्परिक संबंधों आदि के विश्लिष्ट चित्र मिलेंगे जो पूरे अंचल के संदर्भ में संश्लिष्ट और गत्यात्मक हो जाते हैं। इनमें कथा नायक मैला आँचल और परती है। दृश्यांकन द्वारा विभिन्न छवियाँ उकेर कर इन्हें टेप-शिल्प के माध्यम से सवाक् बना दिया गया है। आधुनिकतावादी उपकरणों के सन्निवेश से गाँव का वातावरण अपने आप बदलने लगता है। इस बदलाव में ही अवसरवादी कांग्रेसियों (स्वतंत्रता के बाद अधिकांश कांग्रेसी अवसरवादी हो चुके हैं) के नकाब को उतार कर युवा पीढ़ी के संघर्षों को जिस ढंग से चित्रित किया गया है वह रेणु की ऐतिहासिक धारा की पहचान का सूचक है। पर यह पहचान अपने रूपायन और परिणति में रोमैंटिक तथा आदर्शवादी है। रोमैंटिक और नास्टेलजिक होने के बावजूद रेणु ने आंचलिक उपन्यासों में एक विशिष्ट संपूर्णता दिखाई देती है जो आगे लिखे जाने वाले ग्रामांचलीय उपन्यासों के विकास में बाधक सिद्ध हुई।

उदयशंकर भट्ट का 'सागर, लहरें और मनुष्य' (१९५६) में बंबई के पश्चिमी तट पर बसे हुए बरसोवा गाँव के मछुओं की जीवन-कथा वर्णित है। बंबई नगर के संपर्क में आकर गाँव की एकांगिता में दरारें पड़ने लगती हैं और वह बदलाव की प्रक्रिया से गुजरने लगता है। यह बदलाव नवीन परिस्थितियों की अनिवार्यता है। उपन्यास की रत्ना गाँव की रूढ़ियों को तोड़कर पूँजीवादी यातना

में जा फँसती है । आधुनिकतावादी पूँजीवाद की मानवीय नियति यही है । गाँव की संस्कृति अपनी रूढ़ियों और स्वच्छन्दता में अत्यन्त आकर्षक ढंग से चित्रित की गई है । पर इसके माध्यम से यह भी संकेतित किया गया है कि बदलाव की पूँजीवादी परिणति कितनी घिनौनी होती है ।

रांगेय राघव का 'कब तक पुकारूँ' में जरायम पेशा वाले नटों की जिन्दगी को उजागर किया गया है । पर राघव की दृष्टि ऐतिहासिक है । इसलिए नट-जीवन तथा आधुनिक जीवन की असंगतियों को चित्रित करते हुए लेखक ने उज्ज्वल भविष्य का संकेत किया है कि शोषण की घुटन सदैव नहीं रहेगी । भैरवप्रसाद गुप्त का 'सत्ती मैया का चौरा' मार्क्सवादी दृष्टिकोण से लिखा गया ग्रामांचल का ही उपन्यास है ।

इन उपन्यासों की मुख्यतः दो विशेषताएँ हैं—परिवर्तमान गाँवों के प्रति आशावादी दृष्टिकोण तथा स्थानिक रंग । स्थानिक रंग, बोली-भाषा, रीति-नीति आदि के आधार पर उनका जो चित्र प्रस्तुत किया गया है वह न तो यथार्थ-वादी है न रोमैंटिक । उन्हें रोमैंटिक यथार्थ का उपन्यास कहना अधिक समीचीन है । इस कालावधि में परिवर्तमान गाँवों पर और भी उपन्यास लिखे गए पर उनमें स्थानिक रंग की बहुलता नहीं है । 'रथ के पहिए', 'धरती की आँखें', 'लहरें और कगार' आदि ऐसे ही उपन्यास हैं ।

सातवें दशक में भी ग्रामांचल को आधार बनाकर राही मासूम रजा, शिवप्रसाद सिंह, रामदरश मिश्र आदि ने उपन्यास लिखे । राही का 'आधा गाँव' और शिवप्रसाद सिंह की 'अलग-अलग वैतरणी' ऐसे ही उपन्यास हैं । किंतु इनके मूल स्वर ट्रेजिक हैं क्योंकि अब छठें दशक की सभी संभावनाएँ समाप्त हो चुकी थीं । फिर भी इनमें रूमानियत की कमी नहीं है ।

राही का 'आधा गाँव' शिया मुसलमानों की जिन्दगी पर लिखा गया पहला उपन्यास है । इसमें भारत-विभाजन के पहले और बाद की जिन्दगी को उभारा गया है । इसमें तनहाई और टूटन को एक विशिष्ट संदर्भ में जोड़ा गया है जिसे आधुनिकता-बोध के साथ नहीं जोड़ना चाहिए । पर राष्ट्रीय आकांक्षाओं के संदर्भ में यह तीखा दर्द उभारता है । शिवप्रसाद सिंह ने 'अलग-अलग वैतरणी' में आधुनिकता-बोध को सन्निविष्ट करने की कोशिश की है । इसमें उस परिवेश का चित्रण है जिसमें नए-पुराने मूल्यों, नई-पुरानी-पीढ़ी, भिन्न-भिन्न वर्गों और जातियों की टकराहट में सारे मूल्य गड्डमड्ड हो जाते हैं । प्रत्येक व्यक्ति अपनी-अपनी वैतरणी में घिरा हुआ है—'गा चह पार जतन बहु हेरा, पावत नाव न बोहित बेरा ।' वैतरणी का पार न करने का अर्थ है नरक । गाँव नरक हो गए हैं । यहाँ अलगाव और टूटन कई स्तरों पर घटित होते हैं—

वैयक्तिक, पारिवारिक, समूचे गाँव के स्तर पर। रामदरश मिश्र का 'जल टूटता हुआ' तथा 'सूखता हुआ तालाब' और हिमांशु श्रीवास्तव का 'रथ के पहिये' ग्रामांचलीय उपन्यास हैं। वस्तुतः ये सारे उपन्यास ग्रामांचल में आधुनिकता की खोज करते हुए गाँव के प्रति रोमानी रुख अख्तियार करते हैं। आधुनिक चेतना की खोज के लिए गाँव ग़लत जगह है।

श्रीलाल शुक्ल का 'राग दरबारी' परंपराभुक्त अर्थ में उपन्यास नहीं है। यद्यपि इसकी कथा ग्रामांचल से संबद्ध है फिर भी यह आंचलिक नहीं है। रिपोर्ताज शैली में लिखे गए इस उपन्यास में स्वतंत्र देश की नवीन व्यवस्थाओं का, जो नारों के रूप में ही जीवंत है, गहरा मखौल उड़ाया गया है। इसे ऐंटी-रोमैंटिक या ऐंटी-आधुनिकतावादी भी कहा जा सकता है। पुनरावृत्ति इसकी कमजोरी है। इसका व्यंग्य अच्छा मजाक तो है पर उससे गहरी व्यथा या आक्रोश नहीं उत्पन्न होता।

मनोवैज्ञानिक उपन्यास

छठे दशक में देवराज मुख्यतः मनोवैज्ञानिक उपन्यासकार की श्रेणी में आते हैं। धर्मवीर भारती का 'गुनाहों का देवता' मनोविज्ञान पर आधारित उपन्यास है, यद्यपि पाँचवें दशक में प्रकाशित हुआ। भारती और देवराज दोनों के उपन्यासों का वातावरण महाविद्यालयीय है। 'गुनाहों का देवता' अपनी कैशोर भावुकता तथा रुमानियत के कारण काफी लोकप्रिय हुआ।

'पथ की खोज', 'बाहर भीतर', 'रोड़े और पत्थर', 'अजय की डायरी' और 'मैं वे और आप' देवराज के उपन्यास हैं। इन सभी उपन्यासों की मूलवर्तिनी धारा है विवाह के बाहर का प्रेम। विवाह के बाहर का प्रेम अन्य उपन्यासों का भी वर्ण्य रहा है। पर देवराज ने इसे विकासमान जीवन की अनिवार्यता माना है। लोकाचार और आन्तरिकता की टकराहट सभी में है। पथ की खोज और बाहर भीतर में इस टकराहट का स्वरूप बहुत कुछ रोमानी ही है। अजय की डायरी में दार्शनिकता का आधार लेते हुए वह धर्म और नैतिकता को आन्तरिकता में अन्तर्भुक्त कर देता है। आन्तरिक आवश्यकताओं को पहचान कर उसके अनुकूल आचरण करना ही धर्म है, नैतिकता है। उसकी दृष्टि में मन को निर्लिप्त रखते हुए शरीर को दिया जा सकता है। मनुष्य स्वयं अपने व्यक्तित्व के भाग को वस्तु की तरह दूसरे के हवाले कर सकता है, कुछ देर के उपयोग के लिए। किंतु लेखक अजय की डायरी में महान् पुरुषों के विवेक (रीजन) और नारी के ममत्व (सेंटीमेंट) में कोई मेल स्थापित नहीं कर पाता।

सामाजिक चेतना के उपन्यास

मन्मथनाथ गुप्त, भैरवप्रसाद गुप्त, अमृतराय, लक्ष्मीनारायण लाल, राजेन्द्र यादव आदि नवीन सामाजिक चेतना के उपन्यासकार हैं। पहले तीन मार्क्स-

वादी दृष्टिकोण के प्रतिबद्ध लेखक हैं। इन्हें प्रेमचन्द यशपाल की परंपरा का उपन्यासकार भी कहा जा सकता है। भैरवप्रसाद गुप्त के मशाल, गंगा मैया, सत्ती मैया का चौरा, अमृतराय के बीज, नागफनी का देश, हाथी के दाँत संघर्ष और प्रगति के मिथक के सूचक हैं। लक्ष्मी नारायण लाल के धरती की आँखें, काले फूलों का पौधा, रूपा जीवा में उपरले स्तर की सामाजिक चेतना को उभारने की कोशिश है। पहला एकदम रोमानी है--अनेक विसंगतियों और घटनाओं से भरा हुआ। काले फूलों का पौधा चरित्र-चित्रण, संस्कृति-संघर्ष और नव्यतर तकनीक के कारण विशिष्ट बन पड़ा है।

प्रेत बोलते हैं (सारा आकाश), उखड़े हुए लोग और एक इंच मुस्कान राजेन्द्र यादव के उपन्यास हैं। 'एक इंच मुस्कान' यादव और मन्नू भंडारी का सहयोगी लेखन है। 'उखड़े हुए लोग' अच्छी तरह रचा हुआ उपन्यास है। आज की आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक व्यवस्था व्यक्ति के आदर्शवादी सपनों को नष्ट कर उसे समझौतावादी बनाने के लिए किस प्रकार बाध्य करती है, यही इसका मुख्य प्रतिपाद्य है। अवसरवादी कांग्रेसियों का प्रतिनिधित्व देशबन्धु ने खासे अच्छे ढंग से किया है। यदि कथा के साथ वैचारिकता का अन्तराल न होता तो उसकी औपन्यासिकता अधिक सार्थक प्रतीत होती। 'एक इंच मुस्कान' खंडित व्यक्तित्व वाले आधुनिक व्यक्तियों की प्रेम-ट्रेजिडी है। आत्म-निर्वासन से ग्रस्त अमर अमला दोनों प्रेम के छलावे में पड़कर निषेधात्मक मूल्यों तक ही पहुँचते हैं। आधुनिक जीवन की इस ट्रेजिडी को अंकित करने के कारण यह उपन्यास यादव के अन्य उपन्यासों की अपेक्षा कहीं अधिक समकालीन और महत्त्वपूर्ण है।

प्रयोगशील

कविता में नए प्रयोगों के साथ-साथ कहानी-उपन्यास आदि में भी नए प्रयोग हुए। जैनेन्द्र-अज्ञेय के प्रयोगों में कहानी, कथानक और चरित्र का पूरा खयाल रखा गया था। पर इस दौर में कहानी का तत्त्व क्षीण हो गया, कथानक का पुराना रूप विघटित होकर नया बन गया, तराशे हुए तथा अपने क्रिया-कलापों के प्रति सचेत पात्र नहीं रह गए। जिन्दगी पूरे तौर पर विश्लेषित न होकर चेतना प्रवाह, स्वप्न सृष्टि के साथ जुड़ गई। प्रतीक, टाइम-शिफ्ट आदि के द्वारा उपन्यासों में नए शिल्प के दर्शन हुए। प्रभाकर माचवे, धर्मवीर भारती, शिवप्रसाद मिश्र रुद्र, गिरधर गोपाल, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना के उपन्यास इसी श्रेणी के हैं।

इस संदर्भ में माचवे के परंतु, साँचा और द्वाभा का उल्लेख किया जा सकता है। इनमें न तो व्यवस्थित कथानक है और न चरित्र-निर्माण। लेखक चेतना प्रवाह प्रणाली से पुराने नैतिक मूल्यों पर प्रहार करते हुए नए मूल्यों की तलाश करता है।

परंतु और द्वाभा में यही है। साँचा में व्यक्ति के यंत्रीकरण के विरुद्ध आवाज उठाई गई है। शिल्पगत अनेक प्रयोगों के बावजूद वैचारिकता की प्रधानता ने इनकी औपन्यासिकता को ढँक लिया है।

भारती ने सूरज का सातवाँ घोड़ा में जो प्रयोग किया है वह सोद्देश्य है। व्यर्थ की बातों से बचते हुए छोटे फलक पर विस्तृत जीवनानुभूतियों को चित्रित करने की बाध्यता के कारण उसे यह ढंग अपनाना पड़ा। अलिफलैला और पंचतंत्र के ढंग पर लिखी गई सात अलग-अलग कहानियाँ किस्सागो माणिक मुल्ला के व्यक्तित्व से जुड़कर उपन्यास बन जाती हैं। प्रत्येक कहानी के बाद अनध्याय अध्याय में कहानी पर बहस होती है। किंतु यह बहस इस ढाँचे के अनिवार्य अंग के रूप में ही गृहीत हुई है। उपन्यास की प्रेमकहानियाँ आर्थिक सामाजिक पृष्ठभूमि में रखी गई हैं। निम्न मध्यवर्ग की सड़ी मर्यादाओं की बलिवेदी पर सभी को चढ़ना पड़ता है। बीच-बीच में आए हुए व्यंग्य उपन्यास की धारा को और तेज कर देते हैं। पर सपने भेजनेवाले सूरज के सातवें घोड़े से उपन्यास की यथार्थता क्षतिग्रस्त हो जाती है।

रुद्र की बहती गंगा में काशी के दो सौ वर्षों के अविच्छिन्न जीवन-प्रवाह को सत्तरह तरंगों में आकलित किया गया है अर्थात् इसमें कुल सत्तरह कहानियाँ हैं अपने में पूर्ण, स्वतंत्र, फिर भी धारा तरंग न्याय से वे एक दूसरे से संबद्ध भी हैं। इनका नायक काशी है जिसमें राजा बलवन्त सिंह, नागर भंगड़ गुंडे, कलावन्त गाड़ीवान, गंगा पानवाली आदि अनेक तबके के पात्र हैं। पर सब अलग-अलग होते हुए भी अपनी मस्ती, बेफिक्री, लापरवाही, पुरानेपन आदि में एक हैं। और यही है काशी। काशी की मस्ती को बिंबित करने वाली जीवंत बोली-बानी में दो सौ वर्षों का गत्यात्मक इतिहास साकार हो उठा है।

गिरिधर गोपाल के 'चाँदनी रात के खंडहर' में २४ घंटे की जिन्दगी विश्लेषित की गई है। इसमें पाँच वर्षों के बाद लंदन से शिक्षा ग्रहण करके लौटे हुए नायक के मध्यवर्गीय परिवार की खोखली आर्थिक स्थिति का मार्मिक चित्र खींचा गया है जिसके लिए नायक वसन्त खुद जिम्मेदार है। चौबीस घंटे की कालावधि के कारण चुनी हुई परिस्थितियों, घटनाओं, मनोदशाओं पर तीव्र प्रकाश डालकर उसे प्रभावशाली बनाने में सुविधा हुई है।

सर्वेश्वरदयाल सक्सेना के 'सोया हुआ जल' में एक यात्री-शाला में ठहरे हुए यात्रियों की एक रात की जिन्दगी का वर्णन है। इसमें अन्तश्चेतना की भूख, प्यास, आकुलता, अतृप्ति का चित्रण है जो व्यक्ति मानस की अशान्ति, क्षोभ के कारण हैं। चेतना-प्रवाह शैली और सिनेरियो टेकनीक में लिखा गया यह प्रतीकात्मक उपन्यास है। शैली चमत्कार के कारण ही इसका महत्त्व है,

कथ्य अथवा मूल्यों के कारण नहीं । नरेश मेहता का 'डूबते मस्तूल' अनेक प्रकार की विसंगतियों से भरा हुआ प्रयोगशील उपन्यास है ।

आधुनिकता और नए उपन्यास

उद्योगीकरण, महानगरीय सभ्यता, बदले हुए मानसिक परिवेश और भ्रष्ट व्यवस्था के कारण व्यक्ति यांत्रिक, अजनबी, मिसफिट, अकेला या विद्रोही हो गया । इसकी अभिव्यक्ति मुख्यतः साठोत्तरी साहित्य में होती है । कविता-कहानी में इसका तेवर अधिक तेजस्वितापूर्ण दिखाई देता है और उपन्यास-नाटक में कम । इस दशक के उपन्यासों को तीन श्रेणियों में बाँटा जा सकता है : १—यौन विच्युतियों में पनाह खोजने वाले उपन्यास, २—दी हुई मानवीय स्थितियों में मिसफिट व्यक्तियों को चित्रित करने वाले उपन्यास और ३—व्यवस्था की घुटन को अपनी नियति मानने या उसके विरुद्ध युद्ध करने वाले उपन्यास ।

मोहन राकेश के 'अँधेरे बन्द कमरे', 'न आने वाला कल' और 'अन्तराल', निर्मल वर्मा का 'वे दिन', महेन्द्र भल्ला का 'एक पति के नोट्स', राजकमल चौधरी के 'मछली मरी हुई' और 'शहर था शहर नहीं था', श्रीकान्त वर्मा का 'दूसरी बार', ममता कालिया का 'बेघर', गिरिराज किशोर का 'यात्राएँ', मणि-मधुकर का 'सफेद मेमने', कृष्णा सोबती का 'सूरजमुखी अँधेरे के' आदि पहली श्रेणी में आते हैं ।

इन उपन्यासों के प्रायः सभी नायक मानसिक दृष्टि से अनिर्णयात्मक, आत्म-निर्वासित और नपुंसक हैं । वे मुक्त होने की प्रक्रिया में ऐसी उलझन में फँस जाते हैं जहाँ से उन्हें निष्कृति नहीं मिलती । 'अँधेरे बंद कमरे' के हरबंश-नीलिमा एक दूसरे से कटकर भी न कटने के लिए अभिशप्त हैं । राकेश की कहानियों, नाटकों और उपन्यासों को अभिशाप की यह छाया इतनी बुरी तरह घेरे हुए है कि वे कहीं भी अलग नहीं हो पाते । वह इससे इतना अधिक संसिक्त है कि विभिन्न साहित्य रूपों और परिस्थितियों में वह एक ही समस्या से जूझता रहता है और यह उसके व्यक्तिगत मोक्ष की समस्या बन जाती है । इसे वह देह की गरमाई, लाबो-हीम, कस्बापुरा की निम्मा में डुबो देना चाहता है पर खुद डूब जाता है । 'न आने वाला कल' में भी वह मुक्ति का या छुटकारा पाने का ही प्रयास करता है । इसके लिए निषेध-अस्वीकार का विकल्प खोजता है । अस्वीकार की परिणति ठंडे ठहराव पर छोड़ देती है ।

'वे दिन' 'जीने के नंगे बनैले आतंक से जुड़ा (है) जिसे कोई दूसरा व्यक्ति निचोड़कर बहा नहीं सकता' । पश्चिम के युद्ध-जन्य अर्थहीन संदर्भ में छोटे-से सुख की तलाश का नाम 'वे दिन' है । यह छोटा सुख यौन भोग है । 'एक पति के नोट्स' निरर्थकता बोध की अन्तर्यात्रा का उपन्यास है । दूसरी स्त्री से शारी-

रिक संबंध मात्र उसे 'होने' का बोध देता है। पर इससे वह एक निरर्थकता से दूसरी निरर्थकता तक पहुँचता है। इसके बाद वह पुनः घर की ओर लौटता है लेकिन उसे पूर्णतः ठीक नहीं मानता। इस स्थिति में पहुँचकर वह स्वस्थ हो जाता है। किन्तु यह स्वास्थ्य-लाभ कृत्रिम तथा कोरा अवधारणात्मक होकर अविश्वसनीय लगने लगता है। राजकमल चौधरी के दोनों उपन्यास यौन-बोध और देह की राजनीति में सार्थकता देखते हैं। 'दूसरी बार' का नायक स्पष्टतः निर्वीर्य और नपुंसक है। स्त्री के नग्न सौन्दर्य को देखने की मुग्ध अभिरुचि नपुंसक पात्रों में ही होती है। हीनता की ग्रंथि से बँधा हुआ 'मैं' नए इलाचन्द्र जोशी की याद दिलाता है। विन्दो न उसकी पत्नी बन पाती है और न वह विन्दो का पति। नायक को मिचली आने लगती है। सारा उपन्यास अस्तित्ववादी उपन्यासों के बद्ध ढाँचे पर निर्मित होता है—बँधे हुए फार्मूले, बँधे हुए नुस्खे।

'बेघर' का संभोगवाद दूसरी तरह का है। इसे एक रूढ़ि से जोड़कर अकेलेपन की सृष्टि की गई है। प्रश्न उठता है कि क्या संभोगवादी स्थिति को रूढ़ियों से न जोड़ने पर नायक अकेलेपन से मुक्त हो जाता ? 'यात्राएँ' में पुंसत्वहीनता, परिचय में अपरिचय, लगाव में अलगाव का चित्रण है। 'सफेद मेमने' के रेगीस्तानी माहौल के अकेलेपन को तोड़ने का तरीका अन्य उपन्यासों से भिन्न नहीं है। 'सूरजमुखी अँधेरे के' तो संभोग की खुली गाथा है।

इन उपन्यासों में आधुनिकता का जो चित्र प्रस्तुत किया गया है उसमें स्त्री-शरीर 'नशे' या 'ड्रग' का काम करता है। राकेश को छोड़कर शेष उपन्यासों में प्रामाणिकता की भी कमी है। मेलर के उपन्यासों का साहस, रति-कार्य का शुद्धतावादी विस्तृत वर्णन भी इनमें नहीं है। हाँ, उसका नंगापन जरूर है। इस साहसिकता में पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियाँ आगे हैं।

दूसरी श्रेणी के उपन्यासों में उषा प्रियंवदा का 'रुकोगी नहीं, राधिका' और मन्नू भंडारी के 'उसका बंटी' की गणना की जायगी। राधिका दो संस्कृतियों के पाट में पिस कर अनिर्णय और अकेलेपन को झेलती है। वह न विदेशी संस्कृति में फिट हो पाती है न देशी संस्कृति में। 'उसका बंटी' में बंटी माँ-बाप दोनों से कट कर मिसफिट हो जाता है। इन दोनों उपन्यासों की आधार-भूमियाँ ठोस तथा इनकी जिन्दगियाँ प्रामाणिक हैं।

नरेश मेहता का 'वह पथ बंधु था', गोविन्द मिश्र का 'वह अपना चेहरा', बदीउज्जमा का 'एक चूहे की मौत', काशीनाथ सिंह का 'अपना मोर्चा', नरेन्द्र कोहिली का 'आश्रितों का विद्रोह' आदि अंतिम श्रेणी के उपन्यासों में आते हैं। 'वह पथ बंधु था' में मूल्यों के प्रति निष्ठावान व्यक्तियों का इस युग में टूट जाना उनकी नियति है। 'वह अपना चेहरा' में दफ्तरी जीवन के माहौल को उजागर

किया गया है । 'एक चूहे की मौत' एक फंतासीय उपन्यास है जो अपनी फंतासी में सबसे अलग है । इसमें उस व्यवस्था पर व्यंग्य है जिसमें हर व्यक्ति चूहा बनने और मरने के लिए विवश है । 'अपना मोर्चा' में पहली बार युवा विद्रोह को औपन्यासिक रूप दिया गया है । 'आश्रितों का विद्रोह' में भ्रष्ट राजनीति और ठंडी जनता का व्यंग्यात्मक निरोध किया गया है । इन उपन्यासों से आगे का मार्ग प्रशस्त हो सकता है ।

इनके अतिरिक्त लक्ष्मीकांत वर्मा ने कई प्रयोगशील और प्रतिबद्ध उपन्यास लिखे । बोलशौरि रेड्डी, शिवानी, कृष्ण बलदेव बैद, रमेश बक्षी आदि का लेखन-काल भी यही है ।

कहानियाँ

कविता और कहानी छायावादोत्तर काल की केन्द्रीय विधाएँ रही हैं । इन दोनों को लेकर बहुत से साहित्यिक आन्दोलन हुए । इनके संबंध में बहुत सी बहसें, गोष्ठियाँ हुईं और पत्र-पत्रिकाओं के विशेषांक निकले । इसका मुख्य कारण यह है कि इन दोनों ने समकालीनता को गहरे अर्थ में रेखांकित करने का प्रयास किया, जीवन की जटिलताओं को उनकी समग्रता में आँकने की कोशिश की । नई कविता के वजन पर कहानी को भी नई कहानी कहा जाने लगा । नई कहानी से अलग सचेतन कहानी और अ-कहानी का आन्दोलन भी चलाया गया ।

इस दौर के आरंभ में दो प्रकार की प्रवृत्तियाँ दिखाई पड़ती हैं—प्रगतिवादी और व्यक्तिवादी । इसी समय एक प्रवृत्ति और भी उभरी आधुनिकता-बोध की प्रवृत्ति । इसके पुरस्कर्ता भुवनेश्वर थे । सूर्य पूजा, भेड़िये कहानी को प्रमाण में पेश किया जा सकता है ।

'३६ में प्रगतिशील लेखक संघ ने साहित्य को निश्चयवादी तथा उद्देश्यपूर्ण दिशा की ओर मोड़ा । प्रेमचन्द के साहित्य में प्रगतिवाद कभी हावी नहीं हुआ किंतु सामाजिकता और प्रगतिशीलता से उसका गहरा लगाव था । जैनेन्द्र व्यक्ति को केन्द्र में मानकर उसके मानस की छानबीन की ओर अग्रसर हो चुके थे । प्रेमचन्द की सामाजिकता का विकास यशपाल में हुआ तो जैनेन्द्र की वैयक्तिकता का अज्ञेय-इलाचन्द्र जोशी में । सन् '५० तक कहानी की यही स्थिति रही ।

'५० के बाद क्रमशः वैयक्तिकता का दबाव बढ़ता गया । कुछ देर के लिए स्वतंत्रता प्राप्ति का उल्लास आंचलिक कहानियों में अभिव्यक्त हुआ । पर वह कहानी की विकास-यात्रा का अस्थायी पक्ष था । स्वतंत्रता से प्राप्त होनेवाले सुख के प्रति रोमानी मोह टूट गया । व्यक्ति एक तरह के कटाव या अलगाव के कठघरे में खड़ा हो गया । छठें दशक में जो तनाव या अलगाव आया वह मूल्यों से पूर्णतः विच्छिन्न नहीं हुआ था । किंतु '६२ में चीन-भारत युद्ध के समय रोमैं-

टिक सरकार ने हमें अंतिम रूप से मोहमुक्त कर दिया। मार्क्स और फ्रायड के प्रभावों से आगे बढ़कर अस्तित्ववादी दर्शन ने मनुष्य के बुनियादी सवालों की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया। इस दर्शन के कारण हम नए यथार्थ को पहचानने की कोशिश करने लगे। आधुनिकता का जो दृष्टिकोण छठें दशक में उत्पन्न हुआ था वह सातवें दशक में और भी विकसित हुआ। मूल्यच्युत परिवेश में संत्रास, अलगाव, बेगानेपन, ऊब से संबद्ध कहानियाँ लिखी गईं।

जैसा पहले कहा जा चुका है प्रारंभ में प्रगतिवादी विचारधारा प्रमुख होकर आई। यशपाल इस धारा के प्रतिनिधि लेखक हैं। यशपाल मूलतः मार्क्सवादी विचारधारा के कथाकार हैं। वे राष्ट्रीय संग्राम के एक क्रांतिकारी कार्यकर्ता भी रह चुके हैं। ये साहित्य को साधन समझते हैं, साध्य नहीं। मार्क्सवाद सांस्कृतिक-नैतिक विषमताओं के मूल में धन की विषमता मानता है। यशपाल ने धन की इस विषमता पर प्रहार तथा भौतिकवादी नैतिक मूल्यों का समर्थन किया है। मार्क्स के साथ-साथ फ्रायड का भी इन पर गहरा प्रभाव है। फलतः यौन-चेतना के खुले चित्र भी इनकी कहानियों में मिलते हैं। अब तक इनके सोलह कहानी-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं—पिंजड़े की उड़ान, वो दुनिया, ज्ञानदान, अभिशप्त, तर्क का तूफान, भस्मावृत चिनगारी, फूलों का कुर्ता, उत्तमी की माँ, सच बोलने की भूल, तुमने क्यों कहा कि मैं सुन्दर हूँ आदि।

यशपाल कहानियों को दृष्टान्त के रूप में ग्रहण करते हैं। इसलिए इनकी कहानियाँ बहुत कुछ पूर्व नियोजित (कांट्राइव्ड) होती हैं। इस नियोजन का मुख्य आधार विचार और कल्पना है। प्रेमचन्द की रचना-प्रक्रिया से यशपाल की रचना-प्रक्रिया मिलती-जुलती है। दोनों के मन में पहले कोई विचार उठता है। फिर पात्र, स्थितियाँ, घटनाएँ आदि को अन्वेषित कर लिया जाता है। पर यशपाल को कहानी कहने की कला खूब मालूम है। कथा का रस उनमें सर्वत्र मिलता है।

वर्ग-संघर्ष, मनोविश्लेषण और पैना व्यंग्य उनकी कहानियों की विशेषताएँ हैं। वर्ग-संघर्ष और मनोविश्लेषण कहानियों का रचनात्मक पक्ष है और व्यंग्य प्रतीयमान अर्थ। किसी सामाजिक अथवा नैतिक रूढ़ि पर प्रहार करते हुए वे पाठकों के रूढ़ संस्कारों पर गहरा आघात करते हैं। 'शाक ट्रीटमेंट' का यह तरीका प्रायः उनकी प्रत्येक कहानी में मिलेगा।

अज्ञेय मुख्यतः व्यक्ति का आत्मसंघर्ष तथा व्यक्ति और परिवेश का संघर्ष चित्रित करते हैं। यशपाल समाज की विकृतियों के मूल में अर्थ का असामंजस्य तथा वर्गीय दिखावे (हिपोक्रेसी) को मानते हैं। अज्ञेय व्यक्ति को अपने नैतिक संघर्ष और दायित्व को मनुष्य की मुख्य समस्या मानते हैं। यह संघर्ष कभी

आत्मिक होता है और कभी परिवेश-जन्य । आत्मिक संघर्ष में वे प्राय: मनुष्य के बुनियादी सवालों से टकराते हैं । परिवेश-जन्य संघर्ष में वे या तो मानवीय नियति को सामने ले आते हैं या उसकी क्रियात्मकता को ।

अज्ञेय एक सजग कलाकार हैं । उन्होंने शरणार्थी की भूमिका में लिखा है— 'मेरा आग्रह रहा है कि लेखक अपना अनुभूत ही लिखे, जो अनुभूत नहीं है, कोरी सैद्धांतिक प्रेरणा के वशीभूत होकर लिखना ऋण शोध हो सकता है साहित्यिक नहीं । कलाकार निरा व्यक्ति नहीं सामाजिक भी है—व्यक्ति और समाज के प्रति उत्तरदायित्व के अतिरिक्त कलाकार का कला के प्रति भी उत्तरदायित्व होता है । किसी एक दायित्व को लेकर शेष कर्त्तव्यों की उपेक्षा करना पथभ्रांत होना ही है ।' वस्तुत: कला के प्रति कलाकार का पहला दायित्व है अन्यथा शेष दायित्वों का कोई मतलब नहीं होता । कहना न होगा कि अज्ञेय ने इस दायित्व को बहुत दूर तक निबाहने की कोशिश की है । जैनेन्द्र भी अपनी कहानियों की भाषा को रचनात्मक बनाते हैं पर एक रोमानी भावुकता के कारण उसमें अभिजातीय संघटना और वर्चस्व नहीं दिखाई पड़ता । अज्ञेय की प्रारंभिक कहानियों में स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति उभरी हुई प्रतीत होती है किंतु गैंग्रीन, पठार का धीरज आदि कहानियाँ रोमांस से मुक्त नए यथार्थ पर आधारित हैं । शरणार्थी में लेखक का सामाजिक ही प्रस्तुत होता है, व्यक्ति और कला के प्रति उपेक्षा हो जाने के कारण इसकी कहानियाँ ओढ़े हुए यथार्थ को ही आँक पाती हैं । 'जयदोल' की कहानियाँ रचनात्मक कला प्रौढ़ता की सूचक हैं । अज्ञेय की भाषा में परिवेश निर्माण की अद्‌भुत क्षमता है । बिंबों, प्रतीकों और नाटकीय स्थितियों के चित्रण द्वारा वे कहानियों को अर्थ के विभिन्न स्तर देते हैं । विपथगा, परंपरा, कोठरी की बात, शरणार्थी, जयदोल, अमर बल्लरी, ये तेरे प्रतिरूप इनके कहानी संग्रह हैं ।

इलाचन्द्र जोशी मनोवैज्ञानिक केस हिस्ट्री को कहानियों में पिरोते हैं । इस दृष्टि से वे अकेले कहानीकार हैं । पर उनकी कहानियों में किताबी सूरतें दिखाई पड़ती हैं, किताबी स्थितियाँ और ग्रंथियाँ परिलक्षित होती हैं । इसीलिए उनकी कहानियाँ नीरस, असंवेदनीय और अपठनीय हो जाती हैं । रोमैंटिक छाया, खंडहर की आत्माएँ, डायरी के नीरस पृष्ठ, आहुति तथा होली और दिवाली कहानी संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं ।

अश्क ने संख्या में काफी कहानियाँ लिखी हैं । यद्यपि वे '३६ के पहले से ही लिखते चले आ रहे हैं फिर भी '३६ के बाद से ही वे कहानी लेखक के रूप में प्रतिष्ठित हुए । उनकी कहानियों में विविधता के दर्शन होते हैं—यह वैविध्य विषय-वस्तु और शिल्प दोनों में है । पर इस वैविध्य में उनकी अपनी शक्ति

रम नहीं पाई है। मनोविश्लेषण, प्रतीक, सेक्स आदि के आधार पर लिखी गई कहानियों में फार्मूला-बद्धता ही दिखाई देती है। इस तरह की कहानियों में जो गहन मनोवैज्ञानिक पकड़ अपेक्षित होती है वह अश्क में नहीं है। कहानी के लंबे रचनाकाल में वे काफी भाग-दौड़ करते रहे हैं। इसलिए कभी इस धारा के साथ लगे रहे और कभी उस धारा के साथ। अगर अश्क ने अपनी खुद की धारा बनाने की चेष्टा की होती जैसा प्रेमचन्द, जैनेन्द्र, अज्ञेय ने किया तो वे डाची, कांगड़ा का तेली जैसी स्वस्थ सामाजिक कहानियाँ लिख सकते थे। पर अपनी क्रियात्मक सामाजिक दृष्टि के कारण उन्हें सामान्यतः कलात्मक परिपक्वता मिली है।

विष्णु प्रभाकर, कमल जोशी, निर्गुण, भैरव प्रसाद गुप्त, अमृतराय आदि अपेक्षाकृत नई पीढ़ी के कहानीकार हैं। विष्णु नए बनने के प्रयास में भी पुराने संस्कारों को छोड़ नहीं पाते। फिर भी धरती अब भी घूम रही है संग्रह की यह कहानी नए बोध के निकट है। कमल जोशी की 'शीराजी', 'पत्थर की आँख' अपने समय में काफी चर्चित हुई थीं। पर इधर नई कहानी लिखने के प्रयास में उन्हें असफलता ही मिली है। निर्गुण अपनी कहानियों में लिजलिजी भावुकता का चित्र उरेहते रहते हैं। भैरव प्रसाद गुप्त और अमृत की कहानियाँ मार्क्सवादी नुस्खों से बनाई गई हैं। चन्द्रकिरण सौनरिक्सा ने इस तरह की कुछ अच्छी कहानियाँ लिखी हैं। राधाकृष्ण की कुछ कहानियाँ थीम के अछूतेपन और पैने व्यंग्य के कारण स्मरण की जायँगी। रामलीला इसी तरह की कहानी है। उन पर वनफूल का विशेष प्रभाव मालूम पड़ता है।

परंपरा का नया मोड़ : रोमैंटिक यथार्थ

छठें दशक में यानी '५० से '६० तक की कहानियों में दो विरोधी स्वर सुनाई पड़ते हैं—मूल्यवादी और विघटित मूल्यों के परिवेश में चीख, त्रास या बदले हुए रिश्तों के स्वर। किन्तु मुख्यता पहले ही स्वर की है। दूसरा स्वर नए बदलाव की सूचना देता है। वह सातवें दशक की अपनी विशेषता है।

'४७ में देश विदेशी गुलामी से मुक्त हो चुका था। लंबे अरसे के संघर्ष के बाद मुक्त देश का जो नक्शा दिखाई पड़ा वह नवीन आकांक्षाओं से जुड़ा हुआ था। हिंदी कहानियों में इस नए उल्लास की अभिव्यक्ति हुई। नए मूल्य वाले चरित्रों की सृष्टि की जाने लगी। इनके मूल्यों का महत्त्व इसीलिए है कि ये किसी-न-किसी संघर्ष से संपृक्त हैं। इसे प्रेमचन्द की परंपरा का नया मोड़ माना जा सकता है। फर्क यह है कि प्रेमचन्द मूलतः आदर्शवादी थे यद्यपि अपने परवर्ती काल में वे पूर्णतः यथार्थवादी हो चुके थे। आदर्श बराबर आरोपित होगा और मूल्य संघर्ष-जनित। जैनेन्द्र-अज्ञेय का प्रभाव भी अस्वीकारा नहीं जा सकता।

उनमें मनोविश्लेषण और अवसाद की मुख्यता, है पर इस दौर की कहानियाँ अपने आत्म-संघर्ष और नाटकीय तनाव के कारण अलग हो जाती हैं।

यों इस दशक में ग्रामांचल की कहानियों ने ही पहले ध्यान आकृष्ट किया। इसके साथ-साथ ही कस्बे और नगर की कहानियाँ भी लिखी गईं। एक पर दूसरे की प्रतिक्रिया मानना उचित नहीं है और न कहानियों को इस तरह के खानों में बाँटा जाना चाहिए। फिर भी जिन अंचलों से कहानी की विषय-वस्तु ली जाती है उसका प्रभाव कहानी के रूपायन (फार्मेशन) पर पड़ता ही है। इसलिए विषय वस्तु के चुनाव को कम अहमियत नहीं दी जा सकती। कुछ कवियों ने भी लगे हाथ कहानियाँ लिखीं जिनमें कुछ अच्छी बन पड़ी हैं। '६० के आसपास कुछ ऐसे कहानीकार दिखाई पड़ते हैं जो नया बोध—आधुनिकता बोध—को लेकर कहानी के क्षेत्र में प्रविष्ट हुए। इस दशक की कहानियों को लेकर बहसें और आन्दोलन भी कम नहीं हुए। '५५ में 'कहानी' पत्रिका के प्रकाशन ने इसे आगे बढ़ाने में महत्त्वपूर्ण योग दिया। '५६-५७ में नई कविता के वजन पर इसे नई कहानी का नाम भी दे दिया गया।

ग्रामांचल के कहानीकारों में शिवप्रसाद सिंह, मार्कण्डेय और फणीश्वरनाथ रेणु के नाम आते हैं। इन कहानियों में गाँव की मिट्टी की सोंधी महक और गाँव के लोगों का जो जीवट देखने को मिला वह जैनेन्द्र-अज्ञेय-अश्क परंपरा की कहानियों से भिन्न था। इनके पहले गाँव अपने परिपार्श्व की पूर्णता में चित्रित नहीं हो पाये थे। किंतु इन लेखकों ने गाँव के जो चित्र या चरित्र प्रस्तुत किए वे मूलत: रोमैंटिक थे। ये लेखक स्वयं गाँव से शहर आ गए थे। इसलिए छूटे गाँव की यादों का रूमानियत से भर उठना स्वाभाविक था।

शिवप्रसाद सिंह और मार्कण्डेय की प्रारंभिक कहानियाँ कुछेक को छोड़कर अतीतोन्मुख हैं। दादा, दादी, बाबा, भाई आदि के माध्यम से जिन ध्वंसो-न्मुख मूल्यों को प्रतिष्ठित किया गया है वे रोमैंटिक हैं। गाँव तथा इनके पूर्वजों के मूल्यगत प्रतिमान इन्हें मोहग्रस्त बना देते हैं। जाहिर है यथार्थ इनका भोगा हुआ नहीं है केवल देखा या सुना हुआ है।

शिवप्रसाद सिंह जहाँ अतीतोन्मुख नहीं हैं वहाँ उनकी कहानियाँ अधिक यथार्थपरक हैं। वे प्राय: परिवार के भीतर पैठकर अन्तर्वैयक्तिक संबंधों को विश्लेषित करते हैं। वे बीच की दीवार तोड़ने के लिए बराबर प्रयत्नशील हैं। इस दीवार के कारण संबंधगत जटिलताओं के प्रति उन्हें अधिक सतर्क रहना पड़ा है। 'वशीकरण', 'शाखामृग' में तो यह दीवार टूट जाती है। पर दीवार का टूटना ही इन कहानियों को अयथार्थ बना देता है। पर 'खैरा पीपल कभी न डोले'

में वह टूट-टूट कर बनती रहती है । टूट-टूट कर फिर बनने की तात्कालिकता इस कहानी को अन्य कहानियों से अलग और विशिष्ट बनाती है ।

अपने दायरे के भीतर जहाँ वे संघर्ष को उभार पाए हैं अथवा मानवीय जीवन के कुछ अछूते घावों को छू सके हैं वहाँ कहानियों ने उनकी संवेदना का पूरा साथ दिया । 'कर्मनाशा की हार' का संघर्ष एक विश्वसनीय यथार्थ है और इससे उभरता हुआ मूल्य आज के विघटित जीवन के लिए भी अर्थवान् है । 'विन्दा महाराज' एक अछूती थीम पर लिखी गई कहानी है । इसका महत्त्व इस बात में है कि मानवीय सृष्टि में इन जीवों का स्थान कहाँ है ? ये समष्टि जीवन मूल्यों के ही कथाकार है, किसी राजनीतिक मतवाद से प्रतिबद्ध न होते हुए भी प्रतिबद्ध हैं । 'आरपार की माला', 'मुर्दासराय', 'इन्हें भी इन्तजार है' आदि इनके कहानी संग्रह हैं ।

मार्कण्डेय ग्रामांचल की कथाओं को लेकर हिंदी-कहानी के क्षेत्र में अवतरित हुए । शुरू में जैसा संकेतित किया जा चुका है इनकी दृष्टि में भी अतीतोन्मुखता ही दिखाई पड़ी । 'गुलरा के बाबा' और 'हंसा जाई अकेला' में अतीत के प्रति एक रूमानी दृष्टिकोण अख्तियार किया गया है । बाद में इन्होंने गाँव में उगते हुए वर्ग-संघर्ष को पहचानने और चित्रित करने की कोशिश की । 'कल्यानमल' इसी तरह की कहानी है । 'भूदान' जैसी कहानी में सुधारों पर व्यंग्य किया गया है । बाद में शहरी जीवन से संबद्ध कहानियाँ भी मार्कण्डेय ने लिखीं पर ऐसा लगता है कि शहरी विषय-वस्तु इनके घेरे के बाहर है । 'महुए का पेड़', 'हंसा जाई अकेला', 'भूदान', 'माही' आदि इनके कहानी-संग्रह हैं ।

रोमैंटिक यथार्थ का सर्वाधिक चटकीला, समग्र और आत्मीयतापूर्ण रंग रेणु की कहानियों में मिलता है । वे आदिम रसगंधों के कथाकार हैं । गाँव की धूल-माटी, आँगन की धूप, बैलों की घंटियाँ, धान की झुकी हुई बालियाँ, गमकता चावल, गवने की साड़ी की कड़वा तेल और लठवा सिंदूर मिश्रित गंध, मेला-ठेला, झमकता गीत, हँसी-ठिठोली, गुदगुदाती पीठ, खुशबूदार मुस्कान में गाँव ही नहीं पूरा अंचल उभर आता है । इस दृष्टि से 'लाल पान की बेगम' और 'तीसरी कसम' विशेष रूप से द्रष्टव्य है । रेणु की कहानियों में गहरी रूमानियत पर गहरी संवेदना है । अपनी संवेदनाओं के कारण ये श्रेष्ठ कहानियों में परिगणित होती हैं ।

ग्रामांचल से हटकर भी परंपरा के इसी मोड़ पर रांगेय राघव, भीष्म साहनी, शेखर जोशी, अमरकांत, श्रीमती विजय चौहान, शैलेश मटियानी, मधुकर गंगाधर, शानी वगैरह वगैरह आते हैं । इन्होंने प्रेमचन्द की परंपरा को आगे बढ़ाया है । शेखर जोशी की 'कोसी का घटवार' रोमानी स्पर्श से रिक्त न होते

हुए भी अधिक यथार्थ है। अमरकांत की 'जिन्दगी और जोंक' आधुनिकता बोध के जीवंत आयाम को छूती है, रांगेय राघव की 'गदल' अपने संघर्षशील मूल्यों के कारण श्लाघ्य होते हुए भी अति नाटकीय हो गई है।

युगीन संक्रमण और तनावों की स्थितियाँ

एक ही काल में एक ओर पुराने मूल्यों के प्रति रोमानी दृष्टि की अभिव्यक्ति की जा रही थी तो दूसरी ओर युगीन संक्रमण के अधिकाधिक दबाव की अनुभूति हो रही थी। दबावों के फलस्वरूप तनाव, मूल्यों की तलाश और विविध संदर्भों की कहानियाँ लिखी गईं। ग्रामांचल से संबद्ध कहानियों में सामाजिकता का प्राधान्य है तो युगीन संक्रमण की कहानियों में सामाजिकता और वैयक्तिकता के बीच के तनाव का। मोहन राकेश तनावों के कहानीकार हैं, राजेन्द्र यादव में वैयक्तिकता पर सामाजिकता हावी है, कमलेश्वर तनावों के बीच मूल्यान्वेषण करने के लिए सचेष्ट रहते हैं। राकेश ने 'आर्द्रा' और कमलेश्वर ने 'देवा की माँ' में पुरानी पीढ़ी के जीवट को लिया है, रोमानी आदर्शों को नहीं।

मोहन राकेश की कहानी 'मलवा का मालिक' की ओर पहले पहल लोगों का ध्यान आकृष्ट हुआ। यह '४७ में भारतवर्ष के राजनीतिक विभाजन के फलस्वरूप पैदा हुई मनःस्थिति पर आधारित है। देश के विभाजन की परिणति व्यापक रक्तपात में ही नहीं हुई बल्कि दो संप्रदायों के बीच दुराव, संदेह, त्रास, डर, घृणा आदि मानसिक अवधारणाओं में भी हुई। अज्ञेय, चन्द्रगुप्त विद्यालंकार, अश्क आदि ने भी इस विषय पर कहानियाँ लिखीं। अज्ञेय की कहानियाँ फार्मूलों पर टिकी हैं, विद्यालंकार की कहानी 'एक और हिन्दुस्तानी का जन्म हुआ' दर्द को उभार नहीं पाती। अश्क की 'टेबुल लैंड' रोमैंटिक भावुकता से पूर्ण एक आदर्शवादी कहानी है। राकेश की 'मलवा का मालिक' में मलवा बहशीपन की चरम परिणति है—पागलपन और उन्माद का जीवंत प्रतीक। इसके रचाव में अपेक्षित सांकेतिकता और तनाव है। इसमें सामाजिकता से वैयक्तिकता की ओर, बाह्यता से आन्तरिकता की ओर जो यात्रा की गई है उसमें वे भोक्ता भी हैं द्रष्टा भी।

पर यदि राकेश की प्रतिनिधि कहानी का नाम लेना हो तो शायद वह 'एक और जिन्दगी' है। यह आज के ट्रेजिक तनाव को पूरी गहराई में आँकती है। मनुष्य न तो छूटी हुई जिन्दगी को छोड़ पाता है और न चुनी हुई जिन्दगी को अपना पाता है। दोनों ओर खींचा जाकर वह क्षत-विक्षत हो जाता है। इसमें तनाव की स्थिति नहीं है, 'मिस पाल' अपनी सफाई के बावजूद पाल की तरह ही मोटी रह जाती है। जहाँ राकेश में सामाजिकता-वैयक्तिकता का तनाव नहीं है वहाँ कहानियों में ठहराव आ गया है। जख्म, ठहरा हुआ चाकू आदि ऐसी ही

कहानियाँ हैं । नए बादल, जानवर और जानवर, एक और जिन्दगी, फौलाद का प्रकाश आदि इनके कहानी संग्रह हैं ।

राजेन्द्र यादव ने आधुनिक भावबोध को व्यापक सामाजिकता से संदर्भित करने की कोशिश की है । वे एक हजार में से नौ सौ निन्यानबे की कहानी कहना चाहते हैं । इस तरह वे एक दुनिया : समानान्तर की सृष्टि करते जाते हैं । अपने वक्तव्यों में उन्होंने निर्वैयक्तिकता पर विशेष जोर दिया है। वस्तुत: कला समानान्तर दुनिया नहीं है । वह इस दुनिया को जगह-जगह काटती, उससे मिलती और अलग होती चलती है । यह समानन्तरता उनकी कहानियों को व्यक्तित्व तो देती है पर इसी के कारण वे एक दूसरी दुनिया बन कर असं-प्रेषित रह जाती हैं । वे चक्र के भीतर चक्र (ह्वील विदिन ह्वील) के कहानीकार हैं । यही कारण है कि उनमें उलझाव आ जाता है । प्रयोग के कारण वे रेहटारिकल हो जाती हैं। उनकी सुप्रसिद्ध कहानी 'जहाँ लक्ष्मी कैद है' में रेहटारिक अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँच गया है । टेक्शचर के चमत्कार में उलझ-कर वह इन्द्रजाल खड़ा करने लगते हैं । वस्तुत: यादव औपन्यासिक चेतना के कथाकार हैं । जहाँ लक्ष्मी कैद है, अभिमन्यु की आत्महत्या, छोटे-छोटे ताज-महल, किनारे से किनारे तक, प्रतीक्षा, टूटना और अन्य कहानियाँ, अपने पार आदि इनके कहानी संग्रह हैं ।

कमलेश्वर की कहानियों में युगीन संक्रमण का मूल्यान्वेषी स्वर मिलता है । मूल्यान्वेषण की दृष्टि उसे आस्था देती है । उनकी विकास-यात्रा में बोध के विभिन्न संदर्भ और जीवन के विविध आयाम दिखाई देंगे । उनके संघर्ष में जिजी-विषा और जिजीविषा में जो संघर्ष है वह पूरी जिन्दगी के साथ लिपटा हुआ है । इसीलिए 'देवा की माँ', मार्कण्डेय की 'माई', राकेश की 'आर्द्रा' से अपनी संवेदना में तीव्रतर बनकर आती है । 'नीली झील' में एक काव्यदृष्टि दिखाई पड़ती है । इसमें मानवीय संवेदना को उसकी विस्तृति में लिया गया है। परायेपन का बोध, मृत्यु की विभीषिका, अन्तर्वैयक्तिक संबंध आदि का समावेश करते हुए लेखक इसे व्यापक मानवीय करुणा और प्राकृतिक सौंदर्यबोध का रचनात्मक संश्लेष देता है । 'खोई हुई दिशाएँ' आज के महानगरीय बोध, अकेलेपन, बेगा-नगी की ट्रेजडी, उभरते हुए अपनेपन का मूल्य-संकेत छोड़ जाती है । 'मांस का दरिया' में यामा द पिट की झाँकी मिल सकती है पर इसमें आधुनिक मानवीय स्थिति को लिया गया है ।

कमलेश्वर सशक्त कहानीकार हैं । यह शक्ति रूमानियत से अलग होने और भाषाई संरचना के संयम में निहित है । इस संयम की शुरुआत 'देवा की माँ', 'राजा निरबंसिया' से ही हो जाती है । नीली झील, जो लिखा नहीं जाता, आदि

में उसका पूरा विकास दिखाई देता है। उसकी भाषा कहानी है और कहानी भाषा। संपूर्ण संरचना में इतनी निःसंगता दूसरे कहानीकार में नहीं आ पाई है।

कवि कहानीकार नरेश मेहता, रघुवीय सहाय, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना, धर्मवीर भारती आदि ने भी अपने-अपने ढंग की कहानियाँ लिखीं। कविता का अभ्यासी जब कहानी-लेखन पर उतर आता है तो बराबर आशंका बनी रहती है कि कहीं कविता कहानी पर हावी न हो जाय। नरेश मेहता की 'तथापि', 'निशा-जी' आदि पर काव्यगत रूमानियत की स्पष्ट छाप देखी जा सकती है। रघुवीर सहाय और सर्वेश्वर के संबंध में यह कम सच नहीं है। भारती ही ऐसे कवि-कथाकार हैं जिन्होंने कविता से कहानी को अलग करने की चेष्टा की है। यह चेष्टा गुल की बन्नो, सावित्री नं० २, बन्द गली का आखिरी मकान में स्पष्टतः दिखाई पड़ती है।

इस अलगाव के लिए भारती ने कथातत्त्व का सहारा लिया है। यह जरूरी नहीं है कि कथातत्त्व के कारण कविता अलग हट जाय। किंतु आत्मपरकता से वस्तुपरकता की ओर जाने के लिए यह माध्यम ग्रहण किया जा सकता है। गुल की बन्नो पर रोमानियत का आरोप किया जाता है पर उसमें जिस परिपार्श्व और परिवेश को लिया गया है वह विश्वसनीय और यथार्थ है। एक विशेष स्थिति में समूचे टोले-मुहल्ले का दर्द उभारा गया है। गुल-गपाड़े, व्यंग्य-विनोद तथा विद्रूप बौछारों की पृष्ठभूमि में यह दर्द उन मानवीय मूल्यों को चित्रित करता है जो औद्योगिक सभ्यता में आज भी सुरक्षित हैं, दुर्लभ है।

लेखिकाओं का संसार

मन्नू भंडारी, कृष्णा सोबती, उषा प्रियंवदा का अपना संसार है जो कुछ मानों में पुरुषों के संसार से अलग है। सामान्यतः स्त्रियों का संसार पुरुष-संसार से किंचित् भिन्न होता है। किंतु इन लेखिकाओं ने इस भिन्नता को कुछ कम करने की चेष्टा की है। फिर भी मन्नू भंडारी और सोबती के पास अनुभव के सीमित दायरे हैं—आधुनिक नारी की मनःस्थिति, पारवारिक जीवन में पति-पत्नी के संबंध। उषा प्रियंवदा में वैविध्य और आधुनिक जीवन के अनेक आयाम दिखाई पड़ते हैं। इनकी कहानियों को सातवें दशक का पूर्ववर्ती रूप मानना चाहिए।

मन्नू ने बड़ी ही ईमानदारी के साथ नारी के मन में उठने वाले भावों, स्थिति विशेष में पुरुष के मन में जगने वाली शंकाओं, ईर्ष्याओं आदि को अपनी कहा-नियों में चित्रित किया है। यही सच है, तीसरा आदमी, इसी प्रकार की कहानियाँ हैं। किंतु 'यही सच है' कहानी मुन्नू से खुद पूछती है कि क्या सचमुच

में यही सच है ? कृष्णा सोबती सेक्स-जन्य भावुकता को ही उभार कर रह जाती हैं। मैं हार गई, तीन निगाहों की तस्वीर और यही सच है मन्नू भंडारी के कहानी संग्रह हैं। कृष्णा सोबती की कहानियाँ 'मित्रो मर जानी' में संगृहीत हैं।

ऊषा प्रियंवदा आधुनिकता बोध की कहानीकार हैं। उनका बोध भी नया है और भाषा भी अपेक्षाकृत संयमित है। वे न कमजोर लड़की की कहानी कहती हैं और न भावाविष्ट क्षणों की सचाई को सचाई मानती हैं। वे विशेष परिस्थितियों में अकेलेपन, बेबसी, हार-लाचारी की मानवीय नियति को आकलित करती हैं। 'मोह बंध' की अचला अपनी इच्छा से अकेलेपन का वरण करती है। वह भींगी पलकों की दुनियाँ में लौट आती है क्योंकि यही उसकी अपनी है। 'छुट्टी का दिन' की माया का जीवन एक रेतीला अछोर मैदान है। बंधन में बँधकर भी मनुष्य अकेला है न बँधकर भी—अकेलेपन से निष्कृति नहीं। 'वापसी' के गजाधर बाबू का अकेलापन आधुनिक जीवन का अकेलापन है—अर्जित करके भी अकेला है। 'जिन्दगी और गुलाब के फूल' का सुवोध न अर्जित करके अकेला-असफल है। 'जिन्दगी और गुलाब के फूल' और 'एक कोई दूसरा' उनके कहानी संग्रह हैं।

चीख, क्षण, मूड और मिथ

निर्मल वर्मा हिंदी कहानी परंपरा को तोड़ने का आग्रह या दुराग्रह लेकर आए। एक ओर से अपने को काटकर उन्हें अपने को अन्य परंपरा, पाश्चात्य परंपरा से, जोड़ना पड़ा। उनकी कहानी का डिटेक्टिव आदमी की खोज करने के लिए सूराखों की तलाश करता है क्योंकि उन्हीं के माध्यम से आदमी की तलाश की जा सकती है। पर सूराखों पर इतना ज्यादा जोर वैसा ही है जैसा कुत्ते का अपनी दुम का पीछा करना। उनकी कहानियों में सूराखी परिवेश इतने विविध रूप-रंगों में उभरता है कि उनकी प्रारंभिक कहानियाँ छायावादी कविता के निकट पहुँच कर रोमैंटिक एगोनी की अभिव्यक्ति करती हैं। वे राजनीति को एक जीवंत निर्मम स्थिति के रूप में ग्रहण करते हैं। उनकी कहानियों में ये स्थितियाँ कांसेंट्रेशन कैंप, नीग्रो सेग्रीगेशन के रूप में तो मिल जाती हैं किंतु हिन्दुस्तानी गरीबी नहीं मिलती। तारीफ तो यह है कि हिन्दुस्तानी गरीबी की वे वकालत करते हैं। जाहिर है अपनी परंपरा, अपनी भूमि, अपने देश की गरीबी और जहालत से कटा हुआ कहानीकार रोमानी रुचि में जीने की कोशिश करेगा। वह उन लोगों की कहानियाँ लिखेगा जो अपरिचित हैं, वह उस जगह की कहानियाँ लिखेगा जो हिंदी भाषा भाषी के लिए केवल नक्शे में होगी। परिन्दे और लवर्स ऐसी ही कहानियाँ हैं। यदि साहित्य के मूल्यांकन में भाषा से अधिक प्रामाणिक कोई अन्य तत्त्व नहीं है तो निर्मल वर्मा से ज्यादा रोमैंटिक कोई दूसरा कहानीकार नहीं है।

पर 'लंदन की एक रात' और 'कुत्ते की मौत' उनकी कहानियों में अपना विशिष्ट स्थान रखती हैं । इसकी चीख मोकम्मल और पूर्ण (टोटल) है । इसमें जीवन की अनिश्चितता, घुटन, निरर्थकता, रंगभेद, बेगानगी को जिस संपृक्तता में उठाया गया है वह किन्हीं स्वीकृतियों या प्रतिबद्धताओं की ओर भी संकेत करती हैं । इस गुंजलक में फँसा हुआ कोई एक व्यक्ति राटर नहीं है बल्कि सभी ब्लडी-बास्टर्ड हैं । इसमें जिन्दगी के छोटे-छोटे टुकड़े (स्लाइस), तेजी से बदलते हुए दृश्य, छोटी-छोटी घटनाएँ, अर्थपूर्ण प्रतीक पूरी कहानी को बिंबात्मक अस्तित्व देते हुए युगीन जिन्दगी को रेखांकित करते हैं । यह लेखक के बदले हुए मिजाज की कहानी है । कथाओं, घटनाओं और चरित्रों द्वारा निर्मित होने वाली कहानियों का ढाँचा पहले से टूटना शुरू हो गया था, निर्मल की कहानियों में वह पूरा टूट कर नई दिशा का निर्देशक बन गया है । परिन्दे, पिछली गर्मियों में तथा बीच बहस में आदि उनके कहानी संग्रह हैं । राजकुमार; विजय चौहान; राजकमल चौधरी आधुनिकता बोध के ही कहानीकार हैं ।

श्रीकान्त वर्मा की कहानियों को ट्यूमर---ब्रेन ट्यूमर---की कहानियाँ कहा जा सकता है । किन्तु यह ट्यूमर प्रायः प्रेम के चारों ओर चक्कर लगाता है । इसमें स्थिति की अनिर्णयात्मकता, एकचित्तता का अभाव, बेहद बेचैनी आदि है । वह झाड़ी को लाँघना चाहकर भी नहीं लाँघ पाता, जिन्दगी को जीना चाहकर भी प्लेटफार्म पर चिपका रह जाता है---न जी पाता है न मर पाता है । इसका यह भी मतलब है कि अभी वह रूमानियत को न छोड़ पाता है और न उसे अस्वीकार करके यथार्थ को ग्रहण कर पाता है । सातवें दशक को मोहभंग का दशक कहना किसी चीज को उसका सही नाम देना है । इस दशक के कहानीकारों ने अपने को द्विधा और रोमांस से मुक्त करके नए यथार्थ का साक्षात्कार किया है । मूल्यों के पूर्णतः विघटन के साथ-साथ व्यक्तित्वों का खंडित होना स्वाभाविक था । विघटन का यह दृश्य सबसे अधिक नेतृवर्ग में दिखाई पड़ा । मूल्यहीनता की चरम परिणति कांग्रेस के विभाजन में हुई । यों '६२ में चीनी हमले के समय ही हमारा मोहभंग हो चुका था । पुरानी पीढ़ी के प्रति क्षोभ-आक्रोश का समारंभ यहीं से होता है और यहीं से रोमांस भी टूट जाता है ।

बुद्धिजीवीवर्ग का संकट और भी गहरा था । उसकी आवाज सुनने वाला कोई भी नहीं था । वह अपने आप को निर्वासित समझने के लिए बाध्य हुआ, उसकी अपनी पहचान गुम हो गई । वह सब ओर से कट कर अकेला हो गया । पुरानी पीढ़ी से संवाद की कोई स्थिति ही नहीं रह गई, अकेलेपन, ऊब का एहसास और गहरा गया । अकेलेपन और निर्वासन की अपेक्षा ऊब की स्थिति अधिक

उभरी। अकेलापन और निर्वासन गहन रचनात्मक दृष्टिकोण है। पर अब विघटनात्मक और सतही विद्रोहात्मक रवैया अधिक दिखाई पड़ता है।

ज्ञानरंजन, दूधनाथ सिंह, गिरिराज किशोर, विजयमोहन सिंह, रामनारायण शुक्ल, कामतानाथ, गंगाप्रसाद विमल, महेन्द्र भल्ला, रवीन्द्र कालिया, ममता कालिया, काशीनाथ सिंह, मधुकर सिंह सिद्धेश, ज्ञानप्रकाश, सुधा अरोड़ा, विश्वेश्वर, महीपसिंह, पानू खोलिया, सतीश जमाली, इब्राहीम शरीफ, इसराइल, अशोक सेक्सरिया, अशोक अग्रवाल, रमेश उपाध्याय, जितेन्द्र भाटिया, नरेन्द्र कोहिली, बदीउज्जमा, गोविन्द मिश्र, प्रकाश बाथम, सुदर्शन नारंग आदि बहुत से कहानीकार इस दशक में लिख रहे हैं।

इस दशक के कहानीकारों में ज्ञानरंजन अपनी वस्तुनिष्ठता, अ-रोमैंटिक दृष्टिकोण, संतुलन और संयम के कारण सबसे अलग और विशिष्ट हैं। 'फेंस के इधर और उधर' तथा 'यात्रा' में उनकी कई कहानियाँ संगृहीत हैं। 'दिलचस्पी' में जिस अकेलेपन को लिया गया है वह आज के युग का संदर्भ है। वह अकेला इसलिए है कि सब जगह से मिसफिट है क्योंकि घर-बाहर के लोग उसमें नहीं, उसकी नौकरी में, शादी में, पहाड़ पर जाने में दिलचस्पी लेते हैं। उसकी पहचान गायब है। परंतु बाकी की पहचान बदस्तूर है। बाकी की पहचान की बात उठाकर लेखक इसे एक मूल्य भी दे देता है।

दूधनाथ सिंह के रक्तपात में यह कटाव, अलगाव और निर्वासन चरम सीमा पर पहुँच गया है। सब कुछ अपनी जगह पर अचल है, वह जड़ हो गया है—अपने से भी पराया। कभी लगता था सभी ने उसे छोड़ दिया है, अब लगता है उसी ने अपने को छोड़ दिया है। दूसरी स्थिति में उसका कटाव समग्र और पूर्ण है। 'सपाट चेहरेवाला आदमी' और 'सुखान्त' इनके संग्रह हैं।

एक समय था आदर्श चरित्र निर्मित होते थे, दूसरा समय आया जब प्रामाणिक चरित्र निर्मित किए जाने लगे। एक समय यह भी है जब अभिशप्त (फेटेड) चरित्रों की सृष्टि होने लगी। गंगाप्रसाद विमल की कहानी 'एक और विदाई' में भी गुमशुदा पहचान की तलाश ही है। पर यह कहानी सिद्धान्त के जाल में उलझकर कहानीपन खो देती है।

बदले हुए रिश्ते को लेकर जो कहानियाँ लिखी गईं उनमें से अधिकांश दो पीढ़ियों की टकराहट में दिखाई पड़ती हैं। विमल की 'प्रश्नचिह्न' और ज्ञानरंजन की 'पिता' ऐसी ही कहानियाँ हैं। जहाँ प्रश्नचिह्न फार्मूलाबद्ध विदेशी कहानी की नकल मालूम पड़ती है वहाँ पिता में नई पीढ़ी का पिद्दीपन और नपुंसक आक्रोश। यह अपनी पीढ़ी की झूठी वकालत न होकर एक ऐसी वास्तविकता है जिसकी ओर नारोपजीवी कहानीकारों की दृष्टि नहीं गई है।

गिरिराज किशोर आज की परिस्थितियों में निर्णय न ले सकने वाले व्यक्तियों के कहानीकार हैं। आज प्रत्येक व्यक्ति तिलस्म में फँसा हुआ है। सभी लोग बन्द होने-वाली दिशा में दरवाजा खोलते हैं। 'पेपर वेट' के मृणाल बाबू आदर्शों और मूल्यों के टूट जाने पर यंत्र के पुर्जे होकर लोकबद्ध और गतानुगतिक हो जाते हैं। गिरिराज किशोर बाबू तबके के अन्तर्विरोध और विसंगतियों को चित्रित तो करते हैं पर वे अपने संदर्भों में ही ठिठक कर रह जाते हैं। 'चिड़ियाघर' इनका कहानी संग्रह है।

रवीन्द्र कालिया की कहानियों में स्पष्टतः रोमांस-विरोधी मुद्रा दिखाई पड़ती है। वे हर तरह की शिष्टता (डिसेंसी), आभिजात्य का मजाक उड़ाते हैं। किसी अन्य लेखक ने विदूषकीय मुद्रा और विडंबना को इस मात्रा में अपनी रचना का आधार नहीं बनाया है। इस तरह उनकी कहानियाँ इस दशक की कहानियों से अलग दिखती हैं। सब मिलाकर इनकी कहानियों में ऊब (बोरडम) के चित्र ही अधिक मिलते हैं। ऊब की अभिव्यक्ति बराबर विघटन और मूल्यहीनता में होती है। कालिया अपने भाषाई सामर्थ्य को मूल्य-चेतना से नहीं जोड़ सके हैं।

महेन्द्र भल्ला की 'एक पति के नोट्स' में आत्मनिर्वासन का वह दर्द है जिसे यह खुद झेलता है। जिस जिन्दगी को वह नहीं चाहता है वही उसे जीनी पड़ती है। यह उसकी अपनी ही नियति नहीं है बल्कि आधुनिकता बोध से संपृक्त प्रत्येक व्यक्ति की नियति है। इसमें नैतिक मूल्यों के लिए कोई स्थान नहीं है। वह अपनी अनुभूतियों को, समाज-निरपेक्ष आन्तरिकता को, ऊब और अलगाव को बेझिझक व्यक्त करता है। कहानी का मूल आधार पति-पत्नी के बीच के संबंध ही हैं। लेकिन जब पति सारे रोमांस, मानसिक तनाव आदि से अलग होकर कहीं जुड़ नहीं पाता और अपने को स्वस्थ घोषित करता है तो यह झूठ, अयथार्थ मालूम पड़ता है। क्योंकि ये सारे लक्षण स्वस्थ व्यक्ति के नहीं हैं, बीमार व्यक्ति के हैं। 'तीन चार दिन' कहानी भी पति-पत्नी के संबंध को लेकर लिखी गई है।

'अँधेरे के सिलसिला' में ज्ञान प्रकाश की कई कहानियाँ संगृहीत हैं। इसमें जीवन की जड़ता-व्यर्थता से संबद्ध कहानियाँ हैं। बाद में 'एक और ईश्वर' जैसी कहानियों में आदमी की जड़ता महसूस न करने की अक्षमता को प्रभावी ढंग से चित्रित किया गया है।

महिला कहानी-लेखिकाओं में ममता कालिया, सुधा अरोड़ा, निरुपमा सेवती, मणिका मोहिनी, अचला शर्मा, शीला रोहेकर, वर्तिका अग्रवाल, दीप्ति खंडेलवाल आदि ने आधुनिकता बोध की कहानियाँ लिखी हैं। इनकी कहानियों में सामान्यतः स्त्री के स्वतंत्र व्यक्तित्व और वरण की स्वतंत्रता के चित्र आँके गए हैं। सेक्स के संबंध में भी न इन्हें कोई झिझक है और, रोमानी संकोच। सुधा अरोड़ा संपृक्त नहीं हो सकी हैं। शीला रोहेकर

ने नारी जीवन के सुख-दुःख को नए ढंग से परिभाषित करने की चेष्टा की है। उनमें सुधा के डैशेज की रूमानियत भी है।

यद्यपि काशीनाथ सिंह '६० से ही कहानियाँ लिख रहे हैं फिर भी उनमें बदलाव आया—आधुनिकता से अभ्युदिष्टता (टेंडेंशसनेस) की ओर। आखिरी बदलाव उस महत्त्वपूर्ण मोड़ का सूचक है जिसे आठवें दशक का आरंभ कह सकते हैं। इस प्रवृत्ति के कारण वे किसी वस्तु का सही नाम देने की कोशिश करते हैं। चायघर में मृत्यु, चोट और हस्तक्षेप में इस प्रवृत्ति को देखा जा सकता है। भाषा ऊपर से सपाट पर भीतर से अर्थवान् है। अपने विनोदपूर्ण व्यंग्य के कारण वह कहानी के माहौल को, जिंदादिल और संकेत को धारदार बना देती है। वे कहानी को अस्वीकार की ओर ले जाने की दिशा में प्रयत्नशील हैं।

इधर के कहानीकारों में इब्राहीम शरीफ, विश्वेश्वर, सिद्धेश, प्रकाश बाथम, हृषीकेश, सुदर्शन नारंग, जितेन्द्र भाटिया आदि अनेक नाम आते हैं। इब्राहीम शरीफ अपने लेखन के प्रति ईमानदार, मूल्यों के प्रति आस्थावान तथा सड़ी हुई आधुनिकता के विरोधी हैं। इब्राहीम और प्रकाश बाथम में व्यवस्था-विरोधी रुख सर्जनात्मक धरातल पर आधारित है, जब कि विश्वेश्वर इसे बहुत कुछ उपदेशात्मक (डायडेक्टिक) बना देते हैं। 'गोह' व्यवस्था-विरोधी होते हुए भी सर्जनात्मक नहीं बन पाती।

आलोचकों ने यह कहकर कि छठें दशक की कहानियाँ ५वें दशक की कहानियों की प्रतिक्रिया में लिखी गईं, गलत बयान दिया है। कोई भी लेखन ऐतिहासिक संदर्भ की देन है। ऐतिहासिक संदर्भ को रेखांकित करने के लिए इंडियन एक्सप्रेस (११ मई '६०) में प्रकाशित आचार्य कृपलानी का एक वक्तव्य उद्धृत करना प्रासंगिक होगा—'आज वह (नेतृवर्ग) महसूस करता है कि वह किसी भी कानून, नियम, पद्धति या परंपरा से नहीं बँधा है। वह हर सामान्य शिष्टता की अवहेलना करता है—वह सत्य को दबाने और झूठ को प्रश्रय देने में माहिर है।' —इस मूल्यहीनता और अराजकता की स्थिति में मूल्यहीन मनुष्य का आत्म-विभाजित और आत्म-निर्वासित हो जाना सहज है। इसकी प्रक्रिया छठें दशक में ही शुरू हो गई थी। पर सातवें दशक में यह अपने चरमोत्कर्ष पर जा पहुँची। इस दशक के आखिरी वर्षों में आधुनिकतावादी कहानियाँ झूठ मालूम पड़ने लगीं। इसलिए कुछ एक कथाकारों ने अस्वीकारों, संत्रास, ऊब, अकेलापन आदि को जो कभी का सच था किंतु अब झूठ पड़ चुका था, नकार दिया और कहानी को स्वीकारोन्मुख बनाया।

ऐसा करने के लिए इन्हें स्वीकारोन्मुख भाषा अपनानी पड़ी। यदि आत्यंतिक आधुनिकतावादी कहानियों की भाषा का विश्लेषण करना हो तो कहना

होगा कि उसके साथ भयानक अत्याचार किया गया है। केले के पर्त की तरह तह की हुई भाषा। एक एक छिलका उखाड़ते जाइए और अंत में एक शून्य। इस तरह की तहवादी भाषा का सबसे अधिक प्रयोग (दुरुपयोग) दूधनाथ सिंह और गंगाप्रसाद विमल ने किया है। तहवादी भाषा का प्रयोजन सत्य को उद्घाटित करना नहीं होता बल्कि सत्य को अर्ध सत्य या झूठ अथवा झूठ को अर्धसत्य या सत्य में बदलने की साजिश से होता है। सन् '७० के कुछ पहले इस तरह की कहानियाँ लिखी गईं।

सातवें दशक के मध्य में युवा विद्रोह की एक लहर आई। उसके फलस्वरूप बेलाग, दो-टूक बात कहने की प्रवृत्ति जागी। व्यवस्था के विरोध में एक प्रकार का बौद्धिक राजनैतिक आन्दोलन ही चल पड़ा। इस आन्दोलन ने भाषा को बदला। भाषा के इस खुरदुरेपन, ताजगी और यथार्थ को बेलाग आँक पाने की क्षमता का बहुत कुछ श्रेय डा० लोहिया को है। आज की कहानी की यही भाषा है। किन्तु ध्यान रखना चाहिए कि भाषा स्वयं में महत्त्वपूर्ण नहीं होती। सृजन की आन्तरिक विवशता ही साहित्यिक भाषा को रचनात्मकता का स्तर दे सकती है।

इन दो दशकों में कहानी का रूपबंध भी बदला। पाँचवें दशक तक कहानियों का रूप बहुत कुछ निश्चित होता था। जैनेन्द्र और अज्ञेय के कारण षट् तत्त्वों वाली कहानियों में बदलाव आ चुका था, मुख्यतः कथानक और चरित्रों को लेकर फिर भी उनमें कथा कहने की बँधी पद्धति निःशेष नहीं हुई थी। किंतु इन दो दशकों में रूप संबंधी पुरानी धारणाएँ अपने आप टूट गईं। उसमें निबंध, रेखाचित्र, रिपोर्ताज, संस्मरण, डायरी आदि विधाएँ भी सम्मिलित हो गईं और इससे कहानी का रूपबंध अधिक अभिव्यंजनापूर्ण बना।

निबंध

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने वैचारिक निबन्धों को उत्कर्ष की चरम ऊँचाई पर पहुँचा दिया था—मुख्यतः मनोविकार संबंधी निबंधों को, इसलिए छायावादोत्तर काल में हिंदी निबन्ध अन्य दिशाओं की ओर मुड़ा। जहाँ तक विचारात्मक निबन्धों का सवाल है समीक्षात्मक निबन्ध ही अधिक लिखे गये। व्यक्तित्व व्यंजक निबन्धों की संख्या भी काफी बड़ी है। संस्मरण, रेखाचित्र, यात्रा-वर्णन, रिपोर्ताज आदि का समावेश भी निबन्ध में होता है! फिर भी संस्मरण, रेखाचित्र आदि की अपनी शिल्पगत विशेषताएँ हैं। रेखाचित्र और रिपोर्ताज अपनी वस्तुनिष्ठता में संस्मरण की व्यक्तिनिष्ठता से अलग हो जाते हैं। निबंध में, व्यक्तिव्यंजक निबन्धों में, किसी-न-किसी तरह इन सभी का समावेश हो जाता है।

निबन्ध के विभिन्न रूपाकारों का विकास विशेष ऐतिहासिक संदर्भ में होता है। इतिहास के बदल जाने पर महापुरुषों के संस्मरणों द्वारा उनके मानवीय गुणों पर

प्रकाश डाला जाने लगा। लेकिन ज्यों-ज्यों प्रतिभाभंजन की प्रक्रिया आगे बढ़ती गयी त्यों-त्यों लोगों की दृष्टि लघु मानव की ओर भी गयी। इन छोटे-छोटे मनुष्यों के कुछ ऐसे मार्मिक पहलू उभारे गए जो तथाकथित महापुरुषों में नहीं दिखाई पड़ते। इनके संस्मरणों में आदमी की बुनियादी इंसानियत को उभारने का प्रयास किया गया है।

महादेवी वर्मा के 'अतीत के चलचित्र' में ऐसे ही मानवों के संस्मरण रेखा-चित्र हैं। रिपोर्ताज अखबारी कपट का ही संवेदनात्मक रूप है।

रामचन्द्र शुक्ल की समीक्षात्मक निबंध परंपरा की अगली कड़ी के रूप में **नन्ददुलारे वाजपेयी** का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उनके ऐतिहासिक निबंध संग्रह 'हिंदी साहित्य—बीसवीं शताब्दी' के निबन्ध इस कालावधि के पहले ही लिखे जा चुके थे किंतु 'जयशंकर प्रसाद', 'आधुनिक साहित्य', 'नया साहित्य–नये प्रश्न' आदि का प्रकाशन चालीस के बाद हुआ। इन सभी निबन्धों में वाजपेयी जी की सूक्ष्म पकड़, अन्तरभेदिनी दृष्टि, संतुलन, गत्यात्मकता और जनतंत्रा-त्मक रचनात्मकता का परिचय मिलता है। वाजपेयी जी ने कोई क्रमबद्ध पुस्तक नहीं लिखी है, केवल स्फुट निबन्धों के आधार पर ही उन्होंने हिंदी साहित्य में महत्त्वपूर्ण स्थान बना लिया है। क्रमबद्ध पुस्तकों में 'आगे चले बहुरि रघुराई' के अनेकानेक प्रसंगों का सन्निवेश करना पड़ता है और यह उन्हें प्रिय न था। छायावादी युग की निर्बंधता का यह रूप उनके जीवन और साहित्य दोनों में दिखाई पड़ता है।

उनके निबंधों में समसामयिक साहित्यिक आन्दोलनों और विचार सरणियों को देखा जा सकता है। पर वे इनके बीच धँसकर भी ऐसे प्रश्नों की तलाश में रहते थे जो वादमुक्त मानवीय गत्यात्मकता से संबद्ध होते थे। वे रूढ़िबद्ध साहित्यिक सरणियों और जीवन-दर्शन के विरोधी थे। इसलिए उनका स्वर शुक्ल जी के स्वर का विसंवादी ठहराया जाता है।

छायावादी काव्यान्दोलन, प्रगतिशील साहित्यान्दोलन तथा नई कविता के आन्दोलन से वे बराबर संपृक्त रहे हैं। किंतु अपनी तटस्थता, निस्संगता तथा अन्तर्भेदिनी दृष्टि के कारण वे कृतियों का महत्त्वपूर्ण मूल्यांकन कर सके हैं। इन आन्दोलनों के साहित्येतर तत्त्वों पर निर्ममतापूर्वक प्रहार करने में वे कहीं नहीं चूकते। उनकी आलोचनात्मक सरणि का निर्माण स्वयं कृतियाँ करती हैं। उन्होंने अपने निबंधों में स्थूल नैतिकता यानी उपदेशात्मकता का सर्वत्र विरोध किया है पर सूक्ष्म उच्च नैतिक मूल्यों को वे कहीं भी नजरअन्दाज नहीं करते।

उनके लेखन को चयन-पद्धति (इक्लेक्टिक) का लेखन कहना अधिक संगत है। इस पद्धति में भाषा पर अर्थ का दबाव अधिक होता है। विस्तार के लिए

कहीं कोई अवकाश नहीं रहता। फँसावट के भीतर भी जगह-जगह दरारें रहती हैं। इन दरारों को पाठक को अपनी ओर से भरना पड़ता है।

निबंधों में जगह -जगह वैयक्तिकता, व्यंग्य-विनोद आदि की भी झाँकी मिलती जाती है। रत्नाकर, अज्ञेय आदि पर लिखे गए निबंधों में उन्हें देखा जा सकता है। वाजपेयी जी का व्यंग्य एक जगह अपना अर्थ देकर ही खत्म नहीं होता है बल्कि पूरे निबंध के संबंध में लेखकीय दृष्टिकोण और अभिगम की सूचना देता है। इस तरह वह पूरे निबंध की अर्थवत्ता को नई सांकेतिकता देता है।

इलाचन्द्र जोशी भी छायावाद काल से ही लिख रहे हैं। ये प्रायः प्रगतिवाद का विरोध करते हुए निबंध के क्षेत्र में प्रविष्ट होते हैं। इन्होंने अपने निबंधों में मनोविश्लेषण का समर्थन किया है। पर जोशी जी के निबंधों की भाषा में काल्पनिक उड़ान अधिक है। शब्दों की फिजूलखर्जी के कारण निबंधों में फैलाव अधिक आ गया है।

इस काल के सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण निबंधकार **हजारीप्रसाद द्विवेदी** हैं। इनके ललित निबंधों में सांस्कृतिक विरासत के वर्चस्व के साथ नवीन जीवन-बोध, उत्कट जिजीविषा, नई सामाजिक समस्याओं के बीच राह पाने की ललक सर्वत्र दिखाई पड़ती है। द्विवेदी जी का व्यक्तित्व लचीला और निरंतर विकासमान है। देशकाल की नई से नई गत्यात्मक विचारधारा से वे अपने को सहज में ही जोड़ लेते हैं। इस जोड़ का मतलब यह है कि वे अपनी ऐतिहासिक दृष्टि को नए सिरे से समंजित करते रहते हैं।

विद्वत्ता और सहृदयता का संयोग विरल होता है। यह संयोग या तो चन्द्रधर शर्मा गुलेरी में दिखाई पड़ता है या हजारीप्रसाद द्विवेदी में। गुलेरी जी अतीत के व्यतीत पर कसकर प्रहार करते हैं और सारी विरासत को नई दिशा की ओर मोड़ने की कोशिश करते हैं। द्विवेदी जी प्रायः संस्कृति के गत्यात्मक आयामों को नवीनता से जोड़ते हैं और जो विगत हो गया है उसके लिए हार्दिकता का भाव होते हुए भी, छोड़ना जरूरी समझते हैं। उसकी जगह पर नए बदलाव का स्वागत ही नहीं करते बल्कि उसे धार भी देते हैं। अशोक के फूल, कल्पलता, मध्यकालीन धर्मसाधना, विचार और वितर्क, कुटज, आलोक पर्व उनके निबंधों के संग्रह हैं।

यदि द्विवेदी जी के ललित निबंधों की विकास-यात्रा का लेखा-जोखा लेना हो तो कहना न होगा कि संघर्षों के कारण परवर्ती निबंधों में जीवनोन्मुखता और भी निखर उठी है। अशोक के फूल, शिरीष का फूल, वसंत आ गया, आम फिर बौरा गए के अनन्तर वे कुटज और देवदारु की तलाश करते हैं। अशोक, शिरीष

और आम में उल्लसित आवेग, सांस्कृतिक सम्मोहन, बदलाव का चित्रण है तो कुटज में जिजीविषा का ।

"कुटज क्या केवल जी रहा है ? वह दूसरों के द्वार पर भीख माँगने नहीं जाता---अपनी उन्नति के लिए अफसरों का जूता नहीं चाटता---आत्मोन्नति के हेतु नीलम नहीं धारण करता---दाँत नहीं निपोरता---जीता है और शान से जीता है । कहाँ से मिली है अकुतोभय वृत्ति, अपराजित स्वभाव, अविचल जीवन-दृष्टि ।" यों जिजीविषा, इहलौकिकता, सामूहिकता और वैयक्तिकता उनके निबंधों के मूल धर्म हैं ।

द्विवेदी जी ने पंडिताई अर्जित की है किन्तु मनुष्यता, सहजता उनकी प्रकृति है । इसलिए पांडित्य को सहजता की ओर ले जाना उनका स्वभाव है । इतिहास, पुराण, साहित्य के गंभीर से गंभीर तथ्य को उठाते हुए वे उसे प्राय: गाँव की व्यक्ति-कथा से संबद्ध समसामयिकता से जोड़ देते हैं । अत: उनके निबंध न तो गंभीरता का तेवर छोड़ते हैं और न सहजता का बाना ।

उनके निबंधों की रचना-प्रक्रिया में पांडित्य और सहजता का तनाव देखा जा सकता है । पर इस तनाव को पकड़ पाने के लिए पाठकों को भी पांडित्य के संदर्भों की जानकारी होनी चाहिए । इसके अभाव में निबंधों के सौंदर्य बोध को समग्रत: आयत्त नहीं किया जा सकता । प्राय: उन्होंने संदर्भों को कालिदास की कृतियों से उठाया है क्योंकि वे संदर्भ कृतियों के संदर्भ न होकर भारतीय संस्कृति के संदर्भ हो जाते हैं । अशोक, शिरीष, सहकार, कुटज ऐसे ही संदर्भ हैं । इन संदर्भों को नई स्थितियों में रखकर संदर्भ को बदल देने का मतलब है ललित निबंध । कहीं-कहीं जब संदर्भों की बहुलता सहजता पर हावी हो जाती है तो तनाव की पकड़ ढीली पड़ जाती है । किंतु ऐसी जगहें कम हैं । भाषा की लय, गुंफित पदावली, विषयान्तर, वस्तुओं के बिंबात्मक चित्र आदि निबंधों को एकतान, अन्वितिपूर्ण और संश्लिष्ट बना देते हैं । लगता है निबंधों जैसी विधा में द्विवेदी जी की भाषा को अपनी जमीन मिल जाती है ।

ललित निबंधों के अतिरिक्त द्विवेदी जी ने विचारपरक, शोधपरक और समीक्षात्मक निबंध भी लिखे हैं । शोधपरक निबंधों से उनकी विद्वत्ता तथा विषय की तह में पैठकर गहरी छानबीन की क्षमता का परिचय मिलता है । यह निर्विवाद है कि द्विवेदी जी इस काल के या संपूर्ण आधुनिक काल के सर्वश्रेष्ठ निबंधकार हैं ।

जैनेन्द्र छायावाद युग के श्रेष्ठ कथाकार हैं । पर निबन्ध के क्षेत्र में वे छाया-वादोत्तर काल में ही अवतरित होते हैं । उनके निबंधों के सोच-विचार, कथ्य और शैली दोनों उनके उपन्यास-कहानी में देखे जा सकते हैं पर कहानी-उपन्यास में दार्श-

निक की मुद्राएँ अधिक हैं। निबंधों में उनके दार्शनिक को अपनी भूमि मिल गई है।
जैनेन्द्र की दार्शनिकता बहुत कुछ निजी है । इस निजीपन के कारण उनके निबंध ऊब नहीं पैदा करते । नई अर्थवत्ता के प्रति जागरूक रहने के साथ वे सरसता का भी पूरा ध्यान रखते हैं ।

उनके विचारों की विस्तृत सीमा में अनेक प्रकार के विषय समाहित हो जाते हैं । धर्म, राजनीति, संस्कृति, साहित्य, सेक्स, काम, प्रेम, विवाह आदि विषयों पर व्यक्त किए गए उनके विचारों से यह प्रतीत होता है कि लेखक अपने चतुर्दिक फैली हुई समस्याओं से निरंतर जूझता रहता है । जड़ की बात, साहित्य का श्रेय और प्रेय, खोज विचार, मंथन, ये और वे, दो चिड़िया, पूर्वोदय, इतस्ततः, प्रस्तुत प्रश्न, परिप्रेक्ष्य, समय और हम आदि उनके निबंध संग्रह हैं ।

गाँधीवादी होने के कारण वे सत्य, अहिंसा, आत्मसमर्पण, हृदय-परिवर्तन में विश्वास करते हैं । इसलिए बदले हुए जमाने में भी उनकी परिणतियाँ युगानुरूप नहीं बन पातीं । वे कहते हैं 'क्यों यह जरूरी नहीं है कि जैसे पैसे की तरफ प्रीति का हाथ बढ़ता है, वैसे ही बल्कि उससे भी अधिक इन्सान की तरफ हमारा प्रेम का हाथ बढ़े ?' जैनेन्द्र इस अन्तर्विरोध को नहीं समझते कि पैसे की ओर बढ़ने वाला हाथ इन्सान की ओर बढ़ ही नहीं सकता । श्रम और पूंजी की चर्चा करते समय जब वे कहते हैं कि 'श्रम ही मूल पूंजी है, इस चैतन्य की आत्मश्रद्धा को जो नीयत जगाएगी वह उतनी ही—आजादी की तरफ उठाएगी' तो उनकी रूमानियत प्रकट हो जाती है । 'चैतन्य की आत्मश्रद्धा' जैसी शब्दावली अर्थहीन होकर रह जाती है ।

वे साहित्य का प्रयोजन आत्माभिव्यक्ति और आत्मोपलब्धि बतलाते हैं । इसे वे 'आत्म-व्यथा' और 'आत्म-पीड़ा' से जोड़ते हैं । कहना न होगा कि यह दृष्टि भी छायावादी ही है । इसीलिए वे सर्वोदयी साहित्य के पक्षधर हो जाते हैं । प्रेम के संबंध में वे मुक्त प्रेम के समर्थक हैं, संयमित मुक्त प्रेम के ।

जैनेन्द्र के निबंध निबंधों और सोच-विचार के निबंधों में फर्क है । निबंध निबंधों में उनकी अन्तरंगता दिखाई पड़ती है, तो सोच-विचार से संबद्ध निबंधों में वस्तुनिष्ठता, यद्यपि वस्तुनिष्ठता में निजीपन का रंग है ।

शान्तिप्रिय द्विवेदी ने निबंध निबंध और समीक्षात्मक निबंध लिखे हैं। उनके समीक्षात्मक निबंधों में भी निबंध निबंधों का स्वाद मिलता है । वे प्रकृति से तरल, आत्मनिष्ठ और भावुक साहित्यकार थे—छायावादी काव्य के मानवीकरण अलंकार । उनकी तरलता, सहृदयता, अन्तरंगता के दर्शन उनके निबंधों में सर्वत्र होते हैं । संचारिणी, युग और साहित्य, प्रतिष्ठा, साकल्य, सामयिकी आदि

उनके निबंध संग्रह हैं। पथचिह्न और परिव्राजक की प्रजा को रेखाचित्र कहा जा सकता है।

शांतिप्रिय द्विवेदी अपने जीवन में अभावग्रस्त और उपेक्षित रहे और साहित्य में भी। फिर भी निरंतर साहित्य-साधना में जुटे रहना उनके जीवट का परिचायक है। वे सौन्दर्य-संस्कारिता के उपासक थे। संस्कारिता के अभाव में बाह्य उपकरणों द्वारा न तो समाज का कल्याण हो सकता है न व्यक्ति का, ऐसा उनका विश्वास था। प्रगतिशीलता के वे कभी भी विरोधी नहीं थे। पर गरीबी, अभाव, पीड़ा आदि को वे सृजन के मार्ग में बाधक नहीं मानते थे। पंत का बहिरंग शांतिप्रिय का अन्तरंग था। उनके समीक्षात्मक निबंधों में जगह-जगह सूक्ष्म पकड़ और अन्तर्दृष्टि दिखाई पड़ती है।

संस्मरण और रेखाचित्रों में उनकी अन्तरंगता अधिक स्वच्छंद रूप से अभिव्यक्त हो सकी है। उदाहरण देखिए "जन्म से बधिर होने के कारण बहिर्जगत् से वंचित तो था ही, बहिन ने भी चारों ओर से आमंडित कर वस्तुजगत् के आँधी-पानी को ऊपर-ऊपर बह जाने दिया।"

"किन्तु दूसरे दिन प्रातः मैंने देखा, बहिन निष्पंख पक्षी-सी तड़फड़ा तड़फड़ा कर पृथ्वी को अपने आँसुओं से आर्द्र कर रही है। शूलविद्ध शरीर जैसे छटपटा कर प्राणमोचन चाहता हो उसी प्रकार वह अस्थि-पंजर को छोड़कर माँ के पीछे-पीछे, बड़ी नाव के पीछे छोटी नौका की तरह, चली जाना चाहती है। ओह, वह दुस्सह क्रन्दन, वह निःसहाय तड़पन, वह विवश पार्थिव शरीर बंधन और यह दैनन्दिन जीवन! अश्रुमय कोमल कहाँ तू आ गई परदेशिनी रे!"

रामवृक्ष बेनीपुरी निबंधकार से ज्यादा रेखाचित्रकार हैं। माटी की मूरतें (१९४६) उनके रेखाचित्रों का पहला संग्रह है। इसमें गाँव की विभिन्न मूरतों को अनेक रंग-रेखाओं में उतारा गया है। इन चित्रों में बेनीपुरी की सहृदयता ही नहीं उनकी मानवीयता भी अंकित हुई। ये चित्र केवल चित्र नहीं हैं बल्कि मन में उठने वाले अन्तर्द्वंद्वों को भी उरेहते चलते हैं। बेनीपुरी की अपनी नेतागिरी और शहरीपन, अलगाव और गाँव की सामान्यता, गवईपन और लगाव में हल्का सा द्वंद्व उठता है और वे झट से गाँव की ओर हो जाते हैं। इसे रजिया में देखा जा सकता है। 'जंजीर और दीवारें' उनके रेखाचित्रों का दूसरा संग्रह हैं। गेहूँ और गुलाब में निबंध-रेखाचित्र संगृहीत हैं। गेहूँ भूख का प्रतीक है और गुलाब कला और संस्कृति का। मानवीय जीवन में भूख का जितना महत्त्व है उतना ही महत्त्व कला-संस्कृति का भी है। गेहूँ मनुष्य की जिन्दगी की बुनियादी शर्त है पर इस बुनियादी शर्त के पूरा होने के बाद मनुष्य होने के लिए कला-संस्कृति की जरूरत पड़ती है।

बेनीपुरी की भाषा में या तो आवेगमयता मिलेगी या प्रशांति। उसमें जटिलता कहीं भी नहीं है। किंतु जटिलता का अभाव इस तथ्य का सूचक है कि वे जीवन के जटिल संदर्भों को नहीं छूते।

श्रीराम शर्मा, विनयमोहन शर्मा और देवेन्द्र सत्यार्थी के निबंधों में निबंध निबंध और रेखाचित्र दोनों मिलते हैं।

श्रीराम शर्मा (१८९२–)ने शिकार संबंधी बहुत से लेख लिखे हैं। अपने साहसिक वृत्तांतों को उन्होंने ग्रामीण पृष्ठभूमियों, प्रकृति के ब्योरेवार दृश्य-चित्रणों, अछूते मानवीय जीवन के मर्मस्पर्शी आयामो में चित्रित किया है। विनयमोहन शर्मा समीक्षात्मक निबंधों के साथ-साथ रेखाचित्र भी लिखते रहे हैं। रेखा और रंग उनके रेखाचित्रों का संग्रह है। **देवेन्द्र सत्यार्थी** (१९०८–) को घुमक्कड़ी जिन्दगी से बहुत प्यार रहा है, वे लोकगीतों का भी संग्रह करते रहे हैं। अतः उनके निबंधों और रेखाचित्रों में देश की धरती की सोंधी गंध और लोकजीवन की ताजगी मिलती है। 'धरती गाती है', 'एक युग : एक प्रतीक' और 'रेखाएँ बोल उठीं' उनके निबंध संग्रह हैं।

भदन्त आनन्द कौसल्यायन परिव्राजक हैं, भिक्षु हैं, गाँधीवादी हैं। घुमक्कड़ी जीवन की निर्बंधता, भिक्षुओं की दृष्टान्त कथाएँ तथा प्रगतिशील राजनीतिक चेतना का समावेश उनके निबंधों में हुआ है। 'जो भूल न सका उनका निबंध संग्रह है।

रामधारी सिंह दिनकर समय-समय पर महत्त्वपूर्ण निबंध लिखते रहे हैं। अधिकांश निबंधों में उनका विचारक पक्ष अधिक उभर कर आया है पर कुछ ऐसे निबंध निबंध भी हैं जो दिनकर के अपने अन्तरंग को अधिक उद्घाटित करते हैं। 'अर्धनारीश्वर', 'मिट्टी की ओर', 'रेती के फूल', 'हमारी सांस्कृतिक एकता', 'प्रसाद, पंत और मैथिलीशरण गुप्त', 'राष्ट्रभाषा और राष्ट्रीय साहित्य' आदि उनके निबंध संग्रह हैं।

उनके प्रत्येक निबंध में मानवीय आस्था का प्रतिफलन हुआ है। आस्था का मूलभूत आधार या तो मनोवैज्ञानिक है या सांस्कृतिक। पर ये दोनों आधार सहज में ही उनके अपने बन जाते हैं। इसके फलस्वरूप वे अपनी बात को विश्वसनीय बनाकर पाठकों तक भलीभाँति संप्रेषित करने में पूरे तौर पर समर्थ होते हैं।

किंतु जब वे प्रसाद, पंत, मैथिलीशरण पर विचार करने लगते हैं तो उनका कवि अपनी व्यूह-रचना में फँसकर तटस्थ नहीं रह पाता। फिर भी पंत और मैथिलीशरण पर जो कुछ कहा गया है वह दिनकर के स्वतंत्र काव्यचिंतन और विचारण का सूचक है।

समीक्षात्मक निबंधकारों में वैयक्तिकता का सर्वाधिक संस्पर्श **नगेन्द्र** के निबंधों

में है। कवि कल्पना और मनोवैज्ञानिक दृष्टि उनके व्यक्तित्व के अपरिहार्य अंग हैं। उनके कुछ समीक्षात्मक निबंधों में व्यक्ति-व्यंजक निबंधों की निर्बंधता और आत्मीयता देखी जाती है, जैसे, 'यौवन के द्वार पर'। इधर उनका एक यात्रा-वर्णन 'तंत्रालोक से यंत्रालोक' और एक संस्मरण-संग्रह 'चेतना के बिंब' प्रकाशित हुए हैं। किंतु इन निबंधों पर भी लेखक की समीक्षात्मक चेतना का प्रभाव, एक व्यक्ति की विशेषता को दूसरे से अलगाने की प्रवृत्ति परिलक्षित होती है।

सामान्यत: वे किसी तिथि का उल्लेख करते हुए किसी व्यक्ति से अपने परिचय का नाटकीय विवरण प्रस्तुत करते हैं। इस बाह्य परिचय के पूर्व ही उन्हें उस व्यक्ति के कृतित्व और व्यक्तित्व की जानकारी रहती है। फिर वे इन दोनों का समन्वय बाह्य कृति और आन्तरिक विशेषताओं के चित्रण द्वारा करते हैं। पर सब मिलाकर आन्तरिकता की ही प्रधानता रहती है। आन्तरिकता के चित्रण के समय यात्रा भाषा भी राग-दीप्त हो उठती है।

समीक्षात्मक निबंधों में भी उनका व्यक्तित्व सर्वत्र परिलक्षित होता है, लुप्त कहीं नहीं होता। पर यहाँ वैयक्तिकता का रंग थोड़ा बदल जाता है। विषय के प्रतिपादन में उनमें नि:संग आग्रह पाया जाता है। दूसरे शब्दों में अपने ही आग्रह के प्रति नि:संगता। बार-बार अपने ही से सवाल पूछना, अपनी ही मान्यताओं के प्रति शंकालु हो उठना नि:संगता के अभाव में संभव नहीं है। नि:संगता और आग्रह के बीच की तनावपूर्ण स्थितियाँ ही उनके निबंधों का सृजन कराती हैं। परंतु अपनी नि:संगता के बावजूद वे आग्रह से सर्वत्र मुक्त नहीं हैं। यह उनकी दृढ़ता का भी नाम हो सकता है। अनेकानेक साहित्यिक आन्दोलनों, मतवादों, नजरियों से संपृक्त होकर भी व नि:संग रहे हैं। इसलिए बहुत सी दिलचस्प बहसों में पड़कर भी उनकी अडिगता कहीं भी स्खलित नहीं हो पाई है।

कार्य-कारण की विश्लिष्ट श्रृंखला, पैना तर्क, विश्लेषण की अद्भुत क्षमता उनके निबंधों को विश्वसनीय बनाने में पूरा योग देते हैं। विषय-वस्तु से संबद्ध पारिभाषिक शब्दों का सटीक अर्थ-विवेचन, उठी हुई बहसों की सफाई, निष्कर्ष से उनके निबंधों की रूपरेखा बनती है। एक तरह से वे अपने ही से बहस करते हैं। बहस उनकी शैली है।

विचार और अनुभूति, विचार और विवेचन, विचार और विश्लेषण, अनुसंधान और आलोचना, कामायनी के अध्ययन की समस्याएँ, आस्था के चरण आदि उनके निबंध संग्रह हैं। इन नामों के आधार पर भी नगेंद्र की निबंध-शैली निर्धारित की जा सकती है। विचार और अनुभूति कथ्य हैं; विवेचना, विश्लेषण, आलोचना आदि शैली।

वासुदेव शरण अग्रवाल के निबंधों में भारतीय संस्कृति के विविध आयामों

को विद्वत्तापूर्ण ढंग से उद्‌घाटित किया गया है। 'पृथ्वीपुत्र', 'कला और संस्कृति', 'माताभूमि' आदि उनके संग्रह हैं।

यशपाल प्रतिबद्ध लेखन के कायल हैं। जो मार्क्सवादी दृष्टिकोण अथवा इसके अतिरिक्त जो प्रतिबद्धता उनके कथा साहित्य में मिलती है वही निबंधों में भी है। समानता, समता, समाजवाद आदि के विरोध में पड़ने वाले धर्म, संस्कृति, कला, साहित्य आदि की वे कड़ी भर्त्सना करते हैं। गाँधीवाद को वे प्रवंचनापूर्ण मानते हैं। 'चक्कर क्लब', 'देखा, सोचा समझा', 'बात बात में बात,' 'गाँधीवाद की शवपरीक्षा', 'न्याय का संघर्ष' आदि में उनके निबंध संगृहीत हैं। **प्रकाशचन्द्र गुप्त** काफी दिनों से लिखते रहे हैं। 'नया हिंदी साहित्य : एक भूमिका', 'साहित्य धारा', 'रेखाचित्र' और 'पुरानी स्मृति' उनके कृतित्व हैं।

रामविलास शर्मा भी मार्क्सवादी विचारधारा के पोषक हैं। उनके निबंधों में उनका श्रम और अपनी दृष्टि के प्रति ईमानदारी दिखाई देती है। जहाँ इन दोनों के दर्शन होते हैं वहाँ निबंध में वैचारिक परिपक्वता और विश्वसनीयता आ जाती है। किंतु शर्मा जी ने बहुत से भरती के निबंध भी लिखे हैं और उन्हें पुस्तकाकार प्रकाशित भी करा दिया है। भरती के निबंधों में उनकी पक्ष-धरता पत्रकारिता के आसपास पहुँच जाती है। 'प्रगति और परंपरा', 'साहित्य और संस्कृति', 'प्रगतिशील साहित्य की समस्याएँ' आदि उनके निबंध संग्रह हैं। **शिवदान सिंह चौहान** ने मुख्यतः प्रगतिवादी साहित्य के संबंध में सैद्धांतिक निबंध लिखे हैं।

सत्येन्द्र, विनयमोहन शर्मा आदि के निबंधों में विषय को स्पष्ट रूप से सपाट भाषा में प्रस्तुत किया गया है। देवराज उपाध्याय मनोविश्लेषण के सम्मोहन से कहीं उबर नहीं पाते। भाषा के दुरुपयोग और रेहटारिक में वे बेमिसाल हैं।

अज्ञेय अपने निबंधों में अपना अनुभूत लिखते हैं। 'त्रिशंकु', 'आत्मने पद' और 'हिन्दी साहित्य : एक आधुनिक परिदृश्य' और 'आलवाल' में संगृहीत निबंधों में अनुभूत का वैचारिक विश्लेषण है। आत्मने पद के निबंध वैयक्तिक संदर्भों में लिखे जाकर भी निर्वैयक्तिक आधुनिक संदर्भों की सृष्टि करते हैं। निजी-पन उनकी विशेषता है 'तो वही खामी भी है क्योंकि इसी के कारण वे रह-रहकर उपमा, उत्प्रेक्षा के कोष भी लुटाते चलते हैं। भाषाई अलंकरण विचारों का आवरण बन जाता है। आधुनिक परिदृश्य के अधिकांश निबंध उनके चिंतन के अगले चरण के रूप में स्वीकृत किए जाने जाहिए। आत्मने पद न होने के कारण इसकी भाषा में संश्लिष्टता आ गई है, इसलिए विचार भी संश्लिष्ट हो सके हैं। हिंदी

साहित्य के विविध रूपों को आधुनिक परिदृश्य में आँक कर अज्ञेय ने उन्हें मुख्यतः कला की समस्या के रूप में लिया है।

इन निबंधों के अतिरिक्त उन्होंने अपने यायावरीय जीवन को 'अरे यायावर रहेगा याद' और 'एक बूँद जो उछली सहसा' में लिपिबद्ध किया। इन यात्रा-वर्णनों में जीवन और जगत् के बीच अपने होने के प्रति उनके दार्शनिक दृष्टिकोण का परिचय मिलता है। कुट्टिचातन के नाम से उनके ललित निबंधों का संग्रह 'सब रंग' शीर्षक से प्रकाशित हुआ है।

बनारसीदास चतुर्वेदी संपादक, संस्मरण लेखक और रेखाचित्रकार हैं। अब तक उनके तीन संग्रह 'रेखाचित्र', 'हमारे आराध्य' और 'संस्मरण' प्रकाशित हो चुके हैं। चतुर्वेदी जी के वे ही संस्मरण और रेखाचित्र यथार्थ बन पड़े हैं जो सामान्य व्यक्तियों के संबंध में लिखे गए हैं। शेष में उपरले स्तर के भावनात्मक प्रसंग ही आँके जा सके हैं। **अश्क** का 'मंटो : मेरा दुश्मन' में आत्मीयता और खरापन दोनों दिखाई पड़ते हैं।

इन्द्रनाथ मदान के अनेक समीक्षात्मक निबंध संग्रह प्रकाशित हुए हैं— 'कविता और कविता', 'कहानी और कहानी', 'आलोचना और आलोचना' इत्यादि। इन निबंधों में आधुनिकता बोध के आधार पर, स्वयं कृतियों के भीतर से गुजरते हुए अपनी बात को दो टूक और खरेपन के साथ कहा गया है। यह खरापन मदान की भाषा में भी देखा जा सकता है। **देवराज** के कई समीक्षा संग्रह— 'साहित्य चिंता', 'साहित्य और संस्कृति', 'प्रतिक्रियाएँ'—प्रकाशित हो चुके हैं। देवराज ने अपने निबंधों में गंभीर साहित्यिक समस्याओं को उठाया है।

इनके अतिरिक्त विजयेन्द्र स्नातक के 'चिन्तन के क्षण', नेमिचन्द्र जैन के 'अधूरे साक्षात्कार'; बच्चन सिंह के 'समकालीन साहित्य : आलोचना को चुनौती', नामवर सिंह के 'इतिहास और आलोचना', रघुवंश के 'नई कविता का परिप्रेक्ष्य', लक्ष्मीकांत वर्मा का 'नए प्रतिमान पुराने निकष', रामस्वरूप चतुर्वेदी के 'भाषा और संवेदना' उल्लेखनीय हैं।

इधर के लेखकों में प्रभाकर माचवे, विद्यानिवास मिश्र, धर्मवीर भारती, नामवर सिंह, शिवप्रसाद सिंह, ठाकुरप्रसाद सिंह, कुबेरनाथ राय आदि के ललित निबंधों के संग्रह प्रकाशित हुए हैं। माचवे के 'खरगोश के सींग' में व्यंग्य की जगह विनोद अधिक है। विद्यानिवास मिश्र ने ललित निबंधों को गंभीरतापूर्वक लिया। 'चितवन की छाँह', 'आँगन का पंछी : बनजारा मन' आदि में संगृहीत निबंधों में भारतीय साहित्य और संस्कृति को लोक जीवन के साथ जोड़ने का उन्मुक्त प्रयास किया गया है। भारती के निबंधों पर पांडित्य का लदाव नहीं है। वे आडंबरहीन भाषा में प्रकृति से गहन सान्निध्य स्थापित कर सकते हैं,

डेड सी के तट पर दार्शनिक चिंतन कर सकते हैं और हल्के-फुल्के व्यंग्य-विनोद द्वारा हिपोक्रेसी का पर्दाफाश करते भी लिख सकते हैं। 'ठेले पर हिमालय', 'कहानी अनकहनी', 'पश्यन्ती' उनके निबंधों के संग्रह हैं। विद्यानिवास मिश्र की तरह कुबेरनाथ राय को भी हजारीप्रसाद द्विवेदी संस्थान का निबंधकार कहा जायगा। फर्क यह है कि मिश्र जी द्विवेदी जी के प्रभाव से मुक्त नहीं हैं जब कि कुबेरनाथ राय उनसे मुक्त होकर नए होने के लिए निरंतर प्रयत्नशील हैं। उनके निबंध संग्रह 'प्रिया नीलकंठी' में सांस्कृतिक संदर्भों से जीवन के आधुनिक आयामों को फूटते हुए तथा उनमें से झाँकती जिजीविषा को देखा जा सकता है। 'बकलम खुद' में नामवर सिंह के ललित निबंध संगृहीत हैं। उनमें भाषा की सहजता, कथन की वक्रता और व्यंग्यगर्भिता देखी जा सकती है। ठाकुरप्रसाद सिंह के निबंधों में व्यंग्य की बड़ी मारक शक्ति है। उन्होंने कड़वे तीते भोग को सामाजिक समस्याओं से संदर्भित करते हुए, शब्दबद्ध किया है। ठाकुरप्रसाद की भाषा में लाक्षणिकता की जो धार दिखाई देती है वह उनके व्यंग्य को दूरगामी और पैना बना देती है।

हास्य-व्यंग्य लेखकों में बेढब बनारसी पहले व्यक्ति हैं जिन्होंने अपने निबंधों द्वारा इस दिशा में पहल की। यद्यपि उनका उद्देश्य प्रकाश्य रूप से हँसी और विनोद का सृजन था फिर भी परोक्ष रूप से राजनीति और समाज की विसंगतियों पर वे गहरा व्यंग्य करते थे। हरिशंकर परसाई, केशवचन्द्र वर्मा, शरद जोशी, लक्ष्मीकांत वर्मा, भीमसेन त्यागी आदि ने भी संख्या में काफी व्यंग्यात्मक निबंधों की सृष्टि की है।

श्री हरिशंकर परसाई अरसे से व्यंग्य लिख रहे हैं। विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में उनके व्यंग्य छपते रहे हैं। उनके व्यंग्य सामान्यतः मूल्यगत विसंगतियों से संबद्ध होते हैं—मूल्य चाहे राजनीतिक हो, चाहे सांस्कृतिक या पीढ़ीगत। उनका लक्ष्य प्रहार करना नहीं होता है। वे धीरे से, किंतु नाटकीय ढंग से, मूल्य के दलालों को नंगा कर देते हैं। भूत के पाँव, सदाचार का तावीज और निठल्ले की डायरी में उनके व्यंग्य लेख संगृहीत हैं।

संस्मरण, रेखाचित्र, यात्रावर्णन, रिपोर्ताज

हिन्दी में संस्मरण, रेखाचित्र, यात्रावर्णन, रिपोर्ताज को वह स्थान नहीं प्राप्त है जो कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक आदि को प्राप्त है। हिन्दी में ही नहीं बल्कि दुनिया के अन्य साहित्य में भी उन्हें गौण स्थान मिला है। ये अपेक्षाकृत नवीन विधाएँ हैं और मात्रा में भी कम हैं। लेकिन आज की बहुरंगी जिन्दगी, पारस्परिक संपर्क, यातायात की सुविधाएँ, रेडियो-टेलीविजन

के माध्यम आदि के कारण वे प्रचुर मात्रा में लिखे जा रहे हैं। इसलिए इतिहास में उनको अपना स्थान मिलना ही चाहिए।

संस्मरण, रेखाचित्र, रिपोर्ताज के बीच विभाजक रेखा खींचना असंभव नहीं तो कठिन अवश्य है। संस्मरण और रेखाचित्र दोनों में किसी टिपिकल व्यक्ति, स्थान की विशेषताओं को इस ढंग से प्रस्तुत किया जाता है कि वह अपने आप में एक छोटी-सी इकाई बन जाता है। फिर भी दोनों वस्तु-रूप में भिन्न हैं।

संस्मरण व्यक्तिनिष्ठ विधा है और रेखाचित्र वस्तुनिष्ठ। लेखक के अपने संपर्क, मीठी-तीती स्मृतियाँ, आस्था-अनास्था आदि मिलकर उसकी तटस्थता को बाधित करते हैं। उसे हम विधा कहना चाहेंगे क्योंकि वह कई चीजों का घोल है। उसमें कथा-कहानी, व्यंग्य-विनोद, वर्णन-विवरण, निबंध, रेखाचित्र आदि का सतरंगा मिश्रण होता है। कभी-कभी या प्रायः स्मर्य-माण से कहीं अधिक लेखक का अपना व्यक्तित्व उभर आता है। पर रेखाचित्र की विधा ही ऐसी है जो लेखक को वस्तुनिष्ठ होने के लिए बाध्य करती है। लेखक के पास इसके लिए एक ही उपकरण होता है—शब्द-रेखा। वह अपने वर्ण्य के रूप-रंग, आदत, मैनरिज्म आदि के माध्यम से ही उसका रूपाकार प्रस्तुत करता है। इस माध्यम से ही वह वर्ण्य की आन्तरिकता तक पहुँचता है। वर्णन-विवरण का एकांत अभाव तो इसमें नहीं होता। फिर भी उसकी कमी अवश्य होती है।

संस्मरण गहरे संपर्क के आधार पर ही लिखा जा सकता है किंतु रेखाचित्र के लिए यह आवश्यक नहीं है। तटस्थता का अर्थ यह नहीं है कि लेखक अपने वर्ण्य के प्रति रागोन्मुख न हो। पर इस विधा के अपने 'वाइपर' रागोन्मुखता की भावुकता या सेंटीमेंटेलिटी को अलग करते चलते हैं। इसलिए रेखाचित्र के उपादान कम परिचित व्यक्ति या वस्तु भी हो सकते हैं।

संस्मरण और रेखाचित्र रिपोर्ताज की अपेक्षा अधिक गंभीर विधाएँ हैं। रिपोर्ताज रोचक पत्रकारिता का अंग है। पत्रों के लिए लिखी गई रपट की तरह ही यह बहुत कुछ तथ्यपरक, तात्कालिक और वस्तुनिष्ठ होता है। रिपोर्ताज-लेखन आशु कविता की तरह तुरत, बिना किसी तैयारी के लिखा जाता है। क्रिकेट-खेल, किसी महापुरुष के निधन आदि पर जो आँखों देखा हाल एक विशेष शैली में, घटनाओं की समानान्तरता में, रेडियो से प्रसारित किया जाता है, वह भी रिपोर्ताज होता है। यों घटनाओं की समानान्तरता में यह नहीं भी लिखा जाता है। इसमें कल्पना के लिए कम अवकाश रहता है। मुख्यतः लेखक को तथ्य और तथ्य के प्रति सामूहिक प्रतिक्रिया को शब्दबद्ध करना पड़ता है।

यह सामान्यतः वर्तमानकालिक होता है और संस्मरण की अपेक्षा रेखाचित्र के निकट होता है ।

पद्मसिंह शर्मा (१८७६-१९३२) हिन्दी के प्रारंभिक संस्मरण-रेखाचित्रों के प्रवर्तक माने जा सकते हैं। उनके 'पद्मपराग' में रेखाचित्र और 'प्रबंध मंजरी' में कुछ संस्मरण संगृहीत हैं । पर शर्मा जी तथ्य अथवा सूक्ष्म निरीक्षण के स्थान पर बे-पर की उड़ान में विश्वास रखते हैं। वाग्विस्फार के कारण उनके चित्र विचित्र बन गए हैं । एक उदाहरण देखिए :—

"हाय, हाय, क्या हो गया ! यह वज्रपात, यह विपत्ति का पहाड़ अचानक कैसे सिर पर टूट पड़ा । यह किसकी वियोगाग्नि से हृदय छिन्न-भिन्न हो गया, यह किसके शोकानल की ज्वालाएँ प्राण-पखेरू के पंख जलाये डालती हैं ।..."

श्रीराम शर्मा, बनारसीदास चतुर्वेदी, हरिशंकर शर्मा आदि पद्मसिंह शर्मा से प्रेरणा पाकर इस दिशा की ओर उन्मुख हुए । श्रीराम शर्मा ने शिकार के संबंध में बहुत से लेख लिखे हैं । पर 'बोलती प्रतिमा' (१९३७) और 'वे जीते कैसे हैं' (१९५७) में इनके रेखाचित्र-संस्मरण संगृहीत हैं । इन संग्रहों में भी वे ही चित्र अधिक प्रभावशाली बन पड़े हैं जो शिकार से संबद्ध हैं। वे सियार के संबंध में लिखते हैं—

"सियार स्वभाव से खतरे से बचता है । जंगल में अगर कोई भी जानवर सबसे कम खतरे का काम करता है, तो सियार। वह सर्वभक्षी है । प्रकृति का मेहतर है । इसलिए प्रकृति ने उसे और भी सावधानी से रहने को मजबूर किया है । प्रत्येक स्थान को शक और सावधानी से देखने की उसकी बान है । कंजूस और चालाक सूदखोर जिस प्रकार जोखिम की जगह रुपया नहीं लगाता, उसी प्रकार सियार जोखिम की बात से दूर रहना पसन्द करता है ।"

बनारसीदास चतुर्वेदी (१८९२) ख्यातिलब्ध पत्रकार तथा प्रतिनिधि संस्मरण-रेखाचित्रकार हैं । इनकी पत्रकारिता का आरंभ 'विशाल भारत' के संपादन से होता है । 'विशाल भारत' छोड़ने के बाद टीकमगढ़ से 'मधुकर' पत्र का संपादन किया । अपने संपादन काल में वे अनेक पत्रकारों, नेताओं, बुद्धिजीवियों आदि के गहरे संपर्क में आए । इसलिए इनके संस्मरणों-रेखाचित्रों में विशेष प्रकार की आत्मीयता और सन्निकटता के दर्शन होते हैं । पत्रकार होने के कारण इनमें विश्लेषणात्मकता और भावुकता दोनों का समन्वय दिखाई पड़ता है । विनोदप्रियता इनके व्यक्तित्व का प्रधान गुण है । इससे इनके निबंधों में सहजता और सरसता आ गई है । अपने पर हँस लेना विनोदप्रियता का अत्यंत महत्त्व-पूर्ण अंग है । कहना न होगा कि चतुर्वेदी जी को यह कला खूब मालूम है ।

प्रिंस क्रोपाटकिन (१९४०), हमारे आराध्य (१९५२), संस्मरण (१९५३),

रेखाचित्र (१९५३), सेतुबंधु (१९६२) इनके संस्मरण-रेखाचित्र संग्रह हैं। इन पुस्तकों में इस देश के साहित्यकारों-पत्रकारों-विचारकों के अतिरिक्त विदेशी साहित्यकारों-विचारकों के भी चित्र हैं। अपने देश के लोगों में सी० वाई० चिन्तामणि, राहुल सांकृत्यायन, संपूर्णानन्द, अख्तर हुसेन रामपुरी, महावीर प्रसाद द्विवेदी, राजेन्द्र बाबू, जवाहरलाल नेहरू, सत्यवती मल्लिक, नवीन आदि के रेखाचित्र-संस्मरण हैं। विदेशियों में इन्होंने दीनबंधु एण्ड्रयूज, प्रिंस क्रोपाटकिन, तुर्गनेव, रोमाँ रोलाँ, थोरो, बाकूनिन, लुई माइकेल आदि को रेखांकित किया है। इन रेखांकनों के अतिरिक्त उन्होंने कुछ सामान्य व्यक्तियों का भी रेखांकिन किया है, जैसे अंधी चमारिन, चार सिपाही, सुजान अहीर आदि।

इन संस्मरणों और रेखाचित्रों में जो वैविध्य दिखाई पड़ता है वह चतुर्वेदी जी के अपने व्यापक किंतु खास नजरिये का सूचक है। यदि इनके बीच अनुस्यूत किसी अन्तःसलिला की तलाश की जाय तो वह मानवतावादी धारा मिलेगी जो राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता दोनों में समान रूप से व्याप्त है। सबसे अधिक प्रभाव प्रिंस क्रोपाटकिन और इमर्सन का है।

चतुर्वेदी जी की भाषा-शैली उनके व्यक्तित्व के अनुरूप उन्मुक्त और सहज है। किसी भी व्यक्ति का चित्रांकन करते समय उनकी अपनी आत्मीयता की झलक भी मिलती चलती है। इससे संस्मरण-रेखाचित्र सप्राण हो उठे हैं। दो व्यक्तियों की तुलना, व्यंग्य-विनोद आदि के कारण भाषा में जान आ गई है।

महादेवी वर्मा मूलतः कवयित्री हैं। उनके काव्य में वेदना और दुःख को आकार मिला है। यह उनके जीवन की गहरी अनुभूति है। इस अनुभूति को उन्होंने सावधानी पूर्वक विभिन्न सूक्ष्म प्रतीकों और बिंबों के माध्यम से अभिव्यक्त किया है। किंतु महादेवी के व्यक्ति को समग्रता में देखने के लिए उनके संस्मरणों, रेखाचित्रों और निबंधों का आकलन जरूरी है। पर सब मिलाकर उनका व्यक्तित्व वेदना और करुणा के परमाणुओं से ही बना है। अतीत के चलचित्र (१९४१), स्मृति की रेखाएँ (१९४३) और पथ के साथी (१९५६) उनके संस्मरण-रेखाचित्रों के संग्रह हैं।

'अतीत के चलचित्र' में जिन रामा, बिन्दा, सबिया, बिट्टो, घीसा, अलोपी, बदलू-रधिया, लछमा आदि के चित्र खींचे गए हैं वे सामान्य तबके के व्यक्ति हैं। जाहिर है कि इन व्यक्तियों की महानता ने नहीं बल्कि लघुता और मानवीयता ने महादेवी को अनुभूतिमय बनाया है। इनके द्वारा कहीं न कहीं उनका अन्तरंग आन्दोलित होता है, उनकी ममता, करुणा, वेदना उभरती हैं। वेदना उनका स्थायी भाव है। ये पात्र विभावादि हैं। इनके माध्यम से उनका अपना जीवन,

छायावादी आदर्श कल्पना की प्रक्रिया से गुज़र कर सर्जनात्मक हो उठते हैं। चाहे विमाता के अत्याचार से पीड़ित बिन्दा हो, चाहे वेश्या माँ की सती पुत्री या दीनता की मूर्ति रधिया; सभी अपनी पीड़ा में किसी न किसी आदर्श को उजागर करते हैं जो छायावादी आदर्शों के मेल में हैं।

'स्मृति की रेखाएँ' में हनुमान की स्पर्धा करने वाली भक्तिन, पर्वतपुत्र जंघिया, मेधावी बालक मुन्नू, वात्सल्यमयी गुंगिया आदि की स्मृतियाँ सँजोई गई हैं। 'पथ के साथी' में पंत, निराला, मैथिलीशरण गुप्त, सुभद्राकुमारी चौहान और सियारामशरण गुप्त के संस्मरण संगृहीत हैं।

इन संस्मरणों में भी उनकी स्थायी करुणा ही उजागर हुई है—स्त्रीजनोचित करुणा। महादेवी कवि होने के साथ-साथ चित्रकार भी हैं। वे अपने चित्रों को पृष्ठभूमियों में आँकती हैं। किन रेखाओं में किन रंगों को डाला जाय यह महादेवी को खूब मालूम है। चित्र को रंगीन बनाने में वे अपनी काव्यात्मक प्रतिभा का उपयोग करती हैं तथा बिंबात्मक बनाने में अलंकारों का। उनके चित्र का एक नमूना देखिए :—

"चिकने काले और छोटे-छोटे बाल पसीने से उसके ललाट पर चिपक कर काले अक्षरों जैसे जान पड़ते थे और मुँदी हुई पलकें गालों पर दो अर्धवृत्त बना रही थीं। छोटी लाल कली जैसा मुँह नींद में कुछ खुल गया था, और उस पर एक विचित्र सी मुस्कराहट थी, मानो कोई सुन्दर स्वप्न देख रहा हो।"

रामवृक्ष बेनीपुरी (१९०२) का जन्म जिला मुजफ्फरपुर के बेनीपुर गाँव में हुआ था। शहर में रहने पर भी गाँव की माटी की गंध उन्हें कभी विस्मृत नहीं हो सकी। वे लेखक होने के साथ-साथ संपादक तथा सक्रिय राष्ट्रीय कार्यकर्ता थे। राष्ट्रीय आन्दोलन में जेल की यात्राएँ भी कर चुके थे। उनका व्यक्तित्व विद्रोही और उन्मुक्त था। उनके रेखाचित्रों का पहला संग्रह 'लाल तारा' (१९३८) उनके विद्रोही और मार्क्सवादी दृष्टिकोण का परिचायक है। उन्होंने स्वयं लिखा है—"लाल तारा मेरे शब्दचित्रों का पहला संग्रह है। इसका पहला रूप उस जमाने में निकला था, जब मैं सिर से पैर तक लाल-लाल था।"

'माटी की मूरतें' (१९४५) में गाँव के परिचितों के आत्मीय चित्र हैं। 'लाल तारा' के शब्दचित्र बौद्धिक हैं तो 'माटी की मूरतें' के चित्र अनुभूतिमय। रजिया, बलदेवसिंह, सरजू भैया, मंगर, रूपा की आजी, भौजी, सुभान खाँ आदि में संबंधों की आत्मीयता, संस्मरणों का माधुर्य, जीवन की तिक्तता आदि को अत्यंत सजीव भाषा में सप्राण बनाया गया है।

'गेहूँ और गुलाब' (१९५०) में संगृहीत रेखाचित्र पिछले चित्रों से भिन्न हैं। पहले लेखक 'गेहूँ' के प्रति अधिक आकृष्ट था पर 'गेहूँ और गुलाब' में दोनों के

समन्वय पर जोर देता है। भौतिकता और आध्यात्मिकता का समन्वय एक ऐसी स्थिति की सूचना देता है जो उसकी सामंजस्यपूर्ण मनोदशा का द्योतक है। 'मील के पत्थर' में मुख्यत: साहित्यकारों के शब्दचित्र हैं।

पर सब मिलाकर बेनीपुरी की भाषा-शैली नव्य छायावादियों के मेल में है अर्थात् सहज भाषा, चलते मुहावरों के प्रयोग आदि के कारण अन्य रेखाचित्र-कारों की अपेक्षा उनके चित्र पाठकों को अधिक आकृष्ट करते हैं। महादेवी के चित्र महादेवी की करुणा पाते हैं जब कि बेनीपुरी के चित्र ऊपर से कुछ पाते नहीं वल्कि वे भीतर से ही निर्मित होते हैं। बेनीपुरी की भाषा-शैली का नमूना देखिए :—

"कि अचानक, लो यह क्या ? वह रजिया चली आ रही है। रजिया ! वह बच्ची। अरे रजिया फिर बच्ची हो गयी ? कानों में वे ही बालियाँ, गोरे चेहरे पर वे ही नीली आँखें, वही भर बाँह की कमीज, वे ही कुछ लटें जिन्हें सम्हा-लती बढ़ी आ रही है। बीच में चालीस-पैंतालीस साल का व्यवधान। अरे, मैं सपना तो नहीं देख रहा ? दिन में सपना ? वह आती है, गव्वर ऐसी भीड़ में घुस कर मेरे निकट पहुँचती है, सलाम करती है और मेरा हाथ पकड़ कर कहती है—चलिए मालिक, मेरे घर।"

'पथचिह्न' और 'परिव्राजक की प्रजा' शांतिप्रिय द्विवेदी की संस्मरणात्मक रचनाएँ हैं। 'परिव्राजक की प्रजा' में दो ही प्रमुख व्यक्ति हैं—स्वयं शांतिप्रिय द्विवेदी और उनकी बड़ी बहिन कलावती। इसमें लेखक ने बहिन के प्रति अपनी अशेष श्रद्धा समर्पित करते हुए अपने जीवन के मार्मिक प्रसंगों को भी चित्रित किया है। 'पथचिह्न' में द्विवेदी जी के कुछ संस्मरण और निबंध संगृहीत हैं। शांतिप्रिय द्विवेदी की गद्यशैली छायावादी गद्य की प्रतिनिधि गद्यशैली है जिसमें सर्वत्र तरल भावुकता के दर्शन होते हैं।

देवेन्द्र सत्यार्थी के रेखाचित्र 'रेखाएँ बोल उठीं' में संगृहीत हैं। कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर के कई संस्मरण-रेखाचित्रों के संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं— भूले हुए चेहरे, बाजे पाइलिया के घुँघुरू, दीप जले शंख बजे, माटी हो गई सोना, क्षण बोले कण मुसकाए।

व्यंग्यप्रधान रेखाचित्रकारों में वेढब बनारसी, अन्नपूर्णानन्द, हरिशंकर परसाई आदि उल्लेख्य हैं।

आलोचना

हिन्दी आलोचना के दूसरे दौर में रामचन्द्र शुक्ल का अवदान सम्पूर्ण भारतीय काव्य-शास्त्र में अप्रतिम स्थान का अधिकारी है। इतने प्रौढ़ और सर्वांगीण आलोचक की विचार-सरणि से परवर्ती हिन्दी आलोचना का प्रभावित न होना आश्चर्य-

जनक लगता है, किन्तु उनके प्रभाव को ग्रहण करते हुए भी आलोचकों ने अपनी मौलिकता और स्वतंत्र दृष्टि का परिचय दिया है। हिंदी आलोचना का समग्रतः आकलन करने पर परिचारिक क्रम-विकास के पद-चिह्नों को साफ-साफ देखा जा सकता है। इनके कारण जिन नये मार्गों का अन्वेषण हुआ, वे अन्य भारतीय भाषाओं के आलोचनात्मक मार्गों से किसी भी प्रकार कम प्रशस्त या न्यून नहीं कहे जा सकते।

शुक्ल जी की कालावधि में ही उनकी विचारधारा से मुक्त होने का प्रयास आरंभ हो गया था। जिस समय शुक्ल जी का यश अपनी पूरी ऊँचाई पर जा पहुँचा था, उसी समय नन्ददुलारे वाजपेयी ने शुक्ल जी की त्रुटियों का उल्लेख करते हुए नवीन पद्धति के निर्माण की चेष्टा की। शुक्ल जी से वाजपेयी जी की टकराहट पहले पहल छायावादी काव्य सन्दर्भ में ही हुई। हजारीप्रसाद द्विवेदी और नगेन्द्र के सामने भी शुक्लजी का व्यक्तित्व इतनी दृढ़ता और अडिगता में स्थापित हो चुका था कि प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में अपनी स्वतंत्रता के लिए उनसे टकराना अनिवार्य था। कहना न होगा कि द्विवेदी जी और नगेन्द्र जी को भी उनसे टकराना पड़ा। इन ती ों समर्थ आलोचकों ने शुक्ल जी से टकराकर एक ओर उनकी श्रेष्ठता को स्वीकार किया और दूसरी ओर अपने लिए नया मार्ग ढूँढ़ कर हिन्दी आलोचना को आगे बढ़ाया। नवीन पद्धति का निर्माण करके भी इन्हें सामान्यतः शुक्ल संस्थान के आलोचक के रूप में ही स्वीकार करना चाहिए।

नन्ददुलारे वाजपेयी

सबसे पहले वाजपेयी जी ने शुक्ल जी की सीमाओं को उद्घाटित किया। उन्होंने छायावादी काव्य के संदर्भ में शुक्ल जी के दृष्टिकोण को नवीन साहित्यिक संवेदना के उपयुक्त नहीं माना। उनका कहना था कि अपने पूर्वग्रह और द्विवेदी कालीन संस्कारों के कारण शुक्ल जी छायावादी काव्य के साथ न्याय नहीं कर सकते। वाजपेयी की समीक्षात्मक दृष्टि के निर्माण में छायावादी काव्य का प्रमुख योग रहा है। उसकी नूतन कल्पना-छवियों, भावों और भाषारूपों की ओर वे विशेष आकृष्ट हुए। अपने मध्यकालीन संस्कारों में रत्नाकर तथा साकेत की रुआँसी अभिव्यक्तियाँ उन्हें अनाकर्षक लगीं। महावीर प्रसाद द्विवेदी के भाषा संबंधी परिष्कार एवं सुरुचिपूर्ण संपादन को महत्त्व देते हुए भी उनके साहित्य को उन्होंने अत्यंत साधारण कोटि का माना। प्रेमचन्द के आदर्श की भी वे अधिक प्रशंसा न कर सके। उस समय के 'विशाल भारत' में प्रकाशित लेख उनकी नववयोचित तेजस्विता, प्रखरता और पैनी दृष्टि के कारण छायावादी काल की आलोचना के दस्तावेज बन गये।

सन् १९४१ में जब वे काशी हिंदू विश्वविद्यालय में प्राध्यापक नियुक्त

होकर आये, उनकी दृष्टि में क्रमशः सन्तुलन आता गया। वह पेशा ही ऐसा है जो व्यक्ति को सन्तुलित बनाता है और इसके साथ ही शंका पैदा होती है कि क्या वह धार को कुंठित तो नहीं करता ? जो भी हो, किन्तु इसके बाद वाजपेयी जी के लेखन में संतुलन और वैविध्य आया। इस दौर में उनके कई ग्रंथ प्रकाशित हुए—आधुनिक साहित्य, नया साहित्य नये प्रश्न, कवि निराला, राष्ट्रीय साहित्य तथा अन्य निबंध इत्यादि।

आधुनिक साहित्य और नया साहित्य नये प्रश्न में संगृहीत निबंधों में उनका संतुलन देखा जा सकता है। साकेत, कामायनी, प्रेमचन्द, गोदान आदि निबंध इसलिए लिखे जान पड़ते हैं कि बीसवीं शताब्दी में लिखे संकलित निबंधों को संतुलित किया जा सके। इन निबंधों में वाजपेयी जी ने किसी आलोच्य ग्रंथ पर अपने पूर्वग्रह को लादा नहीं है बल्कि इन ग्रंथों को स्वयं समीक्षा सरणि के ही रूप में ग्रहण किया गया है। इनकी आलोचना करते समय उनमें अनुस्यूत आधुनिकता और नवनिर्माण के प्रयास को बराबर दृष्टि में रखा गया है।

काव्य में उन्होंने मुख्यतः सौन्दर्यानुसन्धान किया है और वह सौन्दर्यानुसन्धान जीवन चेतना से सम्पृक्त है किन्तु कथा और नाटक के आलोचना क्षेत्र में वे मुख्य रूप से मूल जीवन चेतना और सामाजिक प्रभाव तथा उसके परिदृश्य का आकलन करते हैं। जैनेन्द्र के सीमित दृष्टिकोण, वैविध्यहीनता, काल्पनिकता और ह्रासोन्मुखी मूल्यों पर कदाचित् पहली बार प्रहार किया। इसी तरह शेखर एक जीवनी के संबंध में वे एक प्रश्न उठाते हैं कि कला और निरीक्षण संबंधी लेखक की मार्मिकता और गहरी पैठ हमको कहाँ ले जाती है। अश्क के उपन्यास संसार को वे सजीव पर उसके प्राणियों को निर्जीव कहते हैं। जाहिर है कि वे कलागत प्रौढ़ता को स्वयंसिद्धि और मनोवैज्ञानिक पैठ को आत्मसाध्य नहीं मानते। इनके साथ उच्चतर नैतिक मूल्यों का समीकृत होना भी अनिवार्य है। प्रसाद के नाटकों को स्वच्छन्दतावादी और लक्ष्मीनारायण मिश्र के नाटकों को पुनरुत्थानवादी कहना उनके मौलिक चिन्तन और यथार्थ की पहचान का परिचायक है।

नये छायावादी काव्य के मार्ग में पड़ने वाले समस्त अवरोधक तत्त्वों का वाजपेयी जी ने जबरदस्त विरोध किया है। रस की अलौकिकता को उन्होंने पाखण्ड कहा है। उन्होंने लिखा है—"हम कला के लिए कला को व्यर्थ दोष देते हैं, हमारा अलौकिक सानन्द रसवाद भी उससे कम नहीं रह गया था। आधुनिक समीक्षा के लिए वे रसवाद को बहुत उपयोगी नहीं मानते। आधुनिक युग का समीक्षक कवि का मानसिक और कलागत विकास देखने का प्रयास करता है। उसके व्यक्तित्व और परिवेश से परिचित होकर कृति का संश्लिष्ट चित्र प्रस्तुत करता

है। रस-संप्रदाय पर अकर्मण्यता का आरोप करते हुए उन्होंने कहा है कि रस-वाद अपने संरक्षण से निम्न से निम्न कवियों को प्रश्रय देता रहा है।

निराला के प्रसंग में उन्होंने लिखा है—"प्राचीन काव्य कहते कि ध्वनिमूलक काव्य श्रेष्ठ है पर इस आग्रह को हम हद से बाहर लिये जा रहे हैं, नवीन काव्य जिस नैसर्गिक अदम्यता को लेकर आया है, उसमें यह सम्भव नहीं कि वह परम्परा प्राप्त नैसर्गिक ध्वन्यात्मकता का अनुसरण करता चले। प्रचलित प्रणाली को तोड़ने में, नवीन युग का सन्देश सुनाने में काव्यक्रम प्राप्त मर्यादाओं को उखाड़ फेंकता है।...अभिधा की प्रणाली इस स्पष्टवादी मनोवृत्ति के विशेष अनुकूल है।"

इधर हिंदी समीक्षा में भाषा के विवेचन पर अधिक बल दिया जाने लगा है। अमरीकी नयी आलोचना का प्रभाव भी हिंदी आलोचना पर पड़ा है। काव्य की संरचना को लेकर अमरीकी नये आलोचक श्री शिकागो संस्थान के आलोचकों ने बहुत कुछ लिखा है पर नये आलोचक आलोचना का संबंध केवल भाषा संरचना तक ही मानते हैं, मूल्यों और संवेदनाओं से उनका कतई ताल्लुक नहीं होता। उन्होंने लिखा है—"पिछले कुछ समय से हिंदी के कुछ समीक्षक भाषा और उसके प्रयोग की सटीकता को काव्य का एकमात्र महत्त्वपूर्ण तत्त्व बना रहे हैं।...परन्तु हमें उन संवेदनाओं के स्वरूप और वैशिष्ट्य की भी छानबीन करनी पड़ेगी, जिनके फलस्वरूप नई शब्दावली का आग्रह किया जाता है।... भावों और संवेदनाओं के स्वरूप का ध्यान रखे बिना केवल भाषा के परिमार्जन और नवीनीकरण की चर्चा करना या भाव करना अपने में एकांगी परिमाप है। काव्य के दोनों पक्षों का—कवि की संवेदना और उसकी अभिव्यक्ति का—समन्वित विवेचन ही काव्य समीक्षा के लिए उपादेय हो सकता है।"

अन्त में यह विचारणीय हो जाता है कि वाजपेयी जी की समीक्षा को क्या कोई एक नाम दिया जा सकता है? जब वे रस सम्प्रदाय की अकर्मण्यता पर प्रहार करते हुए कहते हैं कि वह कला के लिए कला के समान्तर है तो उन्हें शुक्ल जी की परम्परा में कैसे रखा जा सकता है? वाजपेयी जी को प्रायः छाया-वादी, स्वच्छन्दतावादी, सौष्ठववादी, रसवादी, अध्यात्मवादी समीक्षक कहा गया है। ये सारे नाम इस बात के सूचक हैं कि उनकी समीक्षा पर किसी वाद का अधिकार नहीं रहा है। छायावाद, रहस्यवाद, प्रगतिवाद में खासी दिलचस्पी लेते हुए भी वे वाद गुही नहीं थे। किन्तु शुक्ल जी की भाँति उन्होंने वादों का एक-तरफा खण्डन नहीं किया है। उनके वादी तत्त्व काव्य के लिए बहुत कुछ उपादेय हैं।

वाजपेयी जी ने स्वयं रस का खण्डन न करके रसवाद का खण्डन किया है।

शुक्ल जी ने रस को मनोवैज्ञानिक भूमि पर प्रतिष्ठित किया और वाजपेयी जी ने उसके विस्तार पर आग्रह किया है। वे निराला के संदर्भ में बुद्धि तत्त्व और अविधात्मक काव्य-शैली को काव्य-सीमा में समाविष्ट करते हैं। वे वैयक्तिकता को अधिकाधिक सामाजिक बनाने के पक्षपाती हैं। रूढ़ियों का वे कहीं समर्थन नहीं करते--रूढ़ियाँ चाहे वैयक्तिक हों या सामाजिक।

काव्य समीक्षा के मान के रूप में मुख्यत: दो ही वस्तुएँ उनके सामने आती हैं--भावात्मक निष्पत्ति और रूपात्मक सौन्दर्य। उन्होंने कहा है कि वाद कोई भी हो, कविता की संवेदनाएँ कैसी हैं, किस कोटि की हैं--उसका बाह्य और अन्तरंग सौन्दर्य हमारी चेतना और सौन्दर्यदृष्टि को किस रूप में और किस कारण प्रभावित करता है--मेरे लिए इतना ही ज्ञातव्य है।

हजारीप्रसाद द्विवेदी

हजारीप्रसाद द्विवेदी दूसरे आलोचक हैं जिनकी आलोचनात्मक उपलब्धियाँ महत्त्वपूर्ण और संग्रहणीय हैं। यद्यपि इन्होंने सन् '४०–४१ से पहले ही लिखना आरम्भ कर दिया था परन्तु इनकी पहली महत्त्वपूर्ण पुस्तक 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' है जो सन् '४० में प्रकाशित हुई। इसे उनके सिद्धान्तों की बुनियादी पुस्तक कहा जा सकता है। इसी पुस्तक में उन्होंने आलोचना की ऐतिहासिक पद्धति की प्रतिष्ठा की। उनका कहना है कि किसी ग्रंथकार का स्थान निर्धारित करने के लिए क्रमागत सामाजिक, सांस्कृतिक एवं जातीय सातत्य को देखना आवश्यक है। इसके लिए आवश्यक है कि आलोचक को अपनी जातीय परंपरा या सांस्कृतिक विरासत का पर्याप्त बोध हो। बोध का अर्थ समझदारी से है कोरे पांडित्य से नहीं। द्विवेदी जी में बोध और पांडित्य का अद्‌भुत सम्मिश्रण है। नवीन मानवतावाद और समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण के कारण उनका पांडित्य लचीला और बोध आधुनिक बन जाता है।

द्विवेदी जी भी मुख्यत: शुक्ल संस्थान के ही आलोचक हैं। फिर भी वे अपने मानवतावादी दृष्टिकोण तथा ऐतिहासिक पद्धति के कारण शुक्ल जी से अलग हो जाते हैं। द्विवेदी जी के पहले मनुष्य की महिमा और मानवीय मूल्यों में इतनी गहन आस्था किसी आलोचक ने नहीं व्यक्त की। आचार्य शुक्ल भी मनुष्य के उदात्त आदर्शों के प्रति आस्थावान रहे हैं। किंतु उनकी आस्थाएँ वर्णाश्रम धर्म की चौहद्दी में बहुत कुछ सीमित थीं।

मनुष्य की महिमा की प्रतिष्ठा आधुनिक युग की चेतना का परिणाम है, जिसका प्रादुर्भाव छायावादी कविता के साथ-साथ होता है। द्विवेदी जी की पहली पुस्तक सूर-साहित्य में छायावादी भावुकता का प्राधान्य हो गया है, इसलिए विचार का पक्ष बहुत कुछ दब गया है किन्तु सन् '४० में उनमें जो परिपक्वता

दिखाई पड़ी, उससे हिंदी की आलोचना-पद्धति और ऐतिहासिक दृष्टिकोण पर गहरा प्रभाव पड़ा। जिस नैरन्तर्य की आरम्भ में चर्चा की गई है, वह सन् '४० में ही वैचारिक स्तर पर प्रतिष्ठित हुआ।

कबीर के अध्ययन में उनके दृष्टिकोण का प्रायोगिक रूप स्पष्ट हुआ है। उन्होंने कबीर को सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक और साहित्यिक नैरंतर्य के व्यापक परिप्रेक्ष्य में देखा। किसी कवि के मूल्यांकन के लिए क्रमागत परंपरा और समसामयिक संदर्भ दोनों उपयोगी होते हैं। पर शर्त है कि इनका उपयोग उसकी कृति का मूल्यांकन करने के लिए किया जाय।

इस नैरंतर्य के साथ-साथ कबीर के नए मूल्यांकन में उनकी आधुनिकतावादी दृष्टि का भी पर्याप्त योग रहा है। उन्होंने बताया है कि क्या भाव, क्या भाषा, क्या अलंकार, क्या छंद, क्या पारिभाषिक शब्द सर्वत्र वे ही सिद्ध योगी कबीरदास के मार्गदर्शक थे। कबीर की भाँति ये साधक नाना मतों का खंडन करते थे, सहज और शून्य में समाधि लगाने को कहते थे। सहजयानी सिद्धों और नाथपंथी योगियों का अक्खड़पन कबीर में पूरी मात्रा में है। परन्तु कबीर की महत्ता इस अनुवर्तन में नहीं थी—बल्कि मनुष्य-मनुष्य के बीच जो रागात्मक संबंध है उसके उद्‌घाटन में थी।

कबीर के भाषागत वैशिष्ट्य पर भी पहले-पहल उन्हीं की दृष्टि गई—आज तक हिंदी में ऐसा व्यंग्य-लेखक नहीं पैदा हुआ। उनकी साफ चोट करनेवाली भाषा, बिना कहे भी सब कुछ कह देनेवाली शैली और अत्यंत सादी, किंतु अत्यंत तेज प्रकाशन-भंगी अनन्य असाधारण है। परंतु बीच-बीच में उनकी भावुकता उनका साथ नहीं छोड़ती। भाषा के संबंध में ही वे आगे लिखते हैं—भाषा पर कबीर का जबरदस्त अधिकार था। वे वाणी के डिक्टेटर थे। जिस बात को उन्होंने जिस रूप में प्रकट करना चाहा है, उसे उसी रूप में कहलवा लिया—बन गया तो सीधे-सीधे नहीं तो दरेरा देकर। भाषा कुछ कबीर के सामने लाचार-सी नजर आती है।

द्विवेदी जी का आधुनिक दृष्टिकोण और नवीन मानवतावाद रावीन्द्रिक मानवतावाद से बहुत दूर तक प्रभावित है, परन्तु वह उसकी प्रतिकृति नहीं है। रूमानियत से संपृक्त होते हुए भी वह एक हद तक उससे मुक्त है। दूसरे शब्दों में वह अपेक्षाकृत यथार्थ के अधिक निकट है, यद्यपि उन्हें यथार्थवादी नहीं कहा जा सकता। रविबाबू और द्विवेदी जी का अन्तर बंगाल और उत्तर प्रदेश की भूमि का भी हो सकता है। यह मानवतावाद मध्यकालीन मानवतावाद से भिन्न है। एक मानवतावाद धर्म और ईश्वर पर आधारित था तो दूसरा मनुष्य की ऐहिक दृष्टि और मूल्य-मर्यादा बोध पर स्थित है। यह नवीन मानवतावाद

मनुष्य के मर्त्य जीवन को किसी प्रकार के पाप-फल भोगने का परिणाम न समझ कर उसे उसी दुनिया में दुःख-शोक से बचाना और सुख-समृद्धि से सम्पन्न करना चाहता है। उसे दैविक कृपा पर न निर्भर रहकर अपने ही क्रिया-कलापों पर निर्भर रहना पड़ता है। ये सारे क्रिया-कलाप पशुत्व और जड़त्व से ऊपर उठने में निहित हैं। प्रश्न होता है कि पशुत्व से उनका अभिप्राय है––जीवशास्त्रीय लालसा की पूर्ति, और जड़ता का मतलब है परिवर्तित होने की क्षमता का अभाव।

द्विवेदी जी का कहना है जीवशास्त्रीय लालसा से मुक्त होना मनुष्य का ऐश्वर्य है। प्रयोजनातीत पदार्थ का नाम प्रेम है, भक्ति है, मनुष्यता है। इसी को वे साहित्य का मर्म कहते हैं। उनकी दृष्टि में साहित्य का मर्म वही समझ सकता है, जो साधना और तपस्या का मूल्य समझे। मनुष्यधर्मी जीवन पशु-सुलभ धरातल से ऊपर उठ जाता है। एक दूसरे स्थान पर व लिखते हैं––"जो साहित्य हमारी वैयक्तिक क्षुद्र संकीर्णताओं से ऊपर उठा ले जाय और सामान्य मनुष्यता के साथ एक कराके अनुभव करावे, वही उपादेय है। उसके भाव-पक्ष के लिए किसी देश-विदेश की नैतिक आचार-परम्परा का मुँह जोहना आवश्यक नहीं है। हमें दृढ़ता से केवल एक बात पर अड़े रहना चाहिए और वह यह कि जिसे काव्य-नाटक-उपन्यास-साहित्य कहकर हमें दिया जा रहा है, वह हमें पशु सामान्य मनोवृत्तियों से ऊपर उठा कर समस्त जगत् के सुख-दुःख समझने की सहानुभूतिपूर्ण दृष्टि देता है या नहीं।"

द्विवेदी जी का मानवतावाद आदर्शवादी मानवतावाद है किन्तु यह आदर्श यथार्थ से सम्पृक्त है। इसीलिए उन्हें न तो शुद्ध रोमैंटिक कहा जा सकता है न शुद्ध यथार्थवादी। अपने रोमैंटिक आदर्शों के कारण न तो वे आदर्शवादी हैं और न तो यथार्थवादी मूल्यों के कारण कोरे रोमैंटिक। वे वैज्ञानिक मानवतावाद की श्रेणियों में भी नहीं गिने जा सकते। क्योंकि कोरी भौतिक प्रगति और सामाजिक सुख-सुविधा तक ही वे अपने को सीमित नहीं कर पाते।

अपने 'हिंदी साहित्य' ग्रंथ में तथा अन्यत्र भी उन्होंने सूर-तुलसी आदि का मूल्यांकन भी मानवतावादी दृष्टि से किया है। प्रेमचन्द का आकलन भी मानवतावादी दृष्टि से हुआ है और यही उनकी श्रेष्ठता का मेरुदण्ड है। उनके आलोचनात्मक विश्लेषण में आत्मसमर्पण, विनीत मनोभाव, त्यागसाधन, तपश्चर्या, संयम शब्द बार-बार प्रयुक्त हुए हैं। स्पष्ट है कि जिन रचनाओं में इन मानवीय गुणों पर अधिक बल मिलता हो उन्हें वे श्रेष्ठ कृतियों की संज्ञा देंगे। इसी को वे प्रयोजनातीत भी कहते हैं। द्विवेदी जी ने मनुष्यता को साहित्य और रस का पर्याय मान लिया है। इससे एक बड़ी बाधा यह उत्पन्न

होती है कि साहित्य और असाहित्य के बीच कोई विभाजक रेखा नहीं खींची जा सकती। साहित्य पहले साहित्य है इसके बाद कुछ और। द्विवेदी जी की आलोचना में साहित्य का पक्ष सूख जाता है। केवल कुछ और का पक्ष ही विवेचित होता है।

वस्तुतः उनका ठीक-ठीक मूल्यांकन व्यावहारिक समीक्षा के आधार पर किया ही नहीं जाना चाहिए। वे विचारों के समीक्षक क्रिटिकल आइडियाज हैं, उनका महत्त्व साहित्य के मूल्यों के बदलने तथा उन्हें नवीन मानवतावादी मूल्यों से जोड़ने में है। हिंदी साहित्य के आदिकाल का पुनर्मूल्यांकन करना, कबीर के विवेचन में परम्परा-मुक्त काव्य-संबंधी स्थिर मान्यताओं पर प्रश्न-चिह्न लगाना, बिहारी की रीतिबद्धता या रीतिसिद्धता सिद्ध करना आदि उपलब्धियाँ हैं, जो उन्हें उन समीक्षकों की कोटि में रखती हैं, जो समय-समय पर युगानुरूप नये मूल्यांकन पर जोर देते हैं।

नगेन्द्र

नगेन्द्र ने हिन्दी आलोचना को व्यावहारिक एवं सैद्धान्तिक दोनों दृष्टियों से सम्वर्द्धित किया है। उनकी दोनों प्रकार की आलोचनाओं का विश्लेषण करने पर निश्चित हो जाता है कि वे रसवादी आलोचक हैं। अपने रस-सिद्धान्त ग्रंथ में उन्होंने रस की सांगोपांग विवेचना करते हुए इसे पुनः प्रतिष्ठित करने का पांडित्यपूर्ण प्रयास किया है। रसवाद पर जितना एकान्तिक आग्रह नगेन्द्र जी का दिखाई पड़ता है, उतना अन्य किसी आलोचक का नहीं।

यदि वाजपेयी जी, द्विवेदी जी और डा० नगेन्द्र की आलोचनाओं के वृत्त बनाये जायँ तो वाजपेयी जी की स्थिति मध्यवर्ती ठहरती है। उनकी वृत्त-परिधि एक ओर द्विवेदी जी की वृत्त-परिधि का स्पर्श करती है, तो दूसरी ओर नगेन्द्र की। द्विवेदी और नगेन्द्र की परिधियाँ एक दूसरे से अछूती रह जाती हैं। द्विवेदी जी की मानवतावादी सिद्धान्तों की समीक्षा में साहित्येतर तत्त्वों की बहुलता है, वाजपेयी साहित्यिक मूल्यों पर बल देते हुए भी यथास्थान साहित्यिक मूल्यों का प्रयोग करते हैं किन्तु नगेन्द्र जी एकान्ततः साहित्यिक समीक्षा सिद्धान्त के पक्षपाती हैं। साहित्येतर मूल्यों से उनका संबंध प्रायः नहीं है।

सर्वप्रथम छायावादी आलोचक के रूप में ही उन्हें ख्याति मिली। प्रीति और विस्मय से समन्वित छायावादी काव्य की अन्तर्मुखी साधना सौन्दर्य-चेतना और कलात्मक छवियों से वे विशेष आकृष्ट थे। 'सुमित्रानन्दन पंत' शीर्षक पुस्तक इसी मनोदशा का परिणाम है। यह पुस्तक शास्त्रीयता से हटकर है, इसलिए इसमें एक टटकापन और सादगी है। सुमित्रानन्दन पंत के एक वर्ष बाद ही 'साकेत एक अध्ययन' का प्रकाशन उनकी शास्त्रीय रुचि का ही परिचायक है।

रीतिकाव्य की भूमिका तथा देव और उनकी कविता के अध्ययन, मनन तथा लेखन के सिलसिले में उनकी रसवादी दृष्टि पूर्णतः पुष्ट हो गई।

रसवादी दृष्टि के पुष्ट होने का तात्पर्य यह नहीं है कि उन्होंने संस्कृत शास्त्रों में विवेचित रस को ज्यों का त्यों स्वीकार कर लिया है। रस के विवेचन में उन्होंने मनोविज्ञान की पूरी सहायता ली है। आधुनिक हिंदी नाटक विचार और अनुभूति, आधुनिक हिंदी कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ, आदि ग्रंथों में उनकी तीखी मनोवैज्ञानिक दृष्टि का पता लगता है। इसीलिए कुछ लोगों ने उन्हें भ्रमवश फ्रायडवादी आलोचक कहा है। इसमें सन्देह नहीं कि फ्रायडीय मनोविज्ञान का उन पर गहरा प्रभाव है, लेकिन यह स्वयं साध्य न होकर रसवाद का साधन है।

रसवाद पर अपनी दृष्टि केन्द्रित करके भी नगेन्द्र जी आधुनिक साहित्य और समसामयिक आन्दोलनों से बराबर सम्पृक्त रहे हैं। नयी कविता, उपन्यास और कहानियों को भी वे समय-समय पर मूल्यांकित करते रहे हैं। कामायनी के अध्ययन की समस्याओं तथा उर्वशी आदि के संबंध में ही विचार नहीं करते बल्कि वे साहित्य की नवीनतम गतिविधि पर भी विचार करते चलते हैं। अपनी नवीनतम पुस्तक 'नयी समीक्षा नये सन्दर्भ' में मूल्यों के विघटन, सांस्कृतिक संकट और आधुनिकता के प्रश्न जैसे ज्वलंत विषयों पर भी अपना विचार व्यक्त करते हैं। नये-से-नये विषयों से उलझते रहने के कारण उनकी रसवादी दृष्टि में एक सन्तुलन आया है। इसी कारण वे रससिद्धान्त के आयामों के विस्तार का आग्रह करते हैं।

रस या आनन्द के प्रति नगेन्द्र जी का आग्रह शंका पैदा करता है कि क्या ये जीवन और जगत् को साहित्य से अनिवार्यतः सम्पृक्त नहीं मानते। जब वे कहते हैं—"मानव अपने अन्तरतम रूप में जो है वही साहित्य का विषय है—जहाँ वह न नीतिवादी है और न बुद्धिवादी—वहाँ वह रागात्मा है और उसी से साहित्य का सीधा संबंध है। (नव निर्माण) निर्माण का लक्ष्य है कल्याण, सृजन का लक्ष्य है आनन्द। आप इसे दोष मानिए या गुण, मेरी अन्तर्मुखी प्रवृत्ति आनन्द से बढ़कर आत्म-कल्याण अथवा लोक-कल्याण की कल्पना करने में व्यर्थ है।" (मेरा व्यवसाय और साहित्य सृजन) तब उपर्युक्त शंका और भी दृढ़ हो जाती है।

साहित्य में आत्माभिव्यक्ति में वह नैतिक एवं सामाजिक मूल्यों का सर्वथा निषेध नहीं करते। लेखक भी सामाजिक प्राणी है और सामान्य व्यक्तियों की अपेक्षा अधिक प्रभावशाली; इसलिए उसे समाज का दायित्व-बोध अधिक होना चाहिए और उसे अपने दायित्व का निर्वाह करना भी उचित है। किन्तु लेखक के रूप में वह इस बन्धन से मुक्त है। नगेन्द्र जी का विचार है कि समाज का तिर-

तिरस्कार करने से लेखक की आत्मा की क्षति होगी। किन्तु जब तक वह निश्छल आत्माभिव्यक्त करता रहेगा उसकी कृति मूल्यहीन नहीं हो सकती। वे अभिव्यक्ति की निश्छलता को साहित्य का पहला और अनिवार्य लक्षण मानते हैं।

शब्द और अर्थ के द्वारा अपने अनुभव को व्यक्त करना आत्माभिव्यक्ति है। अपने को पूर्णता के साथ अभिव्यक्त करना, चाहे वह कर्म द्वारा हो या वाणी द्वारा या किसी अन्य उपकरण द्वारा हो, व्यक्तित्व की सबसे बड़ी सफलता है। आत्माभिव्यक्ति के द्वारा लेखक और सामाजिक दोनों को परिष्कृत आनन्द की प्राप्ति होती है। जाहिर है कि नगेंद्र जी का आग्रह परिष्कृत आनन्द और निश्छल आत्माभिव्यक्ति पर आश्रित है। फिर भी वे महान् कविता के लिए कवि के व्यक्तित्व का महान् होना आवश्यक बताते हैं।

नगेंद्र ने रीतिकाल को महान् नहीं कहा है। पर उसे काव्य मानने में उन्हें एतराज नहीं है क्योंकि उससे आनन्द की उपलब्धि होती है। सियारामशरण का काव्य संयम और त्याग से तप:पूत होने पर भी जीवन को सरस नहीं बना पाता। व्यक्तिवादी कवियों की निश्छल आत्माभिव्यक्तियाँ काफी प्रभावशाली हैं पर उनके व्यक्तित्व में रस, आनन्द, रागात्मकता आदि को ही श्रेयस्कर मानते हैं। वे व्यष्टि वृत्ति से समष्टि वृत्ति को अधिक उत्कर्ष पूर्ण मानते हैं। उदात्त नैतिक मूल्यों से रसानुभूति को प्रभावित स्वीकार करते हैं। पर इन दृष्टियों से काव्य के मूल्यांकन में उनका चित्त रमता नहीं, 'सुखदा' के नैतिक पक्ष का अविचारित रह जाना इसका स्पष्ट प्रमाण है। प्रसाद जी अपने आनन्दवादी मूल्यों के कारण इनको पसन्द हैं और शुक्ल जी को नापसन्द।

उनके रसवादी सिद्धान्त पर छायावादी काव्य-आन्दोलन तथा पश्चिमी आलोचकों में आई० ए० रिचर्ड्स का प्रभाव दिखाई पड़ता है। निश्छल आत्माभिव्यक्ति और कवि के व्यक्तित्व पर जोर देने का अर्थ है छायावादी मान्यताओं की स्वीकृति। जिस काव्यान्दोलन ने नगेंद्र के निर्माण में उल्लेखनीय योगदान दिया हो, उनपर उसका प्रभाव न पड़ना अस्वाभाविक होता। नगेंद्र परिष्कृत आनन्दानुभूति में ही नैतिक मूल्यों का समावेश कर लेते हैं। नगेंद्र का यह सिद्धान्त रिचर्ड्स के मूल्य-सिद्धान्त के समानान्तर दिखाई पड़ता है। रिचर्ड्स के अनुसार भी काव्य का मूल्य नैतिकता से सम्बद्ध न होकर अन्तरवृत्तियों के सामञ्जस्य से होता है।

नगेंद्र की व्यावहारिक आलोचना तथा सैद्धान्तिक आलोचना में प्रीतिकर एकसूत्रता दिखाई पड़ती है। उन्होंने पूर्व और पश्चिम के महत्त्वपूर्ण काव्यशास्त्रों का हिंदी अनुवाद करने-कराने में सबसे अधिक योग दिया है। उनकी

प्रेरणा से आचार्य विश्वेश्वर ने 'अभिनव भारती', 'वक्तोक्ति जीवित', 'ध्वन्यालोक', 'नाट्य दर्पण' आदि का हिंदी अनुवाद किया। पाश्चात्य काव्यशास्त्र के कुछ क्लासिक ग्रंथों का अनुवाद नगेंद्र की देख-रेख में हुआ। अरस्तू का काव्यशास्त्र, लांगुनस का 'दि सबलाइम', होरेस की 'आर्सपोयतिका' के हिंदी अनुवाद प्रकाशित हो चुके हैं। सेन्ट्सबरी के 'लोसाई क्रिटिकाई' के ढंग की पाश्चात्य काव्यशास्त्र की परंपरा के नाम से यूरोप के प्रतिनिधि आलोचकों के मूल-सिद्धान्तों का एक संकलन भी नगेंद्र के सम्पादन में प्रकाशित हुआ है। इन अनुवादों से दो लाभ हुए, एक तो यह कि अब हिंदी का समीक्षक मूल ग्रंथों के आधार पर उनके सम्यक् मनन-चिन्तन द्वारा अपनी स्वतंत्र मान्यताएं बना सकता है और दूसरा यह कि इससे स्वयं नगेंद्र को अपने समीक्षा सिद्धान्तों को संतुलित और समन्वित बनाने के लिए बृहत् आयाम मिला।

इधर 'नयी समीक्षा नये सन्दर्भ' शीर्षक से उनकी नयी पुस्तक प्रकाशित हुई है। इसमें उन्होंने नयी समीक्षा को ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में देखते हुए उसके अधूरेपन या त्रुटियों को उद्घाटित किया है। उनकी दृष्टि में शब्द-विधान की परीक्षा करने के उपरान्त अर्थ-विधान की परीक्षा आवश्यक है। शब्द-विधान तक ही सीमित रहकर नयी समीक्षा बहुत कुछ रूपवादी हो जाती है। नयी समीक्षा की अतिवादिता का विरोध करते हुए उसे अतिवादी कहते हुए वे उसके अवदान को कहीं भी स्वीकृति नहीं देते।

नगेंद्र की मान्यताओं से बहुतों का काफी मतभेद है। पर उनकी ईमानदारी, गहन विश्लेषण क्षमता, वैचारिक एकतानता के सम्बन्ध में दो मत नहीं हो सकते। किसी साहित्यिक समस्या या विचार के विविध आयामों को वे सहज ही पकड़ लेते हैं और एक-एक का विश्लेक्षण काफी गहराई तक करते जाते हैं। उनका विश्लेषण प्रधान मस्तिष्क स्वयं गम्भीर प्रतिपक्षों को उठाता है और उनका सम्यक् समाधान प्रस्तुत करने के लिए सन्नद्ध हो उठता है। विचारों के मन्थन की यह प्रक्रिया उनमें सर्वत्र देखी जा सकती है। सैद्धान्तिक निबंधों में यह और सूक्ष्म रूप से प्रकट हुई है। वे वैचारिक गुत्थियों से कतराते नहीं और तब तक जूझते रहते हैं, जब तक उन्हें तर्कसंगत या बुद्धिगम्य समाधान नहीं मिल जाता।

उनके विश्लेषण का दूसरा गुण है निश्छल आत्माभिव्यक्ति। अपनी बात को कहने में वे किसी प्रकार का दुराव नहीं करते। अपनी मान्यताओं के प्रति वे पूर्णतः ईमानदार हैं। इसे कोई चाहे तो यों भी कह सकता है कि उनमें लचीलापन कम है। उनका विश्लेषण स्पष्ट, पैना और गहन होता है। गहन विश्लेषण क्षमता और ईमानदारी आलोचक के विशिष्ट गुण हैं और वे उनमें

पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध हैं। जहाँ तक भाषा का प्रश्न है वे बात को फैलाकर कहने में ज्यादा रुचि लेते हैं।

विश्वनाथप्रसाद मिश्र

विश्वनाथप्रसाद मिश्र की गणना शुक्ल परंपरा के आलोचकों में होती है। इधर उनकी आलोचनात्मक कृति 'हिंदी साहित्य का अतीत' (दो भागों में) प्रकाशित हुई है। अतीत के दोनों भागों में आदि काल से लेकर रीतिकाल तक की प्रवृत्तियों, प्रमुख कवियों की उपलब्धियों, भाषागत विशिष्टताओं का सुलझा हुआ आकलन किया गया है।

विश्वनाथ जी को अर्थ-दृष्टि लाला भगवानदीन तथा विवेचन-दृष्टि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल से मिली। लाला जी की अर्थ-परंपरा का इन्होंने बहुत अच्छा विकास किया है। पाठालोचन के क्षेत्र में उनकी उपलब्धियाँ स्थायी महत्त्व की हैं। पर शुक्ल जी की आलोचना परम्परा को वे विकसित नहीं कर सके यद्यपि उनकी सरणि वही है।

वे एक साधक साहित्यकार हैं। उनकी विद्वत्ता के बारे में दो मत नहीं हैं। उनके जैसे सफल अध्यापक बहुत कम होते हैं। अध्यापक की विशेषताएँ उनके आलोचक की भी विशेषताएँ हैं। जटिल से जटिल विषय को बोधगम्य बना देना उनके लिए सहज साध्य है, किन्तु साहित्यिक समस्याओं को नये सन्दर्भ में देखना उन्हें रुचिकर नहीं है।

मार्क्सवादी आलोचना

मार्क्सवादी आलोचना का प्रादुर्भाव पहले ही हो चुका था। 'हंस' के सम्पादक के रूप में शिवदान सिंह चौहान उसके सैद्धान्तिक पक्ष के संबंध में बहुत कुछ लिख चुके थे। इधर भी उनकी एक पुस्तक 'हिन्दी साहित्य के अस्सी वर्ष' प्रकाशित हो चुकी है। प्रकाशचन्द्र गुप्त इसी विचारधारा के आलोचक हैं, पर सरलीकरण की प्रवृत्ति के कारण उनका विवेचन सामान्य होकर ही रह जाता है।

मार्क्सवादी आलोचकों में रामविलास शर्मा की दृष्टि सबसे अधिक पैनी, स्वच्छ और तलस्पर्शी है। विचारों के स्तर पर वे कहीं भी समझौतावादी नहीं होते। वे बहुत ही खरे दो टूक कहने वाले निर्भीक आलोचक हैं। वे अपने विपक्षियों पर गहरे से गहरे आक्रमण करने में नहीं चूकते।

मार्क्सवादी होने के कारण शर्मा जी साहित्यकार के लिए वर्गभेद के आधार पर चलनेवाले समाज की पहचान को आवश्यक मानते हैं। पार्टीजन साहित्यकार बनकर ही हम ऐसे साहित्य का निर्माण कर सकेंगे जो अगली पीढ़ियों के लिए मूल्यवान हो। (भाषा साहित्य और संस्कृति)

उक्त वक्तव्य शर्मा जी की सीमाएँ निर्धारित कर देता है। इस प्रकार का निर्भ्रांत निर्णय वही दे सकता है जो धारा विशेष का अनुगत हो और इस प्रकार का भ्रांत निर्णय भी वही दे सकता है जो पार्टीजन हो। पार्टीजन की लक्ष्मण रेखा के बाहर भी ऐसे साहित्य का निर्माण हो रहा है जो मूल्यवान है। पार्टीजन कैंप के भीतर रहनेवाले विरोधियों पर शर्मा जी का हमला और भी तेज होता है। उन्हें चित्त करने के लिए दाव पर दाव लगाते चले जाते हैं। जहाँ विरोधियों को आकाश दिखाना उनका अभीष्ट नहीं होता है वहाँ उनका विवेचन संतुलित और समस्यामूलक और गहरा होता है। इस दृष्टि से 'मार्क्सवाद और प्राचीन साहित्य का मूल्यांकन' एक महत्त्वपूर्ण निबंध है।

अपने उक्त निबंध में शर्मा जी ने मार्क्सवादी आलोचकों पर आरोप लगाया है कि उन्होंने मनोनुकूल सूक्तियाँ ढूँढ़कर तुलसीदास को प्रतिक्रियावादी, ब्राह्मण-वादी और न जाने क्या-क्या कहा है। लेकिन शर्मा जी अपने मत के पुष्ट्यर्थ वही पद्धति अपनाते हैं। तुलसीदास में प्रगति और प्रतिक्रिया दोनों तत्त्व मिलते हैं, पर शर्मा जी उनमें प्रगतिशील सामाजिक तत्त्वों को खोजकर शेष नजरअन्दाज कर देते हैं।

'रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना' को शर्मा जी की आलोचना-पद्धति का केन्द्र-विन्दु मानना चाहिए। इसमें शुक्ल जी की लोक-हृदय में लीन होने की कसौटी को जोर देते हुए उन्होंने अन्तर्विरोधों को भी उजागर किया है। किन्तु जहाँ पर वर्गवाद आवश्यकता से अधिक उभर गया है वहाँ की समीक्षा विकृत हो गई है; जैसे, जुलाहों-किसानों की मुक्ति की आकांक्षा से सूरदास के पदों का संबंध जोड़ना।

देवराज दार्शनिक अनुशासन (डिसिप्लिन) के आलोचक हैं। वे पेशे से तो दार्शनिक हैं ही, स्वभाव तथा अभ्यास से भी दार्शनिक हैं। इसलिए इनके साहित्यिक चिंतन को धार मिल गई है। किंतु जहाँ दार्शनिक चिंतन प्रमुख हो जाता है, वहाँ साहित्यिक चिंतन गौण हो जाता है।

वे साहित्य को व्यापक सर्वांगीण सांस्कृतिक चेतना से संपृक्त देखना चाहते हैं। वे लेखक तथा आलोचक दोनों के लिए क्लासिक का परिशीलन आवश्यक मानते हैं, क्योंकि उससे उनकी रस-संवेदना पुष्ट होती है। क्लासिक संबंधी उनकी धारणा, टी० एस० इलिएट से प्रभावित है। उनके शब्दों में "क्लासिक उस चेतना का वहन करता है जिसकी उपयोगिता और सार्थकता आज भी अक्षुण्ण है।" इलिएट की भाँति उन्हें भी रोमैंटिक कवि नापसंद है। उसी की तरह वे परंपरा और समसामयिक जीवन-बोध के साथ लेखक-आलोचक दोनों को गहरे अर्थ में संपृक्त देखना चाहते हैं।

सब मिलकर वे रस-संस्थान या शुक्ल जी की परंपरा के ही आलोचक हैं। रसानुभूति को शुक्ल जी की भाँति वे व्यापक अर्थ में प्रयुक्त करते हैं। उनकी दृष्टि में आलोचक का कार्य रसानुभूति की बौद्धिक व्याख्या करना है।

इन्द्रनाथ मदान

इन्द्रनाथ मदान मुख्यतः आधुनिक साहित्य के आलोचक हैं। वे साहित्य को किसी वाद विशेष के माध्यम से आकलित नहीं करते। अपनी इधर की आलोचनाओं में कृति की राह से गुजरने पर बल देते रहे हैं। कहानी, उपन्यास, आलोचना आदि से संबद्ध उनकी कई पुस्तकें हैं—'प्रेमचन्द : एक विवेचन', 'आलोचना और काव्य', 'आधुनिक कविता का मूल्यांकन'। वे कृति की राह से गुजर कर आलोचना करते हैं। इसलिए उनकी दृष्टि में एक तरह की वस्तुनिष्ठता आ जाती है। इधर उन्होंने कविता-कहानी, उपन्यास-नाटक में आधुनिकता के तत्त्वों को अभिनिवेशपूर्वक खोजा है। इससे आधुनिकता-बोध के व्यावहारिक पक्ष को उजागर किया जा सका है। इसमें संदेह नहीं कि व्यावहारिक धरातल पर इस बोध को स्पष्ट करने का जितना प्रयास मदान ने किया है उतना और किसी ने नहीं। पर वे बराबर वस्तु को पकड़ते हैं साहित्य के रूप को नहीं, न ही उनकी दृष्टि मूल्यों पर जाती है।

सैद्धांतिक आलोचना

सैद्धांतिक आलोचना प्रस्तुत करने की पहल आचार्य रामचंद्र शुक्ल कर चुके थे। बलदेव उपाध्याय ने इधर पाश्चात्य और पौरस्त्य काव्य-सिद्धान्तों को समन्वित करने की चेष्टा की। पर वे प्रायः अलग-अलग ही रह गए हैं। डा० नगेंद्र ने भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका में यह काम अधिक अभिनिवेश-पूर्वक किया। उन्होंने दोनों परंपराओं को एक-दूसरे का पूरक माना है और दोनों परंपराओं को सूक्ष्मतापूर्वक विश्लेषित भी किया है।

भूमिका में रीति और वक्रोक्ति-सिद्धांत पर विस्तृत चर्चा की गई है। कविता के लिए वे वक्रोक्ति की अनिवार्य स्थिति स्वीकार करते हैं। कुंतक के विवेचन में कवि-स्वभाव या कवि-व्यापार का विश्लेषण करते हुए वे रचना-प्रक्रिया से संदर्भित करते हैं। कुंतक कवि के व्यक्तित्व को काव्य का मूल प्रेरक तत्त्व मानते हैं। किंतु आलोचना में कवि के व्यक्तित्व का विवेचन अब बहुत ग्राह्य नहीं रह गया है। यह नगेंद्र का रोमैंटिक पक्ष है।

'रस सिद्धान्त' उनका मौलिक बृहद् प्रयास है। संस्कृत के मूल ग्रंथों के सम्यक् अनुशीलन के पश्चात् मूल अर्थों की व्याख्या तथा नए संदर्भों में उनके अर्थापन का प्रयास है। अर्थापन के चक्कर में पड़कर मूल अर्थ को विकृत नहीं किया गया है, बल्कि अनेक प्रमाणों को उद्धृत करते हुए उसे स्पष्ट तथा तर्कसम्मत

बनाया गया है । नवीन ज्ञान के प्रकाश में नई उद्भावनाएँ भी की गई हैं । रस को व्यापक बनाते हुए उन्होंने नई कविता को भी उसकी सीमा में अन्तर्भुक्त कर लिया है । लेकिन नई कविता की व्याख्या के लिए उन्होंने उसे जो व्याप्ति दी है वह आग्रह की सीमा पार कर गया है । नई कविता के के संदर्भ में रस विगत की बात बन चुका है । अब रस काव्यालोचन के लिए उपयोगी नहीं रह गया है ।

पूर्व और पश्चिम के क्लासिकल काव्यशास्त्रों का हिंदी अनुवाद करने में डा० नगेंद्र का सबसे अधिक योगदान है । आचार्य विश्वेश्वर से उन्होंने 'अभिनव भारती' (अंशों में) 'वक्रोक्ति जीवत,' 'ध्वन्यालोक,' 'नाट्यदर्पण' आदि ग्रंथों का आधिकारिक, हिंदी अनुवाद कराया । इनके अतिरिक्त काव्यादर्श, काव्यालंकार सूत्र, काव्यमीमांसा, कुवलयानन्द, रसगंगाधर, अग्निपुराण (काव्यशास्त्रीय अंश) औचित्य-विचार-चर्चा, काव्यप्रकाश आदि की व्याख्याएँ आज हिंदी में उपलब्ध हो चुकी हैं । पाश्चात्य काव्यशास्त्र में अरस्तू का काव्यशास्त्र, लांगुनस का 'उदात्त तत्त्व', होरेस की 'आर्स पोएतिका' आदि का प्रामाणिक अनुवाद भी उनकी देखरेख में हुआ ।

अन्य आलोचकों में विनयमोहन शर्मा, देवराज उपाध्याय, भगीरथ मिश्र, विजयेन्द्र स्नातक, लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय, शिवनाथ आदि उल्लेखनीय हैं ।

साहित्यकारों के विचारों

छायावाद काल के पूर्व रचनाकारों ने अपनी कृतियों से पृथक् उनके संबंध में अपने विचार नहीं प्रकट किये हैं । यदि उन्हें कुछ कहना था तो कृतियों में ही प्रकारान्तर से ऐसा किया है । पर छायावादी कवियों के लिए जरूरी हुआ कि वे अपने काव्य की जटिलताओं और बारीकियों को गद्य में विवेचित करते । प्रयोग-वादी (?), प्रयोगशील अथवा नई कविता ने दूसरी बार निर्दिष्ट काव्यमार्ग का अतिक्रमण किया । छायावादी काव्य एक बार यह कार्य कर चुका था । तार सप्तक के कवियों ने अपने वक्तव्यों में काव्य के बदले हुए तेवर को सामने रखने का प्रयास किया । दूसरे, तीसरे सप्तक के कवियों ने भी अपने-अपने वक्तव्य दिए ।

सबसे पहले नकेनवादियों ने प्रपद्यवाद में रस-सिद्धांत, साधारणीकरण आदि के विरोध में आवाज बुलन्द की । नई कविता के संदर्भ में उनके प्रति संशय-ग्रस्त होना स्वाभाविक था । परिपाटी ग्रस्त मान्यताओं को नकारने का प्रथम श्रेय उन्हीं को मिलना चाहिए ।

अज्ञेय ने अपने काव्य संबंधी विचारों को 'त्रिशंकु', 'आत्मनेपद' और 'हिन्दी साहित्य : एक आधुनिक परिदृश्य' में व्यक्त किया है । अज्ञेय के विचारों का केन्द्रवर्ती विन्दु है वैयक्तिकता । इसे उन्होंने अनेक ढंग से विवेचित किया है ।

वे निर्वैयक्तिकता और वैयक्तिकता में वैयक्तिकता को पहले महत्त्व देते हैं। अहं के विलयन पर वे बार-बार जोर देते हैं। विलयन का यह प्रयास वैयक्तिकता का ही सूचक है। स्वातंत्र्य का विभावन वे कलाकार का धर्म मानते हैं, अर्थात् जो स्वयं भी स्वतंत्र हो तथा दूसरे को भी स्वतंत्र करे।

उनकी दृष्टि में कलाकार कला की समस्या के अतिरिक्त अन्य समस्या हल नहीं करता। किन्तु वे मूल्यांकन के लिए सौन्दर्य के साथ-साथ नैतिकता पर भी विचार करना जरूरी समझते हैं। पर वे सुन्दर को अनिवार्यतः नैतिक नहीं मानते। उनकी दृष्टि में सृजनात्मक प्रतिभा दोनों को सहज ही प्राप्त कर लेती है। जहाँ सृजनात्मक शक्ति है वहाँ एकांगिता की संभावना कम है और पुष्ट सौन्दर्य बोध के साथ पुष्ट नैतिक बोध होता ही है। यह वाक्य अंतर्विरोध से ग्रस्त है। संभावना कम है यानी एकांगिता का निषेध नहीं है। इस अन्त-विरोध का कारण सौन्दर्य और नैतिकता दोनों को अलग-अलग मान लेना है। ऐसा मान लेने पर रूप और वस्तु की अनिवार्य एकरूपता भी खंडित हो जाती है। कला के प्रति अत्यधिक आग्रह उन्हें रहस्य-गह्वर में भटका देता है।

मुक्तिबोध के समीक्षात्मक विचार 'कामायनी का पुनर्मूल्यांकन', 'एक साहित्यिक की डायरी', 'नई कविता का आत्मसंघर्ष' और 'नए साहित्य का सौन्दर्य-शास्त्र' में अभिव्यक्त हुआ है। वे विचारों में मार्क्सवादी हैं। पर उनमें कहीं पर भी विकृत वाद के दर्शन नहीं होते। वे आधुनिकतावाद, दुःखवाद, व्यक्तिवाद के विरोधी हैं। वे नई कविता को 'नव क्लासिक वाद' की ओर ले जाना चाहते हैं। वे अन्याय के खिलाफ आवाज उठाने को आधुनिक भाव-बोध की संज्ञा देते हैं। उनका आग्रह है कि समीक्षक लेखक के परिवेश, रचना-प्रक्रिया, संदर्भयुक्त भाषा को पहचान कर सही मूल्यांकन कर सकता है। 'फैंटेसी', कला के तीन क्षण, विश्व दृष्टि आदि समीक्षात्मक शब्दावली देकर उन्होंने हिन्दी समीक्षा को संपन्न बनाया है।

धर्मवीर भारती ने 'मानव मूल्य और साहित्य' में विपर्यस्त मानवीय मूल्यों की बात उठाकर साहित्य की परीक्षा की है। नए मूल्यों के रूप में उन्होंने व्यक्ति के दायित्व और स्वातंत्र्य की माँग की है। इन्हीं के आधार पर साहित्य की नई मर्यादा के उदय की बात कही गई है। लघु मानव की आन्तरिक मुक्ति पर विशेष बल दिया गया है। गोया यह आन्तरिक मुक्ति बाह्य मुक्ति से एकदम अलग चीज है। विजयदेवनारायण साही की दृष्टि भी मूलतः कवि पर ही रही है।

वस्तुतः ये कवियों की मान्यताएं हैं जो उनके अपने निजी काव्य संदर्भ में लिखी गई हैं। उनकी अधिकांश मान्यताएँ रचना-प्रक्रिया या कवि-कर्म से संबद्ध हैं,

जब कि आज का आलोचक रचना-प्रक्रिया से नहीं, केवल रचना से, कवि-कर्म से नहीं, कवि की कृति (फिनिश्ड प्रोडक्ट) से अपना संबंध रखता है। अज्ञेय का दर्द, नि:संग आसक्ति, नि:संग विस्मय कवि-कर्म से जुड़ता है, आलोचक के कर्म से नहीं। मुक्तिबोध ने भी कवि के अन्त:करण और रचना-प्रक्रिया की बात उठाई है। उन्होंने संदर्भमुक्त भाषा की भी चर्चा की है। वस्तुत: यही समीक्षा का आधार है––काव्य सौंदर्य और उसके मूल्यांकन का भी।

आलोचना (समीक्षा––बुक रीव्यू) को आगे बढ़ाने में 'प्रतीक' 'कल्पना' और 'आलोचना' और वार्षिकी, पत्रिकाओं ने उल्लेखनीय योगदान किया, मुख्यत: 'प्रतीक', 'कल्पना' और 'आलोचना' ने। कुछ दिनों तक 'धर्मयुग' में यह कार्य अच्छे ढंग से चला। अंग्रेजी में 'कैलेंडर आफ माडर्न लेटर्स', 'स्क्रुटिनी', 'टाइम्स लिटरेरी सप्लीमेंट' आदि में समय-समय पर जो पुस्तक समीक्षाएँ प्रकाशित हुईं उनसे आलोचना के प्रतिमानीकरण में काफी सहायता मिली है। 'कैलेंडर आफ माडर्न लेटर्स' से संगृहीत समीक्षाओं को एफ० आर० लेविस ने 'टुवर्ड्स द स्टैंड्स आफ माडर्न क्रिटिसिज्म' नाम से प्रकाशित कराया है। इस प्रकार का प्रयास हिन्दी में 'माध्यम' में प्रकाशित समीक्षाओं को पुस्तकाकार रूप देने का श्रेय उमा राव और बालकृष्ण राव को है।

'प्रतीक' के प्रथम अंक के संयोजकीय में कहा गया है––"हिंदी पत्रों में पुस्तकों की जैसी चलती हुई आलोचना प्राय: होती है वह किसी से छिपी नहीं, उससे लेखक, पाठक, प्रकाशक, साहित्य का भी कोई हित सिद्ध होता है यह मानना कठिन है। हम हिंदी पुस्तकालोचन को इस कर्दम से निकालना चाहते हैं––किसी महत्त्वपूर्ण ग्रंथ की आलोचना एकांगिता या पूर्वग्रह से दूषित न हो इसलिए ऐसे ग्रंथों की बहुमुखी आलोचना कराएंगे। साथ ही साहित्यिक प्रवृत्तियों की समीक्षा के लिए ऐसा भी हो सकता है कि चार-छह पुस्तकों को एक साथ लिया जाय"––समवेत समीक्षा 'आलोचना' में भी चलती रही। इधर प्रयाग से प्रकाशित होने वाले माध्यम (बन्द हो चुका है) के विवेचना स्तंभ में इसे और भी सुनियोजित ढंग से प्रकाशित किया गया।

आलोचना की नई दिशा

डा० देवीशंकर अवस्थी द्वारा संपादित दो समीक्षा-निबंध संग्रहों 'विवेक के रंग' और 'नई कहानी: संदर्भ और प्रकृति' में संगृहीत सामग्री समीक्षा संबंधी नए संकेतों की सूचना देती है। डा० अवस्थी ने उनकी भूमिकाओं में ऐसे बहुतेरे समीक्षात्मक शब्दों का उल्लेख किया है जो नये हैं और समीक्षा-साहित्य को संपन्न बनाते हैं। नेमिचन्द जैन का 'अधूरे साक्षात्कार,' नामवर सिंह का 'कहानी और नई कहानी', 'कविता के नए प्रतिमान', रघुवंश का 'आधुनिक साहित्य

का परिप्रेक्ष्य', बच्चन सिंह का 'नया साहित्य : आलोचना को चुनौती', 'आलोचक और आलोचना', रामस्वरूप चतुर्वेदी का 'भाषा और संवेदना,' 'कामायनी का पुनर्मूल्यांकन', रमेश कुंतल मेघ का 'तुलसी : आधुनिकता के वातायन से' आदि पुस्तकें नई समीक्षा के संकेत चिह्न हैं। ये सभी लोग संरचना को महत्त्व देते हुए भी मूल्यों को विस्मृत नहीं करते। अपनी तांत्रिक दृष्टि के कारण चतुर्वेदी को मूल्यों से कोई मतलब नहीं रहता।

नई आलोचना पूर्व निश्चित किसी आलोचनात्मक मान को आलोच्य पर चस्पा नहीं करती। आलोच्य अपना मान स्वयं है। आलोच्य की अपनी निजी प्रतिमानता की बात छायावाद काल में ही उठाई गई थी। पर आलोचना का कोई वैज्ञानिक आधार नहीं खोजा जा सका। अमरीका की नई आलोचना (न्यू क्रिटिसिज्म) ने आलोचना को एक वैज्ञानिक आधार दिया। अब तक के प्रचलित सभी प्रतिमान चाहे वे रसवादी हों या मार्क्सवादी, ऐतिहासिक हों या मनोविश्लेषण वादी उसे मान्य नहीं है; क्योंकि वे साहित्य का आनुषंगिक अध्ययन प्रस्तुत करते हैं। उनके द्वारा साहित्य का अपना मूल्यांकन, विश्लेषण और वर्णन संबंधी समस्याओं का प्रतिपादन नहीं हो पाता। रैनसम, राबर्ट पेन, वारेन, क्लीन्थ ब्रुक्स, ब्लैकमर, विटर्ज, टेट आदि नए आलोचना-संस्थान के लेखक हैं।

इस आलोचना में रचना की आन्तरिक संगति पर विशेष ध्यान दिया जाता है। कृति का एक अंग दूसरे से, दूसरा तीसरे से और हर एक समग्र से कैसे और किन अर्थवत्ताओं को समेटे हुए संबद्ध हैं?– यह संबद्धता ही अर्थ है। कुछ लोग रचना के अंगांगी संबंधों का विवेचन ही आलोचना की इति कर्तव्यता मानते हैं। पर कुछ लोग इससे आगे बढ़कर मूल्यांकन भी करते हैं अर्थात् जीवन के साथ प्रासंगिकता की तलाश भी करते हैं।

इस सिलसिले में सवाल उठता है कि क्या कृति का रचाव या भाषिक संघटना तथा रचना की प्रासंगिकता दोनों दो चीजें हैं या एक ही वस्तु के दो पहलू हैं। सृष्टि का मूल स्रोत प्रासंगिकता ही है यानी यथार्थ के प्रति सम्पन्नतर अनुभूत्यात्मक प्रतिक्रिया। भाषिक संरचना इसी पर आधारित है। आलोचक के सम्मुख केवल रचना है—उसकी भाषिक संघटना है। इसलिए उसे भाषिक संरचना का विवेचन करते समय, उसकी छोटी-बड़ी, गूढ़, जटिल अर्थवत्ता को उद्घाटित करते समय मूल्यगत प्रासंगिकता को उद्घाटित करना आवश्यक हो जाता है। किंतु नई आलोचना तभी सार्थवती हो सकती है जब इसके पुष्ट्यर्थ हम अपनी चिंतन-परंपरा के साथ इसका तालमेल बैठाएँ। सौंदर्य, नैतिकता भाषा सापेक्ष्य हैं। भाषाओं की विभिन्नता, प्रकृतियों का विसादृश्य

आदि सौन्दर्य और मूल्यवत्ता में भी वैभिन्न्य और विसादृश्य लाते हैं। अतः हमें अपनी लंबी विरासत के आधार पर ही इस पद्धति को विकसित करने की चेष्टा करनी चाहिए ।

यदि संक्षेप में शुक्लोत्तर आलोचना का लेखा-जोखा प्रस्तुत किया जाय तो कहना न होगा कि यह सैद्धांतिक और व्यावहारिक दोनों क्षेत्रों में संपन्न हुई है—संपन्नता, प्रामाणिकता और गहराई दोनों को लेकर हुई है। इधर धीरे-धीरे पांडित्य का स्थान समझदारी और रचनात्मकता लेने लगी है। साहित्य की तरह आलोचना भी अ-रोमांस की ओर बढ़ रही है, यह शुभ लक्षण है।

पर काव्यालोचन की तरह हिंदी के कथालोचन और नाट्यालोचन की भूमियाँ प्रशस्त नहीं हो पाई हैं। वे शास्त्रीय रूढ़ियों संकीर्णताओं आदि से अभी तक उबर नहीं सकी हैं। रूढ़ियों की जर्जरताओं का भार ढोनेवाले क्षयग्रस्त हिंदी के शोध-ग्रंथों के बीच कुछ नई प्रतिभाएँ दिखाई पड़ती हैं पर वे सहसा चमक कर लप्त हो जाती हैं।

अनुक्रमणिका

आ

इ

ख

ग

फ

ब

भ

श

स

क्ष

त्र

ज्ञ

●●